पुस्तक का नाम - ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन ।

विषय - ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा के चिन्तन पक्ष का सांगोपांग विवेचन ।

मौलिक । अनूदित । नवीन व्याख्या । प्रामाणिक अनुवाद — मौलिक नवीन व्याख्या

प्रकाशक का नाम और पता - भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली, वाराणसी

लेखक का प्रमाण-पत्र -

1. मैं प्रमाणित करता हूं कि मेरी उपर्युक्त रचना प्रथम बार वर्ष 1979 में प्रकाशित रचना है ।
2. मैं मूलत: उत्तर प्रदेश (श्री राम निकेतन, सिविल लाइन्स, बिजनौर) का निवासी हूं ।

जगदीशदत्त दीक्षित

हस्ताक्षर लेखक डा0 जगदीशदत्त दीक्षित

ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा का तुलनात्मक अध्ययन

(A Comparative Study of Brahmanism and Buddhism)

लेखक :

डा० जगदीशदत्त दीक्षित

एम०ए० पी-एच. डी., डी. लिट्,

साहित्यदर्शनाचार्य (वाराणसी)

अध्यक्ष संस्कृतविभाग,

मोतीलाल नेहरु विद्यालय, मोतीबाग, नई दिल्ली.

भूमिका :

प्रो० रसिकविहारी जोशी

अध्यक्ष संस्कृत विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय

भारतीय विद्या प्रकाशन

दिल्ली वाराणसी

(भारत)

प्रकाशक :

भारतीय विद्या प्रकाशन

1. 1 यू० बी० बंग्लो रोड, जवाहर नगर,
दिल्ली-110007

2. पो० बा० 108, कचौड़ीगली
वाराणसी-221001

प्रथम संस्करण—मार्च, 1979

मूल्य 75.00

मुद्रण :

कम्पोजिंग : राजू प्रिंटर्स

मुद्रक : अरोड़ा प्रिंटर्स
शाहदरा, दिल्ली-110 032

अथसमर्पणम्

श्रीमत्यै रामप्यारीदेव्यै

नत्त्वा श्री रामचन्द्रं बिबुधजननुतं तातरूपं महान्तं
ख्यातां रामप्रियाख्यां वरदभगवतीं मातृकल्पां च भव्याम् ।
सर्वस्वेनास्मि गुप्तः प्रियहितकरणाद् याऽतिसाध्वी च सौम्या
तस्या आशिःस्वरूपं बुधजनलषितं स्वर्प्यते ग्रन्थरत्नम् ॥

—जगदीशदत्तदीक्षितेन

भूमिका

मेरे प्रिय सहकर्मी विद्वान् डा० जगदीश दत्त दीक्षित के 'ब्राह्मण तथा बौद्ध विचार-धारा का तुलनात्मक अध्ययन' नामक प्रस्तुत शोधप्रबन्ध को मैंने इस प्रकाशन के पहले भी भलीभांति देखा था। यह तथ्य सुविदित है कि वैदिक वाङ्मय तथा बौद्ध त्रिपिटक साहित्य का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन तथा विश्लेषण पिछले डेढ सौ वर्षों में अनेक पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। इनमें फ्रेन्च तथा जर्मन विद्वानों की गवेषणा फ्रेन्च तथा जर्मन भाषा में ही प्रकाशित रहने से प्राय: भारतीय विद्वानों को सुलभ नहीं हो सकी। पाश्चात्य विद्वानों की गवेषणा, अनेक दृष्टियों से सराहनीय होने पर भी भारतीय परम्परा के साक्षात् परिचय के अभाव के कारण कहीं कहीं अशुद्ध और कहीं कहीं अपूर्ण रह गई। प्रस्तुत पुस्तक में हिन्दी भाषा पाठकों के लिए बहुत ही उपादेय सामग्री प्राप्त कराई गई है। लेखक ने एक तरफ वैदिक वाङ्मय के दार्शनिक तथा आचारपक्ष का, ब्राह्मण विचारधारा की मान्यताओं तथा विश्वास का, और उपासना तथा साधना पद्धति का सांगोपांग विवेचन किया है, तो दूसरी तरफ गौतम बुद्ध की आत्मा तथा ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं की समीक्षा के साथ-साथ बौद्ध परम्परानुसारी सांस्कृतिक मान्यताओं, सामाजिक नीतियों और बौद्ध साधना प्रणालियों के स्वरूप पर प्रामाणिक विचार किया है। वैदिक तथा बौद्ध परम्पराओं का यह तुलनात्मक अध्ययन अपने ढंग का प्रथम प्रयास है।

डा० दीक्षित ने अपने पाण्डित्यपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन में ब्राह्मण विचारधारा का त्रिपिटिक साहित्य पर प्रभाव दिखाया है। विषय विचार में ही अन्त: प्रवेश करते रहने से लेखक को इन दोनों परम्पराओं पर काल की दृष्टि से विचार करने का बहुत कम अवसर मिला है। यदि ब्राह्मण साहित्य तथा बौद्ध साहित्य के ग्रन्थों तथा लेखकों का कालनिर्देश भी साथ-साथ हो जाता तो इन परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव को समझने में पाठकों को बड़ी सुविधा होती। पादटिप्पणी में वैदिक संहिताओं के उद्धरणों में स्वर चिह्नों का अङ्कण अपेक्षित है मुद्रणालय में स्वरचिन्हों के टाइप का अभाव ही इसका कारण प्रतीत होता है। प्रस्तुत पुस्तक ब्राह्मण तथा बौद्ध परम्परा के अनेक विषयों पर प्रकाश डालती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार का अध्ययन संभवत: पहली बार हुआ है। आन्द्रे बारो तथा तथा एलेक्स वेमेन आदि बौद्ध दर्शन तथा बौद्ध आचार के विश्वविख्यात विद्वानों के शोधग्रन्थों का

भी यदि इस पुस्तक में उपयोग हुआ होता तो इसकी उपादेयता द्विगुणित हो जाती। तथापि यह सत्य है कि इस पुस्तक में ऐसी बहुत सी सामग्री है जिससे भारतीय दर्शन तथा भारतीय विचारधारा के जिज्ञासु पाठकों का, विशेष रूप से हिन्दी भाषी पाठकों का पर्याप्त लाभ होगा। मैं अपने विद्वान् मित्र संस्कृत पण्डित डा० जगदीशदत्त दीक्षित की इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ और उनको हार्दिक शुभाशीष् देता हूँ कि वे इसी प्रकार अपनी अन्यान्य कृतियों से संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य श्री वृद्धि करते रहें।

रसिक विहारी जोशी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

15 मार्च 1979

ओ३म्

अथनिवेदनम्

ॐ पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनवती-यज्ञं वष्टुधियावसुः ।
ॐ प्रचोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां यज्ञं दधे सरस्वती ।
ॐ महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयती केतुना धियो विश्वा विराजति ।।

ॐ गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ।।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।

प्राण-प्रोषिका चिच्छक्ति की असीम अनुकम्पा के बल से छः वर्ष के अश्रान्त श्रम के उपरान्त मार्च, 1979 की पुण्योदयी मनोज्ञ बेला समुपस्थित हुई कि जिस पुण्य दिवस को मैंने अपने लेखन कार्य को मुद्रित कराकर वन्दनीय एवं वरेण्य विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का सौभाग्य पाया ।

'इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः'

के आदेशानुसार इस पावन ज्ञान के द्वारा जन जन में उस परमतत्व की प्राप्ति की जिज्ञासा के समुदय के साथ साथ कर्तव्याकर्तव्य का उद्बोध भी हो, इसके प्रसार में निष्ठा की भावना से अनुप्राणित एवं प्रेरित हो अध्ययन की ओर अग्रसर हुआ । 'पुलुकामो हि मर्त्यः' में मानव को इच्छाओं का पुँज ही घोषित किया है क्योंकि मानव की एक इच्छा पूर्ण हो नहीं पाती कि इसी बीच में दूसरी इच्छा उसके मन को उद्वेलित करने लगती है । न्याय दर्शन वात्स्यायन भाष्य में समुचित ही लिखा है—

'कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते ।
अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते ।।

मानव मन में सागर की उत्ताल एवं सतत तरंगो की भांति इच्छाओं का यह क्रम सतत प्रवाहित रहता है। भगवान् बुद्ध ने इसी सन्तति प्रवाह को जन्म क्रम का रूप दिया है कि पंचस्कन्ध ही पुनः एकत्र तया विलीन होते रहते हैं तो यही क्रम इस जन्म में और पुनर्जन्म में सतत प्रवाहित रहता है इन्हीं इच्छाओं की विरति, निरोध को मोक्ष अथवा निर्वाण कहा गया है।

ब्राह्मण विचारधारा में 'काण्डं त्रयात्मको वेदः' में ज्ञान, कर्म तथा उपासना की ओर संकेत किया गया हैं। 'य एवं वेत्ति उपास्ति वा' में भी ज्ञान तथा उपासना का ही वर्णन है। किन्तु भगवान् बुद्ध ने एक अभिनव जीवन पद्धति, दर्शन तथा रूप को देकर मानन को आत्मविश्वास के बल पर पूर्णत्व प्राप्ति का सन्देश दिया जिसमें पूजा, उपासना जैसे बाह्य आडम्बरों का निषेध किया तथा (प्रेत्य संज्ञा नास्ति, न किंचिदवशिष्यते, अग्राह्यमचिन्त्यं, यत्र वाचा विनिवर्तन्ते, नेदं यदिदमुपासते) आदि की प्रतिध्वनि के रूप में आत्मा परमात्मा और लोक तथा परलोक जैसे दश प्रश्नों को अव्याकृत निर्दिष्ट किया और मानव को मिताहार, संयमित, त्याग एवं वैराग्य-पूर्ण सदाचरण से संभृत जीवन बिताने पर बल दिया। उन्होंने भौतिक आसक्ति तथा अत्यधिक कठोर तपश्चरण दोनों अतियों का त्याग करके मध्यम मार्ग के अपनाने पर बल दिया। जिसकी चरितार्थता गीतोक्ति में लभ्य है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नियमितता, दूरदर्शिता, कुशल तथा अकुशल कर्मों का विवेचन किया है। ऋग्वेद में प्राप्त वरुण की प्रार्थना में 'मोषु मृन्मय गृहं मगमम् में मिट्टी का घर पुनः प्राप्त न करने के समान ही भगवान् बुद्ध के 'गृह-कार अब देखा गया, है फिर न घर करना मुझे' में पुनः मिट्टी का घर अर्थात् मानव शरीर न प्राप्त करने की घोषणा की गई है।

भगवान् बुद्ध ने वैराग्य ग्रहण करने में ब्राह्मण विचारधारा का अक्षरशः अनुशीलन किया यथा 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' जब वैराग्य आए तभी प्रव्रजित हो जाय। उन्होंने कार्यकारणवाद की प्रेरणा भी 'सूत्रं सूत्रस्य वो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्' आदि विभिन्न स्थलों तथा ग्रन्थों के अध्ययन से आत्मानुभव के द्वारा प्राप्त की। इन विषयों पर प्रबन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। सदाचरण पर बल तो ब्राह्मण ग्रन्थों तथा त्रिपिटक में बहुशः वर्णित है किन्तु सरल रूप से लोक भाषा, लोक गाथा में लोक सुलभ होने के कारण बौद्ध धर्म की लोकप्रियता अधिक हुई। ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त औपनिषदिक गम्भीरता जैसी कोई वस्तु

यहां नहीं है । बौद्ध विचारधारा के सन्यास प्रधान होने के कारण और मानव मन में संयम केअनुपालन की कठिनाई के कारण इसके विकास में, अनुशीलन में अवरोध आ गया ।'कौशलानि इन्द्रियाणाम् के अनुसार मानव मन में भोगों की लिप्सा ने इस पद्धति की लोकप्रियता को कम कर दिया । भगवान् बुद्ध के अनुशासन में कर्म के सच्चे स्वरूप को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

सब्ब पापस्प अकरणं कुसलस्य उपसम्पदां ।
सचित्त परियोदर्पन एतं बुद्धान सासनं ॥

कम्पना वत्तती लोको, कम्मना वत्तती पजा ।
कम्पनि बन्धना सत्ता, रथस्सार्णा वयायतो ॥

यथा कर्म यथा श्रुतम् में दोनों विचारधाराएं सत्कर्मों पर बल देती हुई अपूर्ण मानव के लिए पूर्णत्व की प्राप्ति का मार्ग उपदिष्ट करती हैं तथा उसी सर्वोत्तम धाम, ज्ञान 'यत्थ गन्त्वा न सोचरे' की प्राप्ति को चरम लक्ष्य बतलाती है । इसी लक्ष्य की पुष्टि केनोपनिषद् में की गई है—इह् चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहा-वेदीन्महती विनष्टि: अत: इस प्रकार के ज्ञान की संप्रेषणीयता में यदि मेरे अध्ययन का कुछ भी सदुपयोग हो सका तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूगां ।

अपने इस प्रबन्ध में मैंने ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा के तुलनात्मक रूप को दर्शाते हुए त्रिपिटक पर ब्राह्मण विचारधारा के प्रभाव को दिखलाया है । त्रिपिटक साहित्य एक विशालकाय साहित्य है जिसका सम्पूर्ण अध्ययन ब्राह्मण विचारधारा के विपुल वाङ्मय के समान ही दुःसाध्य है। मैंने अपने अध्ययन में वेदों के सायण आदि भाष्य, श्री पाद दामोदर सातवलेकर की व्याख्या, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका श्रीराम आचार्य आदि विद्वानों के हिन्दी अनुवादों के साथ-साथ अंग्रेजी के विल्सन तथा ग्रिफिथ अनुवादों का भी अध्ययन किया है पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का शतपथ ब्राह्मण का हिन्दी अनुवाद अत्यन्त उपादेय रहा है तथा सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट के अंग्रेजी अनुवाद की भी सहायता ली गई है । ऐतरेय ब्राह्मण के हाग के अनुवाद के साथ साथ ऐतरेय ब्राह्मण के अध्ययन के शोध प्रबन्ध को भी देखा गया है । कौषीतकी पर डा० मंगल देव शास्त्री का पर्यालोचन उपादेय रहा है । ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स, जे० म्यूर का रामकुमार राय का हिन्दी अनुवाद, इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, इण्डियन माइथालोजी हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म सी इलियट, वैदिक धर्म एवं दर्शन डा० सूर्य कान्त, भारतीय प्रज्ञा तथा उपनिषदों की भूमिका डा० राधाकृष्णन्, फिलासफी आफ दी उपनिषद्स डायसन, आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी हिरयन्ना, बौद्ध-धर्म-दर्शन

आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध-दर्शन-मीमांसा-बलदेव उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन भरत सिंह उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन द्वारा किए गए त्रिपिटक ग्रन्थों के अनुवाद तथा महाबोधि सभा के हिन्दी में प्रकाशित दीर्घ निकाय, मज्झिम निकाय, बुद्धचर्या, सुत्त निपात आदि ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर कतिपय मणि रत्नों को समुपस्थापित करने का प्रयास किया गया है। इतने पर भी मैंने अपनी शक्ति, बुद्ध तथा निर्धारित तिथि एवं शोध प्रबन्ध के कलेवर की सीमाओं को ध्यान में रखकर यथामति विषय को मौलिक रूप दिया है जिसके औचित्य की पुष्टि विद्वानों के आशीर्वाद से ही होगी। यथा 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्'। वस्तुतः इस सारस्वत महोदधि में पूर्णतया विनिमज्जन ब्रह्म ज्ञान के समान असम्भव है 'सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'। मैंने त्रिपिटक के लिए अपने इस प्रबन्ध में बौद्ध विचारधारा शब्द का प्रयोग किया है तथा इन दोनों विचारधाराओं की अगाधता तथा गम्भीरता के कारण 'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च' की ही पूर्णतया मेरे द्वारा स्वीकृति है 'तथापि न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' में सबल एवं भरपूर आश्वासन दिया गया है। करुणावरुणालय साम्बशिव की प्रणति के साथ अपूर्णता से पूर्ण यह कृति विद्वानों के समक्ष विनम्रता के साथ प्रस्तुत की जाती हैं।

मैं उन सभी विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी कृतियों के अध्ययन से मेरा ज्ञानवर्धन हुआ तथा जिनसे मुझे यथावश्यक मार्गदर्शन मिला। जिनमें प्रो॰ बलदेव उपाध्याय, प्रो॰ बदरीनाथ जी शुक्ल, डा॰ आर॰के॰ शर्मा, प्रो॰ आर॰ सी॰ पाण्डेय, प्रो॰ द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, डा॰ धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री, प्रो॰ शिवशेखर मिश्र, पं॰ केशव देव शास्त्री उल्लेखनीय है। मैं डा॰ गोविन्दशरण त्रिगुणायत का सदैव ऋणी रहूँगा जिन्होंने मेरे अनुसंधान के श्रीगणेश की प्रेरणा दी और जो अपनी अमित प्रतिभा आभा से मुझे सदैव आभासित करते रहे है। मैं दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष मुकुन्दमाधव-वल्लभा श्री राधा के परम आराधक तथा भारतीय दर्शन के सुप्रसिद्ध वरेण्य विद्वान् प्रो॰ रसिकविहारी जोशी जी की अहेतुकी कृपा के लिए अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ कि जिन्होंने अपने बहूमूल्य सुझावों से मुझे लाभान्वित किया और अभी पूर्ण स्वास्थ्य लाभ की प्रतीक्षा न करके तत्काल भूमिका लिखकर मुझे अपने स्नेह तथा आभार में बांधा है। दिवगंत माता पिता के प्रसाद पुञ्ज इस महान् कार्य की पूर्ति कदापि सम्भव न हो पाती यदि मेरे मित्र डा॰ रमेशचन्द्र द्विवेदी, धर्मपत्नी, पुत्र शारदा रंजन दीक्षित तथा पुत्रवधु सुषमा रानी का सहयोग न मिलता अतः उन सभी के लिए मेरी भावभीनी मधुरिमामयी अनुभूतियां ही हैं।

अन्त में मैं भारतीय विद्या प्रकाशन के उदारचेता प्रसन्न आनन श्री किशोर चन्द जैन के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ कि जिनको तत्परता से इसका प्रकाशन

सम्भव हो सका है। छपने में त्रुटियां स्वाभाविक हैं अतः इस प्रकार की त्रुटियों के लिए बुधजन क्षमा करेंगे।

उद् यानं ते पुरुष नावयानम्

शिवरात्री, संवत् 2035
'स्वस्त्ययनम्' एम-33
साकेत, नई दिल्ली

सुरभारती उपासक
विदुषां विनयावनत
जगदीश दत्त दीक्षित

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

पृष्ठ सं०

प्रथम अध्याय

(क) ब्राह्मण विचारधारा का महत्व ।

(ख) ब्राह्मण विचारधारा का उदय और विकास ।

(ग) ब्राह्मण विचारधारा के अंग और प्रत्यंग ।

(घ) ब्राह्मण विचारधारा के मूल स्रोत ।

(संहिता ग्रंथ, ब्राह्मण ग्रंथ, आरण्यक, उपनिषद् और वेदांग साहित्य)

ओ३म्

ब्राह्मण विचाराधारा जो सभी धाराओं का आदिम एवं अविरल स्रोत रही है, इतनी बलवती, इतनी पावन, इतनी उदात्त और इतनी महिमामयी थी कि अल्पकाल में ही उसने सम्पूर्ण भारत पर अपना एकाधिकार कर लिया। किन्तु "द्विषन्ति मन्दाश्चरितं महात्मनाम्" के अनुसार ब्राह्मण विचारधारा का यह महिमामय गौरव विपक्षियों की आँखों में खटकने लगा और समय-समय पर उसकी क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ होती रहीं। इन्हीं क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के मध्य उस विचारधारा का स्वरूप और निखर आया, प्रोज्ज्वल, प्रोद्भासित हो गया, वह अत्यधिक बलवती और वैशिष्ट्य प्रधान हो चली। धीरे-धीरे जीवन और जगत् में जो कुछ भी उदात्त यथा पावन है, जो कुछ भी महान् है उन सबका प्रतिनिधित्व करने वाली विचारधारा के प्रतीक से अभिहित हुई।

(क) ब्राह्मण विचारधारा का महत्व—

कई दृष्टियों में भारत में ही नहीं अपितु यह विश्व में अतुलनीय है। इसकी सर्वतोमुखी एवं प्रमुख प्रवृत्ति समन्वय की रही है युग-युग से चली आ रही विरोधी विचारधाराओं में समन्वय स्थापित करने का श्रेय सदैव ब्राह्मण विचारधारा को रहा है। सबसे आदिम संस्कृति जिसके अवशेष हमें सिन्धु की घाटी सभ्यता में लभ्य होते हैं, स्पष्ट रूप से प्रभावित करते हैं कि वह संस्कृति आर्य संस्कृति से प्राचीनतर थी, इस संस्कृति के तत्व आर्य संस्कृति से सर्वथा भिन्न थे। इसमें पशु धर्म और असुर धर्मों की एक समन्वित रूपरेखा दिखाई पड़ती है। आर्य संस्कृति को भारत में पदार्पण करते ही इस संस्कृति से होड़ और संघर्ष लेना पड़ा था। उस संघर्ष के परिणाम स्वरूप ही उस संस्कृति के अनेक तत्व आर्य संस्कृति या ब्राह्मण संस्कृति ने आत्मसात् कर लिए। आगे चलकर आर्य संस्कृति ने उसे शैव धर्म के अभिधान से अपने एक अंग के रूप में विकसित किया।

विरोधी[1] विचारधारा में यावनी विचारधारा के राजकीय परिवार के व्यक्ति जिनमें कट्टर हिन्दू विरोधी औरंगजेब के भाई दारा शिकोह द्वारा उपनिषदों तथा योग वासिष्ठ का फारसी भाषा में अनुवाद है यह फारसी अनुवाद 17वीं शताब्दी में दारा शिकोह द्वारा किया गया। जिस फारसी अनुवाद को पढ़कर उसी के आधार

1. प्राचीन भारतीय साहित्य-विंटरनित्ज पृ० 16

पर 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् 'पेरो' ने लैटिन रूपान्तर प्रकाशित किया। यद्यपि इस लैटिन अनुवाद में कितनी ही त्रुटियां, अपूर्णताएँ रही हैं तोभी ज्ञान के प्रसार की दृष्टि से इसका बहुत महत्व रहा है क्योंकि शेलिंग और शापनहावर जैसे जर्मन दार्शनिक इसी ग्रंथ के द्वारा भारतीय दर्शन की ओर आकृष्ट हुए। 'पैरों' के ग्रन्थ में हम उपनिषदों का वह रूप नहीं पाते जो भारतीय भाषा विज्ञान तथा भारतीय दर्शन की व्यापक भूमिका पर आज हमें स्पष्ट है। किन्तु 'पैरो' द्वारा उपनिषदों के अनुवाद के विषय में शापनहावर के उद्गार थे कि 'यह ग्रन्थ मानवी चेतना के उत्कृष्टतम विचार हैं।'

विचारधारा का संमृष्ट स्वरूप

विचारधारा के अन्तर्गत धर्म, संस्कृति तथा सभ्यता आदि तत्वों का सम्मिश्रण होता है जो विचारधारा के प्राणभूत तत्वों में गिना जाता है अतः इन पर सूक्ष्म दृष्टि से दृष्टिपात करना अनिवार्य है। धर्म के अन्तर्गत प्रायः वे ही संस्कार आते हैं जो संस्कृति में है। हमारे यहाँ धर्म व्यापक शब्द है। वह सम्पूर्ण जीवन को शासित करता है। धर्म और संस्कृति में अन्तर केवल इतना है कि धर्म में श्रुति, स्मृतियों और पुराण ग्रन्थों का आधार रहता है। धर्म और संस्कृति का कोई विरोध नहीं है। धर्म देश निरपेक्ष है, किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध देश से अधिक है।

संस्कृति के दो रूप प्राप्त होते हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। इन दोनों रूपों में सम्बन्ध अनिवार्य रूप में रहता है। मनुष्यों के बाह्य आचरण (दैनिक कृत्य) उनके विचारों और मनोवृत्तियों के परिचायक होते हैं। संस्कृति की परिभाषा करते हुए विदेशी विद्वान् 'रेडफील्ड'[2] ने लिखा है कि 'संस्कृति परम्परागत सूझबूझों के संगठित समूह को कहते हैं।

वस्तुतः ब्राह्मण, आर्य या वैदिक विचारधारा में आर्य शब्द का वेदों में प्रयोग हुआ है वहां आर्य तथा अनार्य दोनों के कृत्यों के अवबोध की क्षमता इन्द्र वरुण देवों में दर्शाई है। ऋग्वेद में वारुणी परम्परा में धृतव्रती के अनुशासन में ऋत के बन्धन एवं पालन के कारण आचार का महत्व था अतः आर्य यत्र तत्र गमन द्वारा अपने आचरण का प्रसार करता है। योगवासिष्ठ[3] में कर्तव्यों के आचरणकर्ता तथा अकरणीय के निषेध करने वाले को आर्य कहा है जो स्वाभाविक चरित्र निष्ठ है वह आर्य है जो आचारानुकूल, शास्त्रानुकूल शुद्ध चरित्रानुकूल तथा यथातथ्य, वस्तुस्वभाव से व्यवहार करता है वह आर्य है यह विचारधारा की उदात्तता का ही उदाहरण है

2. भारतीय संस्कृति-गुलाबराय पृ० 23
3. कर्तव्य माचरन् काममकर्तव्यमवाचरन्। यथाचारं यथाशास्त्रं।
यः स आर्य इति स्मृतः ॥ यो० वा० 126। 54, 55

कि ऋग्वेद काल में भी एक ही परिवार के सदस्य विभिन्न कर्मों में रत रहते हुए भी एकत्र बसते थे। ऋषि[4] ने कहा है कि हमारे कर्म विभिन्न प्रकार के हैं शिल्पकार काष्ठ की कामना, ब्राह्मण यजमान की कामना, और वैद्य रोग की कामना करता है। अपने परिवार के विषय में कहता है कि मैं स्तोता हूँ, मेरा पुत्र वैद्य है, और कन्या जौ पीसने का कार्य करती है। हम सब पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं। शनैः-शनैः यह जातियों के विभाजन तथा वर्णाश्रम व्यवस्था आदि में भी संकीर्णता आ गई।

ब्राह्मण विचारधारा-एक उदात्त विचारधारा—

'सर्व खल्विदं ब्रह्म' ब्रह्म की अमरता को अनुप्राणित करने वाली यह विचार-धारा एक अमर तथा सनातन सरणि है। यदि निष्पक्ष रूपेण नयन निक्षेप करें तो इस विचारधारा की सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता तथा सर्वांगीणता की पूत तथा अगाध अजस्र त्रिवेणी में विश्व की समस्त विचार पद्धतियाँ डुबकी लगाती प्रतीत होती हैं। इससे मेरा अभिप्राय यह कदापि नहीं कि अन्यत्र कुछ भी नहीं है अपितु अन्यत्र नवीन कुछ भी नहीं है जिसका अभाव हम इसमें प्राप्त कर सके कितने भी मौलिक कहे जाने वाले वे विचार भी यहाँ येन केन प्रकारेण अनुस्यूत अवश्य मिलेंगे।

इस विचारधारा की चिरन्तनकालीनता इसके लोक मंगल तथा लोक रक्षण सामर्थ्य के बल पर अवलम्बित है इसका प्रधान कारण इसकी आस्तिकता और नैतिकता का सुन्दर समन्वय है क्योंकि विचारधारा वास्तव में आस्तिकता तथा नैतिकता के सुव्यवस्थित रूप का ही नाम है। इन्हीं के माध्यम से जीवन में सत्यं शिवं सुन्दरम् की मनोरम झांकी के नयनाभिराम दर्शन होते हैं। ये ही जीवन के उदात्त तथा सौन्दर्य आधायक तत्व हैं। इनके अभाव में, विचारों में अनुशासन का अभाव अव्यवस्था तथा अपूर्णता, विघटन, निरुद्देश्यता, अस्थिरता आदि विकृतियां आ जाती हैं। वैसे कतिपय व्यक्ति आस्तिकता से सहमत न भी हो तो भी नैतिकता तो इसका अपरिहार्य अंग है और नैतिकता भी यदि धर्म (आस्तिकता) पर आधारित नहीं तो उदात्तता से बहिर्गत है क्योंकि नास्तिकों (अनैतिक व्यक्तियों) का जीवन भी कुछ समय तक चल सकता है किन्तु यह सर्वविदित ही है कि चार्वाक जैसे नास्तिक दर्शनों का प्रचलन हुआ। धार्मिक क्षेत्र में नास्तिक मतों के कितने वेगौध आए किन्तु वे कुछ ही समय में विलीन हो गए। इन नास्तिक मतों का उल्लेख जैन तथा बौद्धों ग्रंथों में उपलब्ध है। उन मतों में स्वच्छन्दतावाद का ही आधार था वे नैतिकता तथा आस्तिकता से दूर होते गए और समाज ने कुछ ही समय में उनकी दूषित मनोवृत्तियों से

---

4. नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षारिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परि स्रव।
कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणो नना। ऋ० 9। 112। 1,3

अलग होकर उन्हें हेय रूप दे दिया। बौद्ध तथा जैन मतों का आधार पूर्णतया नैतिक ही नहीं अपितु उदात्त नैतिकता है इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि वे दैवी आस्तिकता के प्रति या तो मौन रहे या उसका प्रच्छन्न रूप रहा किन्तु वे भयंकर भौतिकवादी नहीं थे उनमें भौतिकवादी मार्ग में विरक्ति लाते हुए आचरण पर बल देते हुए परिसमाप्ति उदात्त आस्तिकता में ही निहित थी वे दूसरों के कथन मात्र में अन्धानुसरण का अनुगमन नहीं करते अपितु स्वानुभव का पूर्ण अवसर देकर किसी भी तथ्य को स्वीकृत करने पर बल देते हैं। महात्मा बुद्ध ने ही इस बुद्धिवादिता का समावेश मौलिक रूप में किया।

विचारधारा की आध्यात्मिकता

इसमें आध्यात्मिकता का विशेष महत्व रहा है। नश्वर शरीर का त्याग, परलोक, सत्य, अहिंसा, तपश्चरण का महत्व, ईश्वरीय न्याय में पूर्ण विश्वास, आवागमन में आस्था। यह संस्कृति तपोवन की ही नहीं अपितु संघर्ष संकुल मानव जीवन के उद्धार हेतु रही है इसमें आत्मा के संकुचित अर्थ को न लेकर सर्वव्यापक रूप में सर्वभूतहिते रतः, तथा बहुजन हिताय तथा आत्मवत्सर्व भूतेषु आदि भावनाओं का ही प्राधान्य रहा और सभी के सुख की कामना ही प्रधान लक्ष्य रहा तभी तो इस नश्वर शरीर को स्वेच्छा से त्यागने वाले शिवि, दधीचि तथा मोरध्वज जैसे उदाहरण हमारे सम्मुख हैं इस विचारधारा में तप, त्याग और संयम को महत्व दिया गया है यह साधना का मार्ग रहा है। परलोक तथा आवागमन तो चार्वाक को छोड़ सभी दर्शनों को मान्य रहा है तथा मानव जीवन में वैषम्य का आधार भी पूर्व संचित कर्म ही माने गए। भाग्यवादिता को भी महत्व दिया गया किन्तु कर्मवाद की ओर उन्मुख प्रवृत्ति ने शुभ कार्यों की ओर भी अग्रसरित किया है अकर्मण्यता की ओर नहीं। दुखः की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए ही मानव सतत प्रयासशील रहा है। इस निवृत्ति को ही मोक्ष कहा गया है।

आदर्श-प्रियता—यह ब्राह्मण विचार धारा की तीसरी महत्वपूर्ण प्रवृत्ति रही है। यद्यपि ऋग्वेद में हमें यथार्थोन्मुख संस्कृति की झांकी मिलती है किन्तु वह धीरे-धीरे सर्वदा आदर्श परक होती गई है। इसके कई कारण थे उन पर विस्तारपूर्वक विचार करना न तो आवश्यक ही है और न करना ही चाहते हैं यहां केवल इतना ही कहना अभीष्ट है कि ब्राह्मण विचारधारा अपने प्रारम्भिक काल में यथार्थप्रिय थी क्योंकि वह युग संघर्ष का युग था। आर्यजाति को आर्येतर जातियों से संघर्ष लेकर अपने अस्तित्व की रक्षा तथा अपने प्रभुत्व की स्थापना करनी थी। इन वाह्य संघर्षों में अत्यधिक व्यस्त होने के कारण वे आन्तरिक विकास को अधिक महत्व नहीं दे पाए। धीरे-धीरे जब उनकी प्रभुसत्ता स्थापित हो गई और वे एक विजयी राष्ट्र के रूप में प्रतिष्ठित हो गए तब उनकी दृष्टि अपने आन्तरिक विकास

की ओर उन्मुख हुई। सम्पूर्ण उपनिषत्साहित्य इसी आन्तरिक विकास का इतिहास है। हमारे अन्तर में क्या-क्या है इसकी सुन्दर मीमांसा तैत्तिरीयोपनिषद् में भृगु वारुणी संवाद में की गई है।

ऋग्वेदिक सभ्यता 'अन्नं ब्रह्मेति' के अधिक समीप थी। धीरे धीरे वही सभ्यता उपनिषत्काल के आनन्दं ब्रह्मेति को लक्ष्य बनाकर विकसित हुई। परिणाम स्वरूप एक गूढ़ आध्यात्मिक आदर्शवाद का प्रवर्तन हुआ यह गूढ़ आध्यात्मिक आदर्शवाद थोड़ा वैयक्तिक तथा ऐकान्तिक होने लगा फलतः ब्राह्मणों ने अपनी इस कमी को पहचानने की चेष्टा की और उन्होंने अपने आदर्शवाद को गूढ़ आध्यात्मिकता की सूक्षतम भूमि से उठाकर कर्मकाण्ड की यथार्थ भूमि पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया इस प्रयास में सबसे अधिक योगदान तात्कालीन ब्राह्मण वर्ग का था सम्भवतः यही कारण है कि इनके नाम पर ही इनके रचे गए कर्मकाण्डीय ग्रन्थों का नाम भी ब्राह्मण ग्रन्थ वेद का ही विशिष्ट अंग बन गए। जैसा 'मंत्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' की संगति से ज्ञात होता है।

इस प्रकार ब्राह्मणों ने वैदिक विचारधारा को, जो संसार से विरक्त हुए कुछ क्षत्रियों के हाथों पड़कर शुष्क आध्यात्मिक आदर्शवाद की ओर बढ़ती चली जा रही थी, उस पर नए ढंग से विचार करके नई विचारधारा प्रस्तुत की। यही विचारधारा आगे चलकर सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में घात या प्रतिघात, क्रिया या प्रतिक्रिया के रूप में विकसित होती चली गई। जब उपनिषदों का निवृत्ति मार्ग अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया तो ब्राह्मणों के प्रवृति मार्ग का उदय हुआ फिर इस प्रवृति मार्ग की प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना हुई जिसके द्वारा दोनों मार्गों में सन्तुलन बनाए रखने की चेष्टा दिखाई पड़ी किन्तु ब्राह्मण विचारधारा के इस सम्पूर्ण प्रवाह में सर्वत्र आदर्शभावना जागरूक रही है इसलिए ब्राह्मण विचारधारा की यह प्राणभूत विशेषता रही है। इस विचारधारा की दृष्टि व्यापक रही है जिसका विवेचन आध्यात्मिकता में किया जा चुका है कि ब्राह्मण विचारधारा में "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाले सिद्धान्त की पूर्ण प्रतिष्ठा मिलती है। सर्वकल्याण की भावना वास्तव में ब्राह्मण विचारधारा की व्यापक दृष्टि का ही परिणाम थी कि ब्राह्मण प्रातः उठकर व्यक्तिगत कल्याण की कामना न करके विश्व[5] के कल्याण की कामना करते थे।

आचार-प्रवणता

ब्राह्मण विचारधारा की प्रवृत्ति सदैव आचार प्रवणता की ओर रही है। जीवन और जगत् के सभी क्षेत्रों में ब्राह्मणों ने पावनता की प्रतिष्ठा करने का पूरा पूरा

---

5. सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा—भवेत्।
न त्वहं कामये राज्यं—कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

प्रयास किया था। यह पावनता मानवता के विकास के लिए प्रतिष्ठित की गई थी। आम्नायवेद्य ब्राह्मण विचारधारा की महनीय कीर्ति सामाजिक उन्नतिकरण में निहित है क्योंकि कोई भी विचारधारा जो मानव को उदात्त बनाते हुए उसका अभ्युदय करे, वही सर्वमान्य अथवा सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है। समाज के अभ्युदय हेतु सिद्धान्त बहुल होना कोई उपादेयता प्रदान नहीं करता अपितु क्रियात्मक पक्ष का ही प्राधान्य श्रेयस्कर तथा चिरन्तनकालीन रूप देता है। इसमें आचार प्रवणता प्रमुख-रूपेण वर्णित है। (आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः) (आचारः परमो धर्मः) की उक्तियों में सदाचरण पर बल दिया है। जिस विचारधारा में मानव समाज के स्तर को संकीर्ण मनोवृत्तियों, स्वार्थपरता, कुचेष्टाओं की पूर्ति, वासनामय जीवन की कुपरिणामता आदि से हटाकर भद्र भावनाओं के परिवेश द्वारा उनकी उदात्तता, उत्कृष्टता तथा विशालता की ओर ले जाए वही श्रेष्ठ विचारधारा है। साथ ही जिस विचारधारा का अनुशीलन मानव की भौतिक अकांक्षा की उपेक्षा न करता हुआ आध्यात्मिक पिपासा की तृप्ति भी जुटा सके तथा उभयविध समन्वय एवं सामंजस्य की महिमा एवं गरिमा से मण्डित होकर मानवता की निकष के सभी गुणों के आदान प्रदान-मंजुल, सरस, एवं स्निग्ध अवसरों को प्रदान करे वही महत्व-शाली तथा अनुकरणीय विचारधारा कही जा सकती है। इस पावनता को हम ब्राह्मण विचारधारा में कई रूपों में प्रतिबिम्बित पाते हैं। वैदिक संस्कृति में मानव जीवन की पवित्रता, आचरण की पवित्रता, आजीविका की पवित्रता, विचारों की पवित्रता आदि पर सर्वत्र बल दिया गया है। इतना होते हुए भी ऋग्वैदिक पावनता में हमें यथार्थता की झलक मिलती है। यम यमी के संवाद तथा अगस्त्य एवं लोपा-मुद्रा के संवाद इस दृष्टि से उदाहरणीय है। अथर्ववेद में आकर यह यथार्थता और भी कठोर हो गई। उसमें स्वार्थ सिद्धि के लिए मानव जितने यथार्थ साधन अपना सकता है उन सबका वर्णन किया गया है। इस कठोर यथार्थता की प्रतिक्रिया के रूप में उपनिषदों की विचार सरणि का उदय हुआ जिसकी प्रतिष्ठा आध्यात्मिक आदर्श-वाद पर की गई। उपनिषदों के इस आध्यात्मिक आदर्शवाद में आध्यात्मिक आचार-प्रवणता को बल दिया जिसके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक उन्नति को ही जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया गया और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दृश्य जगत् से पलायन की प्रवृत्ति का भी उदय हुआ। इस पलायनवाद की प्रतिक्रिया के रूप में ही ब्राह्मण युगीन आचारों का उदय हुआ इन आचारों में फिर यथार्थ की झांकी दिखलाई पड़ी। यह यथार्थ अथर्ववेदीय यथार्थ न होकर याज्ञिक यथार्थवाद था। शनैः शनैः यह यथार्थवाद भी कुछ कठोर विकास को प्राप्त होता गया जिसमें कि यज्ञ ही सब कुछ हो गया था पुनः उसकी प्रतिक्रिया हुई और जिसके परिणाम स्वरूप सामंजस्यवादी आचारवाद का उदय हुआ। यह सामंजस्यवादी आचारवाद ही ब्राह्मण विचारधारा का प्राणभूत तत्व है। इस आचारवाद की अभिव्यक्ति कल्प सूत्रों और स्मृतियों में

उपलब्ध होती है । बाद में चलकर इस आचारवाद में बहुत सी रूढ़ियां उत्पन्न हो गई थीं जिनकी भी प्रतिक्रिया हुई ।

समन्वयात्मकता—

ब्राह्मण विचारधारा में एक प्रमुख प्रवृति मिलती है जिसके कारण वह सदैव अपने स्पर्श सम्पर्क से अन्य विचाधाराओं को आत्मसात् करती रही है वह है समन्वयात्मक दृष्टिकोण—आत्मा की एकता के आधार पर अनेकता में एकता । सर्वत्र सत्य के दर्शन यथा विभिन्न रुचि होते हुए भी सभी के प्रति सम्मान एवं स्नेह तथा सौजन्य निबाहने की प्रवृत्ति । अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय के माध्यम से विचारों का आदान-प्रदान सुगमतया सम्भव हो जाता है । उत्सव प्रियता भारतीयों की सामूहिक भावना का द्योतक है । तीर्थयात्रा, रक्षाबन्धन, विजयादशमी, दिवाली, गंगास्नान (कार्तिकपूर्णिमा) तथा होली मिलन सभी सामाजिकता की अभिवृद्धि के ही साधन हैं । सनातन सत्यों के अनुशीलन में पूर्ण आस्था होने के कारण न्यायप्रियता तथा पापाचरण, यदि अपने प्रिय का भी, तो वह भी दण्डनीय था । अपरिग्रह की भावना में व्यक्तिपरता भी नहीं, न समाजपरता अपितु पारिवारिक वृत्ति का विकास है । विभिन्न द्रविड़, आर्येतर, यावनी संस्कृतियों का सम्मिश्रण जैन तथा बौद्ध संस्कृतियों का भी मूल स्रोत यही है । किन्तु कतिपय प्रमुख तत्वों पर ही विशेष बल दिया गया है । अतः समन्वयशीलता ही प्रधान अंग रहा है ।

संश्लिष्ट एकता—एकता सूत्र में बाँधने वाले सामाजिक रीति-रिवाज यथा बद्रीनारायण से लेकर कन्या कुमारी तक आसेतु धर्मपीठों चारों धामों की स्थापना भारतीयता के पोषक, प्रान्तीय भाषाई सभी का समन्वय किया गया है क्योंकि ब्राह्मण विचारधारा का ध्येय व्यापक होने के कारण इसमें स्वतंत्र चिन्तन, बाह्य उपादेय तत्वों का आत्मसात् करने की अपूर्वक्षमता तथा समयानुकूल परिवर्तनशीलता इसके विशेष गुणों के अन्तर्गत आते हैं । इसी विचार स्वातंत्र्य का विशिष्ट परिणाम ही श्रुति स्मृति षड् दर्शन जैन तथा बौद्ध विचारधारा लोकायत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि मतमतान्तरों की बहुलता में दृग्गोचर होता है । वस्तुतः सभी विचारधाराओं में चेतना का एक ही स्रोत रहा है वह विविधता से एकता की ओर अग्रसर होने की नैसर्गिक निधि इसमें संगमित रूपेण लभ्य है । मनुस्मृति आदिमें शास्त्रों के सम्पर्क से रहित होने पर ही क्षत्रिय जातियाँ वृषल तथा दस्यु बन गई । जैसे पौन्ड्र, द्रविड़, यवन आदि दस्यु कहलाए । महात्मा बुद्ध ने भी आचरणहीन को वृषल कहा है । अतः यह संश्लिष्ट एकता भी महत्वपूर्ण पोषक तत्व इस विचारधारा में रहा है ।

ब्राह्मण विचारधारा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होने वाली सबसे प्रमुख विचारधारा बौद्ध दर्शन के अभिधान से अभिहित की जाती है । **बौद्ध दर्शन वास्तव में ब्राह्मण विचारधारा की परिष्कृत पुनरावृत्ति है । देश काल परिस्थितियों के परिणाम**

स्वरूप उस विचारधारा में जो विकार आ गए थे उन विकारों को निराकृत करके अपने स्वतंत्र चिन्तन के ढांचे में ढालकर भगवान् बुद्ध ने नए अभिधान से ब्राह्मण धर्म का ही उद्घोष किया है। किन्तु वे अलौकिक महापुरुष थे, दिव्य दृष्टि सम्पन्न महात्मा थे, अद्वितीय तपस्वी थे, अतुलनीय साधक थे, अनिर्वचनीय आचार प्रवण थे उनकी इन विशेषताओं से निर्मित उनके चिन्तन के सांचे में ढला हुआ ब्राह्मण धर्म ही बौद्ध धर्म के नाम से विश्व धर्म के पद पर आसीन हुआ था।

(ख) ब्राह्मण विचारधारा का उदय और विकास

विचारधारा शब्द में उन सभी दार्शनिक तथा धार्मिक प्रवृत्तियों को समाहार हो जाता है जिनके द्वारा भारतीयता, भारतीय संस्कृति, भारतत्व का अभिधान दिया जा सकता है। क्योंकि दर्शन का गम्भीर अध्ययन मानव को प्रत्यक्ष जागतिक चमत्कृतियों की निःस्सारता से दूर ले जाकर इसकी गुह्यतम गुत्थियों के विषय में विचारने का अवसर प्रदान करता है जिसके द्वारा उसे ज्ञात होता है कि जीवन के इन्द्रिय जनित सुखों की सीमा सुनिश्चित है, तथा वस्तुतः ये सुख नश्वर है और स्वर्ग और मोक्ष के सुख की तुलना में नितान्त नगण्य है। प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा का अध्ययन यही निर्दिष्ट करता है कि कर्म फल के भोगने के हेतु बारम्बार इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। इस जरामरण के बन्धन की मुक्ति के साधनों के द्वारा मानव अपने पुण्य फलों से कुछ काल तक स्वर्ग में रह सकता है किन्तु पुण्यों के क्षीण होने पर उसे पुनः इसी जन्म मरण के बन्धन में पड़ना पड़ेगा। इस कारण मुक्ति ही सर्वोत्तम पद है।

आश्रम विधान और आचार शास्त्र दोनों ही आध्यात्मिक विकास के लिए मानव के अन्तः तथा बाह्य कर्मों, आचरणों की सत्यता एवं निर्दोषता पर बराबर बल देते हैं अतः सर्वतः शुद्धि का विशेष महत्व है अथवा यह कह सकते हैं कि मानव को मनसा, वाचा, कर्मणा पूत कर्म युक्त होना अनिवार्य है। इसीलिए इस प्रकार की उदात्तता एवं पूतता सृष्टि के आदि तत्व ब्रह्म से लेकर सामान्य वस्तु में भी अनुबद्ध है।

धार्मिक क्षेत्र में देवों का प्रमुख महत्व प्रारम्भ से ही दृष्टिगत होता है। ब्राह्मणिक धारणा में देवों की अपरिमित शक्ति,अप्रतिम शौर्य एवं यथेच्छ भौतिक सुखों की प्राप्ति के कारण देवों की अतिशय सामर्थ्य में वैदिक कालीन मानव की आस्था दृढ़ीभूत होती गई और जनमानस में यह धारणा रही कि अभ्युदय के लिए यज्ञ तथा देवों की भक्ति के द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करके मनोनुकूल, धन, ऐश्वर्य, सन्तान, राज्य तथा शत्रु विनाश आदि प्राप्त किए जा सकते हैं जो अन्यथा दुष्प्राप्य या अप्राप्य ही है। उन देवों के पौराणिक चरित्र को आदर्श मानकर अपने व्यक्तित्व को उस दिव्य साँचे में ढालने का प्रयास धार्मिक विचारधारा के ही अन्तर्गत आता है।

इस विचारधारा के दो विभाग स्थूल रूप में किए जा सकते हैं आधि दैविक और आध्यात्मिक। आधि दैविक जिसे हम धार्मिक तथा आध्यात्मिक जिसे हम दार्शनिक कह सकते हैं और यही ऋत है, प्राकृतिक धर्म है, इस प्राकृतिक ऋत धर्म का पालन सभी के लिए अनिवार्य है।

ससीम दृष्टि ऋषियों ने ससीम शक्ति युक्त इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों के व्यक्तित्व के आधार पर उनकी क्षमताके अनुकूल उपलब्धि भी प्राप्त की। इसी कारण वरुण को व्रत पालक, ऋतावृध, ऋत स्पर्श, आदि विशेषण दिए गए। ऋत[6] तथा सत्यानुप्राप्ति ही प्रधान लक्ष्य बन गया। इष्ट प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के अद्भुत एवं अलौकिक उपाय आगारों से ओतपोत ग्रन्थ वेद ही हैं। वैदिक प्रवृत्ति मार्गानुयायी धर्म की दीक्षा देता हुआ विश्व चक्र को चलाने वाले ऋत का ही चितेरा बन गया क्योंकि उस समय उसको विश्व के कण-कण में ऋत का स्पन्दन दृष्टिगत हुआ और तब वह स्वयं भी ऋत के समान ही अहर्निश कर्तव्य निष्ठ रहकर ऋत से प्रभावित हो उद्घोष करने लगा।

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यम्यरिम मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥ ऋ० 8।100।4

ओ गायक! देख मुझे। महत्ता में मैं संसार को पीछे छोड़ आया हूँ। मुझे ऋत के आदेश बढ़ा रहे है, पीसने वाला मैं संसार को पीस डालूंगा। इतना ही नहीं अन्यत्र वहुशः शौर्यकृत्यों से भ्राजित वर्णन लभ्य हैं। यथा इन असुरों की माया टूट चुकी है और तू वरुण! मुझे चाहता है। हे राजन् ऋत के द्वारा अनृत को विविक्त करता हुआ तू मेरे राष्ट्र का अधिपति बन। ऋत[7] और अनृत को विविक्त करके देखने वाले राजा राष्ट्रों की शोभा होते थे।

वीरता के प्रदर्शक मंत्रों में अपने समान व्यक्तियों में ऋषभ[8] और सपत्नों का जेता, हन्ता, इन्द्र के समान अक्षत अरिष्ट हूं, सपत्न मेरे चरणों में गिर गए हैं इन्हें इतना नीचा बना कि ये झुक कर बात करें। सबके योग क्षेम (अप्राप्त धन की प्राप्ति व मिले धन की रक्षा) को लेकर में उत्तम बन जाऊं ये मेरे पैर के नीचे मेंढक की भांति प्रसन्न होकर बोलने की कामना की है।

"इमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यां वैश्याय च शूद्राय

6. ऋ० 1।2।8
7. ऋतेन राजन्ननृतं विविंचन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। ऋ० 10।124।5
8. ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
अहमस्मि सपत्नहेन्द्रइवारिष्टो अक्षतः।
योगक्षेमं व आदायाहं—मण्डूका उदकादिव ॥ ऋ० 10।166।1,2,5

स्वाय चारणाय च"। ऋग्वेद की यह कल्याणमयी वाणी सभी मनुष्यों के लिए है इसका उपदेश सभी को दिया जाना चाहिए, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने और पराए संसार के सभी मनुष्यों को।

यद्यपि कर्मकाण्ड के लिए अनेक यज्ञपरक मंत्र उद्घृत किए गए हैं, ज्ञानकाण्ड के लिए भी नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त आदि के उद्धरण सुलभ हैं यथा वेदमाता गायत्री मंत्र "तत् सवितुः" हे सविता हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग पर लगाओ तथा (आनो भद्राः[9] क्रतवो यन्तु विश्वतः) चहुदिशि से हमारे मन में कल्याणकारी विचार उठें। शिव संकल्प मस्तु (यजुर्वेद) में मन शुभ संकल्प वाला तथा अविरतो दुश्चरितात्) में दुश्चरित्र व्यक्ति को उपासना के लिए अयोग्य बताया है। हिरण्य गर्भ जनयामास पूर्व (स नो बुध्या शुभया संयुनक्तु) आदि मंत्रों में शुभ बुद्धि की कल्पना की गई है। मन्त्र ब्राह्मणात्मक वेद में हमें प्रतिमोपासना की भी झलक प्राप्त होती है क्योंकि अंगी की उपासना उसके किसी अंग के माध्यम से होती थी उसी का वर्णन हमें मिलता है।

हे रात्रि (प्रकृति)। संवत्सर[10] की प्रतिमास्वरूप तेरी हम उपासना करते हैं वह तू हमारी प्रजा को धन सन्तान से युक्त कर। यहां संवत्सर का अर्थ प्रजापति है परमेश्वर है। यही अर्थ शतपथ[11] ब्राह्मण में भी है।

विद्वानों[12] ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ की पूजा की, यही उनका प्रथम धर्म था, और भगवान् से दुर्गुणों[13] को दूर करने की तथा सद्भाव सद्गुणों के पाने की प्रार्थना की गई।[14] तप से बिना तपे हुए शरीर वाला उसे प्राप्त नहीं कर सकता। जिसकी[15] सभी देव उपासना करते हैं तथा उसके[16] अनुशासन में सभी देव रहते हैं। ऋषि[17] ने मनुष्यों से कहा कि—तुम सब उस परम पुरुष को नहीं जानते, जो सबको उत्पन्न करता और पीछे समेट लेता है। साथ ही उन्होंने इन्द्रियों की तृप्ति में लगे हुए मनुष्यों को

---

9. ऋ० 1।89।1
10. संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्पहे।
    सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण संसृज ।। अ० 3।10।3
11. स प्रजापति ऐक्षत इमं वा (संवत्सरं) आत्मनः प्रतिमाभू असृक्षि यत् संवत्सर-मिति। तस्माद् आहुः—प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। श० ब्रा० 11।1।6।13
12. यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ऋ० 1।164।50
13. विश्वानि देव सवितु र्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आसुव। ऋ० 5।82।5
14. अतप्ततनुना तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत। ऋ० 9।83।1
15. विश्व उपासते। ऋ० 10121।2
16. प्रशिषं यस्य देवाः। ऋ० 10।121।2, शु० यजु० 25।13
17. यो नः पिता—सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ।। शु० यजु० 17।27

यावज्जीवन[18] योगासक्त रहने के कारण ईश्वर से बहुत दूर हो जाने का संकेत दिया है (युष्माकमन्तरंबभूव) कहकर भेद और दूरत्व द्योतित किया है। कुहरे के समान अज्ञान से ढके कुतर्की व्यक्ति परमेश्वर की उपासना का तिरस्कार कर जन्म मरण में फंसे रहते हैं।

वेद के निम्न मंत्र में भगवान् की उपासना का ही वर्णन है। ईश्वर की उपासना छोड़कर ऐहिक आमुष्मिक भोगों में प्रवृत्त अज्ञान-मिथ्या ज्ञान के पराधीन जीवों को तत्व ज्ञान सुलभ नही है। हिम गिरि आदि जिसकी महिमा[19] गाते हैं, नदी, समुद्र पूर्व दिशाएं सभी उसकी महिमा गान में लीन हैं जिसके बाहू जगत् के एकमात्र रक्षक हैं उस परम पुरुष की हम हवि दान द्वारा उपासना करते हैं जो[20] उपासकों को आत्मदा, वलदा तथा जिसकी छाया अमृत तुल्य है उस देव के लिए हवि दान द्वारा उपासना करो।

देवत्व की स्वीकृति, मानव का समर्पण तथा देवत्व प्राप्ति चरम लक्ष्य :—

देवों की अपरिमित शक्तिमत्ता तथा मानव हितों की रक्षा के कारण मानव देवों के एकछत्र राज्य के समग्र आत्म समर्पण किए बिना न रह सका। देवों का स्वभाव लोकोपकारी, सत्यपरायण तथा धोखा न देने वाला होने के कारण वे मानवों के प्रिय हो गए और वे भी सचरित्र व्यक्तित्व के पोषक तथा पापियों के विनाशक होने के कारण मानव के चारित्रिक बल को भी बढ़ाने वाले हुए। संघर्ष संकुल जीवन में अग्नि की स्तुति करते हुए कहा है कि हे अग्नि[21]। जिस प्रकार पिता पुत्र के लिए समीपवर्ती होता हैं, वैसे ही आप हमारे लिए हों। हमारे कल्याण के लिए आयोजन करें, अग्नि हमारे पिता, भाई तथा मित्र एवं स्वजातीय हैं। इन्द्र[22] के स्तवन के बिना युद्ध की विजय असम्भव थी क्योंकि इन्द्र ही शत्रु के विनाश में समर्थ हैं। पाप तथा पाश से मुक्ति के लिए धृतव्रती वरुण से सदैव प्रार्थना की जाती थी इतना ही नहीं अपने पितरों[23] को पाप से मुक्ति दिलाने की प्रार्थना वरुण से की गई है। वरुण ऋत के प्रवर्तक, सभी देवों के पोषक तथा मूर्तिमान् सत् ही कहे गए हैं। लोकहितैषी देव स्तोता के आह्वान पर तत्काल उपस्थित हो दुःख निवारण करते थे वे चिकित्सा करने

---

18. युष्माकमन्तरं बभूव। शु० यजु० 17।31
19. कस्मै देवाय हविषाविधेम। शु० यजु० 25।12
20. आत्मदा वलदा। शु० यजु० 25।14
21. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
    सचस्वा नः स्वस्तये॥ ऋ० 1।1।9
22. यस्मान्नऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते। ऋ० 2।12।9
23. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृजा नोऽव या वयं चकृमा तनूभिः। ऋ० 7।86।5

में भी समर्थ थे। उनसे प्रार्थना करते हुए ऋषि ने कहा है कि आप धन लेकर रथ सहित हमारी रक्षा के लिए आइए। हे मधु[24] के रसिक आप हमारी अहर्निश रक्षा कीजिए। ऋभुओं[25] तथा त्रसदस्यु[26] को देवत्व तथा अर्द्ध देवत्व की उपलब्धि हुई।

ऐन्द्री तथा वारुणी परम्परा

हमारे देश में धर्मों का इतिहास समय समय पर प्रादुर्भूत होने वाली विविध क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का सजीव इतिहास कहा जा सकता है। जिस समय आर्य लोग अपने सांस्कृतिक विकास के सोपान पर समारूढ़ हो रहे थे, उस समय ही क्रियात्मक तथा प्रतिक्रियात्मक विचारधाराएं विद्यमान थीं। ऋग्वेद के अध्ययन से हमें इसका स्पष्ट आभास मिलता है। ऋग्वेद में ऐसे सूक्त पर्याप्त हैं जिनमें इन्द्र और वरुण समकक्ष देवता माने गए हैं और उन दोनों को सम्राट्[27] कहा गया है। इससे प्रकट होता है कि आर्य संस्कृति के विकास का यह वह क्षण था जब कि सभी प्रातीप्य पिघलकर एक विचारधारा में समाहित हो प्रवहमान थे। धीरे धीरे आर्यों के प्रमुख देव इन्द्र और वरुण[28] एक दूसरे से अलग होते गए। ऋषि वसिष्ठ ने श्रेष्ठ धन वाले वरुण को सम्राट् (परम सत्ता सम्पन्न शासक) तथा इन्द्र को स्वराट् (स्वतंत्र शासक)

---

24. प्राचीन साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका—डा० रामजी उपाध्याय पृ० 415
25. ऋ० 4।33,38,35
26. ऋ० 4।42।9
27. इन्द्रावरुणयोरहं सम्राजोरव आ वृणे। ऋ० 1।17।1
28. सम्राडन्य स्वराडन्य उच्यते वां महान्ताविन्द्र। वरुणा महावसू।
    इन्द्रावरुण यदिमानि चक्रथुर्विश्वा जातानि भुवनस्यमज्मना।
    क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यवाति मरुद्भिरुग्रः शुभमन्य ईयते॥
    अजामिमन्यः श्नथयन्तमातिरद्दभ्रेभिरन्यः प्रवृणोति भूयः॥ ऋ० 7।82।2,5,6
    शुनः शेप की कथा से ऐन्द्री और वारुणी विचारधारा का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जबकि इन्द्र और वरुण के उपासकों की विचारधाराएं भिन्न हो चलीं थीं क्योंकि जब शनः शेप की वरुण के लिए बलि दी जाने लगी तब इन्द्र की स्तुति करने पर उसे मुक्ति मिली। इन्द्र ने प्रसन्न होकर उसे स्वर्ण-रथ दिया और अश्विनों की स्तुति करने का निर्देश दिया। अश्विनों ने उससे उषा की स्तुति करने के लिए कहा। उषा के मन्त्र पढ़ते हुए उसके बन्धन शिथिल हो गए और राजा हरिश्चन्द्र स्वस्थ होता गया। इससे स्पष्ट है कि ऐन्द्री और वारुणी विचारधाराएं विभिन्न रूपेण परिपुष्ट होकर विद्यमान थीं।
    दी सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट भाग 44 भूमिका पृ० 22, 34

ऐश्वर्य के अधिष्ठाता के रूप में वर्णित किया है । इन दोनों ने सम्पूर्ण प्राणियों की रचना की है किन्तु क्षेमकारी वरुण की सब सेवा करते हैं और तेजोमय अलंकृति हेतु इन मरुतों के साथ जाते है । इनमें से इन्द्र अनेक शत्रुओं को वश में करते और वरुण हिंसक को मारते हैं । इस परिवर्तन में दृढ़ता आई और यह भेद वृद्विगत हो गया। परिणामतः वरुण देवता के उपासकों का सम्प्रदाय इन्द्र देवता के समुपासकों से सर्वथा भिन्न हो गया । इन वरुण देवता को असुर[29] प्रचेता कहा गया जब कि इन्द्र सदैव सुर पद से अभिहित किए जाते रहे । प्रचेता का पर्यायवाची मेधा है । वरुण देवता को लेकर एक दूसरी विचारधारा प्रवर्तित हुई जो आगे चल कर पारसियों में अहुरमज्द की साधना के रूप से प्रचलित हुई । इसका वर्णन मेरी दूसरी पुस्तक ब्राह्मण-श्रमण संस्कृयों का दार्शनिक विवेचन में पढ़ें ।

ऐन्द्री तथा वारुणी विचारधारा के भेदक तत्वों का संक्षेप में निदर्शन करते हुए विषय को स्पष्ट करते हैं । एक ही मंत्रमे दोनों देवों के लिए भिन्न-भिन्न विशेषणों से किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास किया गया है । यथा इन्द्र प्रसूता वरुण प्रशिष्टा, वृत्राण्यन्य[30];समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभिरक्षते सदा, कृष्टीरन्यो[31]धारयति प्रविष्टा वृत्राण्यन्योंअप्रतीनि हन्ति, सम्राडन्यः स्वराडन्य, अद्भिर्याति वरुणः । इन उपर्युक्त कार्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्र वृत्रघ्न शत्रुहन्ता, सुखसम्पदाप्रदाता यज्ञ के प्रधान देव के रूप में पूजित है किन्तु वरुण धृतव्रती, ऋतावान् अदब्धानि वरुणस्प व्रतानि'इत्यादि विशेषणों से ऋत के[32]नियामक व्रत के पालक तथा अव्रती को पाशों से आबेद्ध करने वाले देव के रूप में बर्णित तथा पूजित किए गए हैं । इन्द्र के उपासकों के लिए यज्ञ करना अनिवार्य है । यज्ञ से प्रसन्न होकर वे भौतिक एषणाओं की पूर्ति करते हैं वहां ऋत का अनुशीलन कठोरतया नहीं है किन्तु वरुण के उपासकों के लिए यज्ञ क्षम्य है किन्तु ऋत के अनुशीलन की तनिक सी भी त्रुटि अक्षम्य है । वे (ऋत) नैतिक नियमों का पालन करना परमावश्यक मानते हैं। याज्ञिकों में भी वेदार्थज्ञ[33]तथा रहस्यज्ञ दो वर्ग थे कुछ ऋचाओं का उचारणमात्र करते थे वे रहस्य को नहीं जानते थे अन्य विद्वान्[34] अन्तर्निहित तत्त्व का परिज्ञान रखते थे । इस प्रकार इन्द्र के उपासक ऐन्द्री तथा वरुण के उपासक वारुणी परम्परा के अनुयायी हो गए ।

---

29. अब ते हेडो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः ।
क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ।।ऋ० 1।24।14
30. ऋ० 7।83।9
31. ऋ० 7।85।3
32. ऋ० 7।82।2
33. ऋ० 10।71।8,10,11
34. ऋ० 10।71।6,7

(ऐन्द्री), (ब्राह्मण), ऋषि परम्परा[35] के अनुयायी इन्द्र के उपासक अपने लिए परिवार की सुरक्षा, सुन्दरस्वास्थ्य, सांसारिकभोगों शत्रुविनाश की कामना करते थे जो कि धीरे-धीरे (ऐन्द्री) ब्राह्मण परम्परा के पोषक हो गए किन्तु वरुण के उपासक मौतिकभोगों की कामना न करते हुए बारबार जन्म लेकर मिट्टी का घर न प्राप्त करने की प्रार्थना करते रहे यथा 'मोषु वरुण[36] मृण्मयं गृह मगमम्' हे वरुण ! मैं मिट्टी का घर कभी न प्राप्त करूँ, साथ ही उनके सहस्रद्वार[37] वाले घर में कब जाऊँगा इस प्रकार का स्तवन अभीष्ट रहा। इतना ही नहीं है। वरुणोपासक (वारुणी) श्रमण, विचारधारा, वाले व्यक्ति "अपां मध्येतस्थिवास[38] तृष्णाविदज्जरितारम् अर्थात् समुद्र के जल में रहते हुए भी तृष्णापिपासा से बेचैन रहने का वर्णन है अर्थात् संसार भोगों का समुद्र है किन्तु इनसे कभी तृप्ति नहीं होती अतः वह इसके त्याग विरक्ति की ओर अग्रसर होता है अतः ब्राह्मण तथा श्रमण विचारधारा के दो भेद स्पष्टतया हमें ऋग्वेद में ही प्राप्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं श्रमणों में परिवर्तन आया कुछ वेदों की परम्परा में आस्थावान् रहे वे वैदिक मुनि अन्य, अवैदिक जिनकी वेदों में अनास्था थी, वे जैन तथा बौद्ध श्रमण हुए। प्रस्तुतशोध प्रबंध में बौद्ध विचारधारा पर ब्राह्मण विचारधारा का प्रभाव प्रदर्शित करना है। यही परम्परा वाद में ब्राह्मण (ऋषि, श्रमण, मुनि परम्परा के अभिधान से समाज में फ़ैली। (वारुणी) (श्रमण) मुनि परम्परा में घृतव्रती वरुण के गुणों को जैनियों में आज भी पाते हैं 'व्रात्य' परम्परा[39] में जैनियों के विकास का आभास मिलता है। इन दोनों परम्पराओं के प्रामाणिक विवेचन का अध्ययन में मेरी दूसरी पुस्तक ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियो के दार्शनिक विवेचन में पढ़िए। वस्तुतः उपर्युक्त निर्णय में ब्राह्मण तथा श्रमण दो परम्पराओं के निष्कर्ष को मैंने उनके कृत्यों तथा उपासकों की स्तुति के आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास किया है। अनुमोदन तो विद्वज्जन ही करेंगे।

बहुदेववाद के समर्थन में ऋग्वेद से कतिपय उद्धरण

बहुदेववादी प्रवृत्ति में हमें तैंतीस देवताओं का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 45वें सूक्त में देवताओं को यहां लाने की प्रार्थना करता है। इसी

35. इन्द्रः श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
    पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम् ॥ऋ० 2।21।6
36. ऋग्वेद 7।89।1
37. ऋ० 7।88।5
38. ऋ० 7।89।4
39. अहिंसादर्शन श्री बलभद्र जैन

सूक्त में देव समूह की पूजा का भी वर्णन है। इन तैंतीस[40] देवताओं के निवास स्थान के आधार पर ही इनकी संख्या तैंतीस हो गई यथा—हे देवगण ! तुम आकाश में ग्यारह हो, पृथ्वी पर ग्यारह हो, और अपने महत्व से अन्तरिक्ष में भी ग्यारह हो। सभी तेंतीसों देवता मेरे यज्ञ को स्वीकार करें। अन्यत्र भी कहा गया है कि उस अग्निकी तेंतीस सौ उन्तालीस[41] देवताओं ने पूजा की। इस प्रकार देवताओं की संख्या बढ़ गई। ऋग्वेद में तैंतीस देवताओं का वर्णन है और यजुर्वेद तथा अथर्ववेद[42] में भी तेंतीस देवताओं का ही वर्णन है। शतपथ[43] ब्राह्मण में त्रयस्त्रिंशत् देवों में आठबसु, अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र हैं इन सभी में पदार्थों का वास है इन्हीं से पदार्थ जीवित रहते हैं इसलिए इन्हें वसु कहा गया है। ग्यारह रुद्रों में जो शरीर में दश प्राण हैं यथा प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनजय और जीवात्मा। क्योकि इन प्राणों का शरीर से बाहर जाना ही मरण है और जब ये शरीर से पृथक् होते हैं तो प्राणी के सम्बन्धियों को रुदन कराते हैं इसलिए इन्हें रुद्र कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण[44] में पांच स्थलों पर देवताओं की संख्या 33 बतलाई है।

यह बहुदेववाद एकेश्वरवाद में परिवर्तित होता गया जैसे कहा गया है कि यजमानों के स्तोता सब देवताओं को लक्ष्य करते हुए उन्हें केवल इन्द्र[45] में ही व्याप्त मानते हैं। हे इन्द्र[46]! ये सब प्राणी एकमात्र तुम्हारे ही आधीन हैं।

उसे इन्द्र[47], मित्र या वरुण कहते हैं। वही आकाश में सूर्य है, वही अग्नि, यम, मातरिश्वा है। मेघावीजन एक ब्रह्म का अनेक रूप में वर्णन करते हैं। एक ही अग्नि अनेक कर्म[48] वाले हैं, एक सूर्यस्थान भेद से अनेकहोते हैं उषा उन सबके आगे आती है। यह सब एक ही हुए हैं।

देवों की माता अदिति[49] को सभी कुछ बतलाया गया है। आकाश, अन्तरिक्ष, माता पिता, पुत्र, सम्पूर्ण देवता, सभी जातियाँ अथवा जो कुछ भी उत्पन्न हुआ और होगा वह सभी अदिति रूप हैं। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के 55 वें सूक्त में सभी

---

40. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्यामध्येकादशस्थ। ऋ० 1।139।11
41. त्रीणि शता त्री सहस्त्राण्यग्नि त्रिंशच्च देवा नवचासपर्यन्। ऋ० 10।52।6
42. त्रयस्त्रिंशद् देवा:। अथर्व० 10।7।13,23
43. अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्ते। श० ब्रा० 11।6।3।5
44. त्रयस्त्रिंशद्वै देवा अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या:। ऐ० ब्रा० 1।2।10
45. इन्द्र ओक्यं दिधिषन्त धीतयो देवां:। ऋ० 1।132।5
46. एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक्। ऋ० 1।52।14
47. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो। ऋ० 1।164।46
48. एक एवाग्नि बंहुधा समिद्धः। ऋ० 8।57।21
49. अदिति द्यौ रदितिरन्तरिक्षम्—अदिति र्जातमदितिर्जनित्वम्। ऋ० 1।89।10

देवताओं का महान् बल एक ही है ऐसा कहकर सभी शंकाओं का निराकरण कर दिया है। इन विभिन्न वादों यथा (बहुदेववाद, एकेश्वरवाद का विवेचन विस्तार-पूर्वक हमने तृतीय अध्याय में चिन्तन पक्ष में किया है यहाँ इतना ही संकेत पर्याप्त है।

ज्ञानकाण्ड—

वैदिक ऋषि मात्र उपासक तथा भौतिक सुखोपलब्धि तक ही सीमित नहीं रहे अपितु सपर्या विधि में लीन रहते हुए उन्होंने इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि में एकत्व का सन्निवेश स्वीकार किया। अनेक शंकालु ऋषियों ने प्रश्न किया—कि अखिल ब्रह्माण्ड को किसने बनाया ? वह कौन है (कः)! 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' आदि की अनुगूँज इसी का परिणाम है। (कः) विश्वकर्मा धाता बन गया। इसी विश्व-कर्मा ने अपनी महिमा से धरती, अम्बर[50] को ताना, उसके सहस्रों हाथ हैं उसी ने द्यावा-पृथ्वी का निर्माण किया।

इस प्रकार इन ससीम देवों की शक्ति का असीम में विलीनीकरण हो गया और ब्रह्म की एक शक्ति सभी शक्तियों का उद्गम बनी केवल ब्रह्म ही असीम रहा। असत् और सत् दोनों परम व्योम में, दक्ष के जन्म एवं अदिति के उपस्थ में हमारा अग्नि ऋत का प्रथम पुत्र है, वह जीवन के आरम्भ में धेनु और वृषभ दोनो हैं। शाश्वत विधान का सर्वप्रथम प्रतीक अग्नि है। वही माता पिता दोनों है।

यह वैदिक एकता[51] अनेकता के आलोक पर ही प्रस्फुटित हुई है। सृष्टि में दो विरोधी वस्तुओं के द्वारा ही सन्तुलन बनाया है। दिन रात, ग्रीष्म शीत, युद्ध शान्ति, जीवन मरण का चक्र सदैव अजस्र प्रवाहित है वस्तुतः दो प्रतीपी पदार्थ एक दूसरे के अभाव की पूर्ति करते हैं। एक का जीवन दूसरे की मृत्यु, जीवित, मृत, जाग्रत् सुप्त, युवा एवं वृद्ध वस्तुतः एक है, यह परिवर्तन है परिवर्तन में एको द्वौ धन की प्रक्रिया पर ही औपनिषदिक ज्ञान का तत्व आधारित है।

वैदिक[52] धर्म के विषय में घाटे न अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि यह उच्च वर्ण तथा एक समृद्ध समाज का धर्म है इतना ही नहीं पुरोहित अपनी दक्षिणा में भी लज्जा रहित थे। साधारण परिवर्तन होते-होते अथर्ववेद का धार्मिक रूप परिवर्तित होता गया और उसके मंत्रों में जादू, टोने तथा अन्य मारण, अभिचारण आदि का भी समावेश हो गया। इस समय तक धार्मिक चिन्तन में भौतिकता

50. य इमा—प्रथमच्छदवरां आ विवेश।
किं स्विदधिष्ठानमारम्भणं कतमस्वित् कयासीत्।
संबाहुम्यां धमति सं पतत्रै र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ ऋ० 10।81।1, 2, 3
51. कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे। ऋ० 10।82।5
52. घाटेज लेक्चर्स—पृ० 126

का प्राधान्य था। पश्चात् कालीन ब्राह्मण साहित्य में स्वर्ग नरक के अतिरिक्त मुक्ति की कल्पना भी मिलती है। इसके अनुसार जो पुरुष देवों के लिए यज्ञ करता है वह इतना उन्नत लोक नहीं पाता, जितना आत्मा के लिए यज्ञ करने वाला। जो पुरुष वेद पढ़ता है वह बारम्बार मरने से छुटकारा पा जाता है और उसे ब्रह्म के साथ एकत्व की प्राप्ति होती है।

(ग) ब्राह्मण विचारधारा के अंग प्रत्यंग

ब्राह्मण विचारधारा का मूल स्रोत वैदिक साहित्य है। यह हम महत्व के प्रसंग में स्पष्ट रूप से दिखा आए हैं। वैदिक साहित्य में हमें ब्राह्मण विचारधारा की शाखा-प्रशाखाओं का कोई व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। उस युग में, वैदिक विचारधारा, आर्य विचारधारा, ब्राह्मण विचारधारा ये तीनों पर्यायवाची थे दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वैदिक धर्म ही आर्य धर्म, और आर्य धर्म ही ब्राह्मण धर्म था। वास्तव में वैदिक धर्म एक अद्वैत परक धर्म था उसमें सर्वत्र भेदों में अभेद स्थापित करने की प्रवृत्ति मिलती है। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" "एकं सन्तं तमनेकधा कल्पयन्ति" जैसी अनेक उक्तियां इस बात को प्रमाणित करती हैं कि आर्य विचारधारा भेद में अभेद स्थापित करने के लिए व्याकुल थी। वेद में प्रमुख देवता तेंतीस माने गए हैं। ये तेंतीस देवता कौन से थे इस विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। इसका विवेचन भी संक्षेप में इसी अध्याय में किया गया है। यहां इतना कहना ही अभीष्ट है कि वैदिक विचारधारा में आराध्य के आधार पर कुछ शाखा प्रशाखाएं थीं किन्तु वे केवल व्यावहारिक थीं। तात्विक दृष्टि से यहां अभेदता में ही विश्वास था और यह अभेदवादी ही थी! ब्राह्मण विचारधारा की यह अभेदात्मक प्रवृत्ति आज भी अध्ययन की अपेक्षा रखती है। क्योंकि पाश्चात्यों ने इसको सही रूप में निरूपित नहीं किया है कुछ ने इस अभेदात्मक आर्य धर्म को पोलिथीज्म बहुदेववाद की संज्ञा दी। मेकडानेल ने इसे हेनाथीज्म कहा है। हेनाथीज्म वह विचारधारा है जिसमें विविध देवताओं को मान्यता देते हुए भी द्रष्टा जिस देवता का वर्णन करता है उसी को सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ बता देता है। मेकडानल[53] का यह हेनाथीज्म मैक्समूलर द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका था। इसी प्रकार की अनेकमुखी धारणाएं पाश्चात्य आलोचकों ने व्यक्त की हैं जिनसे वैदिक धर्म का स्वरूप स्पष्ट होने के स्थान पर अस्पष्ट होता गया।

वैदिक धर्म, जिसे हम ब्राह्मण धर्म मानते हैं, की मूल प्रवत्ति अद्वैतपरक थी। यह प्रवृत्ति आगे चलकर धर्म नाम से पितृ देवोपासना को लेकर आगे बढ़ी। इनमें भी

53. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—मेकडानल—पृ० 71

प्रमुख धाराएं दो ही विकसित हुईं। एक वैष्णव और दूसरी शैव। अन्य तीन धाराएं सौर्य सम्प्रदाय, गाणपत्य सम्प्रदाय तथा शक्ति विचारधाराप्रायः लुप्त सी हो गईं। आगे चलकर जब इन विचारधाराओं में दर्शन का विकास हुआ तो औपनिषदिक अद्वैतवाद ही किसी न किसी रूप में चिन्तन की पराकाष्ठा के रूप में प्रतिपादित किया गया। उपनिषत्साहित्य में जिस अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया था वह अद्वैतवाद ही ब्राह्मण चिन्तन धारा में सर्वोपरि स्वीकार किया गया था। व्यावहारिक दृष्टि से जो भेद विकसित हुए उन सबका अन्ततोगत्वा शैव विचारधारा तथा वैष्णव विचारधारा में भी पर्यवसान अद्वैत सिद्धान्त में ही किया गया है। इस प्रकार हम ब्राह्मण विचारधारा की प्रमुख शाखाएं वैष्णव और शैव की विस्तृत समीक्षा करेंगे और अन्य तीन शाखाओं का भी संकेत करेंगे ताकि ब्राह्मण विचारधारा की व्यावहारिक रूप रेखाएं स्पष्ट हो जायं।

बाद में हम यह दिखलायेंगे कि उन व्याहारिक रूपरेखाओं में भी सर्वत्र अद्वैत की ही मान्यता प्रतिष्ठा रही है। श्री पी० डी० मेहता[54] ने सभी देवों को एक रूप होकर ही कार्य करने के कारण विश्वदेवत्ववाद् को ही परिमाणतः ऋग्वैदिक विचारधारा का निष्कर्ष माना है।

विष्णु का स्वरूप .

विष्णु वेद में विशेष प्रतिष्ठित देव नहीं है तो भी इन्द्र के समान शक्तिशाली है। वृत्र के मारने पर इन्द्र विष्णु से अपने विक्रम को अधिक वढ़ाने की प्रार्थना करते हैं। संहिता काल में शनैः शनैः गर्भरक्षक, गर्भपालन हेतु भी उनका स्तवन किया गया। है

वेद में विष्णु[55] एक सामान्य देव के रूप में रहे हैं पश्चात् में इनका सर्वापरि महत्व हो गया—वेद में इनके तीन चरणों द्वारा ब्रह्माण्ड नापने का वर्णन है ये तीन लोक उदय, भ्रमण तथा अस्त अथवा पृथ्वी, आकाश के दो पग दृष्ट हैं तीसरा अदृष्ट है। अपने सात्विक[56] गुणों के कारण वे प्रमुख देवत्रयी में स्थान पा गए। जिस सप्त स्थान वाली पृथ्वी पर विष्णु ने पादक्रमण किया उसी पृथ्वी पर देवगण हमारी रक्षा करें। विष्णु[57] ने इस संसार को तीन पाँव रखकर विक्रमण किया। इनके धूल लगे पैर में ही पूरी सृष्टि समा गई। सबके रक्षक, किसी से धोखा न खाने वाले नियम पालक विष्णु ने तीन पैर रखे। विष्णु के पराक्रम को देखो जिनके बल से सभी नियम

54. अर्ली इण्डियन रिलीजस थाट—पी० डी० मेहता—पृ० 35
55. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। **इन्द्रस्य युज्यः सखा।**
56. अतो देवा अवन्तु—समूहडमस्य पांसुरे॥ ऋ० 1।22।19,16,17
57. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः ऋ० 1।22।16

स्थित हैं वे इन्द्र के साथी तथा मित्र हैं। आकाश की ओर विस्तारपूर्वक देखने वाला नेत्र विष्णु के परमपद को देखना चाहता है। ज्ञानीजन उस पद को निरन्तर हृदय में देखते हैं। विष्णु[58] के सर्वोच्च पद की स्तुति करके उसके परमपद को विद्वान् लोग सदा आकाश में वितत सूर्य के समान देखते हैं।

ऋषि कहते हैं कि मैं विष्णु के पराक्रम का वर्णन करता हूँ उन्होंने तीन पैरों से लोकों को नाप लिया और आकाश को स्थिर किया। विष्णु के तीन पदों में सम्पूर्ण जगत् निवास करता है। अतः पर्वत पर रहने वाले भयंकर पशुओं के समान यह संसार विष्णु के पराक्रम की प्रशंसा करता है, इसमें विष्णु के तीन[59] पराक्रमों का वर्णन है यथा इन्होंने पृथ्वी के ऊपर विद्यमान लोकों का निर्माण किया। ऊर्ध्व लोक में विद्यमान आकाश को दृढ़ बनाया और तीसरा पराक्रम है तीन पग रखना। इसी मन्त्र में गिरिष्ठाः विशेषण का सम्बन्ध कुचर के साथ ठीक बैठता है कि भयंकर पर्वतों पर जैसे सिंह अपने पराक्रम से ख्यात है इसी कारण विष्णु भी स्तवनीय है। यही मंत्र वीर्येण के स्थान वीर्याय पद से तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी 2।4।3।4 में प्राप्त होता है।

ब्राह्मण युग में याज्ञिक परम्परा का प्राचुर्येण विकास हुआ इसी के प्रभाव से यज्ञ जो अब तक साधन रूप था अब साध्य रूप होकर "यज्ञो वै विष्णुः" कहा जाकर सर्वश्रेष्ठ देव के रूप में अधिष्ठित हो गया। यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ, पवित्रतम तथा श्रेयस्कर हो गया। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु अग्निहीन[60] (अवम्) तथा श्रेष्ठ देवता माने गए हैं। विष्णु के तीन चरणों से समग्र पृथ्वी के नापने के आधार पर यज्ञात्मक विष्णु के समारम्भ में ही यजमान के तीन पग रखने की प्रथा चली।

असुरों तथा इन्द्र और विष्णु में लोक विभाजन हेतु विवाद का प्रसंग भी आया है। असुरों ने यह शर्त[61] रखी कि जितनी पृथ्वी विष्णु अपने तीन पगों से नाप सकते हैं, उतनी पृथ्वी इन्द्र को मिलेगी। तब विष्णु ने अपने पगों से समग्र लोक, वेद तथा वाणी इन तीनों को नापकर अपने आधीन कर लिया। शतपथ[62] ब्राह्मण के अनुसार भी विष्णु ने अपने पैरों के रखने से देवताओं के लिए वह सर्वशक्तिमत्ता प्रदान की

58. तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।
ऋ० 1।22।16-0

59. विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं।
प्रतद्विष्णुः—कुचरो गिरिष्ठाः। ऋ० 1।15।1,2

60. अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः।ऐत० ब्रा० 1।1

61. इन्द्रश्च विष्णुश्चासुरैर्युयुधाते।ऐ० ब्रा० 6।3।15

62. वामनो ह विष्णुरास। श० ब्रा० 1।2।5।5
स हि वैष्णवो यद्वामनः। श० ब्रा० 5।2।5।4

जिसे वे धारण किए हुए हैं। उन्होंने वामन रूप धारण किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण[63] में भी विष्णु का त्रिविक्रमावतार के रूप में वर्णन है प्रथम पद से भू लोक, दूसरे से अन्तरिक्ष लोक और तीसरे पग से त्रिविष्टप के जीतने का वर्णन है।

इस प्रकार विष्णु का वामन रूप हमें सर्वत: पूर्ण पृथ्वी के वितरण हेतु प्राप्त होता हैं। इनका दूसरा रूप वराहावतार है। ऋग्वेद[64] के अनुसार विष्णु ने सोमपान करके एकशत महिषों तथा क्षीरपाक को ग्रहण किया जो एमुष नाम के वराह की सम्पत्ति थी तथा इन्द्र ने वराह को मार भी डाला। मत्स्यावतार की कथा का वर्णन शतपथ ब्राह्मण[65] में विस्तार से दिया गया है जलप्लावन में मत्स्य ने ही मनु को पहले सूचना दी कि प्रलय के समय में तुम्हारी रक्षा करूंगा। कूर्मावतार का वर्णन भी ब्राह्मण ग्रंथों में प्राप्त होता है। सृष्टि के आरम्भ में प्रजापति ने जल के ऊपर कूर्म का[66] रूप धारण किया था।

इस प्रकार अग्नि सोमात्मकं जगत् में सोम स्वरूप विष्णु हैं तथा अग्नि स्वरूप रुद्र हैं जिनका वर्णन शैव विचारधारा में किया जाएगा। सोम पौषक तत्व हैं इसी कारण विष्णु को पालक कहा गया है।

तैत्तिरीय आरण्यक[67] के दशम प्रपाठक में विष्णु गायत्री में विष्णु की एकता नारायण के साथ दी गई है—भागवत धर्म ही सात्वत, ऐकान्तिक, पंचरात्र नाम से ख्यात था। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में इस मत का विस्तृत वर्णन दिया गया है। पांचरात्र का भागवत धर्म वेद की एकायन शाखा से सम्बद्ध है। छान्दोग्योपनिषद् में एकायन विद्या[68] का उल्लेख है। इस एकायन विद्या का सम्बन्ध नारद के साथ है। ईश्वर संहिता में वैष्णव सम्प्रदाय को एकायन मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र अयन उपाय, साधन कहा है। वैष्णव मत के प्रचार में क्षत्रिय वंश सात्वतों का महत्व रहा है ये सात्वत[69] लोग यदुवंशी क्षत्रिय थे जिसमें कृष्ण का जन्म हुआ। ऐतरेय ब्राह्मण[70] के ऐन्द्र महाभिषेक के वर्णन में सात्वतों का निवास दक्षिण में बताया गया है।

भण्डारकर[71] महोदय ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि प्रारम्भ में वैष्णव धर्म

---

63. विष्णु, क्रमान्क्रमते। तै० ब्रा० 1।3।5।4
64. वराहमिन्द्र एमुषम्। ऋ० 8।77।10
65. शं० ब्रा० 2।8।1।1
66. स यत्कूर्मो नामा। श० ब्रा० 7।5।1।5
67. नारायणय विद्महे—तन्नो विष्णै प्रचोदयात्। तै० आ०
68. वाकोवाक्येमेकायनम्। छा० 7।1।2
69. भागवत सम्प्रदाय—प्रो० बलदेव उपाध्याय पृ० 103
70. ऐ० ब्रा० 8।3।14
71. भारतीय धर्मों का इतिहास—भण्डारकर, पृ० 113

बौद्धधर्म और जैन धर्मों की भांति धर्म सुधार सा प्रतीत होता है जो ईश्वरवादी सिद्धान्तों पर आधारित था। पहले इस का नाम ऐकान्तिक धर्म था। इसकी पृष्ठ-भूमि में भगवद् गीता थी, जिसमें कृष्ण द्वारा उपदिष्ट संवाद शीघ्र ही सम्प्रदाय बनकर भागवत या पांचरात्र धर्म कहलाने लगा। सात्वत नामक क्षत्रिय जाति ने इसका प्रचार किया। लगभग ई० पू चतुर्थ शतक के अन्त में मेगस्थनीज ने इसको इसी तरह के कुछ विशेष लोगों का धर्म बतलाया है। शनैः शनैः वासुदेवोपासना नारायण और विष्णु की उपासनाओं में घुल मिल गई।

नारायण का विष्णु रूप में परिवर्तन— नारायण शब्द का अर्थ नरो का समूह यथा नाडायान की व्युत्पत्ति[72] पाणिनि सूत्र के अनुसार यहां फक् प्रत्यय अर्थान्वित है महाभारत[73] में नारायण स्वयं अपने को नरों का आश्रय कहते हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के ऋषि का नाम नारायण है। मनु स्मृति में जल को नाराः कहा गया है क्योंकि वे नर सूनु हैं। मनु स्मृति के वर्णन में जल ब्रह्मा का तथा नारायणीय के अनुसार हरि का आद्य आश्रम था, अतः ब्रह्मा और हरि नारायण कहलाये। वायु तथा विष्णु पुराण मनु से सहमत हैं। अजन्मा[74] नारायण की नाभि से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। अतः अन्य सभी का स्थान आश्रय नारायण ही स्वीकृत किया गया है। नर और नारायण मे उपनिषदों की "द्वा सुपर्णा" की उक्ति की चरितार्थता है। नर-जीव, नारायण-ब्रह्म हैं। नर और नारायण की बदरिका आश्रम में तप करते हुए चार मूर्तियों का वामन पुराण में वर्णन है वे नर, नारायण, हरि, कृष्ण—तपःपूत होने के कारण ऋषि भी कहलाए। अतः इससे पुरुष सूक्त के आदि नारायण का सम्बन्ध जुड़ सकता है विष्णु के स्तवन में आध्यात्मिकता के समावेश का वर्णन हमें इस प्रकार प्राप्त होता है जैसा कि ई०[75] पूर्व प्रथम शती के वेस नगर के शिलालेख में विष्णु के तीन पदों को अमरत्व का अभिधान देते हुए लिखा है कि आत्म दमन, त्याग तथा अप्रमत्तता ही विष्णु के तीन पद हैं जो कि किसी भी व्यक्ति को स्वर्ग में ले जाने के लिए साधन के रूप हैं। इससे विष्णु के स्थान (स्वर्ग) की और संकेत किया गया है। शम्बर[76]के वध में अपने शौर्य का प्रदर्शन कर इन्होंने सभी देवों में शिरोमणि पद को पाया। इन्द्र ने भी विष्णु को छोड़ अन्य सभी को परास्त किया और वृत्र के वध में विष्णु[77] से सहायता ली। ऐतरेय ब्राह्मण में भी वर्णन आया है कि वरुण,

---

72. पाणिनि 4।1।99
73. महाभारत 12।34।1
74. अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः। ऋ० 10।82।6
75. दी कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, वा०-4, पृ० 109
76. ऋ० 4।26।3
77. सखे विष्णो वितरं वि क्रमस्व। ऋ ०4।18।11

वृहस्पति और विष्णु ने असुरों के विनाश में इन्द्र[78]की सहायता की। यहीं पर विष्णु को परम तथा अग्नि को अवर कहा गया है जिसका आशय दैविक तथा पार्थिव है। बार्नेट[79] का मत है कि इन्द्र को शौर्य के कारण ही विष्णु का अभिधान दिया जाने लगा।

विष्णु की उदारता[80] के कारण उनका महत्व बढ़ा और वे अविजित कहलाए इसलिये त्रिवेदों में उनका महत्वपूर्ण स्थान हो गया। इस प्रकार विष्णु की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हो गई। विष्णु के पौराणिक स्वरूप का वर्णन भण्डारकर ने अपनी पुस्तक भारतीय धर्मों के इतिहास में विस्तार से किया है।

शैव धर्म

वैष्णव विचारधारा के रत्नोदधि के आलोडन के उपरान्त कतिपय बहुमूल्य तत्वों को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर अब हिममण्डित धवल धवलिमा से धवलित क्षीर सागर तुल्य शुभ्र आभा से लसित नगाधिराज नगेश नगोपम विलसित उत्तुंग तुंग हिममालाओं में मौलायमान कैलाश के शिखर पर समासीन लोक के शिवकारक तत्व के पुँजीभूत रूप शिव की उपासना एवं विचारधारा को प्रस्थापित किया जाता है।

रुद्र शिव की कल्पना सम्प्रति आशुतोष कल्याणकारी तथा औढरदानी आदि विशेषणों से विलसित भारतीय धर्म का प्रधान अंग बन चुकी है। काशी में विश्वनाथ, उज्जैन में महाकाल, काश्मीर में अमरनाथ सेतुबंधरामेश्वर में भगवान् राम द्वारा संस्थापित शिवलिंग आज शैव धर्म के प्रमुख स्थलों में से है। पौराणिक शैव धर्म के प्रभाव एवं प्रसार के कारण शैव वैष्णवों के पारस्परिक द्वेषों एवं झगड़ों को सदा के लिए समाप्ति हेतु गोस्वामी तुलसीदास जी ने शिव के द्वारा राम की पूजा और राम के द्वारा शिव स्तवन करके सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

शैव मत[81]को (पदार्थों) में आस्था वाला मत बतलाया गया है। इसमें परमात्मा, आत्मा तथा छत्तीस तत्वों को स्वीकृत किया गया है। आत्माओं की मुक्ति के लिए

78. ऐ० ब्रा० 3।5।50
79. दी कल्चरल हैटिरेज आफ इण्डिया, वा०-4, पृ० 110
80. इण्डियन माइथालाजी, वैरोनिका आओन्स, पृ० 23
81. The saiva philosophy is, in a sense, typical of the entire range of Hindu thought while in all its forms it subscribes to the belief in three padarthas (categories, God, Soul and the bonds) and thirty six tattvas (principles) in the reality ascribed to tattvas and in the independence assigned to souls and matter, it varies from idealistic monism at one end of the scale to

यह आदर्शोन्मुख एकदेवतावाद बहुदेवतावाद से भिन्न है। मुक्ति के लिए यद्यपि अन्य विचारधाराओं में केवल ज्ञान पर महत्व दिया है इसमें कर्म का भी महत्व है।

शैव विचारधारा का उद्गम स्थल भी ऋग्वेद ही है वहां रुद्र एक भीषण प्रलयंकारी शक्ति के रूप में वर्णित है। एक ओर दिनकर की स्वर्णिम किरणों से प्रभात के उदय तथा जागतिक कृत्यों के समारम्भ, सरिताओं की सुरम्य एवं श्रवण सुखदायी कलकल, पक्षियों के कलरव में धीमी-धीमी वर्षा की रिमझिम में शीत में अग्नि से उष्णता की उपलब्धि में सुख एवं सुविधाओं से मन को आनन्दित किया तो दूसरी ओर पर्जन्यों का भीषण गर्जन, भयंकर उपलवृष्टि, प्रभंजन का प्रबल वेग, महामारी के भयंकर प्रकोप से मनुष्यों, पशु पक्षियों का हृदय विदारक विनाश भय को उत्पन्न करता रहा। इसी विनाश को 'रुद्रियाः' मरुतों के साथ गर्जन करता हुआ पाया गया। मेघों में चमकती हुई विद्युत् के शुभ्र, श्वेत, सुनहले रूपों को देखते हुए मेघों के गर्जन से स्वाभाविक रूप से भय होता रहा। शुभ्र वर्ण, क्रूर स्वभाव, श्वेत कभी पीत वर्ण को निहार कर मानव की यह भावना दृढ़ीभूत हो गई कि मानव के विनाश का कारण दैविक शक्ति रुद्र का प्रकोप है अतः रुद्र एक भयावह देवता के रूप में ऋग्वेद में अवतीर्ण हुए। शिव पूजा अत्यन्त प्राचीन है ऐसा मोहन-जोदड़ों तथा हडप्पा सभ्यता की खुदाई में शिवलिंग की प्राप्ति के कारण ज्ञात होता है कि अनादि, अनन्त, अजन्मा शिव के सामने उनकी उपासना पद्धति भी अनादि काल से प्रचलित है। सर्वप्रथम मुद्रा में शिव पशुपति के रूप में मिलते हैं। इस आकृति के साथ शिवलिंग भी है। अन्य मूर्ति ताम्रपट्ट पर योगी के रूप में मिलती है। उनके सामने दो सर्प बैठे हैं गले में सर्प की माला है। अनेक प्रकार के छोटे बड़े लिंग और योनियां प्राप्त हुई हैं। नवीन पाषाण युग का एक सुन्दर लिंग लगभग तीन फुट का भी प्राप्त हुआ है। कतिपय आलोचक इनसे आर्येतर मूल की कल्पना भी करते हैं।

हम ऋग्वेद[82] के एक ही स्तोत्र में रुद्र के दोनों (शिव तथा रुद्र) रूपों को प्राप्त करते हैं। जिस में रुद्र कपर्दी से प्रार्थना की गई है कि हमारे ग्रामवासी प्राणी नीरोग रहते हुए पुष्ट हों, दया करो, सुख दो, जिस शान्ति को यज्ञ द्वारा मनु ने पाया था वही हमें दो। हम हर्षित वीरों से युक्त तुम्हें हवि भेंट करते हैं। दीप्त, यज्ञ सिद्ध

---

pluralistic realism at the other end. But all through these will be found the typically Hindu insistence on knowledge as essential to salvation and as the prime cause thereof, though in some forms of saivism this requisite is diluted with deeds.
दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया वा० 3, पृ० 287

82. सहस्रं ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिषः। ऋ० 7।47।3
इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः
यथा शकसद्—अनातुरम्।। ऋ० 1।14।1

करने वाले तिरछी गति वाले मेधावी (कवि) रुद्र का हम रक्षार्थ आह्वान करते हैं। इस सूक्त की इन चार ऋचाओं में शिव रूप की उपासना तथा शेष ऋचाओं में रुद्र रूप का स्तवन किया गया है यथा हम आकाश के घोर रूप वाले, जटाधारी, महान् तेजस्वी रुद्र का नमस्कार पूर्वक आह्वान करते हैं। वे वरणीय औषधियों को धारण कर हमें सुखी तथा निर्भय करें। मरुदगणों के जनक रुद्र हमारी सन्तति पर दया करें, वृद्ध, बालक वृद्धिंगत हो, युवकों का विनाश न करो, हमारे पुत्रों, भृत्यों, गोओं, अश्वों को नष्ट न करो, पशुओं की रक्षा करो, उन का नाश न करो। हे वीरों के स्वामी रुद्र तुम्हारा पशुओं और मनुष्यों को मारने वाला अस्त्र दूर पहुँचे, हम पर कृपा करो रक्षा की कामना से रुद्र को नमस्कार है, मित्र, वरुण, अदिति, समुद्र, पृथिवी, आकाश हमारी इस प्रार्थना को अनुमोदित करें। यह विकराल रूप ही रुद्र है इसी सूक्त में (मानस्तोक) विशेषण रुद्र के लिए दिया है। ऋग्वेद[83] के 46वें सूक्त में भी (मानस्तोक) विशेषण दिया गया है। हे रुद्र! अन्तरिक्षस्थ विद्युत् पृथिवी पर घूमती है, वह हमें नष्ट न करें। तुम सहस्रों औषधियों वाले हो, हमारे पुत्र, पोत्रादि को नष्ट मत करना। हे रुद्र! हमारी हिंसा मत करना। हम तुम्हारे क्रोध के पाश में न पड़ें तुम हमें यज्ञ-भागी बनाओ और सदा हमारा पालन करो।

इस प्रकार उस परमेश तत्व के उग्र रूप रुद्र तथा सौम्य रूप शिव दोनों रूपों में उपासना की उपलब्धि हमें होती है। शनैः शनैः किस प्रकार यह रुद्रोपासना के रूपों में परिवर्तन तथा परिवर्धन आ गया यह यहां संक्षेप में विवेच्य है।

ऋग्वेद के सूक्तों में प्राप्त विविध रूपों का संकेत यहाँ किया जाता है। सर्वप्रथम अग्नि को ही रुद्र कहा गया है। अंग्रेजी विद्वान् विल्सन ने ऋग्वेद में अग्नि ही कहा है। जर्मन विद्वान् बेबर ने रुद्र को झंझावात के रव का प्रतीक माना है। डा० मेकडानल[84] ने रुद्र और अग्नि के साम्य के आधार पर रुद्र को विशुद्ध झंझावात का नहीं अपितु विनाशकारी विद्युत् के रूप में झंझावात को विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक माना है। भंडारकर ने[85] रुद्र को विनाशकारी शक्तियों का प्रतीक मात्र माना है। अंग्रेज विद्वान् म्यूर भी[86] इसी से सहमत हैं। प्रो० कीथ[87] ने भी झंझावात के विनाशकारी रूप का प्रतीक माना है उसके हितकारी का नहीं। जर्मन विद्वान् औडर ने मृत आत्माओं के साथ उड़ने वाला कहा है। रुद्र के घातक बाणों के स्मरण के कारण इन्हें मृत्यु का देवता भी माना है इसका आधार वे रुद्र का शिवों

83. मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीडितस्य। ऋ० 7।45।4
84. मेकडानल वैदिक माइथालोजी—पृ० 78
85. भारतीय धर्मों का इतिहास—भंडारकर
86. म्यूर-ओरिजनल संस्कृत टेक्सट्स आफ भाग-4, पृ० 147
87. दि रिलीजन एंड फिलासफी आफ दि ऋग्वेद (कीथ), पृ० 147

के साथ उल्लेख होने वाले ऋग्वेद के सूक्त को प्रस्तुत करते हैं।

ब्राह्मण काल में वैदिक कर्मकाण्ड के प्राधान्य से वैदिक प्राकृतिक देवों की उपासना धूमिल हो गई कभी रुद्र और विष्णु यज्ञ की जकड़ में अत्यधिक थे बाद में ये रुद्राभिषेक, शतरुद्रिय के रूप में अग्रसरित हुए। अनेक प्रकार[88] की विचारधाराओं का मिश्रण रुद्र देव के अस्तित्व में है। इन्हें भयंकर, पशुपति, अग्नि आदि अभिधानो से अभिहित किया गया है पश्चात् में ये वरुण की स्पर्धा के रक्षक भी माने गए तथा परिणामतः ये शिव, भद्र कर्ता तथा योगी के रूप में स्वीकृत हुए।

ब्राह्मण विचारधारा का दूसरा वर्ग जो इस यज्ञ कर्मकाण्ड के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति का अभाव का अनुभव कर रहा था उसने तपश्चर्या और योगाभ्यास को महत्व दिया और इस यांत्रिक कर्मकाण्ड का विरोध किया। उन्होंने इस विचारधारा में क्रान्ति ला दी और कर्मकाण्ड के देवों को छोड़ कर अन्य देव रुद्र की उपासना को अंगीकार किया अतः रुद्र जो जनसाधारण के देव थे अब उच्च वर्ग तथा विद्वानों के भी उपास्य हो गए। क्योंकि नीति तथा सदाचार की भावना सदैव समाज के उन्नत वर्ग से ही प्रारम्भ होती है अतः अब रुद्र आतंक के देव न रहकर ऋत के मूर्तिमान् स्वरूप हो गए जबकि अन्य देव याज्ञिक ही रह गए और ये सभी देवों के बडे महादेव नाम से स्तुत होने लगे।

युजुर्वेद में रुद्र के त्र्यम्बक रूप का महत्व बढ़ गया। रुद्र का पशुपति[89] तथा भिषक् के रूप में स्तवन है यहां उनके साथ एक देवी अम्बिका की कल्पना की गई है। इस त्र्यम्बक होने की विधि भी वैदिक परम्परा से भिन्न है ऐसा ज्ञात होता है कि आर्येतर लोग जो हिमालय के निम्नोन्नत प्रदेश वासी थे उन्होंने किरात के रूप में शिव की कल्पना की और उन्हें कृतिका वास (चर्म वस्त्र वनचरों की वेषभूषा) आदि की उपाधियां दी। इस प्रकार विभिन्न मिश्रण में एकत्व रूप का ही यह फल वैदिक रुद्र का नया रूप त्रयम्बक अभिधान में आया। शतरुद्रिय रूप भी त्र्यम्बक होने का ही पूरक है। यहां भी शिव के भयंकर रूप के साथ अनेक नाम नील, शिखण्डिन, शिव, शिवतर, शंकर आदि सभी गुणावगुणों का अधिपति शिव कहलाता है तथा सेनानांपति, तस्कराणांपति, मुष्णानाँपति, उमापति, गणपति, व्रातपति आदि। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की अपेक्षा यजुर्वेद में यह परिवर्तन इस बात का प्रमाण है कि

---

88. The Rudras are sometimes held to be personifications of the various aspects of Rudra, a strange mixture of feaesome and beneficent qualities-a characteristic which he shares with Shniva, the great Hindu god who developed out of him and who gives Rudra his importance.

इण्डियन माइथालोजी—वैरोनिका आओन्स, पृ० 23

89. तै० सं० 1।8।6

आर्येतर जाति के किसी देव को रुद्र के साथ तादात्म्य कर दिया गया है जिसमें सभी गुणावगुण एकत्रीभूत हो गए हैं।

वही एकत्रीभूत रूप शतरुद्रिय स्तवन 66 मंत्रों का है जो आज भी प्रमुख रूपेण प्रचलित है। वैदिक आर्यों के इस मिश्रण में पुरातन वादियों की विरोधी भावना का ही यह फल है कि इसे नया नाम त्र्यम्बक होम दिया गया। त्र्यम्बक शब्द का मूलभूत अर्थ तो वैदिक ही स्वीकृत है किन्तु आज इसे तीन नेत्र के अर्थ में समझते हैं। वस्तुतः वैदिक अर्थ ही समीचीन है कि अम्बक का अर्थ है पिता—त्रयम्बक[90] का अर्थ है तीन पिता वाला, वह अग्नि जिसमें तीन जन्म पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा आकाश में माने गए हैं जिनका वैदिक साहित्य में बहुधा उल्लेख है। रुद्र और अग्नि का तादात्म्य पूर्व में वर्णित है अतः वह उपाधि अग्नि से रुद्र पर संक्रान्त हो गई और तीन नेत्र वाली पौराणिक कल्पनाओं की आधार भूमि को अवसर मिला।

अथर्ववेद[91] में रुद्र के शिव रूप की कल्पना का प्रसार हुआ। सहचारी मरुतों की कल्पना रुद्रगण में विलीन होने लगी। उनके प्राकृतिक स्वरूप में परिवर्तन आकर अब वे वैदिक देव वृन्द, इन्द्र, अग्नि के समान उत्कृष्ट देव न होकर जन-साधारण के पूज्य देव हो गए थे और उन्हें महादेव अभिधान मिल गया और अब वे व्याधि नाशक शान्ति प्रदायक हो गए। यहां भर्व, शर्व का भी उल्लेख है शनैः शनैः सभी देवों का विलीनीकरण पौराणिक शिव के विकसित रूप में प्राप्त होता है।

अथर्ववेद का 15वां मण्डल व्रात्य वर्ग की विशेष समस्या लेकर उपस्थित होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा सूत्र ग्रन्थों में व्रात्य स्तोम अभिधान से कुछ विधियां दी गई हैं। व्रात्य लोगों का आचरण स्तर आर्यों से निम्न था किन्तु वे भी कतिपय यज्ञादि करने के बाद आर्यों में मिला लिए जाते थे। ऐसी धारणा इस मण्डल से बनती है। इस विषय में जर्मन विद्वान डा० होयर[92] का विचार हैं कि 'व्रात्यों के योग और ध्यान से आर्यों ने आकृष्ट होकर उन्हें अपने में मिला लिया। एन० एन० घोष[93] ने इण्डो आर्यन लिटरेचर एंड कल्चर पुस्तक में अपने निष्कर्ष इस प्रकार दिए हैं कि व्रात्य जाति पूर्वी भाग की एक राजनैतिक शक्तिशाली थी और आर्य संघर्ष युक्त थे उन्होंने इन्हें अपने में मिला लिया।

अथर्ववेद के 15।5 में रुद्र को महादेव[94] तथा ईशान बनने का संकेत है पश्चात्

90. शैवमत डा० यदुवंशी पृ० 9
91. अथर्व वेद 4।28।1
92. शैवमत डा० यदुवंशी, पृ० 11
93. इन्डो आर्यन लिटरेचर एन्ड कल्चर—एन० एन० घोष, पृ० 39
94. शैवमत डा० यदुवंशी पृ० 11

रुद्र को व्रात्य का अनुष्ठाता कहा है। इस सूक्त की समाप्ति में व्रात्य पशुओं की ओर चला और उसने रुद्र रूप धारण किया और औषधियों को अन्नसेवी बनाया। इस सूक्त में रुद्र का संबंध वनस्पति[95] तथा पशुयों से दर्शाया है जो कि ऋग्वेद में ज्ञात है। विभिन्न दिशाओं में संचरण तथा अन्य देवताओं दिक्पालों का रूप धारण किया अतः रुद्र तथा व्रात्य सम्बन्ध पर विशेष प्रकाश न पड़कर यह अनुमानित हुआ कि महादेव ईशान उपाधि रूप से रुद्र को कहा जाने लगा। ईशान का प्रयोग यजुर्वेद में भी हुआ है। हरि प्रसाद शास्त्री ने रुद्र को ही व्रात्य, (पर्यटकों का देव) कहा है जिससे डा० यदुवंशी[96] सहमत नहीं हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्द्र रूप रुद्र को अधिक सम्मान मिला किन्तु इसका आधार उग्र रूप[97] था जिससे देवता भी भयभीत थे। इन्हें पशुहन्ता[98] भी कहा। यद्यपि उन्हें पशुपति और उनके संरक्षण में पशुओं के रखे जाने का भी वर्णन मिलता है। इनके गुणों में आर्येतर गुणों के मिश्रण की पुष्टि 'गावेधुक[99] (कूड़ा करकट) होम' में अन्य देवगण स्वर्ग जाते समय रुद्र को घर पर ही छोड़ गए अतः उसका वास्तव्य घर में रहने वाला नाम पड़ा। पशु विभाजन में देवों ने रुद्र को छोड़ दिया किन्तु बाद में कोप से भयभीत हो उन्हें मूषक प्रदान किया क्योंकि त्र्यम्बक होने में रुद्र का विशेष वाहन[100] मूषक बतलायागया है। इस प्रकार वैदिक काल में सामान्य देव मण्डल से रुद्र की पृथक्ता का प्रमाण मिलता है।

उपनिषदों के अध्ययन में पाठक की सर्वतः प्रथम दृष्टि इस ओर जाती है कि औपनिषदिक विचारधारा के अग्रसर करने वाले क्रांतदर्शी ऋषियों ने अपने विचारों की पुष्टि में प्रमाण रूपेण ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्धरण न देकर श्रुतियों से उद्धरण लिए हैं इसके अन्तस्तल में इन ऋषियों की इस भावना की पुष्टि हो जाती है कि इस पुरोहित वर्ग ने वैदिक विचारधारा के प्राणभूत तत्वों को छोड़ कर एक आयास साध्य, विपुल द्रव्य साध्य और आडम्बरपूर्ण असाधारण याज्ञिक पद्धति में जनजीवन को जकड़ दिया है जिससे त्राण पाने के लिए उनकी प्रामाणिकता की सर्वथा ही उपेक्षा की गई अतः विचारकों का ध्यान ब्राह्मण कर्मकाण्ड से हटकर पुनः संहिताओं की ओर बढ़ा जिस विचारधारा के मूलभूत दो तत्व दृष्टिगोचर होते हैं एक परमेश्वर में विश्वास और परमेश्वर का स्तवन।

95. अथर्व० 15।1।4
96. शैवमत, पृ० 12
97. श० ब्रा० 9।1।1।1,5
98. ताण्ड, ब्रा० 7।9।16-18
99. श० ब्रा० 15।3।3।7
100. तैत्तिरीय ब्रा० 1।6।10, ताण्ड्य ब्रा० 7।8।16

इन्होंने प्राचीन बहुदेवतावाद का एकदेवतावाद में समन्वय करते हुए परम ब्रह्म की कल्पना करके एकेश्वरवाद की स्थापना की और इन्द्र वरुण सूर्य आदि के विभिन्न उपासकों में उत्कर्षापकर्ष, वैरभाव के प्राप्त अंकुरों को समूल नष्ट किया और शनैः शनैः कर्मकांड की पूर्ण परिपाटी को उलट कर अब केवल उस परम ब्रह्म के प्रतीक दो ही देव शेष थे रुद्र और विष्णु । अतः जब उपासना का आरम्भ हुआ तो दोनों ने विष्णु और रुद्र को एक रूप तथा अपने आराध्य देव को परम ब्रह्म माना । रुद्र का यह रूप श्वेताश्वरोपनिषद्[101] में स्वीकृत है उपनिषद् द्रष्टाओं ने कर्मकांड को पूर्णतया अस्वीकार करके उनके फलों को भी (परीक्ष्य लोकान्) आदि शब्दों से अस्थाई लाभ के प्रतीक मानकर निष्फल करते हुए अध्यात्म, ध्यान और बुद्धि की एकाग्रता की ओर लगाया । इसी के साथ दूसरी परम्परा, जिसको भक्ति परम्परा कह सकते हैं, उसका भी विकास हुआ क्योंकि सभी प्राणी तो अपनी वृत्तियों, विचारधाराओं सामाजिक तथा नैतिक स्तरों के कारण इस ध्यान चिन्तन को नहीं अपना सकते अतः उनकी स्तवन परम्परा में गीत, भजन, आत्मसमर्पण के भावातिरेक ने भक्ति त्रिवेणी को बहाया किन्तु इन सभी का प्राण तत्व था एकेश्वर का ध्यान और उसमें अनन्त भक्ति, प्रार्थना, भजन के आदर्श थे वैदिक सूक्त, अतः कर्मकांड का पूर्णतया स्थान इस परम्परा ने ले लिया और क्योंकि इस भक्ति की गंगा यमुना धारा के रुद्र तथा विष्णु ही आश्रय थे अतः दोनों धाराएं विकसित हुईं और सत्ता एकेश्वरवाद के ही अन्तर्भूत रही ।

पौराणिक शिव की पूजा का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि आर्त भक्त शिव की मृत्तिका की मूर्ति का बिल्व पत्र, अक्षत, गंगा जल से पार्थिव शिव पूजन द्वारा अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते हैं ।

> मूर्तिमृदा[102] विल्वदलेन पूजा प्रयाससाध्यं वदनं च वाद्यम् ।
> फलं तु तद्यन्मनसाभिकाङ्क्ष्यं निःश्वस्य विश्वेश्वर एव देवे ॥

उपासना के दूसरे स्तर में शिवलिंग क्या है ? शिवलिंग में शिव की प्रतीकोपासना होती है । प्रकृति और पुरुष की शिवलिंग के द्वारा अभिव्यक्ति होती है । विश्व और उसकी लीला प्रकृति का कार्य है, पुरुष इससे ऊर्ध्व देश में स्थित है, यह कूटस्थ है, द्रष्टा मात्र है, श्वेताश्वतर[103]उपनिषद् में माया प्रकृति है, माया शंकर पति है । इन्हीं दोनों के अवयव रूप में अखिल विश्व व्याप्त है । ये ही दो तत्व कारण कार्य

---

101. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3।2।6,7,11
102. शिवोपासना के विभिन्न स्तर, उपासनाकं कल्याण, पृ० 371
103. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् । श्वे० उ० 4।10

हैं, शर्व है, शर्व शिव का ही नाम है, वही ब्रह्म है, प्रकृति पुरुष अर्थात् अर्द्धनारीश्वर रूप में अभिव्यक्त है। तभी उपासक समझता है 'तवैवाहं' हे प्रभु। मैं तुम्हारा हूं। शिवमानस पूजा में प्रभु को आत्मा, बुद्धि गिरिजा, और अपने प्राणों को उनका सहचर कहा है।

यद्यपि लिंग[104] रहस्य के विषय में डा० यदुवंशी के ग्रन्थ शैवमत से कतिपय उद्धरणों का विवेचन यहां दिया गया है तथापि उस विवेचन से पूर्णतया तृप्ति नहीं होती है जब कि तक वर्तमान युग के दर्शन क्षेत्र के सर्वोच्च आत्म द्रष्टा दार्शनिक महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ जी कविराज के विचारों के सारांश को न दिया जाए लिंग और योनि दो ही सृष्टि के मूल रहस्य हैं। पुरुष स्त्री के संभोग के बिना सृष्टि प्रभृति कार्य नहीं चल सकते। शिव और शक्ति, ईश्वर और माया, पुरुष और प्रकृति प्रस्थान भेद से दो ही मूल शक्ति है। जब तक द्वैत जगत् का अतिक्रमण नहीं किया जाता इन दो शक्तियों को ही मूल तत्व मानना पड़ेगा किन्तु इस द्वैत के मूल में नित्य अनुस्यूत भाव अद्वैत सत्ता है सृष्टि के प्रारम्भ में यद्यपि प्रकृति और पुरुष दोनों ही पृथक् रूप में उपलब्ध होते हैं तथापि सृष्टि के आदि रूप में दोनों शक्तियां अभिन्न रूप में बीजावस्था में अभिन्न थीं। परिचायक चिह्न को लिंग कहते हैं। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं उसका कोई भी निदर्शन नहीं दिखलाया जा सकता। किन्तु इस अव्यक्त सत्ता से जो तेजोमय और ज्योतिर्मय तत्व आविर्भूत होता है उसे स्वयम्भू कहा जाता है। यही अव्यक्त अवस्था का परिचायक है इसलिए यह लिंग पद वाच्य है। किन्तु योनि तत्व आधार आधेय दोनों के ज्ञान के बिना इसे भी नहीं समझा जा सकता। तंत्र शास्त्र में योनि को त्रिकोण रूप से और लिंग को उसके केन्द्र स्वरूप या मध्य बिन्दु रूप बतलाया गया है। सृष्टि की अतीत अवस्था में जहां सर्वशक्ति नित्य प्रकाशमान अथवा नित्य अवगुण्ठित है वहां बिन्दु मण्डल और बिन्दु से मण्डल पर्यन्त निःसृत किरण धारा में तीनों ही अभिन्न रूप से प्रकाशित होते है इस अभेदात्मक सत्ता में मण्डल को योनि के एवं बिन्दु को लिंग के पूर्व रूप होने की कल्पना की जा सकती है।

यहां शून्य के वक्षःस्थल पर विकिरण लीला सम्पन्न होती है। उस समय तीन बाह्य रेखाएं ही केन्द्र स्वरूप बिन्दु का आवरण मानी जाती हैं। कम से कम तीन सरल रेखाओं के बिना किसी भी वस्तु का आवेष्टन नहीं किया जा सकता। तंत्र शास्त्र में इसी त्रिभुज को मूल त्रिकोण कहा गया है यह मूल त्रिकोण ही विश्व की उत्पत्ति का महा योनि स्वरूप है जब इसका मध्यवर्ती बिन्दु विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्व गतिशील ज्योतिर्मय रेखा के रूप में परिणत होता है तब इसका उज्ज्वल प्रकाश पुंज के स्तम्भ रूप में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है यही वह पूर्व वर्णित स्वयम्भू नामक ज्योति लिंग

104. लिंग रहस्य डा० गोपीनाथ कविराज, उपासनांक कल्याण पृ० 382-85

है। वैदिक साधना में इसी ने यज्ञकुण्ड और यज्ञाग्नि को स्थान प्राप्त किया है। कुण्ड ही प्रकृति या योनि है अग्नि ही रुद्र या शिव ज्योति है। वेदान्त सूत्रकार ने भी (योनेः शरीरम्) ही कहा है। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में त्रिकोण की ही तीन रेखाएं हैं। जिसको ओंकार या प्रणव कहा जाता है वह अर्द्धमात्रायुक्त इस त्रिकोण का ही नामान्तर है यही योगशास्त्र की कुन्डलिनी है। हिन्दू, बौद्ध[105] और जैन सभी सम्प्रदायों के उपासकगण किसी न किसी रूप में इसको स्वीकार कर चुके हैं।

शाक्त सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय में सृष्टि के उद्‌भव तथा विकास में दिव्य शक्ति का प्रमुख स्थान है। शक्ति, चिच्छक्ति होने के कारण नारी रूप स्वीकृत की गई है। वस्तुतः सृजन में नारी का महत्वपूर्ण स्थान है वह सृजन, पालन दोनों में मानव के लिए अभय वरदान के रूप में प्राप्त है। इसका मूल भी सिन्धु सभ्यता की मातृभूमि की पूजा में प्राप्त होता है। उस समय माता के रूप में पृथ्वी या प्रकृति की उपासना का प्रचलन रहा होगा। वैदिक साहित्य में अदिति[106] और पृथ्वी को देवियों की कोटि में रखा गया है और उसे आदि शक्ति से प्रतिष्ठित किया गया है क्योंकि अदिति ही माता, पिता, पुत्र, विश्वे देवा जो हुआ और जो होने वाला है वह सब अदिति ही है। वे देवों तथा असुरों की माता मानकर पूजित हुई है तथा पृथ्वी को धारण करती है।

सर्वतः प्रथम वाग्देवी सरस्वती का स्तवन ऋग्वेद में लभ्य होता है। सरस्वती[107] को सत्य कर्मों को प्रेरक, उत्तम बुद्धि को प्रशस्त करने वाली तथा यज्ञ को धारण करने वाली कहा है। यह सरस्वती विशाल ज्ञान समुद्र को प्रकट करने वाली है तथा यही सब बुद्धियों को ज्ञान की ओर प्रेरित करने वाली है। यहीं इन्द्राणी[108] तथा वरुणानी के स्तवन की प्रेरणा भी लभ्य है। मानव के रक्षण के लिए भारती,[109] वरुत्री और धिषणा के आगमन का वर्णन भी प्राप्त होता है।

---

105. लिंग रहस्य डा० गोपीनाथ कविराज, उपासनांक कल्याण पृ० 384
106. अदितिर्द्यौ रदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पंच जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्। ऋ० 1।89।10
107. पावका नः सरस्वती—चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
ऋ० 1।3।10,11
108. ऋ० 1।22।12
109. आ ग्ना अग्न इहावसे होत्रां यविष्ठ भारतीम् वरूत्रींधिषणांवह। ऋ० 1।22।10

वैदिक वाङ्मय के शीर्षस्थ एवं प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में पावन विधात्री सरस्वती का स्तवन किया गया है। प्रथम मण्डल तृतीय सूक्त के दश, ग्यारह तथा बारहवें मंत्रों में सरस्वती को अन्न प्रदात्री तथा यज्ञ की सफलता हेतु स्तवन करते हुए उसे सत्य कर्मों की प्रेरक, उत्तम बुद्धि को प्रशस्त करने वाली, तथा विशाल ज्ञान सागर को प्रकट करने वाली कहा गया है। एक स्थल पर अग्नि से भारती,[110] वरुत्री और धिषणा देवियों को रक्षण हेतु लाने को कहा गया है। वीर पत्नी, द्रुतगामिनी देवियां हमें आश्रय दे अपने मंगल के लिए इन्द्राणी, वरुणानी तथा अग्नायी का आह्वान किया गया है।

तेंतीस[111] देवताओं को पत्नियों सहित अन्न के निमित्त यहां लाकर सोम द्वारा बलिष्ठ बनाने का वर्णन है। अदिति को सभी देवों की माता कहा है। सरस्वती के भी दो रूप हैं नदी रूपा और विग्रह रूपा। ऋग्वेद में वागाम्भृणी[112] सूक्त में वाक् देवी का सर्वोत्कर्षण वर्णन किया गया है वह मित्रावरुण को धारण करने वाली है जिसके आश्रय को देव और मनुष्य प्राप्त होते हैं जिसे मैं चाहती हूं वही मेरी कृपा से बलवान्, मेधावी, स्तोता और कवि हो सकता है। यह वाक् शक्ति रुद्रगण तथा मरुद्गण के साथ घूमने वाली है और स्तुतियों से विमुख पुरुषों के संहार की इच्छा से धनुष को दृढ़ करती है। यद्यपि डा० यदुवंशी[113] इस वाक् देवी का संबंध रुद्र से नहीं मानते हैं किन्तु मैं इससे सहमत नहीं हूं।

केनोपनिषद्[114] में उमा हैमवती को देवताओं की चेतन प्रज्ञा के रूप में माना गया है इसे भी प्राचीत वैदिक वाग्देवता का विकास माना जा सकता है। बृहदारण्यकोपनिषद्[115] में वाक् को ही वसिष्ठ कहा है। हैमवती होने से हिमवान् की पुत्री पार्वती इत्यादि अभिधानों से ख्यात हुई और शैव दर्शन में इस देवी का औपनिषदिक प्रकृति अथवा माया से तादात्म्य कर दिया गया, आदि शक्ति अजा एक है उसके लोहित[116] कृष्ण, शुक्ल विविध रूप हैं। इस प्रकार शिव तथा शक्ति की सहोपासना

---

110. ऋ० 1।3।10-12

सरस्वती साधयन्ती धियन्न इला देवी भारती विश्वतूर्तिः।

तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ॥ ऋ० 2।3।8

111. पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवान्—मादयस्व। ऋ० 3।6।9

112. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। ऋ०10।125।1,3

113. शैवमत पृ० 34

114. केन० उ० 3।12

115. वाग् वै वसिष्ठा-बृ० उ० 6।1।2

116. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां।—सरूपाः। श्वे० उ० 4।5

के दार्शनिक आधार की नींव पड़ी। अन्य पुराणो में उनको शिव की ज्ञानमयी शक्ति कहा गया है जिसके द्वारा वे सृष्टि का सृजन करते हैं। अर्धनारीश्वर के रूप में शिव का स्तवन भी लभ्य हुआ है।

इस प्रकार पौराणिक काल में यद्यपि शक्ति शिव की सहचरी के रूप में स्वीकृत थी तथापि शाक्त सम्प्रदाय स्वतंत्ररूपेण पल्लवित हो रहा था। शिव के समान ही देवी के अनेक रूपों को भी प्रस्तर तथा धातु में यथार्थ चित्रण किया जाता था और पुराणेतर काल में समस्त भारत में इस प्रकार की अनेक मूर्तियां प्राप्त होती हैं। तंत्र ग्रन्थों तथा पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि देवी की उपासना में कोई अन्तर नहीं आया था। पौराणिक काल में ही इसे ब्राह्मण विचारधारा के अनुकूल ढालने का सफल प्रयास किया जा रहा था और बौद्ध विचारधारा में भी तारा आदि देवियों का वर्णन मिलता है।

गाणपत्य सम्प्रदाय

ऋग्वेद में रुद्र के गण मरुतों का उल्लेख लभ्य है। इन मरुतों के गणों के अधिपति के रूप में गणपति की प्रतिष्ठा सुदूर प्राचीनकालीन है। महाभारत में गणपति के समकक्ष विनायक का वर्णन है। इन दोनों देवों को समान मानते हुए इनके कार्यों के विषय में मानव विघ्नहर्ता, विपत्ति दूरकर्ता तथा उन्हें कार्यों के द्रष्टा के रूप में वर्णित किया गया है। मानव-गृह्य[117] सूत्रों में इनकी विघ्नहारिणी प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त होता है। इन्हें भूतों के समान वर्णित किया गया है। याज्ञवल्क्य[118] स्मृति में महागणपति कल्प नाम से कर्म की सिद्धि हेतु गणपति की पूजा का विधान है इन्हें रुद्र तथा ब्रह्म के द्वारा लोकोपकार हेतु नियुक्त किया गया है। गाणपत्य सम्प्रदाय की छः शाखाओं का निर्देश मिलता है इनमें महागणपति के उपासक उन्हें आदि देव मान कर उन्हीं से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानते हैं।

एकदन्त वाला शुण्ड मुख ही आराध्य है। हरिद्रा गणपति वाले हरिद्र रंग वाले चतुर्भुज नेत्र वाले स्वरूप का ध्यान करते हैं वे अपनी बाहों पर गणपति के मुख और दन्त की मुद्रा को तपाए हुए लोहे से तप्त कराते हैं। उच्छिष्ट गणपति के उपासक वाम मार्गी हैं। वे आचार विचार में कौल शाक्यों के समान हैं अन्य शाखाओं के नाम नवनीत, स्वर्ण और सन्तान हैं। आज भी सभी कर्मकाण्डीय कर्मों में गणपति का सर्वप्रथम अर्चन किया जाता है।

---

117. मानव गृह्य सूत्र 2।14

118. विनायकः कर्मविघ्नसिद्ध्यर्थं विनियोजितः।
गणानामाधिपत्ये च रुद्रेण ब्रह्मणा तथा। याज्ञ० स्मृ०1।271

सौर साम्प्रदाय

सूर्य उपासना को प्रत्यक्ष देव होने के कारण अर्घ्य देने का विधान है। जयपुर में पर्वत शिखर पर सूर्य देव का भव्य मन्दिर बना है। सन्ध्योपासन विधि में सूर्य सविता देव की गायत्री मन्त्र के माध्यम से प्रार्थना की जाती है। सूर्य को चराचर जगत् की आत्मा कहा गया है। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'[119]। सूर्य नमस्कार तथा सूर्योदय से सूर्यास्त तक सूर्योन्मुख खड़े होकर जल के मध्य मे आदित्य व्रत कहलाता है। ब्रह्म पुराण में सूर्य को अर्पित की गई वस्तुएं लक्ष गुणित करके लौटाने का विधान है।

सूर्य के द्वादश रूप हैं। इनमें से इन्द्र देवों का राजा, धाता, प्रजापति, पर्जन्य वृष्टिकारक, त्वष्टा बनस्पति में विराजमान, पूषा अन्न में स्थित प्रजाजन पोषक, अर्यमा वायु में स्थिति, भग देहधारियों में विराजमान, विवस्वान् अग्नि में पाचकत्व, विष्णु धर्म के स्थापक आदि। सूर्य सहस्रनाम स्तोत्र भी हैं। विदेशों में सूर्य के उपासक हैं। सिकंदर स्वयं सूर्योपासक था। कुछ विचारक[120] ईसा की तीसरी शती में सूर्योपासकों के बाहर से आने का संकेत करते हैं। कुषाण युग में सूर्य की पूजा-विधि ईरान से भारत में आने की कल्पना है किन्तु पाँचवीं शती में सूर्य मन्दिरों का प्रचलन था। तेरहवीं शती में कोणार्क का सूर्य मन्दिर प्रसिद्ध रहा है। सौर पुराण तथा ब्रह्म पुराण में सौर सम्प्रदाय का परिचय मिलता है वे शिव के साथ सूर्य का तादात्म्य करते हैं। इस प्रकार भारतीय विचार धाराओं में एकत्व की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

(घ) ब्राह्मण विचारधारा के मूल स्रोत

संहिता ग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् और वेदांग साहित्य

संहिता ग्रंथ—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" वेद ही समस्त धर्मों का मूल है, यह डिण्डिम घोष सहस्रों वर्षों से तपःपूत ऋषियों और मनीषियों ने किया है और आज भी वे "ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः" की उक्ति के अनुसार जनसमुदाय के भद्र सम्पादन हेतु सार्वकालीन, सत्य से अनुप्राणित होने के कारण वेद सर्ववंद्य है। वेदों का ज्ञान नित्य है। ऋषि का पारिभाषिक अर्थ है मंत्र द्रष्टा, मन्त्र को देखने वाला। भारतीय परम्परा के अनुसार ऋषि लोग मन्त्रकर्त्ता, मन्त्रों के रचियता नहीं थे। समाधि की अवस्था में किसी भी ऋषि की बुद्धि को परमात्मतत्त्व से आंशिक तादात्म्य प्राप्त

119. ऋ 1।115।1

120. प्राचोन भारतीय साहित्य की साँस्कृतिक भूमिका—डा० रामजी उपा० पृ० 455

होता था और उस दशा में उसको जिस ज्ञान की तात्कालिक उपलब्धि होती थी उसको वह समाधि से व्युत्थित होकर शब्दों में व्यक्त करता था भाषा भले ही उसकी हो परन्तु प्रेरणा का स्रोत ईश्वर था।

वेदों का अर्थ है ज्ञान, ज्ञान का मूल स्वरूप, अर्थात् ज्ञान परम्पराओं का मूल स्रोत। वेद एक विपुल वाङ्मय है जो कि समय-समय पर दृष्ट वैदिक मन्त्रों का संकलन है। जिसका उदय, सम्पादन तथा संरक्षण भारतीयों की मौखिक परम्परा में सतत होता रहा है इसी कारण इन्हें श्रुति कहा गया है तथा वही ज्ञान अर्वाचीन युग में ईश्वरीय ज्ञान के नाम से जाना जाता रहा है। वेदों के शब्द लिपि बद्ध न होकर प्रवचन एवं श्रवण द्वारा सुरक्षित होने से श्रुति अर्थ में सार्थक हो गए।

वैदिक वाङ्मय को तीन साहित्यिक विभागों में किन्तु अनुबद्ध रूप में प्राप्त करते हैं।

1. **संहिता भाग**—जिसमें प्राचीन भारतीय सूक्त, प्रार्थनाएं एवं याचनाएं यंत्र-तंत्र आदि सम्मिलित हैं।

2. **ब्राह्मण भाग**—जिसमें धर्म सम्बन्धी विशेषत: यज्ञ के प्रसंग में आए, क्रियात्मक एवं रहस्यात्मक कर्मकाण्ड आदि की गद्यबद्ध चर्चा संकलित है।

3. **आरण्यक तथा उपनिषद् भाग**—जो कहीं तो स्वयं ब्राह्मण ग्रंथों का अंश है तो कहीं स्वतंत्र रूप में निबद्ध है, दोनों में ही वानप्रस्थ तपस्वियों के ईश्वर, संसार, मनुष्य, जीव आदि विषयों पर चिन्तन एवं दर्शन समुपदिष्ट है।

4. **कल्प सूत्र**—यज्ञीय प्रयोगों के समर्थक शास्त्र को कल्प कहते हैं। (कल्प्यते[121] यागप्रयोगो यत्र) सायण, (वेद विहितानां[121] कर्मणामानुपूर्वेण कल्पना शास्त्रम्)। ये सूत्र श्रौत, गृह्य, धर्म तथा शुल्व भेद से चार प्रकार के हैं। श्रौत सूत्रों में अग्नि में विहित यज्ञों के अनुष्ठान का अच्छा वर्णन है। गृह्य सूत्रों में गृह्याग्नि में सम्पादित अनुष्ठानों का वर्णन है। धर्म सूत्रों में सामाजिक आचार एवं कर्तव्यों का वर्णन है। शुल्व सूत्रों में यज्ञ वेदी के मापने का विवेचन किया गया है।

1. ऋग्वेद संहिता—प्राचीन ऋचाओं का संग्रह है।
2. युजुर्वेद संहिता—वैदिक यज्ञों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी यजुष् गद्य एकत्र हैं।
3. सामवेद संहिता—प्राचीन साम ऋचा (गीतियों) का संग्रह है।
4 अथर्व वेद संहिता—जिसमें प्राचीन अथर्व अर्थात् मंत्र ज्ञान संकलित है।

(क) कृष्ण यजुर्वेद—जिसकी अन्य शाखाओं में प्रमुख तैत्तिरीय तथा मैत्रायणी उपलब्ध हैं।

121. ऋक् प्रातिशाख्य-विष्णु मित्र पृ० 13

(ख) शुक्ल यजुर्वेद—जिसका एक ही रूप वाजसनेयी संहिता उपलब्ध है।

प्रत्येक वेद के साथ विशिष्ट ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों की पृथक् ग्रंथमाला है। इसी वैदिक वाड्मय के वेदांग साहित्य में कल्प सूत्र है। इनमें वैदिक यज्ञ भाग प्रक्रियापरक अध्याय हैं जो सूत्रों की एक विशिष्ट शैली में लिखे गए हैं। इनमें तीन प्रकार के सूत्र प्राप्त होते हैं।

1. श्रौत सूत्र—कतिपय दिवसो, मासों तथा वर्ष भर सतत चलने वाले महा-सूत्रों की क्रिया प्रक्रिया के नियमों का संकलन इनमें किया गया है जिसमें अनेक अग्नियों तथा अनेक ऋत्विक् आदि का विधान रहता था।

2. **गृह्य सूत्र**—जिनमें सामान्य गृहस्थ के नित्य कर्मों दैनिक यज्ञों तथा षोडश संस्कारों से सम्बद्ध निर्देश संकलित हैं।

3. **धर्म सूत्र**– जो भारतीयों के सम्पूर्ण आध्यात्मिक एवं लौकिक जीवन के प्राचीनतम धर्मशास्त्र हैं।

वैसे तो जिस प्रकार वेद के पृथक् अपने ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् हैं, उसी प्रकार ऋक् यजु साम अथर्व के श्रौत, गृह्य तथा धर्म सूत्र भी पृथक्-पृथक् हैं। इन सूत्रों का उद्‌भव भिन्न-भिन्न वैदिक परिषदों में वेदाध्ययन की अबाध परम्परा के फलस्वरूप ही किया था फिर भी कर्मकाण्ड के इन ग्रन्थों को वेद की भांति अपौरुषेय नहीं अपितु पौरुषेय ही मानकर वेदांगों में सम्मिलित किया गया है वेदांगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष परिगणित हैं।

वेदत्रयी—ऋग्वेद में कतिपय स्थलों पर वेदत्रयी का ही संकेत मिलता है। अथर्व वेद को वेद की कोटि में पर्याप्त काल के पश्चात् सम्मिलित किया गया ऐसी कतिपय विद्वानों की धारणा है महात्माबुद्ध ने त्रैविद्य या वेदत्रयी का ही निर्देश किया है। बाद में वेदों की संख्या चार हो चुकी थी।

ऋग्वेद[122]में इस प्रकार का वर्णन है कि अग्रभाग में ओंकार युक्त जो ऋक्, यजु, और साम गायक तीन वाक्य जल को दोहन करते हैं, इनको कहो तथा तीनों[123] वेदों का स्तोता यजमान यज्ञ धारण करने वाला है और वह सोम की कल्याणकारी स्तुतियां करता है।

ऋक्[124] तथा साम में वर्णित वृषभ के समान सूर्य और चन्द्रमा उसके रथ को खींचते हैं।[125] वे अपनी बुद्धि से कर्मानुष्ठान करते हुए ऋग्वेद तथा सामवेद के मंत्रों

---

122. तिस्रो वाचः प्रवद ज्योतिरग्रा ता एतद् दुहे मधुदोघमूधः। ऋ०7।101।1
123. तिस्रो वाच ईरयति प्रवह्नि ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्। ऋ०9।97।34
124, ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः। ऋ० 10।85।11
125. ऋक् सामाभ्यां प्ररथ वर्तयन्ति। ऋ०

द्वारा यज्ञ रूप रथ का वहन करते हैं। ऋग्वेद दशम मण्डल में पुरुष सूक्त[126] की नवीं ऋचा में ही अथर्व का भी ग्रहण किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में भी "त्रयी वै विद्या" कहा है तथा तैत्तिरीय आरण्यक में "सैषा त्रयीविद्या तपति" कहा है। बृ०[127] उ० तथा छान्दोग्य में क्रमशः चार तथा तीन वेदों का वर्णन मिलता है। छान्दोग्यमे[128] ही एक स्थल पर तीन वेदों का तथा अन्यत्र चार[129] वेदों का ही वर्णन मिलता है। मुण्डकोपनिषद्[130] में अपरा विद्या में चारों वेदों का परिगणन किया है। मनु स्मृति में भी प्रधानरूपेण तीन ही वेदों का उल्लेख है। इसी प्रकार प्रसिद्ध रचना शार्ंगधर[131] पद्धति में दण्डी की प्रशंसा करते हुए तीन ही वस्तुओं के साथ तीन वेदों का ही वर्णन किया है।

पाश्चात्य आलोचक भी वेदत्रयी का ही समर्थन करते हैं। चतुर्थ वेद का नाम अथर्वांगिरस् सम्प्रति अथर्व वेद है क्योंकि अन्य वेद यज्ञों से ही सम्बन्धित है किन्तु अथर्व वेद गृहीय उत्सवों तथा लोक धर्म के साथ-साथ आश्चर्यकारी जादू भरे नियमों से ओत प्रोत है, परिवार, ग्राम स्वास्थ्य, रक्षा, व्यापार, कृषि, प्रेम आदि के वर्णन प्रसंगों से युक्त हैं, तथा शत्रु, राक्षस, रोग तथा वह हिंसक जीव जन्तुओं से भी रक्षा करता है।

प्रो० मेकडानल[132] के विचार में वेदों के अन्तर्गत आए हुए अथर्ववेद को पर्याप्त समय व्यतीत हो गया।

ऋग्वेद सर्वतः प्राचीन माना गया है इसमें दश मण्डल हैं। इसके अध्ययन से प्रतीत होता है कि इन ऋचाओं को कतिपय प्रधान मन्त्र द्रष्टा तपस्वी मनीषियों तथा उनके वंशजों ने अन्तःकरण में अनुभूत कर प्रकट किया होगा। इसके दश मण्डलों में प्रथम तथा दशम मण्डल सबसे बड़ा है। कतिपय विद्वान् इसे बाद का परिवृंहण कहते हैं। प्राचीनतम सूक्तों के संग्रह ऋग्वेद के 2-7 मण्डलों का मूल एक पुस्तक में मिलता है जिन ऋषियों ने इन सूक्तों का साक्षात्कार किया है उनके नाम ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलते हैं। ऋग्वेद में देवताओं के निर्देश में परमात्मा की शक्ति के विभिन्न अंग रूप प्रकृति की संचालक शक्ति का ही स्तवन अधिक किया गया है। ऋग्वेद के देवता प्रायः यजुर्वेद और सामवेद में भी प्राप्त होते हैं किन्तु अथर्ववेद में

126. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः समानि जज्ञिरे, छंदांसि जज्ञिरे। ऋ० 10.90.9
127. अस्य—ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्वांगिरसः। बृ० उ० 2.4.10
128. ऋचः सौम्य यजूंषि सामानीति ॥ छा० उ० 6.7.2
129. स हो वाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणम्। छा० 7.1.2
130. मुण्डक उ० 1.5
131. संस्कृत साहित्य का इतिहास—प्रो० बलदेव उपाध्याय, पृ०9
132. एस्सेज आन संस्कृत लिटरेचर—साधुराम, पृ० 33

औषधियों जड़ी बूटियों, व्याधियों के निवारण के उपायों के साथ आध्यात्मिक विषय का भी विवेचन है उन स्थलों पर उन्हीं की शक्ति को ही देवता मान कर उसी का अभिधान प्रयुक्त कर दिया गया है। अथर्ववेद में आध्यात्म तथा ब्रह्म ज्ञान के साथ-साथ जीवन की विविध धारा भी वही है। यहां व्याधि-निवारण मंत्र-तंत्र का विधान वर्णित है। जड़ पदार्थों में चेतनत्व की स्वीकृति वैदिक सूक्तों का वैशिष्ट्य है। प्रत्येक पदार्थ में जड़ और चेतन दोनों रूपों का विधान स्पष्टतः किया गया है।

यजुर्वेद—गद्य को यजुष् कहते हैं इस वेद में उन गद्य वाक्यों का समूह है जिनका उपयोग अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर किया जाता था। इस वेद का संबंध यज्ञानुष्ठान से विशेष है। इसके दो भेद हैं कृष्ण यजुः तथा शुक्ल यजुः। पौराणिक कथनानुसार वेद व्यास ने यजुर्वेद को अपने शिष्य वैशम्पायन को पढ़ाया उन्होंने याज्ञवल्क्य ऋषि को पढ़ाया। किसी कारण गुरु अपने शिष्य से असन्तुष्ट हो गए और उन्होंने अपनी पाठित विद्या को वापिस मांगा। याज्ञवल्क्य ने यजुषों का वमन कर दिया तब अन्य शिष्यों ने तितिर का रूप धारण कर उन्हें चुग लिया यही कृष्ण यजुः हुआ उधर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना करके नवीन यजुषों को प्रकट किया जो शुक्ल यजुर्वेद के नाम से केवल मंत्रों का संग्रह है जिनमें विनियोग वाक्य नहीं है। अतः ब्राह्मण से अमिश्रित होने के कारण यह शुक्ल है किन्तु कृष्ण यजुर्वेद में छन्दोबद्ध मंत्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रित रूप है इसीलिए यह कृष्ण यजुर्वेद कहलाता है।

कृष्ण यजुर्वेद की उपलब्ध शाखाओं में केवल चार ही हैं।

1. तैत्तिरीय संहिता—यह प्रमुख शाखा है इसमें सात काण्ड हैं, इनमें कतिपय अध्याय या प्रपाठक है जो कि अनुवाकों में विभक्त हैं।

2. मैत्रायणी संहिता—ये दोनों तैत्तिरीय के समान ही हैं, क्रम में भी समान हैं।

3. काठक संहिता—यह मैत्रायणी से भिन्न है।

4. कठकापिष्ठल संहिता—यह पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

शुक्ल यजुर्वेद की संहिता वाजसनेयी संहिता कहलाती है क्योंकि सूर्य ने बाजी (घोड़े) का रूप धारण कर इसका उपदेश दिया था। इनमें 40 अध्याय हैं जिनकी रचना विशेष प्रकार के यज्ञों का ध्यान करके की गई है। इस वेद की दो प्रधान शाखाएं हैं—माध्यन्दिन और काण्व। माध्यन्दिन शाखा का प्रचलन उत्तर भारत में रहा है और काण्व शाखा महाराष्ट्र में। इन शाखाओं की संहिताओं में सामान्य भिन्नता मिलती है।

सामवेद—सामवेद का संकलन उद्‌गाता ऋत्विक् के लिए किया गया है। यज्ञावसर पर देवता विशेष के आह्वान के लिए उद्‌गाता उचित स्वर में उसी देवता की स्तुति ऋचा द्वारा गाता था, इस गायन को ही साम कहा गया है। ऋचाओं का ही गायन होता है अतः सामवेद में ऋचाएं ही हैं इनकी संख्या 1549 है केवल 75 ऋचाएं स्वतंत्र हैं जो ऋग्वेद में प्राप्य नहीं हैं।

अथर्ववेद—अथर्व वेद का अर्थ है अथर्वाणि जादू टोने। स्वयं अथर्वन् से अभिप्राय अग्नि उद्बोधन करने वाला पुरोहित। अथर्व वेद का प्राचीन अभिधान अथर्वांगिरस है जिसमें अंगिरस शब्द का अर्थ भी जादू टोने ही हैं। अथर्वाणि और अंगिरस में अभीष्ट भावना आर्शीवाद और अभिशाप—जादू दो भिन्न तथा विपरीत पार्श्वों की थी, क्योंकि अथर्वाणि में जहां बीमारी आदि दूर करने के लिए गुप्त शक्ति है तो अथर्वों में शत्रुओं, प्रतिस्पर्धियों के विरुद्ध शाप देने की क्षमता है और सम्पूर्ण अथर्व वेद का प्रतिपाद्य विषय यही है।

अथर्व वेद के मन्त्र स्तुति, उपासना विशेषतः भूतों, प्रेतों, बीमारियों के विनाश में प्रयुक्त थे इनके अतिरिक्त अथर्व वेद में अध्यात्म तथा सृष्टि विषयक प्रसंगों का आधिक्य है। इन सूक्तों की दार्शनिक परिभाषा प्रायः निश्चित हो चुकी थी। सूक्तों का सर्वात्मवाद ही उपनिषदों के सर्वात्मवाद में विकसित हुआ। किन्तु इन्हीं उदात्त सूक्तों का प्रयोग जादू के रूप में होने से इनमें दार्शनिक कल्पनाओं के मूल्यांकन का औचित्य नहीं था।

अथर्व वेद में यातु क्रियाओं से संवलित होने का प्राधान्य है। इस वेद में जन जीवन के सभी प्रकार की सफलता प्राप्ति का वर्णन है। इसे तीनों वेदों के समकक्ष मानने में तथा विवाह सूक्त, अन्त्येष्टि सूक्त आदि बीसवें मण्डल के विषय में ऐसी धारणा है कि यह बाद में जोड़ दिया गया है। "रिजवे"[133] ने अथर्व वेद को आर्य धर्म का संकलन न होकर इसे भारत के आदि वासियों के धर्म का अभिलेखा कहा है। इसी वेद को ब्रह्म विद्या अभिधान भी दिया गया है क्योंकि इसमें दार्शनिक विचारों का क्रमशः विकसित रूप प्राप्त होता है इसके बारे में राथ[134] ने कहा है 'सम्पूर्ण वैदिक वाङ्यम में कोई भी और स्थल ऐसा नहीं शायद जहां देवी सर्वज्ञता को इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णित किया गया हो। इसके विरुद्ध ब्लूम फील्ड का यह कहना कि सम्पूर्ण कविता ही शुरू में अभिशाप मूलक थी—कुछ उचित नहीं जंचता।

ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञों में सहायता प्रदान करने के लिए उनकी व्याख्या तथा विधिविधान को उचित रूप से निर्दिष्ट करते हैं। यहां हम वेदों के प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतिपाद्य को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय और कोषीतकी। ऐतरेय ब्राह्मण—महिदास[135] ऐतरेय की रचना है जिसमें 40 अध्याय और पांच अध्यायों को मिलाकर एक पंचिका

133. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग—1, अनु० डा० सूर्यकान्त पृ० 23
134. संस्कृत साहित्य का इतिहास, वा० खंड-1, पृ० 119, विंटरनित्ज
135. ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन—डा० नाथूलाल, भूमिका, पृ० ज

कही गई है । यह ब्राह्मण यज्ञ में विविध कार्यकलाप का विवरण प्रस्तुत करता है । प्रथम दो पंचिकाओं में अग्निष्टोम का उल्लेख हुआ है । अग्निष्टोम ही सोमयागों की प्रकृति है । सोम याग के विविध विधि विधानों का निर्देशन ऐतरेय ब्राह्मणकार को अभीष्ट है । इस ब्राह्मण में यज्ञ का आरम्भ दीक्षणीय दृष्टि से किया गया है । सामान्यतया यज्ञ का प्रथम कर्म ऋत्विज्-वरण माना गया है । दीक्षणीय, प्रापणीय, प्रवर्ग्य तथा पशुइष्टि का विवरण प्रथम दो पंचिकाओं के अन्तर्गत आ जाता है । तृतीय व चतुर्थ पंचिका में प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन के समय प्रयुज्यमान शस्त्रों का वर्णन मिलता है । साथ ही अग्निष्टोम की विकृतियों-उक्थ्य, अतिरात्र, तथा षोडशी यागों का भी संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है । पंचम में द्वादशाह तथा षष्ठ में कई सप्ताह तक चलने वाले सोम यागों में होता और उसके सहायक ऋत्विजों के कार्यों का पर्याप्त विवेचन किया गया है । सप्तम पंचिका का प्रधान विषय राजसूय यज्ञ है । इसी प्रसंग में शुनः शेप का विख्यात आख्यान भी दिया गया है । अष्टक पंचिका में ऐन्द्रमहाभिषेक तथा उसी के आधार पर चक्रवर्ती नरेशों के महाभिषेक की चर्चा की गई है ।

कोषीतकी का विषय भी ऐतरेय के समान ही है । डा० ए० बी० कीथ ने आंग्ल अनुवाद के साथ ऋग्वेद के दोनों ब्राह्मणों में प्रस्तुत विषय के साम्य और वैषम्य का विवरण लिखा है । इनसे पूर्व मार्टिन हाग ने एक विस्तृत भूमिका के साथ ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित करवाया है ।

पंडित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी भूमिका के साथ हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है । पंडित सत्यव्रत सामश्रमी का 'ऐतरेयालोचनम्' नामक संस्कृत ग्रन्थ निकला था, जिसमें इस ब्राह्मण का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन किया गया है । डा० मंगलदेवशास्त्री ने ऐतरेय और कौषीतकि पर्यालोचन में कतिपय विषयों से सम्बन्धित मूल सामग्री का संक्षिप्त संकलन दिया है । कौषीतकि ब्राह्मण में केवल 30 अध्याय हैं ।

शतपथ ब्राह्मण[136]

शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण सम्पूर्ण वाङ्मय में महत्वपूर्ण है । शतपथ 100 अध्यायों वाला वाजसनेयी संहिता के समान है इसके भी काण्व तथा माध्यन्दिन संस्करण लभ्य है । माध्यनिन्दन में इन सौ अध्यायों को 10 कण्डिकाओं में विभक्त किया है । प्रथम कण्डिकाओं में वाजसनेयी संहिता के प्रथम 18 अध्यायों की अविकल व्याख्या है । यही मूल भाग में भी है । 14वीं कण्डिका में याज्ञवल्क्य को सम्पूर्ण ब्राह्मण का प्रणेता उद्घोषित किया है । 10वीं कण्डिका में शाण्डिल्य को अग्नि रहस्य का प्रवक्ता ।

136. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—वा० 1, भाग-1, विन्टरनित्ज, पृ० 162

इसमें उपनयन, वेदारम्भ, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, वेदि निर्माण आदि का विस्तृत वर्णन है। पश्चात् में 13वीं कण्डिका में अश्वमेध, पुरुष मेध और सर्व मेध का वर्णन है और 14वीं कण्डिका में प्रवर्ग्य तथा अन्य उपनिषदों में शिरोमणि बृहदारण्यकोपनिषद् प्राप्त होता है।

शतपथ ब्राह्मण[137] का प्रारम्भ दर्श तथा पूर्ण मास से पूर्व उपवास की विधि से होता है—नियम इस प्रकार है। 'उपवास का इच्छुक व्यक्ति आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच में खड़ा होकर, पूर्वाभिमुख हो, जल का स्पर्श करें। यह आचमन इसलिए आवश्यक है कि असत्यवादिता से अर्जित पाप को पहले धो ले तभी यज्ञ के योग्य होता है। पवित्रता लाने की यह शक्ति जल में स्वतः सिद्ध है। किसी भी तप में आहुति से पूर्व, उपवास की आवश्यकता पर शतपथ ब्राह्मण[138] में 'अब जरा उपवास के सम्बन्ध मेंकुछ चर्चा कर लें आषाढ़ सावयस का इस सम्बन्ध में कहना है कि उपवास स्वयं ही तप है, तप का अंग नहीं, क्योंकि उनकी युक्ति थी कि देवता तो पहले से ही मनुष्य के हृदय को जान चुके होते हैं सो उन्हें पहले से ही पता होता है कि कल यह तपोधनी हमें प्रातःकाल में ही आहुति देने वाला है, सो देवताजन (आषाढ़ सावयस का कहना है) उस गृहस्थ के घर स्वयं आ जाते हैं और उसके निकट ('या इसकी यज्ञशाला के निकट) रहने लग जाते हैं मक्खियों की तरह मंडराने लग जाते हैं और इसीलिए उसका एक नाम उपवसथ भी है। अतिथियों के खिलाने से पूर्व क्या गृहस्थ स्वयं मुँह मीठा कर सकता है। देवताओं को आहुति देने से पूर्व कुछ भी कैसे खा सकता है।

याज्ञवल्क्य के मत में उपवास करके मनुष्य पितरों का श्राद्ध भी कर रहा होता है और यदि वह उपवास न करे तो उस पर आक्षेप आ जाता है कि देवताओं पर चढ़ाने से पूर्व उसने उच्छिष्ट कर दिया। इस प्रकार यज्ञ अथवा देवताओं को समर्पण से पूर्व आरण्य औषधियों और फलों को (जिनकी आहुति नहीं डाली जाती) खाने की अनुमति, यजमान तथा पुरोहित को शास्त्रों द्वारा मिल चुकी है। उपवसथ की व्युत्पत्ति जैसी प्रवृत्ति ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होती है 'परोक्ष प्रिया हि देवाः' में इन्द्र शब्द के मूल (इन्ध्)[139] प्रज्वलित करना अर्थात् तेजोमय पुरुष का बोध होता है।

अधिकांश उपाख्यानों में तो प्रजापति को ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का एकमात्र कारण मान लिया लिया गया किन्तु स्वयं ब्राह्मणों में ही, उस प्राचीन युग में स्वयं प्रजापति को भी सृष्टि का एक अंशमात्र मानने के लिए सृष्टि का पूर्व रूप अव्यक्त अपः को अपि वा असत् को अपिवा ब्रह्म को उद्घोषित किया है शुरू में सब

137. शतपथ 1।1।1।1
138. शतपथ 1।1।1।1।7।10
139. शतपथ 6।1।1।2

पानी ही पानी[140] था। असत् ही असत् था। पुरुष प्रजापति की इच्छा है मेरा वंश बढ़े, उसने तप किया तप का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्म अर्थात् त्रयीविद्या प्रकट हो गई। जो त्रयी पुरुष के सम्पूर्ण कलाप का आधार बनी, क्योंकि शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्म[141] वेद ही इस सबका आधार है।

ब्रह्म के इस मूलाधार पर स्थिर रहते हुए प्रजापति ने फिर तप शुरू किया और आप:की रचना। वेद की सहायता से उसने एक अंड़े को जन्म दिया। अण्डे से एक हिरण्यमयी ज्वाला फूट निकली, जब उस फूटे अंडे के बाहरी खोल को पृथ्वी बनाया, तब ब्रह्म जो कि मूलत: मन्त्र या जादू था क्रमश: वेद की भावना के रूप में होता गया। सृष्टि के सिद्धान्त का मूल आधार ब्रह्म[142] ही है। शुरू-शुरू में बस ब्रह्म ही था। ब्रह्म ने देवताओं को रचा और देवताओं की रचना समाप्त कर ये तीनों लोक उन्हीं को दे दिये।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध तैत्तिरीय ब्राह्मण है।

सामवेद के ब्राह्मण

सामवेद के साथ सम्बद्ध बहुत से ब्राह्मण हैं जिनमें ताण्ड्य ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है जिसमें 25 अध्याय हैं इसलिए इसे पंचविंश ब्राह्मण भी कहते हैं। इनमें व्रात्य-स्तोम यज्ञों का मनोहारी वर्णन है जिनके द्वारा व्रात्यों को ब्राह्मण धर्म में पुन: प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त हो जाता था। एक अन्य ब्राह्मण जो पंचविंश के पूरक के रूप में षडविंश नाम से प्राप्त होता है। इसमें चमत्कारों तथा शत्रुओं पर विजय के अद्‌भुतपूर्ण वर्णन होने से इसे अद्‌भुत ब्राह्मण भी कहा गया है।

गोपथ ब्राह्मण (अथर्व वेद)

इसके दो भाग[143] हैं। पूर्व ब्रह्म में पांच प्रपाठक तथा उत्तर ब्राह्मण में 6 प्रपाठक हैं। पूर्व ब्राह्मण मौलिक है इसमें अथर्व वेद एव इसके पुरोहितों की प्रशंसा का वर्णन है। इसका विषय उपनिषदों के समान है ब्राह्मणों जैसा नहीं। गोपथ ब्राह्मण का एक अंश प्रणव उपनिषद् ही है। दूसरा अंश गोपथ ब्राह्मण तो स्वयं को ही उप-निषद् कहता है। उत्तर ब्राह्मण वैतानोक्त क्रियाओं पर विनियोग के लिए अनेक स्रोतों से संकलन करता हुआ वेतान का अनुसरण करता है। विषय और मन्त्र दोनों की दृष्टि से इसके साथ आथर्वण सामग्री चलती है जो बहुधा असंबद्ध, अस्तव्यस्त

140. शतपथ 11।1।6।1।11
141. शतपथ 1।6।1।1
142. शतपथ 11।2।3।1 हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, वा०-1, भाग-1, पृ० 179
143. अथर्ववेद एवं गोपथ-ब्राह्मण, डा० सूर्यकान्त, पृ० 212-213

एवं अपूर्ण है । सामान्यतः उत्तर-ब्राह्मण का वैतान के साथ वही संबन्ध है, जो शतपथ ब्राह्मण के प्रथम 9 काण्डों का वाजसनेयि-संहिता के मौलिक सार भाग से है ।

पूर्व ब्राह्मण-गोपथ ब्राह्मण के पूर्वभाग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह वैतान सूत्र के 'यज्ञ-क्रम' का तनिक भी अनुसरण नहीं करता, साथ ही इसका मुख्य ध्येय भी श्रौत यागों के सामान्य प्रकारों की व्याख्या करना नहीं है । उत्तर ब्राह्मण की तरह यह भी बाहर से अपनी सामग्री बटोरता है । किंतु इसका प्रधान स्रोत शतपथ ब्राह्मण का 11 वां और 12 वां काण्ड है ।

आरण्यक—आरण्यक का स्थान ब्राह्मणों के पश्चात् है इनका अध्ययन अरण्य में ही होता था इस कारण ये आरण्यक कहलाए । इन ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम के आवश्यकता तथा उपयोगी क्रिया कलापों का विशेष विस्तार से वर्णन किया गया है, विशेष रूपेण याग-विधान की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है इस विषय का विवेचन रहस्य के साथ वर्णित है इन्हीं का अन्तिम भाग उपनिषद् कहा गया है । यह ब्राह्मणों का प्रायः परिशिष्ट भाग ही है । इनमें जो कुछ भी लौकिक जीवन में रहस्यात्मक होता है, प्रच्छन्न होता है जो लोग विधिवत् दीक्षित नहीं हैं उनसे इन्हें दूर रखना ही श्रेयकर है ऐसा ही ज्ञान-विज्ञान आरण्यकों में सुरक्षित समझा जाता है । वस्तुतः आरण्यकों के आने पर ब्राह्मणों ने यज्ञों के कर्मकाण्ड आदि के कर्म के ऊहापोह में न पड़कर यज्ञीय जीवन की अन्तर्भावना को, अन्तर्दृष्टि को, स्वगत करने वाले का जीवन सफल जीवन माना बताया है ।

इस आश्रम के ब्राह्मणों ने आदर्श जीवन स्वीकार किया तो परिव्राजकों और वानप्रस्थों ने इस आदर्श जीवन के लिए कुछ विधि विधान निश्चित किए अतः वे आत्म चिन्तन तथा ईश्वर, सृष्टि, लोक, परलोक, आवागमन के प्रश्नों के चिन्तन विवेचन में लीन हुए । अतः प्राचीन उपनिषद् अंशतः इन्हीं आरण्यकों के भाग हैं क्योंकि दोनों में कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती अतः बृहदारण्यकोपनिषद् मिश्रित नाम है आरण्यक भी है उपनिषद् भी है बृहदाकार के कारण । यह वेद का अन्तिम भाग है वैदिक युग के अन्त में इसका पठन-पाठन गुरु की सेवा में गुरुकुल में ही सम्भव था क्योंकि दर्शन, रहस्य, नूतन परीक्षण भी विद्यार्थी काल के अन्त में संग्रह होता है । इस प्रकार आरण्यकों की समाप्ति उपनिषदों के सृजन में ही सम्भव है वस्तुतः यह ब्राह्मणों के ही परिशिष्ट है ।

ऐतरेय ब्राह्मण में जुड़े ऐतरेयारण्यक का परिशिष्ट भाग ऐतरेयोपनिषद्, कोषीतकी ब्राह्मण का परिशिष्ट भाग कोषीतकी उपनिषद्, कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीयारण्यक का परिशिष्ट तैत्तिरीय तथा महा नारायण उपनिषद्, शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का बृहदारण्यकोपनिषद्, शुक्ल यजुर्वेद का ईशोपनिषद्, सामवेद के ताण्डय ब्राह्मण का छान्दोग्योपनिषद् तथा तलवकार ब्राह्मण का केनोपनिषद् ।

आरण्यकों की देन—आरण्यकों अरण्यवासी वानप्रस्थी महर्षियों ने पर्याप्त

गम्भीर विमर्श के उपरान्त अपने जीवन की सदुपयोगिता पर बल देने के लिए विचार करके कुछ समाज को देना चाहा अन्यथा उनका शेष जीवन किस कार्य की अपेक्षा रखे अतः उन्होंने मनोवैज्ञानिक रूप में वैदिक अध्यात्मिक दृष्टिकोण को जीवित तत्व यह कर्म सिद्धान्त दिया कि 'पापी भवति पापेन पुण्यो भवति पुण्येन' क्योंकि यदि जीवन की क्रियात्मक धरित्री पर अवतरण करके सोचे तो जीवन में हम प्राणियों में परस्पर व्यवहार एक ही बात से प्रेरित हुआ करता है कि हममें सर्वात्मानुभूति कितनी है । प्रेम का वह हमारे अन्तः स्तल में उद्वेलित स्रोत किस सीमा तक निःसीम कर सकता है । वास्तविकता इसी में है कि इस सर्वात्म भाव के अतिरिक्त भारतीय संस्कृति का प्राणभूत तत्व और कुछ हो ही नहीं सकता जो कि हमारे इन अरण्यवासी वानप्रस्थी ऋषियों महर्षियों ने ब्राह्मण विचार धारा को आन्तरिक क्रान्ति के रूप में प्रदान किया है ।

उपनिषद् वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में आने के कारण उन्हें वेदान्त कहा गया है । उपनिषदों का एक संग्रह है जिनमें 10 उपनिषद् ऋग्वेद से, 19 शुक्ल यजुर्वेद से, 32 कृष्ण यजुर्वेद, 16 सामवेद तथा 31 अथर्व वेद । इस समय 200 उपनिषदों का संग्रह है । इनमें प्रमुख ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर है । इन पर विविध विद्वानों के अनेकों भाष्य हैं । इनका विवेचन चिन्तन वाले दार्शनिक विचारधारा के अध्याय में किया जाएगा यहाँ तो संकेत ही करना लक्ष्य है ।

वेदांग साहित्य-कल्प सूत्र—सूत्र साहित्य की रचना की आधार भूमि वस्तुतः याज्ञिक परम्परा की सुन्दर सुगठित योजना होने से इसके व्यावहारिक प्रयोग में कठिनाई हुई और आन्तरिक तथा बाह्य क्रान्ति ने याज्ञिक सन्तुलन को झकझोर दिया तथा अवैदिक श्रमण (बौद्ध तथा जैन) विचारधाराओं के प्रभाव से इसकी प्रतिद्वंदिता के कारण ब्राह्मण धर्म के कर्मकाण्ड को विधिवत् पद्धति के रूप में सुनियोजित करने का प्रयास किया । सूत्र पद्धति का अनुसरण बौद्ध विचारधारानुयायियों ने भी किया तथा अपनी विचारधारा को प्रसारित करने का साधन बनाया ।

कल्प सूत्र से उस समग्र साहित्य का ग्रहण करना चाहिए जिसमें वेद की शाखा से सम्बद्ध सम्पूर्णधार्मिक नियम एवं प्रक्रियाओं का विशद एवं व्यावहारिक वर्णन सुकर एवं सुलभ रूप में प्रस्तुत किया है । ये ब्राह्मण साहित्य में वर्णित कर्मकाण्ड का विवेचन करते हैं किन्तु इन्हें श्रुति के अन्तर्गत नहीं माना जाता है इन ग्रन्थों को पुरोहितों की मौखिक परम्परा की सहायता से ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर रचा गया था इनसे प्रयोग विधि की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती गई ।

सूत्र साहित्य की रचना की समाज के लिए अनिवार्य एवं महती आवश्यकता थी यह युग की मांग थी कि इतना विस्तृत एवं विशाल साहित्य सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सुनियोजित एवं संक्षिप्त रूप में जनता के लिए उपयोगी

बनाया गया। इसमें धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों को संक्षिप्त करके पठन पाठन, स्मरण में कम शक्ति एवं समय के प्रयोग के लिए तथा इतस्तत प्रकीर्ण उपादेय सामग्री को एकत्र किया जाय जिसका लक्ष्य संस्कारों एवं परम्पराओं का रहस्य मात्र समझाना नहीं अपितु सम्पूर्ण प्रयोगों तथा आचारों का पूर्ण विवरण प्राप्त हो सके इसलिए सूत्र शैली का प्रचलन हुआ। सूत्र साहित्य का काल पाणिनि से पूर्व ई० पू० 800 से 200 तक रहा। सूत्रों में यज्ञों के वर्णन सामाजिक एवं दण्ड नीति, व्यवहार नीति, आचार नीति, आराधना शैली आदि सभी विषयों पर विवेचन किया गया। अतः इन ग्रन्थों की उपादेयता ब्राह्मण विचारधारा के विकास क्रम में अपरिहार्य है अतः इसका संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक है।

कल्प साहित्य तीन भागों में विभक्त है। प्रथम विस्तृत है। ऋग्वेद-श्रोत सूत्र-शांखायन एवं आश्वलायन दोनों में प्रयोग पद्धति समान है। यह शांखायन ब्राह्मण से सम्बद्ध है। विषय एवं शैली में ब्राह्मणों से निकट होने के कारण आश्वलायन से प्राचीन है। शांखायन में 18 अध्याय है। पिछले दो अध्याय कोषीतकी आरण्यक के प्रथम अध्याय के समान है। आश्वलायन में 12 अध्याय हैं। यह ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध है। आश्वलायन ऋषि वही है जिन्हें ऐतरेय ब्राह्मण के चतुर्थ अध्याय के रचयिता मानते हैं।

शुक्ल युजर्वेद—कात्यायन प्रणीत श्रौत सूत्र–इसमें 26 अध्याय हैं। प्रणाली शतपथ के आधार पर है। इसकी शैली बहुत ही संक्षिप्त है। कृष्ण यजुर्वेद के 6 श्रौत सूत्र हैं केवल दो ही प्रकाशित हैं—आपस्तम्ब श्रौत सूत्र आपस्तम्ब शाखा के कल्पसूत्र 30 प्रश्नों अध्यायों में है, हिरण्य केशि आपस्तम्ब की ही एक प्रशाखा है। बोधायन सूत्र आपस्तम्ब एवं भारद्वाज से प्राचीन है। मैत्रायणी शाखा से सम्बद्ध मानव श्रौत सूत्र प्राचीन ग्रन्थों में सुन्दरतम वर्णनात्मक शैली में प्रयोग विधि का वर्णन है। कोई आख्यान या संवाद या दार्शनिक तत्व तर्क वितर्क नहीं पाया गया। दूसरा वैखानस श्रौत सूत्र है। सामवेद—के तीन कल्प सूत्र हैं। मशक द्वारा रचित आर्षेय कल्प। इस ग्रन्थ में पंचविंश ब्राह्मण में दिए गए क्रम के अनुसार सोमयाग की विभिन्न संस्थाओं से संबद्ध स्तुतियों की परिगणना मात्र हैं। लाट्यायन द्वारा प्रणीत श्रौत्र सूत्र पंचविंश ब्राह्मण के निकट है। द्राह्यायण का श्रौत सूत्र लाट्यायन से बहुत कुछ साम्य रखता है। यह सामवेद की राणायणीय शाखा का प्रयोग कल्प माना जाता है। अथर्ववेद का श्रौत सूत्र—वैतान सूत्र-वैतान यह त्रेता अग्नि का बोधक है। यह गोपथ ब्राह्मण के अत्यंत निकट है। यह कात्यायन प्रणीत श्रौत सूत्र की शैली पर रचित है। अन्य शाखाओं के गृह्य सूत्रों के आधार स्रौत सूत्र है परन्तु वैतान स्वयं गृह्य सूत्रों को आधार मानता हैं अतः पर्याप्त बाद के काल की रचना है। श्रौत विधियां सामूहिक रूप से न होकर वैयक्तिक यजमान के हित के लिए वेदों के लिए कुण्ड का निर्माण, आहुति प्रदान, कुश, समिधा, यज्ञ स्थापन, अरणि मन्थन आदि क्रियाएं इनका विषय हविष्यान्न, है।

गृह्य सूत्र—ये दैनिक जीवन की धार्मिक विधियों को नियमित करने के लिए प्रचलित रूढ़ियों के आधार पर बनाए गए। ऋग्वेद के शांखायन गृह्य सूत्र में 6 अध्याय है जिसमें प्रथम चार मौलिक है। ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध आश्वलायन गृह्य सूत्र हैं जिसमें चार अध्याय है। शुक्ल यजुर्वेद का पारस्कर गृह्य सूत्र—इसे कातीय अथवा वाजसनेय गृह्य सूत्र भी कहते हैं। यह कात्यायन के श्रौत सूत्र के निकट है।

कृष्ण यजुर्वेद—आपस्तम्ब गृह्य सूत्र, हिरण्यकेशि गृह्य सूत्र, बोधायन गृह्य सूत्र, मानव गृह्य सूत्र काठक तथा वैखानस गृह्य सूत्र।

सामवेद गोभिल गृह्य सूत्र पुरातन एवं सर्वांगपूर्ण है। खादिर गृह्य सूत्र यह द्राह्याणव शाखा का सूत्र है यह भी गोभिल का ही संक्षिप्त संस्करण है। अथर्व वेद—कोशि गृह्य सूत्र-महत्वपूर्ण है इसमें अथर्व वेद के अनेक मंत्र तंत्रों की विधियों का भी विवेचन है। इसमें सपिण्डीकरण श्राद्ध का वर्णन है।

धर्म सूत्र—स्मृतियों पर आधारित धर्म सूत्र हैं दैनिक जीवन के लोक व्यवहार संबंधी कानून ही धर्म सूत्र कहे जाते हैं। ये प्राचीन रचनाएं हैं।

आपस्तम्ब धर्म सूत्र—यह विशालकाय ग्रन्थ है। ब्रह्मचारी तथा गृहस्थियों के धर्म का उल्लेख है साथ ही निषिद्ध भोजन व्रतोपवास, दायभाग, दण्डविधान का विवेचन है।

हिरण्य केशि धर्म सूत्र—यह आपस्तम्ब के निकट तथा इसके मूल रूप को प्रमाणित करने में ही इसकी सार्थकता है।

बोधायन धर्म सूत्र—धर्म शास्त्र के नाम से ख्यात है और प्राचीन है इसकी भाषा तथा विभिन्न जाति, विभिन्न याग, व्रत, उपवास, प्रायश्चित्त, राज धर्म, दण्ड नीति, विवाह, साक्ष्य नीति, दाय भाग तथा स्त्री धर्म का उल्लेख है।

गौतम[144] धर्म सूत्र—कुमारिल के कथनानुसार यह सामवेद के राणायणीय शाखा का धर्म सूत्र है। इसकी शैली बोधायन से मिलती है।

वसिष्ठ धर्म शास्त्र—ये भी सूत्र काल की ही रचना है। इसकी रचना गौतम धर्म सूत्र के बाद और मनु स्मृति से पूर्व की है। यह पुरोहितों द्वारा बुद्धि पूर्वक

144. संस्कृत साहित्य का इतिहास, भाग-1, मेकडनाल, अनु०, चारुचन्द्र शास्त्री, पृ० 30

ब्राह्मण विचारधारा को अक्षुण्ण बनाए रखने की दृष्टि से रचा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित याज्ञिक प्रयोग विधि का आधार जनता में प्रचलित विविध प्रकार के धार्मिक कृत्यों ने ले लिया।

याज्ञिक कृत्यों का विरोधी होते हुए भी बौद्धों में गृह्य सूत्रों के पर्याप्त प्रभाव को हमने प्रमाणित करने का अग्रिम अध्यायों में प्रयास किया है। इस प्रकार ब्राह्मण विचारधारा के मूल स्रोतों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय अध्याय

(क) भगवान् बुद्ध का आविर्भाव काल

(ख) भारतीय चिन्तन क्षेत्र में भगवान् बुद्ध का कार्य और महत्व

(ग) भगवान् बुद्ध के वचनों से संबंधित साहित्य अर्थात् (त्रिपिटक) ग्रन्थों का परिचय।

(क) भगवान् बुद्ध का आविर्भाव काल

आविर्भाव काल—काल की दृष्टि से (ऐतिहासिक) तथा धार्मिक या वैचारिक दृष्टि से

मुख्यतया भाषा की साक्षी पर यह सिद्ध ही समझा गया है कि वेद विश्व के साहित्य के प्राचीनतम अवशेष हैं। बौद्ध विचारधारा, जिसका उदय ईसा से 500 वर्ष पूर्व हुआ था, सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को स्वीकार करती है। इसका आशय यह है कि वैदिक साहित्य का स्वरूप ब्राह्मण विचारधारा के रूप में ईसा से 500[1] वर्ष पूर्व पूर्णतया विकसित हो चुका था।

भारत के प्राचीन इतिहास में सिकन्दर का आक्रमण 326 ईसा पूर्व प्रायः स्वीकृत है। यूनानी लेखकों से यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के सामन्तों के विरोध में एक सफल विद्रोह किया और पाटलिपुत्र (पटना) पहुंच कर नन्दों की गद्दी पर अधिकार करके मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। प्रायः इसी घटना के बाद सेल्यूकस के प्रतिनिधि के रूप में मेगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में आया। मेगस्थनीज के भारतीय उल्लेखों में ईसा से चौथी शती पूर्व की भारतीय संस्कृति का स्पष्ट चित्र हमें प्राप्त होता है। **सम्राट् अशोक इसी चन्द्रगुप्त का पोता था, जो 264 ईसा पूर्व में राज्य सिंहासन पर बैठा।** भारत के **प्राचीनतम अभिलेख अशोक** के ही हैं, इनकी लिपि भारत की **प्राचीनतम लिपि है।** सम्राट् अशोक बौद्ध धर्म का संरक्षक और प्रचारक था। पत्थरों पर खुदे हुए ये आदेश राजा के हृदय परिवर्तन के स्मारक होने के साथ-साथ लिपि और भाषा की उपयोगिता की दृष्टि से अधिक उपयोगी हैं। भारतीय साहित्य और धर्म तथा विचारधाराओं के विकास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। 178 ई० पू० में (चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के 137 वर्ष बाद) मौर्यों के अंतिम राजा को पुष्यमित्र ने पदच्युत कर दिया। कालिदास ने अपने नाटक में पुष्य मित्र का वर्णन किया है जो अनेक ग्रंथों की तिथि निर्धारण में योग देता है।

ग्रीक सम्राट् मैनाण्डर जो ईसा पूर्व 140 में जीवित था और बौद्ध विचारधारा के ग्रन्थ मिलिन्द प्रश्न में यह मिलिन्द नाम से वर्णित है। बौद्ध तीर्थों के दर्शनार्थी विशेषतः तीन चीनी यात्री[2] भारत में आये। फाइयान 399 ईसवी, ह्वान च्वांग 630-645 में तथा बाद में भी कितनी बार आया और इंचिग ने 671-95 में सम्पूर्ण

---

1. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, विटरनित्ज, पृ० 30
2. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, विंटरनित्ज, पृ० 30,31

भारत की परिक्रमा की। बौद्ध ग्रन्थ जो 240 ई० पू० तक पूर्ण हो चुके थे, ये कहीं भी हस्त लेखों का वर्णन नहीं करते। ब्राह्मण साहित्य का उदय लिपि कला के अभाव में मुखात् मुख ही होता रहा है अतः वह श्रुति कहा गया। वेदों के स्वरूपों में उनकी कठोर नियमबद्धता के कारण परिवर्तन नहीं हुआ जबकि लौकिक साहित्य में पर्याप्त परिवर्तन आया। बौद्ध ग्रन्थों में पहली शताब्दी पश्चात् लकड़ी के लेख पत्र तथा श्लोक स्वर्ण पत्रों पर लिखित प्राप्त हुए हैं। बौद्ध प्रवचन भी पर्याप्त समय तक मौखिक ही चलते रहे।

यह समय बुद्ध निर्वाण[3] काल से अनुमानित किया जाता है। किन्तु इतना निश्चय है कि यह ईसा पूर्व छटी शताब्दी के आसपास का समय था। कतिपय प्रमुख उपनिषदों की रचना एवं प्रचार भी हो चुका था क्योंकि बुद्ध के विचारों में स्पष्टतया उनकी झलक मिलती है। छान्दोग्योपनिषद्, ऐतरेय आदि के नाम त्रिपिटक[4] ग्रन्थों में मिलते हैं। धर्म के विकास का वर्णन करते हुए ऐतिहासिक इनके युग को छठी शताब्दी ई० पू० का ही समय निश्चित ठहराते हैं। वस्तुतः यह समस्त प्राचीन संसार में व्यापक धर्म सुधार का युग था जबकि चीन, यूनान और भारत में बौद्धिक और आध्यात्मिक प्रतिभा का आश्चर्यजनक प्रस्फुरण देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि अनेक सहस्राब्दियों की पर्येषणा के बाद मानव जाति मात्र के लिए 'अभि सम्बोधि' का युग उपस्थित हुआ हो इस व्यापक आध्यात्मिक क्रान्ति के लिए ऐतिहासिक 'हेतु प्रत्यय सामग्री' का समुचित निर्देश करना सरल नहीं है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के अनुसार मानव चेतना के परिवर्तनों के कारण को सामाजिक धरातल पर खोजना चाहिए, अध्यात्मवादी दृष्टि के अनुसार चेतनागत क्रान्ति ज्ञान के स्वाधीन विकास अथवा अतिमानवीय प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इन दोनों दृष्टियों में से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण का विंटरनित्ज के प्रथम वो० भाग दो में इस प्रकार वर्णन है। (1) गौतम बुद्ध 485 ई० पू० के आस-पास निर्वाण को प्राप्त हुए। उनके कार्यकाल को 535-485 ई० पू० के मध्य निर्धारित किया है। (2) सिंघली प्रथा के अनुसार 544 ई० पू० बुद्ध निर्वाण की तिथि का निर्देश अनेक योरोपीय विद्वानों द्वारा अस्वीकृत किया गया है। खारवेल के हाथीगुम्फा के शिलालेख के आधार पर भी 544 ई० पू० ही बुद्ध निर्वाण तिथि का अनुमोदन किया गया। इस विचार का समर्थन ए० वी० कीथ ने अपने ग्रन्थ बौद्ध दर्शन में नहीं किया। इससे यह निष्कर्ष प्रमाणित होता है कि विंटरनित्ज के मत में बुद्ध राजा बिम्बसार तथा अजात शत्रु के समकालीन थे और इन्हें ई० पू० छठी शताब्दी में रखा जा सकता

3. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, पृ० 16
4. तेविज्ज सुत्त, बु० च०, पृ० 190

है। इसी पुस्तक के (एपेन्डिक्स) परिशिष्ट में यह प्रमाणित किया गया है कि नेपाली पडेरिया ग्राम में खुदाई में 1896 में प्राप्त एक शिला लेखा से यह ज्ञात होता है कि ई० पू० 250 में राजा अशोक ने बुद्ध की जन्म भूमि की यात्रा की। शिलालेख में राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद प्रियदर्शी राजा अशोक स्वयं यहां आए और उन्होंने अपनी भक्ति प्रदर्शित की क्योंकि बुद्ध (शाक्य वंशी सन्त) ने यहां जन्म लिया था।

सर चार्ल्स इलियट[5] ने बुद्ध के विषय में कहा है कि बुद्ध हिन्दू साहित्य में जीवित व्यक्ति है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व से अपने युग को प्रभावित किया है। विंटरनित्ज ने अपनी पुस्तक इतिहास में बुद्ध के शिष्य तिष्यमोंग्गलि पुत्र ने बुद्ध निर्वाण के 236 वर्ष उपरान्त बौद्ध भिक्षुओं की संगीति बुलाई जिसमें थेरवा स्थविरवादियों के सिद्धान्तों का संकलन किया गया। तिष्य स्वयं विभज्जवादियों में से थे, वे भी थेरवादी विचारों पर ही दृढ़ रहे उन्होंने कथावत्थु में विभिन्न सिद्धान्तों का उन्मूलन किया। यह त्रिपिटक का संग्रह एक संगीति में न होकर विभिन्न सिद्धान्तों के विवेचन के साथ विभिन्न अवसरों पर हुआ है। जिनमें यह एक शताब्दी बाद वाली संगीति प्रमुख थी। तिष्य ने लंका में प्रचारार्थ राजा अशोक के पुत्र महेन्द्र को भेजा था। लंका के बौद्धों के अनुसार महेन्द्र स्वयं तृतीय महा-संगीति में संकलित पालि त्रिपिटक को वहां से ले आए जो आज भी प्राप्त होता है वह सिंघली राजा वत्तगामिनी द्वारा प्रथम शताब्दी ई० पू० में लिपिबद्ध कराया गया।

बुद्ध धर्म की 25 सौ वर्षीय जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित ग्रन्थ[6] में भी छठी शताब्दी को ही महत्वपूर्ण समय बतलाते हुए अनेक विद्वानों ने अपने मत से बुद्ध का परिनिर्वाण 544 ई० पू० को मानकर ही 1956 को ही पच्चीस सौ वीं तिथि निश्चित की है।

प्राचीन उपनिषदों[7] और बौद्ध धर्म के बीच कई शताब्दियों का व्यवधान होना आवश्यक है और इसलिए उपनिषद् और उसके परिणामस्वरूप ब्राह्मण एवं संहिताएं उनसे कहीं अधिक प्राचीन होनी चाहिए। बौद्ध धर्म सुविकसित सिद्धान्त बुद्ध के हैं या पांचवी शताब्दी ई० पू० ही के हैं। इस बात का विवेक नहीं किया जा सकता फलतः सभी संभावनाओं को समझ में रखते हुए यह मानना उचित प्रतीत होता है कि हम किसी आत्यन्तिक निर्णय को न अपना कर इतने से ही बस कर लें कि उपनिषद् ई० पू० 500 से पहले बनी थी। विन्सेंट द्वारा बुद्ध का मृत्युकाल 546 ई० पू० के आसपास मानकर राजा अजात शत्रु का काल 554 ई० पू० के

5. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, भाग-2, विंटरनित्ज, पृ० 595।
6. ट्वन्टी फाइव हन्ड्रेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म बापत्थ की भूमिका, डा० राधा-कृष्णन् पृ० 11
7. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग प्रथम, पृ० 25,26

आसपास निर्धारित किया गया है। उपनिषदों के इससे अधिक प्राचीनकाल में ले जाने के विरुद्ध एक और साक्ष्य इस मत के स्वीकार करने में निहित है कि कोषीतकी और बृहदारण्यक उपनिषदों के काशिराज के रूप में आने वाले अजातशत्रु बौद्ध ग्रन्थों में आने वाले ही अजातशत्रु है जो गौतम बुद्ध के समकालीन थे। किन्तु ये नाम केवल एक उपाधि है जब कि बौद्ध ग्रन्थों में राजा काशी के राजा नहीं।

बौद्ध ग्रन्थ[8] त्रिपिटिक समाज के सामान्य मानव के दैनिक जीवन का दर्पण प्रस्तुत करते हैं जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रमुखतया राजाओं और देवताओं का ही वर्णन है। त्रिपिटक भारत के प्राचीन सामाजिक चित्रण की इन्साइक्लोपीडिया (भण्डार) है जिसमें हमें समाज के सभी वर्गों का अच्छा चित्र मिलता है। भगवान् बुद्ध ने चारिकाएं करते हुए जो उपदेश दिए जिनका संग्रह त्रिपिटक के रूप में बाद में हुआ जिसमें बिना किसी भेदभाव के समाज के सभी वर्गों को सम्बोधित किया गया है। उपनिषद् जिनका लक्ष्य भी मोक्ष ही है वे सभी मानवों के लिए बोधगम्य न होकर अल्पसंख्या के लिए ज्ञानगम्य है। बुद्ध वचनों का प्रयोग जनसाधारण के लिए हुआ जिनमें अशिक्षित भी थे इसी कारण इसका प्रसार लोक भाषा के माध्यम से लोक कथाओं के द्वारा हुआ।

वैचारिक दृष्टि—बुद्ध धर्म के उदय से पूर्व औपनिषदिक[9] विचारधारा का पूर्णतया विकास हो चुका था तथा वेदान्त के सिद्धान्तों की भी परमोन्नति हो चुकी थी। योग का भी पर्याप्त प्रचलन था तथा कर्म के सिद्धान्त की नींव अत्यंत गहरी जम चुकी थी, जिसे बुद्ध ने भी स्वीकार किया। संवेग को बौद्धों ने दु.ख कहा। उस समय की सभी विचारधाराएँ यह मानती थी कि संसार में पुनर्जन्म[10] से बचने का साधन है तथा मुक्ति का मार्ग है जोकि अविद्या के विनाश से अमरत्व को प्राप्त करा सकता है। ब्राह्मण विचारधारा में नैराश्यवादी विचार को ही नहीं अपनाया गया अपितु इन सभी में परिणाम का ही महत्व रहा है, यथा अनेक रचनाओं में चाहे कितनी भी दुःखान्त परिस्थितियों से पात्र निकले किन्तु परिणाम सुखान्त ही रहना चाहिए इसी कारण सुखान्त रचनाओं का ही महत्व है। बौद्धों का कथन था कि निर्ग्रन्थ[11] शारीरिक कर्म को महत्व देते हैं चेतसिक कर्म को नही। वस्तुतः चेष्टाजन्य परिस्पन्दात्मक कर्म और आत्मा को आवृत्त करने वाला उसका परिणाम निर्ग्रन्थ मत में प्रधान है। निर्ग्रन्थों के लिए तपस्या प्रधान थी। स्वयं महावीर की कृच्छ्र चर्या आदर्श रही है वे स्वयं 13 वर्ष तक बिना आवास के रहे हैं। उन्होंने

8. स्टडीज़ आन स्लेवरी इन इण्डिया, डा० चानना, पृ० 11
9. सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट, भाग 1 (मैन्युअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म पृ०11)
10. —वही—12
11. ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 571-73

नहाना,[12] मुँह धोना, खुजलाना, मौन, एकान्त प्रजागर, उपवास, शान्ति ओर निरन्तर ध्यान का असाधारण अभ्यास किया था।

ब्राह्मण विचारधारा का समारम्भ बहुदेववाद से हुआ जिसमें मानव ने ही नहीं अपितु देवों ने अपना देवत्व भी यज्ञ के द्वारा ही पाया किन्तु इस यज्ञ परकता का विरोध औपनिषदिक विचारधारा में मिलता है। क्षत्रियों के सहयोग से यहां पर्याप्त वैविध्य आया। उनमें श्रमण विचारधारा के वैदिक तथा अवैदिक दोनों रूप मिलते हैं। उनमें से कतिपय तो नास्तिक चार्वाक[13] दर्शन के रूप में उदित हुए तथा अन्य गौतम बुद्ध तथा महावीर के अध्यक्षत्व में विकसित हुए। होर्नेल[14] का लेख यह प्रमाणित करता है कि दिगम्बर जैनियों को ही आजीवक माना गया है जो बहुत पहले ही इस मत में आ चुके थे। डा० के० वी० पाठक[15] ने अपने लेख में तथा डी० आर० भण्डारकर ने भी इस निष्कर्ष का पूर्णतया विरोध किया है। होर्नेल ने आजीव 'जीवन के व्यवसाय' अर्थ से ही आजीवक का अर्थ ग्रहण किया है। गोशाल के रहने का ढंग एक नए प्रकार का था इसलिए उसका नाम आजीवक पड़ा। आजीवक[16] सम्प्रदाय एक धार्मिक भावना के रूप में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है जोकि बौद्धकाल से पूर्व का है।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव काल के विवेचन में हमें भगवान् कृष्ण की गीतोक्ति को ही लक्ष्य करके विचार करने की आन्तरिक प्रेरणा मिली कि वस्तुतः जब समाज में धर्म, दर्शन, आचार, विचार, व्यष्टि, समष्टि तथा राष्ट्रीय जीवन में अस्त व्यस्तता तथा विचिकित्सा, संशयवाद तथा अन्ध विश्वास का बोलबाला हो जाय और अनाचार तथा अत्याचार में साधु, असाधु, शिष्ट, अशिष्ट सभी का विनाश ह्रास हो रहा हो, तो धर्म की संस्थापना के लिए भगवदवतरण होता है। वे किसी विभूति विशेष के माध्यम अथवा शरीर से जगत्कल्याण करते हैं।

यदा[17] यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

---

12. आया रंग 1-9,1,5,6
13. हिस्ट्री एण्ड डाक्टरिन्स आफ आजीविकाज, ए० एल० बासम, उपोद्घात डा० एल० डी० बारनेट, पृ० 1
14. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स, आजीविकाज 1, 1908 पृ० 259-68
15. दी आजीविकास ए सैक्ट आफ बुद्धिज्म, पृ० 88,89
16. एनल्स आफ भंडारकर ओरिन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, पृ० 183,84 आजीविकास पृ० 98
17. गीता० 417,8

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

हे भारत अर्जुन! जब-जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म की प्रबलता फैल जाती है, तब में स्वयं ही साधुओं की संरक्षा के निमित्त और दुष्टों का नाश करने के लिए मैं युग-युग में धर्म की संस्थापना हेतु जन्म धारण करता हूँ। उपर्युक्त श्लोक में पांच बातों को ही अवतरण का कारण दिया है अतः इन्हीं पाचों का विवेचन यदि हम कर दें तो बुद्ध के आविर्भाव काल की स्थिति का पूर्णतया विवेचन हो जाता है।

धर्म की ग्लानि–मैंने दूसरी पुस्तक (ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियों का दार्शनिक विवेचन) में ब्राह्मण तथा श्रमण दो धाराओं के सुदृढ़ रूप का तथा उनमें भी अवैदिक श्रमण को पूर्ण विकसित रूप से दर्शाया हैं। अवैदिक श्रमण धारा में वैदिक श्रमण धारा से जो भी असमानताएं हमने वहां वर्णित की है उन्हीं के विषय में पुनरावृत्ति करना तो उचित नहीं किन्तु प्रमुखतया उन्हीं का बोलबाला था। यथा वेदवाणी तथा गुरु में अनास्था, कर्मकाण्ड का विरोध, मंत्र, जप, तप, यज्ञ की हेयता तथा संशयवाद की प्रबलता. अंध विश्वास का बोलबाला तथा शुद्ध तर्कों पर आधारित बुद्धिवादिता की भावना प्रबल हो चली थी। प्रचलित ब्राह्मण धर्म आस्तिक था, कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। ब्राह्मण काल में वैदिक धर्म के अनुसार मंत्र, जप, तप, प्रायश्चित्तादि धर्म के बाह्यांगों पर विशेष बल दिया जाता था। वे सुकृत तथा दुष्कृत के कर्म फल में आस्थावान् थे। इनमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय के साथ वैदिक हिंसा का अनुशीलन था। ब्राह्मण पौरोहित्य कर्म में दक्ष था अत: जब तक ये सरल स्वभाव, निःस्पृही तथा विद्या व्यसनी रहे, उनका समाज में सम्मान रहा किन्तु जब उन्होंने मात्र पौरोहित्य कर्म की अपनी ठेकेदारी का दावा किया तो अन्य लोग भी ताल ठोंक कर सामने आ गए। वे अत्यंत संकीर्ण, स्वार्थी तथा आचार में भी निम्न हो गए थे। समाज में वे सुर तथा भूसर (ब्राह्मण) कहलाने लगे। वे समाज में जप, होम द्वारा स्वर्ग की कामना तथा अन्य लौकिक मांग कामनाओं से अनुष्ठान करते थे। वेद का ही प्रामाण्य था जातिबन्धन कठोर था। शनैः-शनैः कर्मकाण्ड की निष्फलता तथा विपुल धन, अधिक समय, शक्ति साध्य तथा अनेक विधि-विधानों की जटिलताओं से समाज का शिक्षित वर्ग ही नहीं अपितु तपस्वी वर्ग भी 'प्लवा-ह्येते अदृढ़ा' कह कर विरोध करने लगा। स्वतन्त्र चिन्तन की प्रधानता ने जन्म लिया किन्तु उस समय कोई नियामक नहीं था और शास्त्र की अप्रमाणता के कारण कार्याकार्य के सच्चे उपदेशक की आवश्यकता थी। बौद्ध ग्रन्थों तथा जैन ग्रन्थों में विभिन्न वादों का वर्णन सुलभ है।

दीर्घनिकाय[18] में ब्रह्मजाल सुत्त में 62 मतमतान्तरों का वर्णन मिलता है जिनमें

18. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 24।

कतिपय क्रियावादी जो आत्मा की सत्ता प्रधान चिह्न (अस्तित्व) को मानते हैं। जैन इसे जैनेतर सिद्धान्त मानते हैं परन्तु महावग्ग (6।31।2) तथा सूत्रकृतांग (1।12।21) के अनुसार महावीर स्वयं क्रियावादी थे। अक्रियावादी-इनके अनुसार संसार के सभी पदार्थ क्षण भर के लिए ठहर कर विनष्ट हो जाते हैं यह बौद्धों का क्षणिक वाद ही है। अज्ञानवाद—मुक्ति के लिए तपस्या पर्याप्त है ज्ञान की आवश्यकता नहीं, यह कर्म मार्ग के तुल्य है। विनयवाद-मात्र विनय से मुक्ति पाने को ही अपना मार्ग बतलाते हैं।

छठी शताब्दी पूर्व में जो विचारधाराएं प्रवाहित थी उनकी आधार भित्ति के रूप में महात्माबुद्ध, महावीर तथा गोशाल की विचारधाराएं स्वीकार की गई हैं। मस्करी[19] गोशाल के अनुयायी आजीवक कहलाए, उन्होंने तात्कालिक वैष्णाव धारा की पंचरात्र शाखा में कुछ तथ्यों के आकलन करने का प्रयास किया।

पंचरात्र[20] में आत्मा शब्द के स्थान में जीव शब्द को ही अधिक प्रयुक्त किया गया है और वहां नियति को महत्व दिया है किन्तु आजीवक की भाँति नहीं। वस्तुतः नियतिवादी[21] विचारधारा इन तीनों विचारधाराओं से पूर्व से ही समाज में व्याप्त थी। किन्तु इस नियतिवादी विचारधारा के माध्यम से एक नियमितता लाने का श्रेय आजीविकों को दिया जा सकता है। वस्तुतः यह भी ब्राह्मण विचारधारा के मूलभूत तत्व ऋत का ही रूपान्तर है। जिसे कर्म सिद्धांत के रूप में माना गया और इसीसे कारणवाद आदि आधारभूत तत्वों का परिवर्धन हुआ। ऋग्वेद के नियतिवाद का जीवन में कोई महत्व नहीं था, किन्तु मनुष्यों के भाग्य निर्माता देव थे। मनुष्य को उन्हें प्रसन्न करना अनिवार्य था, वह उनके क्रोध से बचने के लिए यज्ञ, उत्सव, व्रत, जप, तप, दान आदि करता था।

आजीविक सम्प्रदाय के इस नियतिवाद के सिद्धान्त का उदय अनार्यों से हुआ होगा क्योंकि कठोर संकल्प का अनुशीलन भारतीय धार्मिक विचारधाराओं के लिए स्वाभाविक नहीं है। मज्झिम निकाय के सन्दक सुत में स्पष्ट रूप से आजीवकों का वर्णन किया गया है। यद्यपि यहां अन्य प्रमुख चार अब्रह्मचर्यवास तथा अनाश्वासिक धर्म कहे हैं किन्तु समाप्ति में आजीवकों की निंदा करते हुए कहते हैं। 'आनन्द[22] !, न अपने धर्म का उत्कर्ष करना, न परधर्म की निन्दा करना, ठीक जगह पर उपदेश करना, इतने अधिक मार्गदर्शक जान पड़ते हैं, यह आजीवक पूत मरी के पूत तो अपनी बड़ाई करते हैं। तीन को ही निर्माता बतलाते हैं जैसे कि नन्द, वात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खली गोशाल।' मक्खली गोशाल का सिद्धान्त नियति-

19. हिस्ट्री एण्ड डाक्टरिन्स आफ आजीविकाज, ए० एल० बासम, पृ० 278
20. हिस्ट्री एंड डाक्टरिन्स आफ आजीविकाज, ए० एल० बासम, पृ० 281
21. हिस्ट्री आफ इंडियन फिलोसफी; भाग-1, दास गुप्ता, पृ० 85
22. सन्दक सुत्त, म० नि०, हिन्दी अनुवाद, पृ० 307

वाद पर आधारित था। उनका मत था कि नियति के द्वारा मानव के सभी कार्यों का नियंत्रण होता है और मानव प्रयास का कोई महत्व नहीं। इस कारण इस नियतिवाद में मानव उद्योग के अभाव के कारण जनता का सहयोग न मिला और यह अस्वीकृत कर दिया गया।

भगवान् बुद्ध ने आजीविकों[23] के विषय में कहा है कि 'किसी भी आजीवक ने दु;ख का अन्त नहीं किया, मृत्यु का अन्त नहीं किया, मुझे 99 कल्पों तक की स्मृति है आज तक किसी भी आजीवक ने स्वर्ग में जन्म नहीं लिया, एक गया वह कर्मवादी क्रियावादी था।' उन्होंने ही आजीवकों को 5 पापों[24] के करने वाला, क्रूर और धोखेबाज कहा है। वे श्रावस्ती की वेश्या की लड़की से विवाह करके लाये, अपने पुत्र के लिए उदय भिक्षु के माध्यम से उसकी माता को देखने तक भी नहीं दिया।

अधर्म का अभ्युत्थान—धर्म के ठेकेदार तथा कर्णधार ब्राह्मणों में पुरोहितवाद, जातिवाद एवं वर्ण व्यवस्था की भयंकरता के परिणामस्वरूप धर्म में अव्यवस्था हुई। वे शूद्रों को ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न कह कर उन्हें आत्मज्ञान तथा अन्य याज्ञिक कृत्यों के लिए अनुपयुक्त ठहराते थे। समाज में दासियों के पुत्र चाहे वे राजकुमार ही क्यों न हो, उनके बैठने पर आसनों को दूध से धोकर शुद्ध किया जाता था। त्रिपिटक में ब्राह्मणों की वणं श्रेष्ठता के विरोध में अनेकश: वर्णन मिलते हैं यथा त्रिपिटक में सदैव क्षत्रिय की गणना ब्राह्मण से पहले की गई है। यत्रतत्र आचार युक्त ब्राह्मणों का भी त्रि पिटक में वर्णन है यथा बावरि एक आचारवान् एवं ज्ञानी ब्राह्मण थे। ब्रह्मजाल सुत्त में अग्नि हवन, दर्बी होम, घृत होम, रुधिर होम का वर्णन है। सुत्त-निपात के ब्राह्मण धम्मिक सुत्त में पूर्वकालीन तपस्वी ब्राह्मणों की प्राचीनता तथा अर्वाचीन काल के प्रभाव से उनकी धनलोलुपता, यज्ञ हिंसा अधर्म के कारण बताए गए हैं। गाय के वध पर देव, पितर, इन्द्र, असुर और राक्षस चिल्ला उठे, हाय ! अधर्म हुआ जो गौ पर शस्त्र पड़ा। पुराने[25] ऋषि संयमी और तपस्वी थे। वे पाँच प्रकार के विषय-भोगों को छोड़कर आत्मोन्नति के लिए आचरण करते थे।

धीरे-धीरे राजा की सम्पत्ति, समलंकृत[26] स्त्रियों, अच्छे-अच्छे घोड़े जुते सुन्दर बेल-बूटेदार रथों और कमरों वाली कोठियों तथा भवनों को देख कर ब्राह्मणों का मन विचलित हुआ। धन मिलने पर उन्होंने उसका संग्रह करना पसन्द किया। वे इस प्रकार के लोभ में पड़ गए और उनकी तृष्णा बहुत बढ़ ही गई। तब वे मंत्र रच कर फिर इक्ष्वाकु के पास गये और धन मांगा। इस प्रकार वे पतनोन्मुख होगए। बुद्ध ने ब्राह्मणों

23. मज्झिम नि० पृ० 283 हिन्दी अनुवाद
24. अंगुत्तर निकाय, तृतीय भाग, पृ० 276
25. ब्राह्मण धम्मिक-सुत्त, सुत्तनिपात,
26. ब्राह्मण धम्मिक-सुत्त, सुत्तनिपात, 16,17,23

के आचार्य-प्राचार्य, परमाचार्यों तथा उनके पूर्वज ऋषि, अट्टक वामक के विषय में भी कहा कि इनकी सात पीढ़ी पूर्व तक भी किसी नेजाना है?क्या कोई ब्राह्मण कहेगा कि मैं इसे जानता हूँ, देखता हूँ यह तो अंध-वेणु-परम्परा (अंधों की लकड़ी का तांता) है जैसे पहले वाला भी नहीं देखता, बीच का भी नहीं देखता, पिछला भी नहीं देखता। उन्होंने ब्राह्मणों के उच्च कुल के होने की महत्ता की निन्दा करते हुए कहा ब्राह्मण[27] ऊंचे कुल वाला भी कोई प्राणातिपाती होता है, अदत्तादायी, काम मिथ्याचारी, मृषावादी, पिशुनभाषी, परुष भाषी, संप्रलापी, अभिध्यालु, व्यापन्न चित्त, मिथ्या दृष्टि होता है। इसलिये ब्राह्मण ! में उच्च कुलीनता को श्रेय नहीं कहता। ऊँचे कुल वाला भी प्राणातिपात-विरत होता है, अदत्तादानविरत, काम मिथ्याचार-विरत, मृषावाद-विरत, पिशुन-भाषण-विरत, परुषभाषण-विरत संप्रलाप-विरत, अनु-अभिध्यालु, अ-व्यापन्न-चित्त (और) सम्यक्-दृष्टि होता है। इसलिये ब्राह्मण! मैं उच्च कुलीनता को पापीय नहीं कहता।'

उन्होंने त्रैविद्य ब्राह्मणों[28] के विषय में कहा कि 'क्या वाशिष्ट। जो त्रैविद्य-ब्राह्मणों के पूर्वज, मन्त्रों के कर्त्ता, मन्त्रों के प्रवक्ता ऋषि थे, जिनके कि गीत, प्रोक्त, सगीहित पुराने मंत्र-पद को आजकल त्रैविद्य ब्राह्मण अनुगान अनुभाषण करते हैं, बाचे को अनु-वाचन करते हैं, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु। उन्होंने भी (क्या) यह कहा—जहां ब्रह्मा है, जिसके साथ ब्रह्मा है, जिस विषय में ब्रह्मा हैं, हम यह जानते हैं, हम यह देखते हैं।"

इस प्रकार वाशिष्ट। त्रैविद्य[29] ब्राह्मणों में एक ब्राह्मण भी नहीं, जिसने ब्रह्मा को अपनी आंख से देखा हो। हे गौतम। मार्ग-अमार्ग के संबन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण, छन्दावा-ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य ब्राह्मण अन्य अन्य ब्राह्मण नाना मार्ग वतलाते हैं। तब भी वह (वैसा करने वाले को) ब्रह्मा की सलोकता को पहुँचाते हैं। वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मणों में एक भी ब्राह्मण है, जिसने ब्रह्मा को अपनी आंख से देखा हो ?

परित्राणाय साधूनाम्—साधु सज्जन व्यक्तियों की रक्षा का अभिप्राय सत्कर्म युक्त मनुष्य किसी भी जाति का हो किन्तु आचरण सम्पन्न हो उसकी रक्षा, उसे सन्मार्ग प्रदर्शन करना ही, उसका संरक्षण है। उन्होंने समाज में व्याप्त भावनाओं जैसे सुकृत-दुष्कृत के फल को न मानने वाले व्यक्तियों को असाधु कहा और इसके विपरीत साधुओं का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने कहा भिक्षुओं। 'लोक[30] क्षण-कृत्य

27. चंकिसुत, म० नि०, पृ० 400
28. तेविज्ज-सुत्त, बु० च०, पृ० 190
29. तेविज्ज-सुत्त, बु० च०, पृ० 190
30. पोट्ठपाद महाराहुलोवाद-सुत्त, बु० च० पृ० 175

हैं, क्षण-कृत्य हैं' ऐसा अज्ञ पृथग्जन कहता है, लेकिन वह क्षण या अ-क्षण को नहीं जानता। भिक्षु ब्रह्मचर्य-वास के लिए यह आठ अ-क्षण अ-समय हैं। कौन से आठ? भिक्षुओं। लोक में तथागत अर्हत् सम्यक्-संबुद्ध विद्या-आचरण-संपन्न, सुगत, लोक-विद्, अनुपम पुरुष के चाबुक-सवार, देव-मनुष्य-उपदेशक बुद्ध भगवान् उत्पन्न हों। वह सुगत के ज्ञात, उपशांत, करने वाले, निर्वाण को लाने वाले, संबोधि (परमज्ञान) गामी धर्म का उपदेश करते हों। (1) (उस समय) यह पुद्गल (पुरुष) नरक में उत्पन्न हो। (2) पशुयोनि में उत्पन्न हो। (3) प्रेत लोक में उत्पन्न हो (4) किसी दीर्घायु देव-समुदाय में। (5)(ऐसे) प्रत्यन्त (सीमान्त) देश में, अविज्ञ म्लेच्छों (के देश) में उत्पन्न हो, जहां भिक्षु-भिक्षुणियों, उपासक-उपासिकाओं की गति न हो। (6) मध्यम जनपदों (मज्झिमेसु जनपदेसु) में उत्पन्न हुआ हो, (किंतु) मिथ्या दृष्टि उलटी मत का हो—दान (कुछ) नहीं, यज्ञ (कुछ) नहीं, सुकृत-दुष्कृत कर्मों का फल विपाक कुछ नहीं, यह लोक नहीं, परलोक नहीं, माता नहीं है, पिता नहीं, उत्पन्न होने वाले (औपपातिक) प्राणी (कोई) नहीं। लोक में अच्छी तरह पहुँचे, अच्छी तरह (तत्व को) प्राप्त हुए, श्रमण-ब्राह्मण (कोई) नहीं है, जो कि इस लोक और परलोक को स्वयं जानकर साक्षात् कर, जतलायें। (7) यह पुद्गल मध्यम-देश में पैदा हुआ हो, लेकिन वह है, दुष्प्रज्ञ, जड़, वज्रमूर्ख, सुभाषित, दुर्भाषित अर्थ को जानने में असमर्थ; यह अक्षण सातवां है। (8) लोक में तथागत उत्पन्न हों, उपदेश करते हों, उस समय पुद्गल मध्यम-देश में न पैदा हुआ हो और प्रज्ञावान्, अजड, अर्थ जानने में समर्थ हो, यह आठवां अक्षण है। भिक्षुओ! लोक में ब्रह्मचर्य वास के लिए एक ही क्षण है, जब लोक में तथागत उत्पन्न हों, उपदेश करते हों और यह पुद्गल मध्यम-देश में पैदा हुआ हो और वह प्रज्ञावान् हो अर्थ जानने में समर्थ हो।'

भगवान् बुद्ध द्वारा इस निवृत्ति परक मार्ग के अनुसरण की कठिनाइयों को देखकर काम रति, काम लिप्सु मनुष्यों के द्वारा यह सुगम नहीं है अतः उपदेश की ओर उनकी तटस्थता देख कर सहम्पति ब्रह्मा ने भगवान् बुद्ध के समक्ष उपस्थित होकर कहा क्षीण आस्रव, तथा अल्प[31] आस्रव वाले व्यक्तियों के ज्ञान तथा उद्धार हेतु आप उपदेश करें। 'भन्ते! अल्प मत वाले प्राणी भी हैं, धर्म के न सुनने से वे नष्ट हो जायेंगे।

विनाशाय च दुष्कृताम्—संसार में दुष्ट भावनाओं के परिष्कार के लिए उन्होंने मैत्री, करुणा मुदिता तथा उपेक्षा के माध्यम से विचारों में भावना की शुद्धि करने के लिए अनेक उदाहरणों द्वारा समझाने का प्रयास किया और कहां, राहुल[32]। अशुभ

31. बु० च० पृ० 19
32. महाराहुलोवाद सुत्त, बु० च० 173

(सब लोग बुरे हैं) भावना की भावना कर, जो तेरा राग है, वह चला जायगा, अनित्य संज्ञा की भावना कर तेरा अस्मिमान् (अहंकार) छूट जायेगा।

धर्म संस्थापनार्थाय—भगवान् बुद्ध ने अपने को अकेले ही अण्डे की खोल को फोड़ कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि पाने वाला लोक में ज्येष्ठ श्रेष्ठ ब्राह्मण बतलाया है। उन्होंने कहा कि मैं अविद्यास्रवों से मुक्त हो गया, जन्म समाप्त हो गया, करना था सो कर लिया और यहाँ करने को कुछ शेष नहीं है, इसे जाना और रात के पिछले याम में मुझे यह तीसरी विद्या[33] प्राप्त हुई, अविद्या चली गई। अब मैं सारी प्रजा में किसी को ऐसा नही देखता जिसको मैं अभिवादन करूँ। इस प्रकार उन्होंने अपने इस प्राप्त किए हुए त्रैविद्य ज्ञान को धर्म के रूप में स्थापित करने का दृढ़ संकल्प किया। उन्होंने आजीविकों की निन्दा अवश्य की किन्तु उनके मन में उनके प्रति धार्मिक सहिष्णुता थी जोकि उन्होंने दो अवसरों पर विनय पिटक[34] में व्यक्त की है। आजीविकों के प्रति किये गए व्यवहार में उन्होंने भिक्षुओं द्वारा आजीविक भिक्षुओं[35] को नंगे करने पर और ठंडी बारिश में उनके शरीर को खुले रहने देने पर पश्चात्ताप किया क्योंकि विशाखा ने अपनी पुत्री के द्वारा भोजन के लिए भगवान् बुद्ध को बुलाया तो उन्होंने कहा कि आराम में आजीवक भिक्षु नंगे हैं उन्हें वस्त्र देने पर ही मेरे भोजन का समय होगा।

इस प्रकार हमने भगवान् बुद्ध के समय की वैचारिक दृष्टि से महती आवश्यकता पर प्रकाश डाला और गीता के कथन को चरितार्थ करने का प्रयास किया। वास्तव में ब्राह्मण विचारधारा तथा बौद्ध विचारधारा दोनों में दुःखों के निराकरण पर विचार किया गया है किन्तु बौद्धों ने भाग्यवादिता को कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने मानव के सुख-दुख का कारण कर्म को ही बताया चाहे वे इस जन्म के हों अथवा पूर्व जन्म के और सुकर्मों के द्वारा ही मोक्ष तथा निर्वाण प्राप्त करने का विचार प्रसारित किया।

(ख) भारतीय चिन्तन क्षेत्र में भगवान् बुद्ध का कार्य और महत्व—

भारतीय चिन्तन क्षेत्र से हमारा अभिप्राय विचारधारा के दार्शनिक पक्ष से है। क्योंकि यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो किसी भी विचारधारा में निम्नलिखित प्रमुख पक्ष दृष्टिगत होते हैं—

1. विचार पक्ष
2. आचार पक्ष

33. महाराहुलोवाद सुत्त, बु०च०, पृ० 173
34. हिस्ट्री एण्ड डाक्टरिन्स आफ आजीविकाज, ए० एल० बासम, पृ० 175
35. —वही—

3. साधना और उपासना पक्ष
4. पुराण और विश्वास पक्ष

1. विचार पक्ष —

इनके अन्तर्गत विचारधारा का चिन्तन पक्ष (दर्शन) आता है। दर्शन विचारधारा का प्राणभूत तत्व है, आधारशिला है, इस आधारशिला के अभाव में कोई भी विचारधारा एक विधि-निषेधों का समूह मात्र रह जाती है। उसका अनुसरण जीवन रक्षा के हेतु भय के कारण ही किया जाता है जिसका पालन अन्धानुसरण की प्रवृत्ति के आधार पर होता है। इस्लाम विचारधारा में यह अन्धानुसरण की प्रवृत्ति विशेष है। विचार पक्ष के अन्तर्गत विचारधारा के सभी दार्शनिक और अध्यात्मिक तत्व आते हैं।

2. आचार पक्ष —

यह विचारधारा का व्यावहारिक पक्ष है। यह मानव समाज को नियन्त्रित करने वाला तत्व है जिस विचारधारा में यह तत्व नहीं होता है वह केवल पुस्तकों तथा विद्वानों तक ही सीमित रहती है।

3. साधना और उपासना पक्ष —

अमरत्व तथा मोक्ष प्राप्ति की प्रयत्न पद्धति को साधना कहते हैं तथा उस प्रयत्न के आन्तरिक समर्पण का नाम उपासना है। उस समर्पण से पूर्व में किए जाने वाले बाह्य उपचारों को पूजा का अभिधान दिया जाता है यह विचारधारा के धार्मिक पक्ष के प्रमुख अंग हैं।

4. विश्वास और पुराण पक्ष —

प्रत्येक विचारधारा में कतिपय तत्व ऐसे होते हैं जो सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों को प्रभावित करने में समर्थ है। वह पक्ष ही विश्वास और पुराण पक्ष कहा जाता है।

इन्हीं का समन्वित रूप विचारधारा है। यही तत्व धार्मिक भावना के भी अन्तर्गत है।

ऋग्वैदिक[36] सर्वात्मवादिता की प्रवृत्ति को पाश्चात्यों ने भी संकोच के साथ स्वीकार किया है। भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषता आशावादिता थी। ऋषि भावी सुख एवं सफलता की आशा में देवोपासना में अटूट श्रद्धा रखते थे, भय के

36. संस्कृत साहित्य का इतिहास, मेकडानल, पृ० 70,71

कारण नहीं वस्तुतः संहितायुग के बाद ब्राह्मण युग में कर्मकाण्ड का प्राधान्य बढ़ा था और धर्म का रूप जटिल हो गया था किन्तु उपनिषत्काल की प्रतिक्रिया स्वरूप शुद्ध दर्शन का विकास हुआ। वस्तुतः संहिताकालीन विचारों में विश्वासों का प्राधान्य था, ब्राह्मणकालीन विचारों में आचारों को महत्व दिया गया और आरण्यकों में वैदिक धर्म एवं दर्शन के साधना एवं उपासना पक्ष को हम दृढ़ होता हुआ पाते हैं जिस स्वतंत्र चिन्तन को हमने विविध रूपों में तार्किक प्रणाली में उपनिषदों में पाया है। यह ब्राह्मण विचारधारा अपने रूप में सर्वांगीण विकास को लेकर बढ़ी। धार्मिक दृष्टि अब विस्तृत हो चली थी और उस युग के द्रष्टाओं ने धर्म को विस्तृत अर्थ में लिया था यथा बौद्धों ने भी धर्म को उपदेशों के रूप में लिया है।

प्रो० शेरवात्स्की[37] ने बौद्ध विचारधारा में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द के वास्तविक रहस्य को समझाने का प्रयास किया है। इसी विषय पर पूर्व में प्रो० डबल्यू गेगर तथा श्रीमती एम० गेगर ने भी विस्तार से अपने विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने पालि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'धर्म' शब्द को उध्दृत करते हुए विभिन्न अर्थों को लिया है। इन अर्थों में उन्होंने मात्र भाषा वैज्ञानिक आधार लिया है किन्तु शेरवात्स्की ने वसु बन्धु के अभिधम्मकोश को मुख्य आधार माना है जोकि पूर्व के अभिधर्म विभाषा शास्त्र पर टीका है।

रायस डेविड्स[38] ने अपने विचार व्यक्त किए हैं कि बुद्ध ने अस्तित्व के धर्म को जान लिया है तथा उनके कारण और निरोध को भी। अभिधम्म कोश में बुद्ध ने स्वयं आजीवकों के साथ विवाद करते हुए कहा है कि प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व है।

आजीवकों ने पूर्व कर्मों तथा नियति के प्रभाव का स्पष्ट निषेध किया और कहा क्योंकि वे भूतकालिक हैं और उनकी कोई सत्ता नहीं है अतः पूर्व कर्म हमारी नियति को प्रभावित नहीं कर सकते। किन्तु बुद्ध ने प्रत्येक वस्तु की सत्ता में बारह आयतनों की स्थिति को ही सुदृढ़ किया है। उन्होंने नैतिक उत्तरदायित्व को महत्व दिया और संस्कार समूह में परिवर्तन की भी भावना को जगाया। इन्हें पंच स्कन्धों के रूप में (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान) को समझाया। वस्तुतः इन्हीं स्कन्धों की अनुभूति तथा कार्यावस्था को ही धर्म अभिधान दिया गया है मूलतः ये बौद्ध विचारधारा से पूर्व के नाम[39] रूप की व्याख्या है, रूप से भौतिक और नाम से मन के चारों विभाजनों का ग्रहण किया गया है।

बुद्ध मत के विषय में मैक्स बैबर ने इसे मोक्ष प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया है। यह नैतिक विकास की स्थिति है जिसमें देवताओं का अभाव है, यह पूर्णतया

---

37. दी सेन्ट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेर वात्स्की, पृ० 4
38. —वही—पृ० 5।
39. दी सेन्ट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेर वात्स्की, पृ० 6

वैयक्तिक है, इसमें प्रार्थना तथा धार्मिक महत्व की कोई वस्तु नहीं। इस प्रकार बौद्धों की धर्म विषयक धारणा के विषय में संकेत किया गया।

राइस[40] डेविड्स के मत में बुद्ध मत का सार यह है कि आत्मा आदि की स्वीकृति ही भ्रमोत्पादक है। इच्छाओं, आशाओं तथा सांसारिक वस्तुओं से लगाव व्यर्थ है।

कार्य तथा महत्व इन दोनों शब्दों में बौद्ध विचारधारा का निष्कर्ष ही उपस्थित किया जा सकता है। कार्यों से अभिप्राय उनके द्वारा किये गये प्रचलित नियमों परम्पराओं से है जो कि अपना विरोध होते हुए भी समाज में पूजित और स्वीकृत किए गए और महत्व से उन आचरणों का समाज में क्या प्रतिक्रियात्मक रूप रहा और उसके बाद के क्या परिणाम हुए यह समझा जा सकता है। ब्राह्मण विचारधारा के बाह्य आडम्बर को अन्वेषणु परम्परा का अभिधान दिया जाना और श्रद्धा तथा अन्ध विश्वास को दूर कर बुद्धिवादिता का समावेश करना इनका सर्व प्रथम कार्य माना जा सकता है।

बुद्धिवादिता—उन्होंने अपनी विचारधारा में श्रद्धा का स्थान तर्क को दिया तथा वेद वाणी व गुरु वचन में अनास्था के कारण व्यक्ति के स्वतन्त्र चिन्तन को अवसर प्रदान किया। यज्ञों में देवों की कल्पना, उनकी पूजा तथा इनके द्वारा आध्यात्मिक शक्तिमत्ता की स्वीकृति इन्हें मान्य न थी तथा इन यज्ञों के द्वारा मानवीय व्यवहारों, आचार-विचारों के संशोधन के ये प्रबल विरोधी थे। इस कारण उन्होंने एक नई व्यवस्था की ओर उसे भास्वर रूप दिया। उन्होंने घोषणा की कि साधक को युक्ति-शरण होना चाहिए, पुद्गलशरण[41] नहीं। उन्होंने कहा कि स्वयं अनुभव के पश्चात् ही मेरे वचनों को भी ग्रहण करो, केवल 'मैंने कहे हैं' इस आधार पर नहीं।

अनात्मवाद—इन्होंने आत्मा को अस्वीकृत कर एक क्रान्तिकारी मार्ग का श्रीगणेश किया और समाज में (मैं और तू) (अहं त्वम्) के चक्रों की चखचख से प्राणी को निकाल कर स्वतन्त्र सोचने का अवसर दिया और आत्म तत्व की स्थिति एवं सत्ता में अविश्वास पैदा करके इस बन्धन को समाप्त किया क्योंकि जरा, मरण, रोग, दुःख, मृत्यु से छुटकारे का प्रश्न तो बाद में ही आयेगा सर्वप्रथम इस अपनत्व के भाव से तो छुटकारा मिले जोकि दुःख, दोष, घृणा, लोभ को जन्म देता है।

अनीश्वरवाद—अनात्मवाद के समान ही इन्होंने ईश्वर की सत्ता में भी विश्वास प्रकट नहीं किया और ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि दश विषयों को अव्याकृत बतलाया। दीर्घ निकाय के तेविज्ज सुत में इन्होंने ब्रह्मा की सलोकता को प्राप्त कराने

---

40. दी रिलीजन आफ इंडिया मेक्स बेबर, पृ० 206,207
41. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 53

वाली विचारधारा को तुच्छ बतलाया और कहा कि ये त्रैविद्य ब्राह्मण बेरास्ते जा फंसे हैं। इन विषयों पर चिन्तन पक्ष वाले अगले अध्याय में विस्तार से विचार किया गया है, यहाँ इतना संकेत पर्याप्त है।

गुरुवाद तथा मठवाद के प्रति अनास्था—बौद्धों ने गुरुवाद तथा मठवाद को विशेष महत्व नहीं दिया क्योंकि इन्होंने समाज में धर्म गुरुओं द्वारा धर्म के विकृत रूप को देखा और फलाभाव के कारण मानव को स्वयं मार्ग निर्मित करने का साहस प्रदान किया।

देवों के प्रति अनास्था—भगवान् बुद्ध ने देवों की पूजा का विरोध नहीं किया, किन्तु उन्हें भी निर्देशों की अपेक्षा है अतः वे पूर्ण[42] रूप में धर्म के पथ-प्रदर्शक नहीं माने जा सकते। इस प्रकार देवों के अवलम्बन पर रह कर मनुष्य में जो अकर्मण्यता आ गई थी उसको दूर किया। त्रिपिटक साहित्य में अनेक स्थलों पर इन्द्र का भगवान् बुद्ध के सामने हाथ जोड़ कर आना देवों के महत्व की अल्पता को दर्शाता है।

अत्त दीपा विहरथ[43]

सब संस्कार अनित्य हैं। अपने निर्वाण के लिए बिना प्रमाद के यत्नशील रहो। तुम अपने लिए स्वयं दीपक हो, 'अत्तदीपा विहरथ, दूसरे का सहारा न ढूँढो। यह एक क्रान्तिकारी विचार था जो बुद्ध के महत्व को स्थापित करता है।

आचार प्रवणता तथा व्यावहारिकता—बुद्ध की विचारधारा मात्र आदर्श अथवा दोषों का उद्भावन करके ही विरत नहीं हो जाती अपितु यह दोषों के निराकरण का सरलतम मार्ग भी प्रशस्त करती है। इसे हम आदर्श तथा यथार्थ का मिलन बिन्दु कह सकते हैं। उन्होंने आन्तरिक संशुद्धि पर बल दिया। यदि उसे मोक्षेच्छा है तो वह भोगेच्छुक नहीं होना चाहिए उसे पापमार्जनों का अभ्यास करना चाहिए। **उसे अर्द्ध ज्ञान गर्भित विवशताओं अनिच्छापूर्वक अनेक कृत्यों तथा व्यर्थ के मानसिक व्यायाम में न पड़ कर सदाचार का अनुसरण करना चाहिए।** उनका विश्वास था कि व्यर्थ के तर्क वितर्क में न पड़ कर मनुष्य को सरल, स्वाभाविक, सदाचार पूर्ण जीवन बिताना चाहिए। उनकी धारणा श्रमणमार्गी थी, वे श्रमण थे किन्तु कर्मों का उनकी दृष्टि में बड़ा महत्व था। वे **कर्मों को ही नियति का अभिधान** देते थे। मिलिन्द प्रश्न में इसका विवेचन है।

वे एक महान सुधारक योगी, सभ्य, अहंकारहीन थे, उन्होंने **पुरोहित-त्रस्त, वर्णत्रस्त समाज के लिए राष्ट्रोद्धारक** के रूप में कार्य किया और नवीन मान दण्डों को स्थापित किया। उनकी दृष्टि आचार-प्रधान थी और वे महान् नैतिकवादी थे।

---

42. हिन्दुइज्म एंड बुद्धिज्म, भाग प्रथम, सी इलियट, पृ० 20
43. बौद्ध धर्म तथा दर्शन, पृ० 11

(ग) भगवान् बुद्ध के वचनों से सम्बन्धित साहित्य अर्थात् (त्रिपिटक) ग्रंथों का परिचय :—

बुद्ध वचनों से सम्बन्धित साहित्य के विवेचन में संगीतियों का बड़ा महत्व है। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् समय-समय पर बुद्ध वचनों को प्रमाणित और एक सुदृढ़ विचारधारा का रूप देने के लिए विशाल आयोजन किए गए जिनको संगीति कहा गया है। इस प्रकार की आठ संगीतियों की चर्चा है जिनमें चार का विशेष महत्व है। पहली संगीति के बाद महासांघिकों **ने वैशाली में एक सहायक संगीति** की योजना की। तीसरी संगीति की योजना अशोक के समय में आयोजित की गई थी। कुछ लोग अशोक कालीन संगीति को दूसरी ओर कनिष्क कालीन संगीति को तीसरी कहते हैं। वह वसुमित्र की **अध्यक्षता** में सम्पन्न हुई थी। महाकवि **अश्वघोष उसके उपाध्यक्ष[44] थे। इनके अतिरिक्त दो संगीतियों** की **चर्चा और मिलती है तीन** संगीतियों की योजना सिंहल देश में की गई थी। इन संगीतियों के उद्देश्य परिणामादि पर मिनेस,[45] ओल्डेनवर्ग,[46] राखिल,[47] बील,[48] सूभको, कोसीन[49] आदि विद्वानों ने विविध प्रकार से अपने मत प्रकट किए। यहाँ पर विस्तारभय से हम उनके मतों की समीक्षा नहीं करना चाहते। केवल संगीतियों की संक्षिप्त चर्चा मात्र करेंगे।

प्रथम संगीति[50]

इस संगीति में **सुत्तपिटक औब विनयपिटक** का पाठ शुद्ध किया गया था। इसकी योजना भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के कुछ ही दिन बाद **राजगढ़** में की गई थी। इस संगीति के अध्यक्ष **महाकाश्यप चुने गये थे। उपाली और** आनन्द **ने** भी इस सभा में महत्वपूर्ण भाग लिया था। इस संगीति की योजना के प्रमुख लक्ष्य चार थे। 1. धम्म और विनय के पाठों को निश्चित करना। 2. आनन्द के अभियोग पर विचार करना और छंद के लिए दण्ड निश्चित करना। इस संगीति में ये तीनों

---

44. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, पृ० 324
45. रिसर्चेज सर ले बुद्धिज्म रशियन का फ्रांसिसी अनुवाद
46. इन्ट्रोडक्शन टु विनय पिटक पृ० 45 से 49 तक
47. इनके मत की चर्चा अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म पृ० 25 ;
48. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव, डा० सरला त्रिगुणायत, पृ० 57
49. इण्डियन एन्टीक्वेरी, 1908
50. अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, अध्याय-20

लक्ष्य सफलतापूर्वक पूर्ण किए गये। 3. बौद्ध धर्म के प्रचार प्रसार और स्वरूप निर्धारण में इस संगीति का विशेष महत्व माना जाता है।

द्वितीय संगीति :—

द्वितीय संगीति[51] की योजना भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद की गई थी। चुल्ल वग्ग के अनुसार बज्जि देश के भिक्षु विनय के कठोर नियमों के अक्षरशः पालन में विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने दसवस्थुनी नाम के दश ऐसे नियम निकाले थे जो विनय के नियमों के अनुकूल नहीं थे। उस समय के प्रकाण्ड पण्डित और विनय के आचार्य यश ने इन भिक्षुओं पर धर्मोल्लंघन का दोषारोपण किया। इनके विरोध की शान्ति के लिए वैशाली में 329 ई० पू० में यह संगीति की गई थी। इस संगीति में बज्जि देश के भिक्षुओं को दोषी ठहराया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि बज्जि देश के भिक्षुओं में मूल बौद्धधर्म के प्रति घोर प्रतिक्रिया की भावना जाग्रत हो गई। इस प्रतिक्रिया की भावना को मूर्तरूप में परिणत करने के लिए उन्होंने कौशाम्बी में एक अपनी अलग विराट् संगीति बुलाई जिसमें लगभग दस हजार भिक्षुओं ने भाग लिया था। इतने बड़े महासंघ की योजना इससे पूर्व नहीं हुई थी। इसी आधार पर इस महासंघ में भाग लेने वाले प्रगतिवादी भिक्षुओं को महासांधिक कहा जाने लगा। रूढ़िवादी विचारधारा के बौद्ध इनके विरोध में स्थविरवादी कहे जाने लगे। इस द्वितीय सभा का महत्व बौद्धधर्म के प्रचार में पहली संगीति की अपेक्षा और भी अधिक है[52]। बौद्धधर्म में प्रगतिवादी विचारधारा को जन्म देने का श्रेय इसी को है। आगे चल कर इसकी अनेक शाखाएँ प्रशाखाएँ प्रस्फुटित हुईं जो सारे विश्व में फैल गईं।

तृतीय संगीति

इस संगीति की योजना प्रियदर्शी अशोक के प्रयत्नों से उसके शासन काल में पाटलिपुत्र नगर में की गई थी। इस संगीति के आयोजन का प्रमुख लक्ष्य बौद्ध धर्म की नवोद्भूत विविध शाखाओं प्रशाखाओं में सामंजस्य स्थापित करना था। इस संगीति में अभिधम्म की रूपरेखा निश्चित की गई थी। इस दृष्टि से इसका महत्व बहुत अधिक था। इस संगीति के पश्चात् सम्राट् अशोक ने सारे विश्व में धर्म प्रचारक भेज कर बुद्ध धर्म को विश्वधर्म बनाने का सफल प्रयास किया था।

चतुर्थ संगीति

इस संगीति का आयोजन महाराज कनिष्क के समय में किया गया था। यह

---

51. ट्वन्टी फाइव हंडरेड इयर्स आफ बुद्धिज्म, प्रो० बापत्थ द्वारा सम्पादित, पृ० 36 से 40 तक

52. —वही—

संगीति काश्मीर की राजधानी के पास कुण्डल वन बिहार में की गई थी। कुछ लोगों के मतानुसार इसका योजना स्थल जालन्धर नगर माना जाता है। इस संगीति के अध्यक्ष वसुमित्र और उपाध्यक्ष महाकवि अश्वघोष थे। इस संगीति में अधिकतर सर्वास्तिवादी भिक्षुओं ने ही भाग लिया था। इस संगीति में त्रिपिटकों पर महा-विभाषा नामक विस्तृत व्याख्या लिखी गई थी। इस संगीति का समय पहली शताब्दी ई० माना जाता है। कुछ संगीतियाँ लंका में आयोजित की गई।

विदेशों में आयोजित संगीतियां

महावंश और अन्यसिंहलीय परम्पराओं के अनुसार सिंहल देश में तीन बौद्ध सभाएं की गई थीं। पहली की योजना 247 से 207 ई० में अरिथ्य थेर की अध्यक्षता में की गई थी। ये अरिथ्य थेर महाराज अशोक के पुत्र महिंद के पहले शिष्य थे। इस संगीति की योजना से बौद्ध धर्म की सिंहल देश में नींव सुदृढ़ हो गई। सिंहल में द्वितीय संगीति की योजना महाराज अभय के समय में जो पहली शताब्दी ई० पूर्व में माना जाता है की गई थी[53]। इस संगीति में सिंहलीय बौद्ध ग्रंथों का रूपनिर्धारण किया गया था। तीसरी सिंहलीय संगीति की योजना 1835 ई० में सिंहल में रतनपुरा नामक स्थान में सम्पन्न हुई थी। सिंहल के अतिरिक्त श्याम, बर्मा आदि अन्य देशों में भी बौद्ध संगीतियों की योजना की गई थी। यहाँ पर विस्तार भय से उन सबकी चर्चा नहीं की जा रही। साथ में ही उनके विवेचन की कोई विशेष आवश्यकता भी नहीं दिखाई पड़ती।

संगीतियों के फल और परिणाम

उपर्युक्त विविध संगीतियों की योजना से बौद्ध धर्म का बहुत बड़ा हित हुआ। देश के कोने-कोने में उसका प्रचार और प्रसार हो गया। उसकी अनेक शाखाएं प्रशाखाएं प्रस्फुटित हुईं। जिनमें से सुदृढ़, सुव्यवस्थित और लोकप्रिय शाखाएं ही जीवित रह सकीं। बौद्ध धर्म के सिद्धान्त सुस्पष्ट हो गए, देश की सम्पूर्ण संस्कृति (बौद्ध संस्कृति) और विचारधारा इस से अभिभूत हो गई। इन संगीतियों का एक परिणाम अच्छा नहीं हुआ। इन संगीतियों में बहुत से भिक्षुक किसी न किसी दोष के कारण संघ से निर्वासित किये जाते थे, ये भिक्षु प्रतिक्रिया की भावना लेकर उस संघ से अलग होते थे और अपने छोटे छोटे स्वतन्त्र सम्प्रदायों को जन्म देते थे। कभी-कभी वे किसी अन्य प्राचीन अथवा वैदिक सम्प्रदायों से सामंजस्य भी स्थापित कर लेते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बाद के युग में आते-आते अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग वाली कहावत चरितार्थ हो उठी। सैकड़ों साधु धर्म और दर्शन सम्प्र-

---

53. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 43-51

दाय उठ खड़े हुए। इस प्रकार इन संगीतियों में बुद्ध वचनों का सुविचारित और सुव्यवस्थित रूप निश्चित हुआ जो त्रिपिटक परम्परा से बुद्ध वचन माना जाता है। इसका प्रामाणिक अध्ययन बुद्धिस्ट इण्डिया नामक पुस्तक में डा० रायज़ डेविड्स ने किया है। वे बुद्ध वचनों को इस प्रकार से विभक्त करते हैं (1) वे बुद्ध वचन, जो समान रूप में त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं, (2) वे कथानक, जो समान रूप में त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं, (3) शील, पारायण, अट्ठक और पातिमोक्ख, (4) दीघ, मज्झिम, अंगुत्तर और संयुत्त निकाय (5) सुत्तनिपात, थेर और थेरी गाथा, उदान, खुद्दक पाठ, (6) सुत्त विभंग और खन्दक, (7) जातक और धम्मपद, (8) निद्देस, इतिवुत्तक और पटिसम्भिदा, (9) पेत्त और विमान वत्थु, अपदान, चरिया पिटक और बुद्धवंस, (10) अभिधम्म पिटक के ग्रन्थ, जिनमें सम्भवतः प्रथम पुग्गल पञ्जति और अन्तिम कथावत्थु है। रायज डेविड[54] बुद्ध वचनों को उनके निर्वाण काल ई० पू० पाँचवी शताब्दी से लेकर ई० पू० तीसरी शती अशोक काल तक पूर्ण रूपेण एकत्र हुआ मानते हैं। भाब्रु[55] शिला लेख के आधार पर विनय और सुत्त को ईसा की तीसरी शती तक मागधी[56] भाषा के रूप में मानते हैं। अशोक[57] के शिला लेखों में भाणक आदि के शब्दों के प्रयोग से ई० पू० दो सौ तक त्रिपिटक ग्रन्थों का प्रामाणिक रूप रहा होगा। डा० बिमला[58] चरण ला ने भी त्रिपिटक ग्रन्थों के काल पर विवेचन किया है डा० गायगर ने भी डा० राइज डेविडस के विचारों को मान्यता दी है। कोई भी विद्वान् इनके काल निर्धारण की स्थिति को पूर्णरूपेण निश्चित नहीं कर पाया है। यद्यपि बुद्धिज़्म के पच्चीसौ वर्ष वाली पुस्तक में इस प्रकार के विचारों को गम्भीर तथा विवेचित करके निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया गया है। उपादेयता की दृष्टि से यह संग्रहणीय है।

(1) बुद्ध के उपदेश, जो गद्य या पद्य में त्रिपिटक के विभिन्न ग्रन्थों में मिलते हैं, (2) दो या अधिक ग्रन्थों में मिलने वाले कथानक, (3) शील पारायण, अट्ठक,

---

54. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० 188
55. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० 315
56. विंटरनित्ज़ : हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, दूसरा भाग, पृ० 15
57. विंटरनित्ज़ : —वही पृ० 18
58. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, जिल्द पहली, पृ० 42

शिक्षापद, (4) दीघ का प्रथम अंश, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर निकाय और पातिमोक्ख का पूर्व स्वरूप, (5) दीघ का शेष भाग, थेर-थेरी-गाथा, जातक, सुत्त विभंग, पीटसम्भिदा मग्ग, पुग्गल पज्जति और विभंग, (6) महावग्ग और चुल्लवग्ग, विमान वत्थु, पेतवत्थु,(7)चुल्लीनिद्देस, महानिद्देस, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त निपात, धातु कथा, यमक और पट्ठान, (8) बुद्धवंस, चरियापिटक और अपदान, (9) परिवार पाठ, (10) खुद्दक पाठ[59] श्री उपाध्याय ने 'पालि साहित्य' का इतिहास में इस विषय सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन किया है और जिन नये निष्कर्षों को उन्होंने स्थापित किया है, वे वहां द्रष्टव्य हैं। इस प्रकार त्रिपिटक-वाङ्मय के काल-पर्याय-क्रम का किंचित् निर्देश किया गया। त्रिपिटक वाड्यम के निश्चित और विशिष्ट अंशों के संग्रह अथवा सार रूप में हमें पण्डित राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित बुद्धचर्या का आश्रय लेना आवश्यक है। वस्तुत: उन्होंने विभिन्न देशों स्थानों में भ्रमण करके घोर परिश्रम के द्वारा मूल स्रोतों से विषयों का संकलन किया है। इसी कारण उसकी प्रामाणिकता में सन्देह नही किया जाना चाहिए। बुद्धवचनों को लोक मंगल की भावना से प्रचारित तथा प्रसारित करने के लिए बुद्धचर्या का हिन्दी रूपान्तर अपना विशेष महत्त्व रखता रखता है। जो भी विद्वान् या पाठक बुद्धवचनों को सार रूप में पढना चाहे उनके लिए बुद्धचर्या **परमोपयोगी ग्रन्थ** हैं। बुद्ध-वचन तीन भागों में विभाजित है, यथा सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्म पिटक। यही तीनों मिल कर त्रिपिटक या तिपिटक कहलाते हैं। वैसे, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, पहले बुद्ध वचनों का द्विविध विभाजन ही था, यथा धम्म और विनय[60] अभिधम्म पिटक केवल मात्रिकाओं के रूप में उस समय प्रचलित था।

बुद्ध-वचनों का नवांग भाग भी है[61] और अन्य प्रकार से भी वे विभाजित किए गए हैं, किन्तु तीनपिटकों का विभाजन ही अधिक सुगम, परम्परागत और वैज्ञानिक है, अत: उसी का हम यहाँ अनुसरण करेंगे। 'तेपिटकसंगहितं साट्ठकथं सब्बं थेरवादं' अर्थात् अर्थकथाओं के सहित तीनों पिटकों में सन्निहित सब 'स्थविरवाद' है। यही हमारे शोध प्रबंध का विवेचनीय विषय है।

---

59. हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, प्रथम भाग; पृ० 42
60. प्रथम संगीति में महाकस्सप थेर कहते हैं 'धम्मंच विनयंत्र संगायेय्याम'
61. सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक अब्भुतधम्म और वेदल्ल, इस प्रकार नवांग बुद्ध वचन भी है, विनय पिटक, पाराजिका 1, बु० च०, पृ० 141

(1) सुत्त पिटक

भगवान् बुद्ध के विभिन्न स्थानों पर दिए गए उपदेशों का संकलन हैं। इसमें लोक मंगल की भावना से प्रेरित बुद्ध के संवाद, कहानियाँ, पद्यमय कथन और उपदेश निहित हैं। सुत्त पिटक पाँच ग्रन्थ-समूहों में विभक्त है, यथा (1) दीर्घ निकाय, (2) मज्झिम निकाय, (3) संयुत्त निकाय (4) अंगुत्तर निकाय और (5) खुद्दक निकाय। इनमें प्रथम दीर्घ निकाय (अधिक दीर्घ होने से इनका नाम दीर्घ निकाय है) तीन भागों या वर्गों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलाकर 34 सुत्त है। यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

सीलक्खन्ध वग्ग	13 सुत्त
महा वग्ग	10 सुत्त
पाथेय या पाटिक वग्ग	11 सुत्त
	34

दीर्घ-निकाय

(1) सीलक्खन्ध वग्ग

1. ब्रह्मजाल सुत—इसमें बुद्ध के युग में प्रचलित 62 मिथ्या धारणाओं की निःसारता दर्शाई है।
2. सामञ्ञफल सुत्त—भगवान् ने श्रामण्य की महिमा को अजातशत्रु को बतलाया है।
3. अम्बठ्ठ सुत्त इसमें जातिवाद के विरुद्ध आक्षेप है।
4. सोणदण्ड सुत्त—सच्चे ब्राह्मण की पहचान पर विचार।
5. कूटदन्त सुत्त—यज्ञ में की गई पशु हिंसा की निन्दा।
6. महालि सुत्त—महालि लिच्छवि के अर्हत् पद प्राप्ति के उपाय का वर्णन।
7. जालिय सुत्त—आत्मा और शरीर के सम्बन्ध पर विचार।
8. कस्सपसीहनाद सुत्त— कठोर तपस्या के विरोध में नग्न परिव्राजक काश्यप के प्रति भगवान् की भर्त्सना।
9. पोट्ठपाद सत्त—पोट्ठपाद ब्राह्मण के प्रति भगवान् का उपदेश कि आत्मवाद अनुशीलन निर्वाण में बाधक है।
10. सुभ सुत्त—आनन्द के द्वारा शील (सील) समाधि और प्रज्ञा (पञ्जा) विषय पर उपदेश।

11. केवड्ढ सुत्त—चमत्कार प्रदर्शन की भर्त्सना।
12. लोहिच्च सुत्त—अच्छे ब्राह्मण के प्रति शासकों के विषय में उपदेश।
13. तेविज्ज सुत्त—अकेली 'त्रयी विद्या' की निष्फलता पर विचार।

(2) महावग्ग

14. महापदान सुत्त—बुद्ध गोतम और छह पूर्व बुद्धों की कथा विपस्सी बुद्ध बोधि सत्व सिद्धान्त की रूपरेखा।
15. महानिदान सुत्त—प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या।
16. महापरिनिब्बाण सुत्त—महापरिनिर्वाण की अत्यन्त करुणामयी गाथा।
17. महासुदस्सन सुत्त—राजा सुदर्शन के रूप में बुद्ध के एक पूर्व जन्म की गाथा।
18. जनवसभ सुत्त—यक्ष जनवसभ की कथा, मगध के अनेक उपासकों का 'सोतापत्ति फल' को प्राप्त कर लेना।
19. महागोविन्द सुत्त—बुद्ध का महागोविन्द के रूप में वर्णन तथा निर्वाण की विधि का विवेचन।
21. महासमय सुत्त—देवों की चर्चा।
21. सवकपज्ह सुत्त—बुद्ध का इन्द्र (शक्र) के प्रति 'यं किञ्चि समुदय धम्मंसब्बं तं निरोध धम्मंति' पर उपदेश। इन्द्र के प्रश्नों का उत्तर। गन्धर्व पञ्चशिख के गन्धर्व कन्या से प्रेम का वर्णन।
22. महासतिपट्ठान सुत्त—चार स्मृतिप्रस्थानों पर व्याख्यान सति (स्मृति) और चतुरार्य सत्यों पर विचार।
23. पायासि सुत्त—'न सन्ति परलोक वादा' सिद्धान्त की निर्मूलता।

(3) पाटिक वग्ग

24. पाथिक सुत्त—बुद्ध का ऋद्धि-बल दिखाने का कठोर विरोध।
25. उदुम्बरिक सीहनाद सुत्त—वास्तविक तपस्याओं का वर्णन।
26. चक्कवत्ति सीहनाद सुत्त—चार स्मृति-प्रस्थानों का वर्णन और बुद्ध मैत्रेय के विषय में विचार। निर्धनता के दोष पापों से आयु तथा वर्ण का ह्रास।
27. अग्गज्ज सुत्त—आचरण की जातिवाद से श्रेष्ठता तथा कर्म की प्रधानता।
28. सम्पसादनीय सुत्त—बुद्ध का सारिपुत्र को धर्मोपदेशों की विशेषताओं का उल्लेख।
29- पासादिक सुत्त—स्मृति प्रस्थानों का उपदेश।
30. लक्खण सुत्त—महापुरुषों के बत्तीस लक्षण।
31. सिगालोवाद सुत्त—गृहस्थों के कर्तव्य।
32. आटानाटिय सुत्त—भूत प्रेतों के विषय में भाषण।

33. संगीति सुत्त—सारिपुत्र के द्वारा बुद्ध धर्म की सूची देना।
34. दसुत्तर सुत्त—इसके विभागों में सारिपुत्र के द्वारा दशोत्तर धर्मों की व्याख्या।

मज्झिम निकाय

मध्य आकार के 152 सुत्तों का संग्रह है। दीर्घ निकाय की भांति इन सुत्तों में भी बुद्ध के उपदेशों के विषय में संवादों का संकलन है। इसमें चार आर्य सत्य, निर्वाण कर्म, सत्काय दृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि महत्वपूर्ण विषयों का वर्णन है। इसमें भी तात्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर चित्रण है। दृष्टान्त, कथा और उपमा द्वारा विषय को सुरुचिपूर्ण ढंग से बोधगम्य बनाने का प्रयास है। निकाय ग्रन्थों की यह अनुपम शैली स्पृहणीय है। अस्सलायन सुत्त में वर्ण व्यवस्था के दोषों का विशद विवेचन है। इस निकाय के अध्ययन से बौद्धकालीन भारत का स्पष्ट चित्र पाठक के समक्ष अंकित हो जाता है। मज्झिम निकाय का विभाजन 15 वर्गों में है।

(1) मूल-परयाय वग्ग

1. मूल परियाय सुत्त—चेतना की अवस्थाओं की उत्पत्ति के विचार के साथ निर्वाण पर भी विचार किया गया है।
2. सब्बासव सुत्त—चित्तमल का शमन तथा मिथ्या दृष्टियों का भी दिग्दर्शन।
3. धम्म दायाद सुत—'भिक्षुओं, धम्मदायाद बनो, आमिष दायाद नहीं,' धर्म के वारिस बनो, वित्त के नहीं, मध्यम मार्ग।
4. भयभेरव सुत—भय का निराकरण बुद्ध के द्वारा उनकी सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन।
5. अनंगण सुत्त—सारिपुत्र और मौद्गल्यायन में दुष्टता से बचने के मार्ग पर संलाप।
6. आकंखेय सुत्त—भिक्षु के द्वारा करणीय विषय।
7. वत्थूपय सूत्त—चित्त की विशुद्धि पर विवेचन।
8. सल्लेख सुत्त—मिथ्या दृष्टियों से विमुक्ति पाने का एक मात्रमार्ग 'अनात्मवाद'।
9. सम्मादिट्ठि सुत्त—सम्यक् दृष्टि क्या है? यथार्थता का विवेचन।
10. सति-पट्ठान सुत्त—चार स्मृति-प्रस्थान और उनका विवेचन, बोधिलाभ।

(2) सीहनाद-वग्ग

11. चूल सीहनाद सुत्त—आसक्ति का त्याग।
12. महा सीहनाद सुत्त—सारिपुत्र और तथागत में संवाद।
13. महा दुक्खक्खन्ध सुत्त—दुःख और उसका कारण, भोगों के दुष्परिणाम।
14. चूल दुक्खक्खन्ध सुत्त—दुःख और उसका कारण।
15. अनुमान सुत्त—सदा सावधान रहने का उपदेश, दुर्वचन के कारणों का निराकरण।
16. चेतोखिल सुत्त—चित्त के पांच बन्धन।
17. बनपत्थसुत्त—अरण्यवास पर चर्चा।
18. मधुपिण्डिक सुत्त—बुद्ध के द्वारा विषयों के स्पर्श, उत्पत्ति और त्याग का वर्णन।
19. द्वेधा वितक्क सुत्त—मलों का शमन तथा अभिसम्बोधि-प्राप्ति का वर्णन।
20. वितक्क सन्थान सुत्त—समाधि की प्रक्रिया राग-द्वेष-मोह हटाने के उपाय।

(3) ओपम्म वग्ग

21. ककचूपम सुत्त—भावनाओं और मन के निरोध पर यथा आरे से चीरे जाने पर भी शान्त रहना शान्ति है।
22. अलगद्दूपम सुत्त—धर्म के विषय में मिथ्या धारणा रखना सर्प को पूंछ से पकड़ना है।
23. धम्मिक सुत्त—नर-देह की निःसारता पुरुष की निर्वाणप्राप्ति में कठिनाइयां।
24. रथ विनीत सुत्त—धार्मिक जीवन का उद्देश्य।
25. निवाप सुत्त—मार से बचने का उपाय।
26. अरिय परियेसन सुत्त—बुद्ध के द्वारा अपने महाभिनिष्कमण और अभिसम्बोधि प्राप्ति का वर्णन।
27. चूल-हत्थिपदोपम सुत्त—यथार्थ गुरु की शिक्षाएँ।
28. महा-हत्थिपदोपम सुत्त—चार आर्य सत्यों, प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश।
29. महासारोपम सुत्त—देवदत्त के संघ छोड़ जाने पर बुद्ध का उपदेश भिक्षु जीवन का उद्देश्य।
30. चूल-सारोपम सुत्त—भिक्षु जीवन का उद्देश्य।

(4) महायमक वग्ग

31. चूलगोसिंग सुत्त—अनिरुद्ध, नन्दिय और किम्बिल की प्रव्रज्या का वर्णन।
32. महा गोसिंग सुत्त—गोसिंग वन को किस प्रकार का भिक्षु सुशोभित करेगा ?

33. महागोपालक सुत्त—बुद्धधर्म में सफलताओं की ग्यारह बातें।
34. चूल गोपालक सुत्त—मुमुक्षुओं की श्रेणियाँ।
35. चूल सच्चक सुत्त—पंच स्कन्ध पर संवाद, आत्मवाद का खंडन अनात्मवाद का मंडन।
36. महा सच्चक सुत्त—तथागत का अभिसम्बोधि और समाधि पर विवचन।
37. चूल तण्हासंखय सुत्त—तृष्णा के क्षय का उपाय।
38. महा तण्हा संखय सुत्त—अनात्मवाद, धर्म बेड़े की भाँति पार होने के लिए पकड़ रखने के लिए नहीं।
39. महा अस्सपुर सुत्त—आदर्श भिक्षु के लिए आवश्यक बातें ?
40. चूल अस्सपुर सुत्त— श्रमण-ब्राह्मण बनने की विधि।

(5) चूल यमक वग्ग

41. सालेय्यक सुत्त—सदाचार से सुगति व दुराचार से दुर्गति का वर्णन।
42. वेरंजक सुत्त—उपर्युक्त के समान ही गति का वर्णन।
43. महावेदल्ल सुत्त—मनोवैज्ञानिक विषयों पर सारि पुत्र का एक प्रवचन।
44. चूल बेदल्ल सुत्त—उपर्युक्त विषय पर ही धम्पदिन्ना भिक्षुणी का एक भाषण।
45. चूल धम्मसमादान—चार प्रकार के धर्मानुयायी।
46. महा धम्मसमादान सुत्त—उपर्युक्त के समान ही।
47. वीमंसक सुत्त—गुरु की परीक्षा ?
48. कोसम्बिय सुत्त—कौशाम्बी के भिक्षुओं को परस्पर के विषय में विवाद को हटाकर मेलजोल के लिए छह बातें।
49. ब्रह्म निमन्तिक सुत्त—शाश्वतवाद ठीक सिद्धान्त नहीं सृष्टिकर्ता ईश्वर तथा ब्रह्म का खण्डन।
50. भारतज्जनिय सुत्त—मार को प्रताडन।

(6) गहपति वग्ग

51. कन्दरक सुत्त—आत्म-निर्यातन को त्याग स्मृतिप्रस्थान की भावना।
52. अट्ठकनागर सुत्त—निर्वाण-मार्ग पर आनन्द के द्वारा ग्यारह अमृत द्वार।
53. सेवख सुत्त—आनन्द शैक्ष्य जनों के कर्त्तव्यों पर परिमित भोजन, जागरण।
54. पोतलिय सुत्त—आर्य मार्ग संसार से विरक्ति का मार्ग है।
55. जीवक सुत्त—मांस भोजन में नियम।
56. उपालि सुत्त—उपालि जैन की प्रवज्या।
57. कुक्कुरवतिक सुत्त—चार प्रकार के कर्मो पर प्रवचन।
58. अभय राजकुमार सुत्त—हितकारी अप्रिय बात कहनी उचित है।
59. बहुवेदनित सुत्त—वेदनाओं का विभागीकरण।

60. अपण्णक सुत—द्विविधारहित धर्म ।

(7) भिक्खु वग्ग

61. अम्बलट्ठिका राहुलोवाद सुत्त—मन, वाणी और कर्म की विशुद्धि के साथ मिथ्या भाषण की निन्दा ।
62. महाराहुलोवाद सुत्त—राहुल के प्रति प्राणायाम का उपदेश ।
63. चूल मालुक्य सुत्त—'अव्याकृत' विषयों सम्बन्धी प्रवचन ।
64. महा-मालुक्य सुत्त—संसार के बन्धन और उनसे मुक्ति ।
65. भद्दालि सुत्त—महालि को धर्मोपदेश ।
66. लकुटिकोपम—वैराग्य पर छोटी बात से बड़ी हानि ।
67. चातुम सुत्त—झगड़ालु भिक्षुओं को चार विघ्नों से सावधानी रखनी चाहिए।
68. नलकपान सुत्त—धर्म के कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर अनिरुद्ध से संलाप ममुक्षु के कर्तव्य ।
69. गुलिस्सानि सुत्त—संयम, नहीं तो अरण्यवास व्यर्थ ।
70. कीटागिरि सुत्त—भिक्षुओं के नियम ।

(8) परिब्बाजक वग्ग

71. तेविज्जवच्छगोत सुत्त—बुद्ध त्रैविद्य हैं । सुगति के उपाय ।
72. अग्गिवच्छगोत्त सुत्त—अग्गिवच्छगोत को बुद्ध की शिष्यत्व-प्राप्ति और मतवादों का बंधन ।
73. महाबच्छगोत्त सुत्त—उपासकों और भिक्षुओं के कर्त्तव्य ।
74. दीघनख सुत्त—मतवादों का आग्रह, काया अपनी नहीं सभी अनुभव अनित्य ।
75. भागन्दिय सुत्त—कामनाओं के त्याग पर उपदेश ।
76. सन्दक सुत्त — सन्दक परिव्राजक को आनन्द के द्वारा मार्ग—प्रदर्शन ।
77. महासकुलुदायि सुत्त—बुद्ध के आदर के पांच कारण गुरु में वास्तविक श्रद्धा कैसे ।
78. समणमण्डिका सुत्त—सम्यक् आचरण के गुण सत्कर्मी पुरुष ।
79. चूल सुकुलदायि सुत्त—निगण्ठ नाटपुत्त जैन का सिद्धांत ।
80. वेखनस्स सुत्त—पूर्वोक्त का ही विवरण ।

(9) राजवग्ग

81. घटिकार सुत्त—बुद्ध के एक पूर्व जन्म पर त्यागमय गृहस्थ जीवन की झांकी ।
82. रट्ठपाल सुत्त—राष्ट्रपाल की प्रव्रज्या ।
83. मखादेव सुत्त—बुद्ध के पूर्व जीवन की एक कथा कल्यार्ण मार्ग का प्रदर्शन ।
84. मधुर सुत्त—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ नहीं, वर्णव्यवस्था का खंडन ।

85. बोधिराज कुमार सुत्त—धर्म का साक्षात्कार कितने दिनों में ?
86. अंगुलिमाल सुत्त—अंगुलिमाल डाकू बुद्ध की बोधि प्राप्ति का वर्णन तथा उसका जीवन परिवर्तन।
87. पियजातिक सुत्त—प्रियों से शोक और दुःख की उत्पत्ति।
88. बाहितिक सुत्त—शुभ और अशुभ आचरण।
89. धम्मचेतिय सुत्त—धार्मिक जीवन की श्रेष्ठता।
90. कण्णकत्थल सुत्त—बुद्ध की सर्वज्ञता, वर्ण व्यवस्था पर संलाप।

(10) ब्राह्मण वग्ग

91. ब्रह्मायु सुत्त—बुद्धत्व प्राप्ति रूप गमन।
92. सेल सुत्त— ,, ,,
93. अस्सलायन सुत्त—वर्ण व्यवस्था खंडन
94. घोटमुख सुत्त—आत्म-निर्यातन की निन्दा।
95. चंकि सुत्त—जातिवाद
96. एसुकारि सुत्त—वर्ण व्यवस्था का खंडन।
97. धानंजानि सुत्त—गृहस्थ-बंधन अशुभ कार्य करने का बहाना नहीं अपना कर्म अपने साथ।
98. वासेट्ठ सुत्त—वास्तविक ब्राह्मण कौन ?
99. सुभ सुत्त—घर रहें या वन जाएं ? गृहस्थ और सन्यास की तुलना।
100. संगारव सुत्त—बुद्ध के द्वारा देवों के अस्तित्व की स्वीकृति तथा बुद्ध की तपश्चर्या।

(11) देवदह वग्ग

101. देवदह सुत्त—निगण्ठों के मत का खण्डन।
101. पंचत्तय सुत्त--आत्मवाद आदि नाना मतवाद।
103. किन्ति सुत्त—भ्रष्ट भिक्षुओं को नियम-उपदेश मेल जोल का ढंग।
104. सामगाम सुत्त—शान्ति सम्बन्धी उपदेश।
105. सुनक्खत्त सुत्त—तृष्णोच्छेदन सम्बन्धी प्रवचन ध्यान चित्त संयम।
106. आनंजसप्पाय सुत्त—भोगों की निस्सारता।
107. गणकमोग्गल्लान सुत्त—भिक्षुओं की शिक्षा पर उपदेश।
108. गोपकमोग्गल्लान सुत्त—धर्म ही एक मात्र मार्ग दर्शक है।
109. महापुण्णम सुत्त—आत्मवाद खंडन।
110. चूल पुण्णम सुत्त—सदसत्पुरुष।

(12) अनुपद वग्ग

111. अनुपद सुत्त—तथागत के द्वारा सारिपुत्र की गुणचर्चा ।
112. छब्बि सोधन सुत्त—सम्यक् ज्ञानी के प्रति प्रष्टव्य प्रश्न । अर्हत् की पहचान ।
113. सप्पुरिस सुत्त—अच्छे पुरुष के लक्षण ।
114. सेवितब्ब-असेतिब्बसुत्त—सेवनीव, असेवनीय की चर्चा ।
115. वहुधातुक सुत्त—बुद्ध और आनन्द का एक सम्वाद ।
116. इसिगिलि सुत्त—प्रत्येक बुद्धों (पच्चेक बुद्धा) पर विवेचन ।
117. महाचत्तारीसक सुत्त—सम्यक् समाधि पर विचार ।
118. आनापान सति सुत्त—प्राणायाम सम्बन्धी विचार ।
119. कायगतासति सुत्त—कायानुपश्यना का विवेचन ।
120. संखारुप्पत्ति सुत्त—पुरुष संस्कारों का उदय कैसे ?

(13) सुञ्ञता वग्ग

121. चूल-सुञ्ञता वग्ग—चित्त की शून्यता क्या है ?
122. महा सुञ्ञता सुत्त—उपर्युक्त के समान ही ।
123. अच्छरियब्बुभुतधम्म सुत्त—बोधि सत्व के अद्‌भुत जीवन पर ।
124. बक्कुल सुत्त—अचेल कस्सप का भिक्षु जीवन ।
125. दन्त भूमि सुत्त—धर्म का उपदेश किस प्रकार से करें ?
126. भूमिज सुत्त—सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता ।
127. अनुरुद्ध सुत्त—अनुरुद्ध के द्वारा चेतोविमुक्ति पर विचार ।
128. उपक्किलेस सुत्त—सम्यक् समाधि क्या है ?
129. बाल-पण्डित सुत्त—जीवन के बाद फल नरक, पापी, मूर्ख के कर्म ।
130. देवदूत सुत्त—यम का भय तथा नरक वर्णन ।

(14) विभंग वग्ग

131. भद्देकरत्त सुत्त—भूत और भविष्यत् की चिन्ता छोड़ वर्तमान को समझो ।
132. आनन्द भद्देरत्त— ,, ,,
133. महाकच्चान भद्देकरत्त—भूत और भविष्यत् को छोड़ वर्तमान को समझो ।
134. लोमसकंगिय भद्देकरत्त— ,, ,, ,,
135. चूल कम्मविभंग सुत्त—संसार वैषम्य क्यों ?
136. महा कम्म विभंग सुत्त— ,, ,, ,,
137. सडायतन विभंग सुत्त—छः आयतनों पर चर्चा ।
138. उद्देस विभंग सुत्त— महाकात्यान के द्वारा चेतना पर प्रवचन ।

139. अरण विभंग सुत्त—शान्ति का रहस्य।
140. धातु विभंग सुत्त—छः धातुओं (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और चित्त) की चर्चा।
141. सच्च विभंग सुत्त—चार आर्य सत्य।
142. दक्खिणा विभंग—सुत्त दान और दाताओं पर उपदेश। संघ को दिया हुआ दान व्यक्ति के दान से ऊपर। संघ व्यक्ति से महत्त्वपूर्ण है।

(15) सडायतन वग्ग

143. अनाथ पिंडिकोवाद सुत्त—अनाथ पिण्डिक की मृत्यु। अनासक्तियोग।
144. छन्नोवाद सुत्त—छन्न की आत्महत्या।
145. पुण्णोवाद सुत्त—दुःख और सुख में व्यवहार।
146. नन्दकोवाद सुत्त—अनित्यता पर चर्चा।
147. चूल राहुलोवाद सुत्त—अनात्मवाद।
148. छछक्क सुत्त—अनात्मवाद का विशद विवेचन।
149. महासडायतनिक सुत्त—इन्द्रियों का सम्यक् ज्ञान तृष्णा और दुःख।
150. नगरविन्देय्य सुत्त—पूज्य श्रमण ब्राह्मण कौन?
151. पिंडपात पारिसुद्धि सुत्त—विषयों का त्याग, स्मृतिप्रस्थान।
152. इन्द्रिय भावना सुत्त—इंद्रिय संयम कैसे हो?

बुद्ध के अववाद (उपदेश) बुद्ध की चारिकाओं में उपलब्ध होते हैं। इन निकायों में केवल बुद्ध के विचार ही नहीं अपितु तात्कालीन सामाजिक तथा सांस्कृतिक अवस्था की भी चर्चा है। संयुत्त निकाय पांच वग्गों में विभक्त है, जिनमें कुल मिलाकर 56 संयुत्त हैं।

(1) सगाथ बग्ग, जिसमें 11 संयुत्त हैं, यथा—

1. देवता संयुत्त	(आठ अध्याय)	देवताओं के वचनों का सगंह।
2. देवपुत्त संदुत्त	(तीन अध्याय)	
3. कोसल संयुत्त	(तीन अध्याय)	
4. मार संयुत्त	(तीन अध्याय)	बुद्ध को विचलित करने के लिए मार के प्रयत्न।
5. भिक्खुणी संयुत्त	—	भिक्खुणियों को विचलित हेतु मार के प्रयत्न।
6. ब्रह्मा संयुत्त	(दो अध्याय)	
7. ब्राह्मण संयुत्त	(दो अध्याय)	
8. वंगीस संयुत्त	...	

9. वन संयुत्त	...	
10. यक्ख संयुत्त	—	
11. सक्क संयुत्त	(तीन अध्याय)	बुद्ध के प्रति इन्द्र की भक्ति का निदर्शन।

2. निदान वग्ग, जिसमें 10 संयुत्त हैं, यथा—

1. निदान संयुत्त	(9 अध्याय)	
2. अभिसमय संयुत्त	—	
3. धातु संयुत्त	(4 अध्याय)	
4. अनमतग्ग संयुत्त	(2 अध्याय)	संसार की अनित्यता तथा भयानक दुःखों का वर्णन।
5. कस्सप संयुत्त	—	
6. लाभ सक्कार संयुत्त	(4 अध्याय)	
7. राहुल संयुत्त	(2 अध्याय)	
8. लक्खण संयुत्त	—	
9- ओपम्म संयुत्त	—	
10. भिक्खु संयुत्त	—	

3. खन्ध वग्ग, जिसमें 13 संयुत्त हैं, यथा—

1. खन्ध संयुत्त	(पाँच-पांच अध्यायों के तीन विभाग)
2. राध संयुत्त	(चार अध्याय)
3. दिठ्ठि संयुत्त	(दो अध्याय)
4. ओक्कन्तिक संयुत्त	—
5. उप्पाद संयुत्त	—
6. किलेस संयुत्त	—
7. सारिपुत्त	—
8. नाग संयुत्त	—
9. सुपण्ण संयुत्त	—
10. गन्धब्बकाय संयुत्त	—
11. बलाह संयुत्त	—
12. वच्छगत्ति संयुत्त	—
13. झान (या समाधि) संयुत्त	—

4. सडायतन वग्ग-जिसमें दस संयुत्त हैं, यथा

1. सडायतन संयुत्त	(चार भागों में विभक्त, पहले तीन भागों में से प्रत्येक में पांच और अन्तिम में चार अध्याय)
2. वेदना संयुत्त	(3 अध्याय)
3. मातुगाम संयुत्त	—
4. जम्बुखादक संयुत्त	—
5. सामण्डक संयुत्त	—
6. मोग्गल्लान संयुत्त	—
7. चित्त संयुत्त	—
8. गामणि संयुत्त	—
9. असंखत संयुत्त	— (2 अध्याय)
10. अव्याकत संयुत्त	—

(5) महावग्ग, जिसमें 12 संयुत्त हैं—

1. मग्ग संयुत्त	(8 अध्याय)
2. बोंझंग संयुत्त	(18 अध्याय)
3. सतिपट्ठान संयुत्त	(10 अध्याय)
4. इन्द्रिय संयुत्त	(1)7 अध्याय
5. सम्मप्पधान संयुत्त	(5 अध्याय)
6. बल संयुत्त	(10 अध्याय)
7. इद्धिपाद संयुत्त	(8 अध्याय)
8. अनुरुद्ध संयुत्त	(2 अध्याय)
9. झान संयुत्त	(5 अध्याय)
10. आनापान संयुत्त	(2 अध्याय)
11. सोतापत्ति संयुत्त	(7 अध्याय)
12. सच्च संयुत्त	(11 अध्याय)

काव्य की दृष्टि से इसमें पर्याप्त सामग्री है। महाभारत में यक्ष युधिष्ठिर संवाद की भांति यहां यक्ष बुद्ध का रोचक संवाद है। 10-12 लोक कविताओं का अच्छा संग्रह मार और भिक्खुणी संयुत्त में प्राप्त होता है। इस निकाय में भी मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक समस्याओं को कथानक तथा संवाद शैली के माध्यम से वर्णित किया गया है विषय की पुनरावृत्ति है। चतुर्थ निकाय अर्थात् अंगुत्तर निकाय मूलतः संख्यात्मक है, जो निम्नलिखित 11 निपातों में विभक्त है, यथा एक निपात, दुक निपात, चतुक्क निपात, पंचक निपात, छक्क निपात, सत्तक निपात, अट्ठक निपात, नवक निपात, दसक निपात और एकादसक निपात। इसमें 2308 सुत्त हैं और उनमें

एक वस्तु से लेकर ग्यारह वस्तुओं का समावेश क्रमश: किया जाता है। प्रथम निपात में एक क्या-क्या है यह सब गिनाया गया है और इसी प्रकार ग्यारहवें निपात में ग्यारह-ग्यारह वस्तुओं का संग्रह किया गया है। इसमें विषय का वैविध्य है।

पंचम निकाय अर्थात् खुद्दक निकाय

इसका विभाजन 16 ग्रन्थों में है इसमें क्षुद्र अर्थात् छोटे-छोटे उपदेशों का संग्रह है।

1. खुद्दक पाठ—इसमें बौद्ध धर्म में प्रवेश पाने वाले के लिए जो सर्वप्रथम ज्ञेय है उसका संकलन है यथा-त्रिशरण, दश शिक्षा पद, उर शरीर के अवयवों का संग्रह, एक से दश तक की ज्ञेय वस्तुओं का संग्रह।
2. धम्मपद—नैतिक उपदेशों का संग्रह। बौद्ध ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रख्यात। इसमें विषय का निरूपण (अनेक गाथाओं का संग्रह) वर्गों में किया गया है।
3. उदान—उदान में एक ही विषय के निरूपण करने वाली अल्पसंख्यक गाथाओं का संग्रह। प्रासंगिक दो चार गाथाओं में बुद्ध ने अपने मन्तव्य को यहाँ प्रकट किया है।
4. इतिवुत्तक—भगवान् ने ऐसा कहा 'इस मन्तव्य से जिन गाथाओं और गद्यांशो का संकलन है वह इतिवुत्तक नाम के ग्रन्थ में है। इस ग्रन्थ में उपमा का सौन्दर्य और कथन की सरलता द्रष्टव्य है।
5. सुत्तनिपात—बुद्ध के प्राचीनतम उपदेशों का संग्रह जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

6.-7. विमानवत्थु और पेतवत्थु—ये ग्रन्थ क्रमश: देव योनि और प्रेत योनि का वर्णन करते हैं।

8.-9. थेरगाथा और थेरीगाथा—इन दो ग्रन्थों में बौद्ध भिक्षु तथा भिक्षुणियों ने अपने अनुभवों को व्यक्त किया है ये दोनों ग्रन्थ लोक कविता के सुन्दर नमूने हैं।

10. जातक—भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म के सदाचारों को व्यक्त करने वाली 547 कथाओं का संग्रह जातक ग्रन्थों में है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास उन कथाओं में सुरक्षित है। नीति शिक्षण की दृष्टि से इन कआओं की तुलना करने वाला ग्रन्थ अन्यत्र दुर्लभ है।

11.-12. महा निद्देश तथा चुल्ल निद्देस—ये ग्रन्थ सुत्त निपात्त के अट्ठवग्ग और खड्ग विसाण सुत्त की व्याख्या है।

13. पटिसम्भिदा मग्ग—में प्राणायाम, ध्यान, कर्म, आर्यसत्य आदि विषयों का निरूपण है।

14. अपदान—इस जातक में भगवान् के पूर्व भावों के सुचरितों का वर्णन है। अपदान में पूर्व के अर्हतों के पूर्व भवों के सुचरितों का वर्णन है।
15. बुद्ध वंश– इसमें गौतम बुद्ध से पहले होने वाले 24 बुद्धों के जीवन चरित वर्णित हैं।
16. चरियापिटक—यह खुद्दक निकाय का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमें 35 जातकों का संग्रह है। बुद्ध ने अपने पूर्व भव में कौन-सी पारमिता किस प्रकार से पूर्ण की इसका वर्णन है। इसमें 6 पारमिताओं का वर्णन है। दान, शील, अधिष्ठान, सत्य, मैत्रीं, उपेक्षा। इन्हीं पारमिताओं को प्रकट करने के लिए इन कथाओं की रचना की गई। पारमिता शब्द का अर्थ है पूर्णत्व, पार गमन। पालि में इसका रूप 'पार्मी' होता है।

(2) विनय पिटक

भिक्षु और भिक्षुणियों सम्बन्धी आचरण को नियमित करने के लिए भगवान् बुद्ध ने जो नियम बनाए वे (प्रातिमोक्ष) (प्रातिमोक्ख)क हे जाते हैं। बुद्ध शासन की दृष्टि से इन वचनों का अधिक महत्व है। इन्हीं नियमों की चर्चा विनय पिटक में है। पिटकों में विनय-पिटक का स्थान सर्वप्रथम है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इसकी रचना प्रथम ही हुई। प्रातिमोक्ष की महत्ता का शीर्षस्थ कारण यही रहा कि भगवान् ने स्वयं कहा था कि उनके न रहने पर भी प्रातिमोक्ष और शिक्षाप्रदों के कारण भिक्षु तथा भिक्षुणियों को अपने कर्तव्य का ज्ञान होता रहेगा और इस प्रकार संघ स्थिर रहेगा।

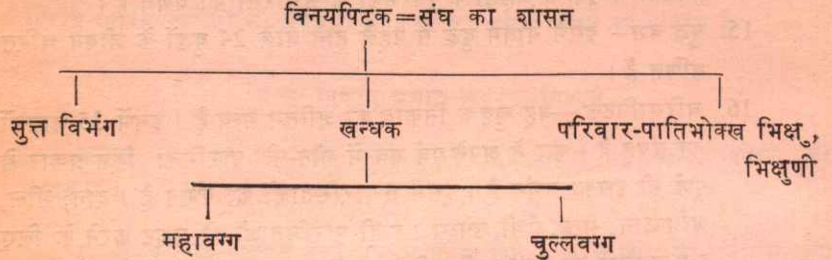
प्रारम्भ में केवल 152 नियम बनाए गए थे जोकि विनय पिटक की रचना के समय तक 227 की संख्या में हो गए; विनय पिटक का प्रथम विभाग सुत्त विभाग इन्हीं 227 नियमों का विधान करने वाले सुत्तों की व्याख्या है।

विनय पिटक का ग्रन्थ[62] विभाजन इस प्रकार है। (1) सुत्त विभंग, (2) खन्धक, (3) परिवार और (4) पातिभोक्ख इसके नियमों की व्याख्या विशद व्याख्या सुत्त विभंग में है, जिसके दो भाग हैं (अ) पाराजिक, (आ) पाचित्तिय। खन्धक के भी दो भाग हैं। (1) महावग्ग-में प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा आदि का वर्णन। (2) चुल्लवग्ग-भिक्षुओं के पारस्परिक व्यवहार और संघर्षों के नियमों का वर्णन है।

भगवान् बुद्ध की साधना का रोचक वर्णन महावग्ग में है। उनकी जीवन कथा का यही भाग प्राचीनतम प्रतीत होता है। महावस्तु ओर ललित विस्तर में इसी प्रकार का बर्णन पाया जाता है। (3) परिवार–इसमें वैदिक अनुक्रमणिकाओं की

62. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन I. भरतसिंह उपाध्याय पृ० 330।

तरह इसमें कई प्रकार की सूचियों का समावेश है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भाग पश्चात् में सिंहल के किसी भिक्षु द्वारा संकलित किया गया है।



(3) अभिधम्म पिटक

इस पिटक में सुत्त पिटक के विषय की तात्विक अथवा नैतिक व्याख्या की गई है। विषय की दृष्टि से इसमें मौलिकत, नहीं है जोकि सुत्त पिटक में न हो। किन्तु बौद्ध दार्शनिक विवेचन के विचार से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है। इस पिटक में (वोहार वचन) व्यवहार वचन का उपयोग न कर (परमत्थ वचन) परमार्थ वचन का उपयोग करता है जिन धर्मों को सुत्त पिटक में रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञान इन पंच स्कन्धों के रूप में विभक्त करता है उन्हीं का विभाजन और वर्गीकरण 'चित्त', चेतसिक और 'रूप' के रूप में यहां किया है। दार्शनिक विचार से इसका महत्व विशेष है। इसमें सात ग्रन्थों का समावेश है।

1. धम्म संगणि—धर्मों का वर्गीकरण और व्याख्या इसमें की गई। बौद्ध मनोवैज्ञानिक आचार तत्व का अनुत्तर ग्रन्थ है। यहां सभी 'धर्म,' 'कुशल' 'अकुशल' और 'अव्याकृत' रूप में देखे गए हैं। चित्त, चेतसिक और रूप पर यहां विशेष विवेचन है।

2. विभंग संगणि—इसमें उन्हीं धर्मों के वर्गीकरण को आगे बढ़ाया है और भंग जाल खड़ा किया गया है। वह ग्रन्थ धम्म संगणि का पूरक ही कहा जाता है। इसके 18 विभाग हैं। यथा, (1) खन्ध बिभंग, (2) आयतन विभंग, (3) धातु विभंग, (4) सच्च विभंग, (5) इन्द्रिय विभंग, (6) पंच्चयाकार विभंग, (7) सतिपट्ठान विभंग, (8) सम्मप्पधान विभंग, (9) इद्धिपाद विभंग, (10) बोज्झंग विभंग, (11) मग्ग विभंग, (12) झान विभंग, (13) अप्पमज्ज विभंग (14) सिक्खापद विभंग, (15) पटिसम्भिदा-मग्ग विभंग, (16) जण विभंग, (17) खुद्दकवत्थु विभंग तथा (18) धम्महृदय विभंग।

3. धातु-कथा (अथवा खन्ध-आयतन-धातु कथा)—इसमें धातुओं का प्रश्नोत्तर रूप में व्याख्यान है जो 14 विभागों में विभक्त है। (1) संगहो असंगहो (2) संगसितेन **असंगहितं** (3) असंगहितने संगहित (4) संगहितने संगहित (5) असंगहितने **असंगहितं** (6) सम्पयोगो विप्पयोगो (7) सम्पपुत्तेन विप्पपुत्तं (8) विप्पयुत्तेन सम्प-

पुत्तं (9) सम्पयुत्तेन संगहितं (10) विप्पयुत्तेन विप्पयुत्तं (11) असंगहितने सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं (12) सम्पयुत्तेन संगहितं असंसहितं (13) असंगहितने सम्पयुत्तं विप्पयुत्तं (14) विप्पयुत्तेन संगहितं असंगहितं।

4. **पुग्गल पञ्ञति**—पुग्गलों के विषय में अद्भुत ग्रंथ है। इसमें मनुष्यों का विविध अंगों में वर्गीकरण किया गया है। इसकी अंगुत्तर निकाय के 3-5 निपात के साथ अधिक समानता है। मनुष्यों के विविध वर्गीकरण का आधार गुण ही है। पुग्गल का अर्थ है जीव और प्रज्ञप्ति का अर्थ हैं विवेचन। इसके दस विभाग हैं। जो सुत्त निकाय के परियाय सुत्त के समान ही हैं।

5. **कथावस्तु**—कथावस्तु का महत्व बौद्ध धर्म के विकास के लिए अत्यधिक है। पिटकान्तर्गत होने पर भी इसके लेखक तिस्स मोग्गलिपुत्त हैं जो तीसरी संगीति के अध्यक्ष थे। यद्यपि यह ग्रन्थ ई० पू० तीसरी शताब्दी में उक्त आचार्य ने बनाया था तथापि इसमें बौद्ध मत में बाद के मतभेदों का भी संकलन होता रहा। प्रश्नोत्तर शैली में यह ग्रन्थ लिखा गया है (यह ग्रन्थ अशोक कालीन है किन्तु परम्परा में इसका उपदेश तथागत के द्वारा ही दिया गया है ऐसा विश्वास है)। इस ग्रन्थ में स्थविरवाद परम्परा का समर्थन तथा 17 निकायों और सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। आत्मा है या नहीं इस प्रकार के मत का पूर्व पक्ष के रूप में वर्णन किया गया है।

6. **यमक**—इस ग्रन्थ में प्रश्न और उनके प्रतिरूप प्रश्न प्रारम्भ से अन्त तक यमक के रूप में रखे गए हैं। इस ग्रन्थ में 10 यमक है। यथा (1) मूल यमक, (2) खंध यमक, (3) आयतन यमक, (4) धातु यमक, (5) सज्च यमक, (6) संखार यमक, (7) अनुसय यमक, (8) चित्त यमक, (9) धम्म यमक तथा, (10) इद्रिय यमक।

7. **पट्ठान**--पट्ठान को महापकरण भीं कहते हैं जिसका एकमात्र विषय प्रतीत्य समुत्पाद का विवेचन है। इसमें 24 प्रत्ययों के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त पर विचार किया गया है। यहां कहा गया है कि केवल निर्वाण ही असंस्कृत है शेष धर्म संस्कृत है। 24 इससे (पच्चय) प्रत्यय ये हैं—

(1) हेतु पच्चय, (2) आरम्मण पच्चय, (3) अधिपति पच्चय, (4) अनन्तर पच्चय, (5) समनन्तर पच्चय, (6) सहजात पच्चय, (7) अज्जमज्ज पच्चय, (8) निस्सय, पच्चय, (9) उपनिस्सय पक्चय, (10) पुरेजात पच्चय, (11) पच्छाजात पच्चय, (12) आसेवन पच्चय, (13) कम्प पच्चय, (14) विपाक पच्चय, (15) आहार पच्चय, (16) इन्द्रिय पच्चय, (17) झान पच्चय, (18) मग्ग पच्चय, (19) सम्पयुत पच्चय, (20) विप्पयुत्त पच्चय, (21) अत्थि, (22) नत्थि, (23) विगत और (24) अविगत।

इनमें से कतिपय प्रत्यय एक दूसरे के अन्तर्गत भी हैं। प्रत्येक धर्म का उद्‌भव इन्हीं प्रत्ययों के आधार पर इस ग्रन्थमें निर्दिष्ट किया गया है। इसके लिए चार प्रकार प्रयुक्त किए हैं। जिसके पारिभाषिक नाम ये हैं। (1) अनुलोम पट्ठान (2) पच्चनिय पट्ठान (3) अनुलोम पट्ठान (4) पच्चनिय अनुलाम पट्ठान।

पिटकेतर पालि ग्रन्थ

पिटकेतर पालि ग्रन्थों के सृजन का श्रेय बौद्ध भिक्षुओं को है। ये समस्त पालि वाङ्मय शैली की दृष्टि से अनुपम है।

मिलिन्द प्रश्न के लेखक का अनुमान उत्तरी पश्चिमी भारत के किसी विद्वान द्वारा लिखित मानते हैं। इसमें ग्रीक सम्राट् मिनान्डर ई० पू० प्रथम शताब्दी को ही मिलिन्द कहा गया है और आचार्य नागसेन के साथ उसके संवाद की योजना वर्णित है ग्रंथ की प्रामाणिकता और प्राचीनता इसी से सिद्ध होती है कि आचार्य बुद्ध घोष ने इसे पिटक साहित्य के समान प्रामाणिकता दी है। मूल मिलिन्द प्रश्न के कलेवर में बाद के आचार्यों ने भी समय समय पर वृद्धि की है इन्हे भिक्षु नागसेन रचित बतलाते हैं किन्तु इनके समय के बारे में कोई निश्चय नहीं है किन्तु इतना ही जानते हैं कि यवनराज मिलिन्द जिनका ग्रीक नाम मीनेन्ड्रौस अथवा मीनान्डर कहा जाता है, सत्य की खोज में भिक्षु नागसेन के पास आये थे और बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी अपनी जिज्ञासाएं महान् त्रिपिटिकधर भिक्षु के सामने रक्खी थी, जिनका उत्तर महान् पाण्डित्य के साथ आयुष्मान् भदन्त ने किया था, जिससे उक्त राजा को आनन्द और सुख का अनुभव हुआ।

अट्ठ कथाओं से पूर्व त्रिपिटक पर आश्रित ग्रन्थ नेत्तिपकरण, पेटकोपदेस, मिलिन्द पञ्ह और विसुद्धिमग्ग का विवरण।

नेत्तिपकरण—त्रिपिटक वाङ्मय का निरुक्त है।

पेटकोपदेश—भी इसका पूरक है।

इन दोनों का दार्शनिक महत्व कम है।

मिलिन्दपञ्ह तथा विशुद्धिमग्ग—ये दो ही ग्रन्थ स्थविरवाद परम्परा के चिन्तन में महत्वपूर्ण है। इस राजा के काल के विषय में मतैक्य नहीं है। यह सागल प्रदेश दक्षिणी पंजाब में था। यह ग्रन्थ भिक्षु नागसेन और राजा मिलिन्द के संवाद स्वरूप में लिखा है। इसके सात भाग हैं। यथा (1) बाहिर कथा (2) लक्खण पञ्हो (3) विमतिच्छेदन पञ्हो (4) मेण्डक पञ्ही (5) अनुमान पञ्ही (6) धुतंग कथा (7) ओपम्म कथा पञ्हं।

भारतीय दार्शनिक साहित्य में इस ग्रन्थ रत्न मिलिन्दप्रश्न का बड़ा महत्व है। ये एक महान् गद्य काव्य है। दार्शनिक विषयों की काव्यमयता, संगीततत्व, के माध्यम से लोकभाषा के रूप में विचारों को जनमानस तक पहुँचाने का सफल प्रयास इसके द्वारा किया गया है। इसकी शैली रोचक तथा प्राँजल है इसमें

पुद्गलवाद की समस्या का अच्छा विवेचन है जो कि दार्शनिक समस्या है। वार्ता प्रसंग में दोनों राजाओं (नायकों) के पूर्व जन्मों के वर्णन की समाप्ति पर राजा आतुर होकर नागसेन के पास पहुँचता है। राजा सरल भाव से पूछता है भन्ते ! आपका नाम क्या है? भदन्त नागसेन कहते हैं कि लोग उन्हे नागसेन कहते हैं किन्तु यह सब लोक व्यवहार के लिए है।

'नागसेनोति न हेत्थ पुग्गलो उपलब्भतीति' नागसेन नाम का कोई पुद्गल यहाँ उपलब्ध नहीं होता। वार्तालाप का आरम्भ हो जाता है और भदन्त नागसेन ने मिलिन्द की शंकाओं के जो महनीय उत्तर दिए हैं वे यहाँ उपलब्ध है।

विसुद्धि मग्ग—समस्त बौद्ध ग्रन्थों की कुंजी के समान है अतएव इसे त्रिपिटक अट्ठ कथा भी कहते हैं। इसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का 13 अध्यायों में विस्तृत वर्णन है ! इस ग्रन्थ पर पांचवी शती में धम्मंपाल स्थविर ने परमत्थ मंजूषा टीका की है। इसी धर्मपाल ने थेरगाथा, थेरीगाथा, विमानवत्थु आदि खुद निकाय के ग्रन्थों की टीका की है। इनके अतिरिक्त दसवीं बारहवी शती के बीच अनिरुद्ध आचार्य ने अभिधम्मपत्थ संगहों नामक ग्रंथ लिखा। अभिधम्म पिटक में प्रकाशक ग्रन्ध के रूप में यह ग्रन्थ बेजोड़ है इसकी अनेक टीकाएं हैं।

अठ्ठकथाचरिय बुद्ध घोषाचार्य का पाचवीं शताब्दी में रचित यह ग्रन्थ बोद्ध धर्म का विश्वकोश कहा जा सकता हैं। कोई भी विषय बौद्ध धर्म और दर्शन सम्बन्धी इस ग्रंथकार ने छोड़ा नहीं है। यद्यपि अपनी परीक्षा स्वरूप हुई केवल दो गाथाओं पर व्याख्या रूप ही यह ग्रंथ लिखा गया है। मिलिन्द प्रश्न की प्रामाणिकता आचार्य बुद्ध घोष को अतीव मान्य है। यत्र तत्र उसके उद्धरण भी पठनीय हैं।

इन ग्रन्थों के रचयिताओं ने बुद्ध के मौन को निषेधात्मक रूप में चर्चित करके त्रिपिटिक की मूल भावनाओं से विभेद किया है। भिक्षु नागसेन का अनात्मवाद का विशद विश्लेषण श्लाघ्य है और मौलिक बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद का विवरण तब तक पूर्ण नहीं कहा जा सकता जब तक कि भदन्त नागसेन के मत का भी उल्लेख न किया जाय और मिलिन्द प्रश्न से भी कतिपय उद्धरण न दे दिए जाएं। मिलिन्द प्रश्न के साक्ष्य के लिए डा० सर्वपल्ली राधा कृष्णन् ने अपने विचार प्रकट किए हैं कि इस साक्ष्य को सँभलकर ही लेना चाहिए। बुद्ध घोषाचार्य का भी उद्धरण संभलकर ही लेना चाहिए।

अट्ठ कथाएं

त्रिपिटक की व्याख्याओं को अट्ठ कथा कहा हैं। तीन अट्ठ कथाकार हुए है।

बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल। इन कथाओं का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए महत्व है किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में अल्प महत्व है। अभिघम्म पिटक षर भी आचार्य बुद्धघोष की अट्ठसालिनी (धम्मसंगणि की अठ्ठकथा) का ही उल्लेख है।

नोट—त्रिपिटक साहित्य के संकलन का आधार आचार्य नरेन्द्र देव का ग्रंथ बौद्ध धर्म दर्शन, प्रो० बलदेव उपाध्याय की बौद्ध दर्शन मीमांसा, राइस डेविड्स का हिन्दुइज्म तथा बुद्धिज्म तथा महाबोधि सभा सारनाथ बनारस से प्रकाशित ग्रन्थों के साथ विशेषरूपेण श्री भरत सिंह उपाध्याय रचित बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन प्रथम भाग ही अनुकरणीय रहा है।

तृतीय अध्याय

ब्राह्मण विचारधारा का चिन्तन पक्ष

(क) संहिताओं में दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएं और स्वरूप

(क) उपनिषदों में दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएं और स्वरूप

ब्राह्मण विचारधारा का आचार पक्ष

(क) संहिताओं में आचार पक्ष की मीमांसा

(ख) ब्राह्मणों में विचार पक्ष

(ग) आरण्यकों तथा उपनिषदों में आचार पक्ष

(घ) सूत्र साहित्य और आचार पक्ष

(अ) संहिताओं में दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं की आधारशिलाएं :—

1. चिच्छक्तिमत्ता एवं अभय ज्योति
2. संशयवादिता
3. जिज्ञासाप्रवणता
4. सृष्टा सृष्टि के उपादान तथा निमित्त कारण के रूप में (सर्वव्यापक अर्थ में) प्रजापति, विश्वकर्मा, ब्रह्मणस्पति, संवत्सर आदि
5. यज्ञ पुरुष तथा ब्रह्माण्ड की एकता
6. याज्ञिक कृत्यों की सप्राणता का यांत्रिकता में परिवर्तन
7. बहुदेवतावादिता की एकदेवतावादिता की ओर उन्मुखता (उच्छिष्ट तथा स्कम्भ के अभिनय अभिधान)

(आ) संहिताओं में दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं का विकास

1. ब्रह्ममयता
2. कर्म के महत्व का श्रीगणेश
3. ब्राह्मण ग्रन्थों में शास्त्रार्थात्मक प्रवृत्ति
4. ब्रह्मपरिमर का वैशिष्ट्य

(इ) संहिताओं में दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं का स्वरूप

1. बहुदेवतावादी, एकदेवतावादी (इष्टदेवतावादी), एकेश्वरवादी, परमेश्वरवादी, विश्वात्मावादी, द्वैतवादी रूपों का विकास
2. निष्कर्ष-जीवात्मा अपने सत्कर्मों के द्वारा परमात्मतत्व में लीन हो सकता है।

ऋग्वेद में परमतत्व की शक्ति के विभिन्न अंगरूप प्रकृति की संचालक शक्तियों के लिए सादर, सप्रेम, सावनत सपर्या को ही ऋचाओं का वर्ण्य विषय चुना गया है। यजुर्वेद तथा सामवेद में प्रायः सभी देव ऋग्वेद के ही हैं किन्तु अथर्ववेद में जहां वनस्पतियों, औषधियों के प्रयोग, व्याधियों के निवारण के उपायों तथा आध्यात्मिक विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। उसमें विविध प्रकार की बिषम व्याधियों के निराकरण हेतु औषधियों और मंत्र-तंत्र का विधान है। पाश्चात्य विचारधारानुयायी महाशय औषधियों, शारीरिक तथा मानसिक कथाओं, व्याधियों के उपायों को भी देव श्रेणी में समादृत एवं पूजित देख विस्मय विमुग्ध होते देखे गए हैं। उसके कई कारण हैं। इन अन्तरों का आधार भारतीय विचारधारा के चिन्तन पक्ष की भिन्नता है। हमारे ऋषियों की चिन्तन शैली में आधारभूत भेद प्राय; निम्न प्रकार से रखे जा सकते हैं :—

चिच्छक्तिमत्ता एवं अभय ज्योति—वैदिक ऋषि प्रत्येक पदार्थ तथा विधान के जड़ और चेतन, और सूक्ष्म, बाह्य तथा आन्तरिक, शरीर तथा प्राण दो विभाग स्वीकार करते रहे हैं। उन आत्मद्रष्टा मनीषियों ने प्रत्येक पदार्थ में चेतन शक्ति को देखा क्योंकि बाह्य कलेवर तो आच्छादन, आवरण एवं शरीरमात्र है वस्तुतः कार्य और प्रभाव तो उसी चिच्छक्ति का ही होता है। यह स्थिति सामान्य से भिन्न विशेष या विषम जो भी अभिधान दो, किन्तु दृष्टिगत होती है। उत्तररामचरित में भगवान् राम सीता के वियोग में व्यथित हो वन के वृक्ष, पशु, पक्षी सभी से जनक-दुलारी के खोज के चिह्नों का आकलन करते हैं। आज इस विज्ञान के युग में जो कुछ भी मौलिक उपलब्धि 'आविष्कार' का रूप हमें मिलता है वह भी वैज्ञानिक की स्थूल जगत्, स्थूल शरीर को भूल कर उस चिच्छक्ति में लीन होने की स्थिति में उस परम शक्ति की प्रेरणा का ही परिणाम है।

क्योंकि वैदिक ऋषि भली प्रकार जानते थे कि शरीर की शक्ति से मन की शक्ति प्रबल है और मन से सहस्रों गुनी शक्ति आत्मा की है। इसीलिए उन्होंने मानवसमाज की मानसिक शक्ति विकसित करने और सांसारिक कार्यों में उसे लगाने का मार्ग भी दर्शाया। प्रबल मानसिक शक्ति वाले व्यक्ति ही अद्भुत कार्य करते हैं। वस्तुतः अपने चेतन का जितना अधिक विकास होगा, मनुष्य उतना ही जड़ वस्तुओं से भी चेतनवत् व्यवहार करेगा। वैदिक ऋषि[1] कहता है कि मैं नहीं जानता कि मैं क्या हूँ? में मूर्ख और अर्द्ध बिक्षिप्त के समान हूँ। जब मुझे ज्ञान का प्रथमांश प्राप्त होता है, तभी मैं किसी वाक्य को समझ पाता हूँ। विक्षिप्त की स्थिति सर्व विदित है वह प्रत्येक वस्तु से मानव जैसी बात करता है। अन्तर इतना ही है कि उसका मार्गान्तिरीकरण अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी है उसे ज्ञान नहीं मिला, उसका लक्ष्य स्वार्थ, छल छद्म रहा न कि निःस्वार्थ सतोगुण प्रधान बहुजनों का हित। वैज्ञानिक अपने एपरेटस से लेखक अपनी लेखनी से, कुम्हार अपने चाक से, शूर अपनी तलवार से, मिस्त्री औजारों से जब तक बातें नहीं करता, तब तक वह अपने कार्य से संसार को विस्मय विमुग्ध नहीं कर पाता। इसके विपरीत जिनके मन, मस्तिष्क और प्राण जडानुगत है वे तो मनुष्य को भी जड़ समझेंगे और जड़ की तरह ही मनुष्यों के साथ जघन्य व्यवहार करेंगे।

इसी आधार पर वेदमन्त्रों का चेतनानुगत होना, विश्व के कण कण में अणोरणीयान्, महतो महीयान्, आत्मवत्, सर्वभूतेषु की भावना को ही द्योतित करता हैं। उस अनुभूति के क्षणों में ही वैदिक ऋषियों ने अपने स्थूल रूप, ज्ञान, आकर्षण को भूल जो स्वान्तःस्थल में अनुभूति की, वही वैखरी वाणी में प्रस्फुरित हुई, वे ही ज्ञान के आलोक से आलोकित सूत्र इन ऋचाओं के प्राणभूत तत्व हैं।

---

1. न वि जानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे मागमस्याः ॥ ऋ० 1।164।37

वेद विद्या सृष्टि विद्या ही है । उन्होंने अणु से लेकर विराट् तक केमूल में किसी अनंत, अव्यक्त, अक्षर तत्व चिच्छक्ति की महिमा का सर्वप्रथम अनुभव किया । वह अव्यक्त पुरुष स्वयं सहस्रात्मा या अनन्त है उससे निर्मित यह विराट् विश्व भी अनन्त है । हर देश, काल क्षण इसमें परिवर्तन चक्र चल रहा हैं अत; वैज्ञानिक हो अथवा ऋषि दोनों की मान्यताओं का आधार चिच्छक्ति ही है । वैदिक ऋषि[2] भी यज्ञ से प्राप्त चिच्छक्ति के द्वारा अपनी अनुभूति को वैखरी वाणी में निबद्ध करते थे । यही वाणी सभी मनुष्यों को सिखाई गई ।

इस चिच्छक्ति की स्वीकृति ही जागतिक वस्तुओं के दो विभाग कर देती हैं । एक शक्ति तत्व प्राण तत्व, चिच्छक्तिमत्ता अथवा देवतत्व तथा दूसरा मूर्त, स्थूल या जड़ पदार्थ । इस देवतत्व (चिच्छक्ति) के बिना स्थूल या जड़ पदार्थ, शरीर की कोई सत्ता नहीं यथा मृत शरीर चिच्छक्ति के अभाव में निस्पन्द, निश्चेष्ट होता है । यथा बिजली का बल्ब सभी प्रकार से टेस्टेड ठीक, किन्तु यदि बिजली नहीं तो वह निष्प्रभ और व्यर्थ ही होता है । इस विषय के रहस्य को न समझने वाले पाश्चात्य या पौरस्त्य महाशय वेदमन्त्रों में विभिन्न शक्तियों की उपासना को हास्यास्पद कहकर ऋषियों में मन्दबुद्धिता का आक्षेप करते हैं किन्तु अपने बुद्धिमान्द्य को नहीं समझते कि वैदिक ऋषियों ने जिन प्राकृतिक शक्तियों की ऋचाओं में स्तुति की है वह उनके स्थूल जड़ रूप की नहीं प्रत्युत् उनकी शासिका अथवा अधिष्ठात्री चिच्छक्ति की ही, और यह शक्ति उस परमात्मा की है उससे भिन्न नहीं । वैदिक ऋषि[3] ने अग्नि के स्थूल शरीर के स्तवन से ऋग्वेद का समारम्भ नहीं किया । अपितु अग्नि में अग्नितत्व जिस चिच्छक्ति से अनुप्राणित है इसका स्तवन अग्नि के माध्यम से किया है जैसे कोई कहे कि बिजली को दिखाओ किन्तु वह भी पंखे, बल्ब, हीटर आदि वस्तुओं के माध्यम से ही दृष्टिगत होती है, नग्न रूप में उस तत्व को कौन देख सकता है । इसी प्रकार ऋषियों ने अग्नि में व्याप्त अमरता की उपासना की थी । तभी वे अग्नि को ज्ञान कर्म का प्रेरक, कर्ता, कवि, अमर, यशस्वी, कहकर सम्बोधित करते हैं । मरणशील मनुष्यों[4] में मैंने अमर अग्नि को देखा । यजुर्वेद के उपनिषद् भाग ईशोपनिषद् में वैदिक ऋषि सूर्य[5] को भी हिरण्यमय पात्र से ढका हुआ कहकर उसके सत्य धर्म, सत्यरूप, सूक्ष्म चिच्छक्ति के दर्शन कराने की प्रार्थना करता है । इन्द्र स्तवन के अनेक मन्त्रों को उद्धृत किया जा सकता है किन्तु इस

2. यज्ञेनवाचः पदवीयमायन्तामन्वविदन्नृषिषु प्रविष्टाम् । ऋ० 10।71।3
3. अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नधातमम् ।
अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः । देवो देवेभिरागमत् ।। ऋ० 1।1।1,5
4. अपश्यमस्य महतो महत्वममर्त्यस्य मर्त्यासुविक्षु । ऋ० 10।79।1
5. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं तत्त्वंपूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।
ईश० 15

मंत्र में इन्द्र का उस परमेश चिच्छक्ति के रूप में स्तवन किया गया है, जो सृष्टि-कर्ता के भी सृष्टिकर्ता हैं,[6] मैं उनकी स्तुति करता हूँ। इन[7] छः लोकों के स्थिरकर्ता एक ही हैं, मरण धर्म वालों को अन्न युक्त करता हुआ वह अमरजीव स्वधा भक्षण करता है तथा "को ददर्श', "विवेश", "य ई चकार", प्रथमच्छदवरां आविवेश, द्यावाभूमिजनयन्देव एकः, यत्र देवाः समपश्यन्तः विश्वे, प्रजापते नत्वदेतान्यन्यः, विश्वस्यमिषतो वशी तथा जिससे[8] सब भुवन जीवित रहते हैं। न दीखने वाला अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है[9]। इसका[10] न चलना दीखता है और न चलना ही ब्रह्म[11] से ब्रह्म उत्पन्न हुआ। तुम[12] उन समस्त प्राणियों के रचियता विश्वकर्मा को नहीं जानते, तुम्हारे हृदय ने उन्हें अभी नहीं पहचाना है। इन सब में उस चिच्छक्ति का ही स्तवन है। तथा उस रत्नोदधि के रहस्य के जानने के महत्व पर बल देते हुए कहा है कि जो उसे[13] नहीं जानता वह ऋचा मात्र को पढ़कर क्या करेगा। इन मंत्रों से यह प्रमाणित हो रहा है कि जिसका ध्यान मात्र स्थूल जागतिक रूप को निहारने तक ही सीमित रहा है और उसके प्राणभूत सूक्ष्म तत्व चिच्छक्ति को पहचानने का प्रयास नहीं किया गया है उसके लिए वेद का ज्ञान निष्फल है। इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि इस प्रकार के उपासक[14] अनेक ऋचाओं द्वारा स्तुति करते हुए यज्ञादि कर्मों में सहायक होते हैं। दूसरी प्रकार के उपासक गायत्री छन्द युक्तसोम का गान करते हैं। यज्ञस्थ ब्रह्मा विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं को करते हैं और अध्वर्युगण यज्ञ के अनेक कर्मों के करने वाले होते हैं। इस उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि एक वर्ग मात्र स्थूल जगत् जड़ का सेवी तथा अन्य वर्ग सूक्ष्म यथा 'गायत्री' के मंत्ररहस्य को जानने वाला वर्ग चिच्छक्ति मात्र का उपासक था। इन दोनों ही के आधार पर ब्राह्मण विचारधारा जोकि प्रमुखरूपेण स्थूल आकर्षकों के ध्यान तथा प्राप्ति तक ही सीमित थी तथा अन्य श्रमण विचारधारा जोकि

---

6. धाता धातॄणां भुवनस्य यस्पतिर्देवं त्रातारभिमातिषाहम्। ऋ० 10।128।7
7. वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यस्य रूपे किमपि स्विदेकम्। ऋ० 1।164।6
मर्त्योअमर्त्येनासयोनिः। ऋ० 1।164।30,38,4।21।32,10।81।1,3।,10।42।
1,10।121।10
8. यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा। अथर्व० 13।3।3
9. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधाविजायते। अथर्व० 10।8।13
10. अयातमस्य ददृशे नयातम्। अथर्व० 10।8।8
11. ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार। अथर्व० 4।1।3
12. न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव। ऋ० 10।82।7
13. यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति। ऋ० 1।164।39
14. ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः॥ 10।71।11

"चिच्छक्ति" सूक्ष्म तत्व की ओर विशेष आकृष्ट होने वाली थी इन दोनों रूपों में विकसित हुई। यहाँ यज्ञ के चार कार्यकर्ता होता; उद्गाता, ब्रह्मा, अध्वर्यु का भी संकेत है।

अभय ज्योति

इस मंत्र में मित्रावरुण से अभय ज्योति की प्राप्ति की प्रार्थना[15] की गई है। कतिपय विद्वान् इसी अभय ज्योति को 'आत्म' तत्व स्वीकार करते हैं। वैदिक ऋषि अन्यत्र स्तवन करता है कि हे वरुण! तुम देव तथा मनुष्य सभी के स्वामी हो हमको सौ वर्ष देखने के योग्य होने का बल दो, जिससे हम पूर्वजों की आयु को भोग सकें। अग्रिम मंत्र में आदित्याः सम्बोधन से वरुण तथा मित्र से प्रार्थना की गई है कि 'मुझे दाहिने और बाए का ज्ञान नहीं है, मैं पूर्व और पश्चिम दिशाओं को भी नहीं जानता। मेरा ज्ञान पक्व नहीं है। ज्ञान के बिना में हतोत्साह हो गया हूँ, यदि आपकी कृपा हो तो में उस 'अभय ज्योति' को प्राप्त कर सकता हूँ। इसके साथ ही अग्रिम मंत्र में वह अपने अपराधों की क्षमा की याचना करते हुए उस अभय ज्योति के लिए स्तवन करता है, उस आत्म ज्ञान के लिए ऋषि का सभी प्रकार से समर्पण है।

इस अभय[16] ज्योति से प्रार्थना की गई है कि हे अदिति! मित्र, वरुण और हम यदि तुम्हारे प्रति कोई अपराध करें तो भी उसे क्षमा करो। हे इन्द्र! हम विस्तृत तेज और अभय प्राप्त करें। हमको अंधेरी रातें नष्ट न करें।

उषा के स्तवन में ज्योति का वर्णन प्राप्त होता है। यथा यह ज्योतियों[17] में श्रेष्ठ ज्योति प्रकट हुई, स्तुतियों से प्राप्त कांतिमती उषा आई जिसने हमारे लिए कर्म क्षेत्र का द्वार खोल दिया, वह आरोग्य की प्रेरणा देती हुई सब भुवनों को प्रकाश से भर देती है। अग्रिम मंत्र में[18] सोम से प्रार्थना की गई है कि हे सोम। तुम इन्द्र के लिए क्षीण होते हुए, मुझे अखंड ज्योति वाले अविनाशी स्वर्ग[19] की प्राप्ति कराओ।

---

15. न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ॥ ऋ० 2।27।1
16. त्वं विश्वेषाँ वरुणासि राजा ये च देवाः असुरा ये च मर्ताः।
शतं नो रास्व शरदो विचक्षे श्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा ॥ ऋ०।2।27।10
17. अदिते मित्र वरुणोत मृड यद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः
उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः ॥ऋ०।2।27।14
18. इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात् ऋ० 1।113।1
भास्वती नेत्री सुनृतामचेति
उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा। ऋ० ।113।1,4,1
19. यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिल्लोके स्वर्हितम्। ऋ० 9।113।7

संशयवादिता

यह सुनिश्चितरूपेण ऋग्वेद के अध्ययन मे ऐन्द्री तथा वारुणी विचारधारा के ध्रुवीकरण के वर्णन मेरी पुस्तक[20] में पढ़ें जिसमें कि उस सुदूर पूर्व काल में समाज के दो वर्ग थे एक 'यज्वपरक, दूसरा अयज्वपरक, ब्रह्मवाह तथा ब्रह्मद्वेषी, ब्रह्मनिद देवयव तथा देवनिद तथा अवजानीह्यनृचा...'में इन्द्र से कहा है कि ऋचाओं के रहित यज्ञ कर्ता को भी जानते हो तथा जो कोई यज्ञ न करने वाला भी ऐश्वर्य-शाली है उसे भी जानते हो। **यः कश्चिदहविर्मंहीयते**[2] हे मनुष्य! यह अग्नि सहस्रों धन के देने वाले हैं। जो मनुष्य कर्म नहीं करते वे कर्मवान् के वश में रहते हैं। इसलिए यज्ञ रूप कर्म में अग्नि की परिचर्या करो। देवों के उपासक देव विहीनों को हरावें। याज्ञिक यज्ञद्वेषियों का धन प्राप्त करें इत्यादि वर्णनों के साथ अनिन्द्राः, नेन्द्रोऽस्तीति वचनों में इन्द्र की सत्ता में अनास्था प्रकट की गई है अतः यहां संशय की स्थिति बनी है। दूसरा वर्ग इन्द्र के कार्यो को ही सत्य घोषित करने वाला था। "यस्तन्नवेद किमृचाकरिष्यति" तथा इन विभिन्न सृष्टियों की रचना किसने की? और दिव्यधाम वासी भी सृष्टि के रचयिता के विषय में जानते हैं अथवा नहीं[21]। यह भी सम्भव है कि उन्हें भी ये सब बातें ज्ञात न हों। प्रलयकाल में असत् नहीं था और सत् भी नहीं था[22] पृथिवी और आकाश भी नहीं थे इत्यादि वर्णनों में संशय की स्थिति बनी हुई है इन्द्र[23] की देवत्वोपलब्धि में स्पष्ट तया स्वीकार किया गया है कि जो अपनी शक्ति सहित प्रकट होकर मनुष्यों में अग्रगण्य हुए और जिन्होंने देव गण को वीर कर्म से विभूषित किया। जिन्होंने कांपती हुई पृथ्वी को रोका। वृत्र वध करके सप्त नदियों को बहाया। जिन्होंने संसार को रचा और दुष्टों को निम्न गुफाओं में बसाया। उनके विषय में ही शंकाएं होने लगी कि इन्द्र तो कोई है नहीं दिखाओ हमें—तुम्हारा इन्द्र कहां है?" इसी प्रकार[24] का संदेह इन्द्र की सत्ता के विषय में

---

20. ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियों का दार्शनिक विवेचन प्रथम अध्याय
21. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
    यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥
22. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्। ऋ० 10।229।7
23. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
    यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥
    येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
    यंस्मा पृच्छन्ति कुह सेति धोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
    सो अर्यः पुष्टीर्विजइवा मिनाति श्रद्दस्मै धत्त स जनास इन्द्रः।ऋ०।2।12।1,4,5,
24. प्र सु स्तोमं भरत वाजयन्त इन्द्राय सत्यं यदि सत्यमस्ति।
    नेन्द्रो अस्तीति नेम उत्व आह कई ददर्श कमभि ष्टवाम॥ ऋ० 8।100।3

भृगु कुल में पैदा हुए नेम ऋषि कहते हैं कि इन्द्र किसी का नाम नहीं है, इन्द्र को किसी ने भी नहीं देखा, फिर हम किसका स्तवन करें।

इस संशय का समाधान[25] भी इन्द्र द्वारा अग्रिममन्त्र में कर दिया गया है कि हे स्तुति करने वाले नेम ऋषि ! में इन्द्र तुम्हारे समीप आ गया मैं अपनी महिमा से विश्व को अभिभूत करता हूँ। सत्य यज्ञ के देखने वाले मुझे बढ़ाते हैं। मैं सब लोकों को विदार्ण करने वाला हूँ। बहुदेवतावाद विषयक शंकाएँ ऋग्वैदिक कालीन ऋषियों को उद्वेलित करने लगी थीं यथा देवताओं को आहुतियां समर्पित करने से लाभ हैं या नहीं ? हम किस देवता की पूजा करें ? वहां (क) शब्द से प्रजापति अर्थ देकर परितोष किया गया है। यथा सर्वप्रथम हिरण्य गर्भ उत्पन्न हुए। वे उत्पन्न होते ही सब प्राणियों के स्वामी हुए। उन्होंने आकाश और पृथ्वी को अपने-अपने स्थान पर स्थिर किये रखा। उन प्रजापति का हम हव्य द्वारा पूजन करेंगे।

जिस महान्[26] जल ने समस्त भुवन को आच्छादित कर लिया था, उसी जल से अग्नि और आकाश की उत्पत्ति हुई। इसी से देवताओं का प्राण वायु भी उत्पन्न हुआ। जल के अपने बल से जब अग्नि को प्रकट किया तब जिन प्रजापति ने अपनी महिमा से उस जल को सब ओर से देखा और जो देवताओं में प्रमुख हैं उन प्रजापति के 'क' आदि अनेक नाम हैं।

हे प्रजापति[27] ! उत्पन्न पदार्थों को तुम्हारे सिवाय अन्य कोई अपने वश में नहीं कर सकता। हम जिस कामना से तुम्हारा यज्ञ कर रहे हैं, हमारी वह कामना सिद्ध हो और हम महान् ऐश्वर्य के स्वामी हों।

जिज्ञासाप्रवणता :—

मानवमात्र का स्वभाव है कि वह दृश्य से अदृश्य तथा ज्ञात से अज्ञात विषयों के रहस्योद्घाटन का जिज्ञासु है। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के वर्णनों को अत्यधिक महत्व दिया गया है। प्रमुख उपनिषदों की पृष्ठभूमि हमें ऋग्वेद में लभ्य होती है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों के मन को सृष्टि, सृष्टि के रहस्यों, सृजन विधि, सृष्टि कर्ता,

---

25. अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥ ऋ० 8।100।4
26. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋ० 10।121।1
27. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
यो देवेष्वधि देव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम।
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानिपरिता बभूव ॥ ऋ० 10।121।4,8,10

अहं, आत्मा, परमात्म तत्व, कर्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, पाप, पुण्य आदि विविध विषमता गर्भित तथ्यों के अन्वेषण ने व्यथित किया। इन शंकाओं के बाहुल्य से आकुल भारतीय ऋषि ने प्रश्नोत्तर के रूप में ऋचाओं के दर्शन किए। इस प्रकार की उत्सुकतापूर्ण सार्वभौम सार्वजनीन शंकाएं ही संहिताओं में दार्शनिक विचारधारा के जन्म का श्रेय लिए है। श्रौत ऋषियों ने परम्परागत देवताओं से असन्तुष्टि की प्रवृत्ति का भावात्मक पक्ष देवताओं तथा विश्व की एकता में निहित किया। ऋग्वेद के 164 वें सूक्त के द्रष्टा ऋषि दीर्घतमस् है उनके मन में अनेक प्रश्नों के समुचित समाधान के अभाव में वे अपनी अज्ञता के कारण जानना चाहते हैं कि—

प्रथमजन्म[28] वाले को किसने देखा ? उस अस्थिरहित ने अस्थियुक्त को धारण किया। पृथ्वी पर प्राण और रक्त उत्पन्न हुए। परन्तु आत्मा का जन्म कहां से हुआ ? इस विषय को जानने के लिए विद्वान् के पास कौन जायेगा ? मैं अज्ञानी हूँ। समझ में न आने के कारण मैं यह सब पूछता हूँ।

मैं अज्ञानी[29] होने के कारण पूछता हूँ कि जिसने इन छः लोकों को स्थिर किया है वे अजन्मा क्या एक हैं ?

यही[30] नहीं जो इधर आते हैं, वे उधर जाने वाले भी कहे जाते हैं, जो उधर जाते हैं उन्हें इधर आने वाला कहा जाता है।

इन उपर्युक्त ऋचाओं में ऋषि की इन विषयों के प्रति अज्ञानता है किन्तु उनके विषय में जानने की उत्कट अभिलाषा भी है। इन ऋचाओं के निष्कर्ष को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि ऋषि ने आत्मा तथा परमात्मा दोनों का विवेचन इनमें किया है। यथा (अस्थन्वन्तंयदनस्थाविभर्ति) उस अस्थिरहित ने अस्थि वाले को धारण किया। इसमें पार्थिव शरीर में जीव रूपेण आत्मा का प्रवेश पुनः (असुर-गात्मा) असुः (प्राण) असृक् (रक्त) तथा आत्मा कहां से आए। ये प्रश्न और इनके विषय में अपनी अज्ञानता तथा प्रथम जन्म वाले को किसने देखा, लोकों के स्थिर-कर्ता अजन्मा एक हैं। इधर आने और जाने वाले आवागमन के विचारों का प्रवाह गीता में (जातस्य हि ध्रुवं मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च) श्लोक में प्रतिध्वनित होता है ये कि ये ही उदात्त ऋचाओं की पूत भावनाएं हैं, जिन्हें जिज्ञासा प्रवणता की उद्गम भूमि कहा जा सकता है। आत्मा की अमरता तथा पुनर्जन्म की आस्था का यही प्रमाण है। अतः आत्मविषयक शंका ही नहीं अपितु उसका निश्चयीकरण तथा 'किंस्विदेकम्' में अजन्मा परमेश की सर्वव्यापक अनुस्यूतता का समावेश निम्न ऋचा

---

28. को ददर्श प्रथमं जायमान मस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति।
 भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत् ॥
 पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
29. अचिकित्वांचिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
30. ये अर्वाचस्तां उ पराच आहुर्ये परांचस्तां उ अर्वाच आहुः। ऋ० ।164।4.5,6,9

में सुतरां स्पष्ट है कि दो पक्षी[31] एक वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा कुछ नहीं खाता, केवल देखता है। जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी हैं। एक जागतिक प्रपंच तथा भोगों में लीन है और दूसरा केवल द्रष्टा मात्र है। इस पावन ऋचा में दार्शनिक विचार के मूलभूत, आधारभूत सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक जैसा भी रूप कहें, उसे दृढीभूत किया है। दर्शन का जितना भी विकास औपनिषदिक साहित्य में हुआ है वह इन्हीं कतिपय मंत्रों की सत्प्रेरणा का फल है। पृथ्वी पर[32] गायत्री छन्द, अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप् छन्द, आकाश में जगती छन्द के स्थापित कर्ता को जो जानता है वह देवत्व प्राप्त कर अमर हो जाता है।

ऋग्वेद में जगत् की उत्पत्ति के विषय में ऋचाएँ प्राप्त होती हैं, जिनका विशेष महत्व है। एक स्थल पर तपःपूत महर्षियों ने सूर्य[33] को ही जगदुत्पत्तिकर्ता तथा निखित विश्व का आत्मा कहा है। वस्तुतः इन जगदुत्पत्ति विषयक विवेचन के आधार पर तात्कालीन धार्मिक तथा पौराणिक विचारधाराएँ हैं जो कि उस समय प्रचलित थी यद्यपि इनके अर्थों, विचारों में कोई व्यवस्थित वर्णनक्रम सुलभ नहीं है तथापि भविष्य में उदित होने वाली दार्शनिक धाराओं के मूलस्रोत होने के कारण इनका महत्व है। वस्तुतः इनका वर्णन भी ईश्वर की सत्ता की दृष्टि से ही वर्णित है। यथा[34] पाँच पैर और बारह रूपों से युक्त जलों के स्वामी को अकाश के दूसरे अर्द्ध भाग में स्थिर करते हैं। अन्य उन्हें सात पहिए और 6 अरों से युक्तरथ पर सवार निर्दिष्ट करते हैं। प्राचीन ऋषियों के मत में समस्त देवताओ ने मिल कर जगत् की उपत्ति की किन्तु द्यावापृथ्वी को देवों का माता-पिता बतलाया है अतः दोनों में विरोध प्रतीत होता है तथा इन्द्र के माता-पिता रूप आकाश पृथ्वी स्वयं इन्द्र के शरीर से प्रादुर्भूत हुए। वस्तुतः जल से हिरण्य गर्भ अण्डाकार के दो भाग हुए एक पृथ्वी और दूसरा आकाश। इस प्रकार इस सृजन में भी इन्द्र की महिमा में उस ब्रह्म की शक्तिमत्ता की ही स्वीकृति है।

---

31. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
32. यद्गायत्रे अधि गायत्र माहितं त्रैष्टु भाद्वा त्रैष्टुभं निरतक्षत।
यद्वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥ऋ० 1।164।1,20,23
33. चित्रंदेवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावा पृथ्वी अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ऋ० 1।115।1
34. अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्। 1।161।11
क उ नु ते मपिमतः समस्यास्मत्पूर्वं ऋषयोन्तमोपुः।
यन्मातरं च पितरं च साकमजनयथास्तन्त्रः स्वायाः॥ ऋ० 1।164।12
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ऋ० 11।129।6

ऋग्वेद में नासदीय सूक्त में इस सृष्टि के विषय में विस्तार से वर्णन किया गया है। इसकी ऋचाओं की मूल रूप में ब्राह्मणों, उपनिषदों में बाहुल्येन आवृत्ति हुई है। ऋषि ने यह शंका की है कि प्रकृति के तत्व को कोई नहीं जानता तो उसका वर्णन कौन कर सकता है ? इस सृष्टि का उत्पत्ति का कारण क्या है ? ये विभिन्न सृष्टियाँ किस उपादान कारण से प्रकट हुई ? देवगण भी इस सृष्टि के पश्चात् ही उत्पन्न हुए हैं, वे भी इस विषय में कुछ नहीं जानते।

ब्लूमफील्ड[35] ने अपनी पुस्तक रिलीजन आफ दी वेद में पृष्ठ 237 पर इसको सर्गीय क्रिया के रूप में समझा है। यह बतलाते हुए कि इन लोगों ने सृष्टि के सृजन में भाग लिया था। पांचवें मंत्र के अर्थ की डायसन द्वारा व्याख्या में यह स्वीकृति की गई है कि ऋषियों ने तत्व एवं दृश्य जगत् के उत्पादक के तथा प्रकृति एवं उत्पन्न प्रकृति के भेद को पहचान लिया था। इस अर्थ की ए० बी कीथ ने अपनी धर्म व दर्शन पुस्तक में अस्वाभाविक खींचातानी की ओर संकेत किया है किन्तु दूसरे मंत्र में सृष्टि रचना से पूर्ण अन्धकार ने अन्धकार को आवृत कर रखा था। सब कुछ अज्ञात था। सब ओर जल ही जल था। वह सर्व व्याप्त ब्रह्म भी अविद्यमान पदार्थ से ढका हुआ था। वही एकतत्व तप के प्रभाव से विद्यमान था। इसी मंत्र में 'आनीदवातं स्वधयातदेक'[36] पद से उस परम निगूढ तत्व के नाम का आभास मिलता है। ऐसा उन ऋषियों के बारे में निश्चय-सा प्रतीत होता है। तपस् शब्द से यहाँ सामान्य ऋषियों द्वारा तपस्या मात्र का बोध न होकर सर्गीय चेतन शक्ति से युक्तता का प्रतीक समझा जाना चाहिए। आन्तरिक तप से कोशावेष्टित सत्व' का जन्म होता है। पश्चात् में इसे ही हिरण्यगर्भ कहा गया है। 'कामस्तदग्रे समवर्तत' में सृजन के अन्तस्तल में सर्वतः प्रथम रेतस् मन के प्रथम बीज के रूप में स्वीकृत है। काम अथवा अचेतन इच्छा अथवा मन का स्रोत माना जा सकता है। किन्तु इसी पर आधारित तैतिरीय ब्राह्मण[37] में मन को काम का पूर्ववर्ती बतलाया गया है। काम को अचेतन इच्छा के रूप में कहा गया है वस्तुतः यह उस अचेतन इच्छा के लिए कहा गया है जो आधार रूप में मन की सत्ता से उदित हुई है।

बाद के दर्शन[38] में इच्छाओं के ज्ञान को मन की सत्ता में उदित हुआ कहा गया है। जिज्ञासु ऋषि यह असत् था फिर भी असत् नहीं था इस विरुद्ध विचार में भी सत् और असत् के सम्बन्ध को निश्चय न करते हुए किसी विशेष प्रकार के तत्व को

---

35. भारतीय धर्म एवं दर्शन भाग-2 डा० सूर्यकान्त पृ० 544।
36. न मृत्युरासीदमृतं नतर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदे कं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ ऋ० 1।129।2
37. तैत्ति० ब्राह्मण 2।8।9।4
38. भारतीय धर्म एवं दर्शन भाग-1, डा० सूर्यकान्त पृ० 545।

बतलाना चाहता है कि जिसका स्वरूप ज्ञात तत्वों से नितान्त भिन्न है। ऋग्वेद में हृदय को ही मन का निवास-स्थान बतलाया गया है, इससे यह अनुमानित होता है कि अनुस्यूत तत्व भी मन से समवेत था क्योंकि अन्य प्रमुख दर्शन वेदान्त में भी उपाधि रहित चैतन्य को ब्रह्म तथा सांख्य ने पुरुष की प्रकृति कहा है।

ऋग्वेद में एकता के विकास के कारण के रूप में तपस्, कोश में स्थित शक्ति एवं जल का सर्वप्रथम उद्गम आदि की धारणाएं ब्राह्मण ग्रंथों में भी प्राप्त हैं। किन्तु विकास में ये पहले से गिर चुकी हैं। जिज्ञासु ऋषि बार-बार भौतिक उपलब्धियों के हेतु वैयक्तिक देवों इन्द्र, वरुण, अग्नि, सविता, मरुत् आदि की सत्ता में अधिक आस्थावान् दिखाई पड़ते हैं तथापि परिणामत: वे ब्रह्माण्ड की एकता सभी तत्वों में पाते हैं। (एकं सद् बहुधा वदन्ति) कहते हुए अखिल ब्रह्माण्ड के सृजन, पालन तथा संहार की शक्तित्रय से आवेष्टित प्रधान भूत तत्व में एकता का संकेत करते हैं। हिरणयगर्भ सूक्त में 'क' प्रजापति आदि नामों से एक ही की महिमा का गान किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋषियों की जिज्ञासा प्रवणता ने दार्शनिक विचारधारा को तीव्र गति से प्रवाहित किया।

स्रष्टा सृष्टि के उपादान तथा निमित्त कारण के रूप में

ऋग्वेद के दशम मण्डल में "कस्मैदेवाय हविषा विधेम" में क: से अभिप्राय प्रजापति से है जोकि सर्वस्रष्टा के रूप में वर्णित है। सृजन के कार्य में संलग्न वह प्रजापति ही वर्णित है जिसे आत्मदा,[39] बलदा, यस्यच्छायामृतम् तथा द्विपद चतुष्पद सभी का ईश कहते हुए उत्पन्न पदार्थों को उनके सिवाय अन्य कोई वशीभूत नहीं कर सकता, कहा गया है। हम जिस कामना से तुम्हारा यज्ञ कर रहे हैं, हमारी वह कामना सिद्ध हो और हम महान् ऐश्वर्यों के स्वामी हों। वस्तुत: इस सृष्टि की उत्पति तप से ही हुई है इसका समर्थन अन्य सूक्त में भी प्राप्त होता है। तपस्[40] ही प्रथम है इस से सृष्टि की व्यवस्था ऋत तथा सत्य, रात्रि, एवं विशाल अर्णवों का जन्म हुआ है। अहोरात्र, सूर्य, चन्द्र, अन्तरिक्ष सभी की रचना हुई है। तेजोमय तप के द्वारा यज्ञ और सत्य की उत्पत्ति की चर्चा भी यहां की गई है। 'क' शब्द से प्रजापति के अर्थ को दर्शाते हुए उन्हें सभी पदार्थों के उत्पन्न कर्ता के रूप में बतलाया गया है कि हे प्रजापति[41] उत्पन्न पदार्थों को तुम्हारे सिवाय कोई वश में नहीं कर सकता है। विश्वकर्मा की उपाधि से युक्त उस आदि शक्ति के विषय में जिज्ञासु ऋषि (जगत्

---

39. ऋग्वेद 10।121।1-5 . ऋतं च सत्यंच तपसोऽध्यजायत।
40. प्रजापते न त्वेदतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। ऋ० 10।121।10
41. किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कयासीत्।
    यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षा:॥

की उत्पत्ति के समय) प्रश्न करता है कि ईश्वर का स्थान कहाँ था, उसे निर्माण की सामग्री कहां से मिली, किस प्रकार रचना का समारम्भ हुआ। उस विश्व कर्मा ने किस समय पृथ्वी बनाई और कब आकाश? क्या सर्वद्रष्टा[42] ईश्वर की चारों ओर आँखें हैं, चारों ओर मुख है, चारों ओर भुजाएं हैं, चारों ओर पैर हैं। वही एक ईश्वर, द्यौः और पृथ्वी का निर्माण अपने बल से करता है।

उपकरण[43] के सम्बन्ध में जिज्ञासा की चरम सीमा हमें इस स्थल पर प्राप्त होती है कि जहाँ ऋषि ने यह पूछा है कि वह कौन-सा बन था और कौन-सी वह लकड़ी, जिससे ईश्वर ने द्यावा पृथिवी का निर्माण कर डाला। आप मनीषी हैं विचार कर हमारी जिज्ञासा को शान्त करें कि उस ईश्वर ने किस आधार का अबलम्बन लेकर इन भुवनों की सर्जना की।

हे विश्वकर्मा[44]। आकाश पृथिवी में यज्ञ करके तुम अपने देह का पोषण करते हो। हमारे यज्ञ का विरोध करने वाले शत्रु चैतन्य न रहें और न हमारे यज्ञ में विश्वकर्मा हमको कर्मफल के रूप में स्वर्गादि लोक प्राप्त करावें। अपने यज्ञ की रक्षा के लिए आज हम विश्वकर्मा को आहूत करते हैं। वे हमारे सब यज्ञों में उपस्थित हों। वे श्रेष्ठ कर्म वाले हमारी रक्षा में सावधान रहते हैं। संसार के[45] उत्पत्तिकर्ता विश्वकर्मा हमारे उत्पन्न करने वाले तथा पालन करने वाले हैं। वे जगत् के सभी स्थानों के जानने वाले तथा देवों के नामकरण कर्ता भी वे ही हैं। वे राक्षसों[46], देवों सभी को पार करके अवस्थित हैं, जिनमें इन्द्रादि सभी देव परस्पर एकत्र होते दिखाई पड़ते हैं। अज की जिस नाभि में ब्रह्माण्ड अवस्थित है उस नाभि रूप ब्रह्माण्ड में विश्व के सभी प्राणी निवास करते हैं।

वस्तुतः जगदुत्पत्ति[47] के विषय में सर्वप्रथम जगत् की रचना, तदतन्तर देवों की और अन्त में सूर्य की। विकासवाद का यहाँ स्वरूप स्पष्ट है। ऋग्वेद के दसवें मंडल के 72वें सूत्र में सर्वप्रथम जगत्, पुनः देवगण पृथिवी पर अत्यन्त उत्साह प्रदर्शन में

---

42. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वताबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमीं जनन्यदेव एकः॥ 10।81।2,3
43. किंस्विद्वन क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः। ऋ० 10।81।4
44. विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः स्वयं यजस्व पृथ्वीमुतद्याम्। ऋ० 10।81।6
45. योनः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। ऋ०10।82।3
46. परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति, तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे॥
ऋ० 10।82।5,6
47. यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत। ऋ० 10।72।6

नर्तन द्वारा कष्टप्रद धूली कणों से समस्त विश्व को मेघ के समान आच्छादित करके विद्यमान थे और जिन्होंने आकाश में छिपे हुए सूर्य को प्रकाशित किया।

ब्रह्मणस्पति (कामनाओं का पूर्तिकर्ता) :—

बृहस्पति के रूप में मेघावी जन यज्ञ से भाषा के मार्ग को भी पाते हैं। उस वाणी में बृहस्पति की ही शक्ति कार्य विधात्री होती है। यथा—बृहस्पति[48] प्रथम पदार्थ का नामकरण करते हैं यह उनकी शिक्षा की प्रथम सीढ़ी है। इसके गोपनीय ज्ञान को सरस्वती की कृपा से प्राप्त किया जा सकता है। कोई-कोई[49] व्यक्ति विद्वानों के समाज में इतने प्रतिष्ठित हो जाते हैं कि उनके बिना कोई कार्य नहीं हो पाता। परन्तु कोई-कोई व्यक्ति निरर्थक वाणी को प्रयुक्त करते हैं। सत्य[50] के मार्ग से अनभिज्ञ होने वाले का ज्ञान व्यर्थ हो जाता है। वेदार्थ की गम्भीरता तथा इस सृष्टि के निर्माता आदि के गम्भीर रहस्यात्मक वर्णन वेद की ऋचाओं की अर्थज्ञता की दृष्टि से तीन कोटियां निश्चित की हैं एक[51] तो इस प्रकार के व्यक्ति होते हैं जो आंख कान नाक से सम्पन्न मित्र के मन के भावों को प्रकाशित करने में विशिष्टता से युक्त होते हैं। अन्य मुख तक गहरे जल वाले और कोई कमर तक जल वाले जलाशय के समान तथा कोई हृदय तक जल के समान गम्भीर होते हैं। जब[52] अनेक मेधावी जन वेदार्थों के गुण दोषों के विवेचन करने के लिए एकत्र होते हैं तब कोई-कोई स्तोत्र वाला पुरुष वेदार्थज्ञ होकर सर्वत्र घूमता है अन्य व्यक्ति सर्व ज्ञान से शून्य होता है। इस[53] लोक में जो पुरुष वेदज्ञ ब्राह्मणों के यज्ञ आदि कर्मों को नही करते तथा जो सोम याग की भी इच्छा नहीं करते वे पाप के चंगुल में फंस कर मूर्खों के समान रहकर कृषक का ही कार्य करते हैं।

उपर्युक्त सूक्त के अध्ययन से यह स्पष्टतया आभासित होता है कि प्रार्थना के देवता के रूप ब्रह्मणस्पति[54] का व्यक्तित्व मनुष्यों की कामनाओं की पूर्ति हेतु तथा

---

48. बृहस्पतेप्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रेरत नामधेयं दधानाः।
    यदेषां श्रेष्ठ यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषाँ निहितं गुहाविः॥
49. उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
    उतो त्वस्मे तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
50. यस्तित्याज सचिविदं सखायं—नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥
51. अक्षण्वन्तः कर्णवन्त सखायो मनोजवेष्वसमा बभवुः।
52. हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणा संयजन्ते सखायः।
53. इमे ये नार्वाङ्न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
    त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः॥ ऋ० 10।71।1, 5,6,8,9।
54. देवनां नुवयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।
    उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्चादुत्तरे युगे॥ ऋ० 10।72।1

मानवों के द्वारा शस्यमान होने की शक्ति के साथ सम्बद्ध है अदिति ने देवों को जन्म दिया इसका अदिति से जन्म लेना तथा अदिति का उस से जन्म लेना—ऐसे रहस्यात्मक वर्णनों में एकरूपता अथवा परिणामतः एक ही तत्व का प्राधान्य ऋषियों की अनुभूति में समाया हुआ प्रतीत होता है । वागाम्भृणी[55] सूक्त में वाग्देवी रुद्रगण तथा वसुगणों के साथ भ्रमण करती हुई मित्रावरुण की धारयित्री राज्यों की अधिष्ठात्री तथा प्रदात्री है । जो यज्ञकर्ता को धन से युक्त करती है तथा अन्त में वह स्वयं कहती है कि जिसे में चाहती हूं वही मेरी कृपा से बलवान्, मेघावी, स्तोता और कवि हो सकता है । वस्तुतः मित्रावरुण के धारण करने में, तथा त्वष्टा, पूषा, भग की धारयित्री शक्ति होने के कारण सृजन, इनकी कृपा से बलवान् मेघावी निर्माण में पालन तथा स्तुति से विमुख पुरुषों के संहारक प्रेरक शक्ति के रूप में शक्तित्रय का पूर्ण रूप हमें इस सूक्त में प्राप्त होता है ।

ऋग्वेद के श्रद्धा सूक्त[56] में श्रद्धा का विशिष्ट महत्व दर्शाया गया है । प्रातः मध्याह्न, सायं आराधकों के लिए श्रद्धा को ही फल प्रदात्री कहा गया है । इस सूक्त के अध्ययन से यह आभासित होता है कि एक वर्ग ऐसा भी था जो इस प्रचलित परम्परा के सम्मुख तर्क के साथ आता था । यदा कदा अश्रद्धेय होने पर उसको लक्षित करके ही कहा गया है । सृष्टा की इच्छा को वाणी के माध्यम से व्यक्त करते हुए यज्ञ सम्बन्धी तथा जीवन सम्बन्धी सभी कार्य कलापों में श्रद्धा को महत्व दिया गया है । पहले विश्वकर्मा सूक्त में ब्रह्माण्ड के सर्जन को यज्ञ के समानान्तर दर्शाने की अभिलाषा बलवती होती है और इसी प्रकार का विचार पुरुष सूक्त में स्पष्ट हो जाता है 'पुरुष एवेदं सर्वम्' में पुरुष जगदुत्पत्ति विधायक उदापान कारण के रूप में यहाँ व्यक्त किया गया है ।

संवत्सर—प्रजापति को ही संवत्सर[57] के रूप में सर्वस्रष्टा बताया है, जबकि वह सर्जन की क्रिया में लीन है । शतपथ[58] ब्राह्मण में दशम काण्ड में अग्नि रहस्य को खोला गया है । यहां इसका दार्शनिक रूप विकसित होता है । प्रजापति संवत्सर है, क्योंकि वह तत्वतः स्रष्टा-रूप में काल है और संवत्सर एकदम काल का प्रतीक है और वह अवधि है, जिसमें प्रकृति के कार्य का एक चक्र पूरा होकर पुनः प्रारम्भ होता है । संवत्सर जन्म का भी प्रतीक है । वैदिचयन[59] सम्बन्धी संवत्सर का, तथा यज्ञकर्ता द्वारा अग्नि कुण्ड में अग्नि को वहन करने का वर्णन भी प्राप्त होता है ।

---

55. यं कामये तं मुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् । ऋ० 10।125।5
56. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः । 10।15।1
57. अव नो वृजिनाशिशीह्यृचा वने मानृचः ऋ० 10।105।8
58. शत० ब्रा० 10।3।3 तथा 6,4
    वैदिक धर्म एवं दर्शन द्वितीय भाग, पृ० 582
59. —वही—पृ० 438

यज्ञ पुरुष तथा ब्रह्माण्ड की एकता

ऋग्वेद के मंत्रों में यह स्पष्ट है कि याज्ञिक परम्परा में जो यज्ञ विरोधी थे, वे मंत्रों के प्रयोग के भी विरोधी थे। किसी भी दृष्टि से वे यज्ञ सामग्री के द्वारा अग्नि में हवन को किसी रूप में मानते हों किन्तु ब्राह्मणों के मंत्रों के अधिकारी प्रयोक्ता के रूप में अन्य क्षत्रिय आदि वर्णों में भेदभाव भी रहा हो अथवा एक वर्ण का प्रभुत्व दूसरे न मानते हों तो भी वे मंत्रों वैदिक ऋचाओं के प्रयोग से अनभिज्ञ थे अथवा पारंगत न थे अत: ऋचाओं के बिना ही यज्ञ करते होंगे ऐसा ही आभास निम्नांकित ऋचा से अनुमानित होता है।

हे इन्द्र[60]। हमारे सब पापों को नष्ट करो। वेद विमुख पुरुषों को ऋचाओं द्वारा नष्ट करने में हम समर्थ हों। जिस यज्ञ में स्तोत्र नहीं पढ़े जाते उस यज्ञ के कर्ता के लिए तुम स्तुतियों वाले यज्ञ के समान प्रसन्न नहीं होते हो।

ऋग्वेद सर्वत: प्रसिद्ध सूक्त का पुरुष सूक्त है जिसे कतिपय आलोचक पश्चात् कालीन कहकर उसकी मान्यताओं में शंका करते हैं किन्तु कितने भी आपेक्ष हों उसकी महत्ता अपने में पूर्ण है। सूक्त के समारम्भ में पुरुष को ही ब्रह्माण्ड माना है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसके एक अंग चरण से उत्पन्न है और उसके तीन चरण द्युलोक[61] में अमर है, उसके सहस्र शिर, आँखें तथा पैर हैं और वह विश्व से दश अंगुल ऊपर उठा हुआ है। वह सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता अपितु विश्व का सृजन कर उसी में प्रविष्ट भूत भी है। भाष्यकार सायण ने दश अंगुल बाहर होने का अर्थ भी मुट्ठी के अन्तर्गत सम्पूर्ण विश्व तथा स्वयं मुट्ठी के बाहर है अथवा नाभि से हृदय की दूरी भी दश अंगुल की है अत: परम ब्रह्म का आवास स्थान हृदय भी दश अंगुल की दूरी पर बाहर किया है। आदि पुरुष से विराट् की उत्पत्ति हुई और ब्रह्माण्ड रूप देह के आश्रय से प्राण रूप पुरुष प्रकट हुए। वे देह-धारी पुरुष आदि देवता हुए। यज्ञ के महत्व का आविर्भाव स्वयं पुरुष सूक्त में वर्णित है जहां पुरुष रूप हृद्य हव्य के द्वारा देवताओं ने मानसिक यज्ञ किया तब यज्ञ में ग्रीष्मऋतु[62] काष्ठ, बसन्त ऋतु घी, शरद् ऋतु हव्य के रूप में ग्रहण की गई। सब से प्रथम जो उत्पन्न हुए हैं मानस यज्ञ में उन्हीं को हवि दी गई फिर उन्हीं की प्रेरणा से देवताओं ने और ऋषियों ने यज्ञानुष्ठान किया। जिस

60 —ऋ० 10।105।8

61. ऋ० 10।190।1-16

62. यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥

यज्ञ[63] में सर्वात्मा रूप पुरुष को हवि दी जाती है उसी में से वायु, वन्य पशु ग्राम्य सृष्टि की उत्पत्ति हुई और उसी से ऋक्, यजु, साम् की उत्पत्ति हुई।

यहां सृष्टि ने एक यज्ञ का रूप धारण किया था जिसमें देवता उपस्थित थे। यह यज्ञ सर्वहुत यज्ञ था। जलती हुई बलि के रस से पृषन् आज्य का उदय हुआ, और इससे वायव्य, बन्य, ग्राम्य पशु जन्मे। विराट् पुरुष का मुख ब्राह्मण, भुजा क्षत्रिय, जंघाएं वैश्य, और चरण शूद्र हुए। उसीसे देवताओं और विश्व के अन्य भागों की उत्पत्ति हुई। इस विवरण से यहाँ सर्वेश्वरवादी दृष्टिकोण तथा ब्रह्म की सर्वमयता का ही पोषण प्राप्त होता है। 'पुरुष एवेदं सर्वं, ततो विष्वङ्व्यक्रामत्' इत्यादि से पुरुष सूक्त में देवता सहायक उपकरण हैं किन्तु उपादान कारण जगदुत्पत्ति विधायक शक्ति सम्पन्न वह केवल ईश्वर ही है। पूर्व में भी पुरुष ही था और भविष्य में भी पुरुष ही होगा 'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्' से पुष्ट हो जाता है। यह ऋग्वैदिक कालीन अंतिम रचना है क्योंकि इसमें तीन वेदों की ही स्वीकृति है। यह ब्रह्मदेववादी परम्परा का प्राचीनतम अंश है। जोकि वेदत्रयी से परिचित है वे अभी तक अभिचारण-मारण तथा अन्य परम्पराओं से शून्य रहे हैं किन्तु अर्थर्ववेद, जो पश्चात् काल की रचना है उसमें इस प्रकार के विषयों का वर्णन प्राप्त होता है। हिरण्यगर्भ सूक्त[64] में प्रजापति को 'हिरण्यगर्भ' नाम दिया गया है और अथर्ववेद तथा परवर्ती साहित्य में 'हिरण्यगर्भ' स्वयं एक सर्वोच्च देवता बन जाते हैं।

याज्ञिक कृत्यों की सप्राणता का यांत्रिकता में परिवर्तन :—

यजुर्वेद के अध्ययन में हमें ऋग्वैदिक विचारधारा से कतिपय परिवर्तन स्पष्टतया प्राप्त होते हैं। प्रत्यक्षतः तात्विक अन्तर तो कोई विशेष नहीं है। यजुर्वेद में भी

---

63. The ritualistic aspect of the vedic sacrifice (yajna), which attained so much complexity in the Brahmanas, originated from the simple belief that the supreme Being, Parama Purusa, had sacrificed Himself in creating the universe, as is described in the Purusasukta. This clearly indicates that the ancient Vedic rsis looked upon the entire cosmic process as the performance of a great sacrifice, and believed that man's spiritual nature can best be quickened if he tries to mould himself in consonance with that cosmic order.

दी कल्चरल हैरिटेज आफ इंडिया प्रथम भाग पृष्ठ 197-98।

64. उपनिषदों की भूमिका– डा० राधाकृष्णन्, पृष्ठ 38।

इन्द्र वरुण, सूर्य, अग्नि आदि देव समूह पूर्ववत् है। प्रजापति जो कि ऋग्वेद में सामान्यतया वर्णित था यहाँ मुख्य देव के रूप में हो गए। अग्नि के प्रतीक रुद्र भी शिव के स्वरूप में आविर्भूत हो पश्चात् में महादेव शंकर अभिधान से पूजित है। विष्णु का भी महत्व वृद्धिगत हुआ। यज्ञ नारायण के नये स्वरूप विष्णु यज्ञ स्वरूप में स्वीकृत हुए।

यज्ञ का स्वरूप प्रायः परिवर्तित हो गया। नियमों से पूर्णतया नियंत्रित होने से अनुष्ठान विधि पर ब्राह्मणों का एकाधिकार होने से अन्य वर्ग को कठिनाई हुई। छोटी-छोटी प्रक्रियाओं की त्रुटियों का भी निराकरण कठिन हो गया। इस प्रकार ऋग्वेद में जो सच्ची भक्ति अथवा उपासना थी उसमें सप्राणता न रह कर केवल यांत्रिकता हो गई। उस भक्ति में देवों की शक्ति की पूजा, उनके अनुग्रह का माहात्म्य और स्वापराध की स्वीकृति आदि की भावनाओं का बिलोपीकरण हो गया। प्रार्थना में अनुष्ठान की सहचारिता यजुर्वेद के मंत्रों में एक से पदों की अनेकधा आवृत्ति प्रणव गर्भित प्रोच्चारण आदि से कठिनाई आ गई और यज्ञ विपुल वैभव तथा धनी वर्ग की वस्तु सी बन गई। यजुर्वेद के यज्ञ ही विचार तथा अनुष्ठान का केन्द्र और उसमें प्रयोगों की सूक्ष्मता का सर्वातिशयेन महत्व माना जाने लगा था। यज्ञ के प्रभाव का आतिशय्य इतना हुआ कि उसके द्वारा केवल देवता ही वशीभूत तथा प्रभावित न होते थे अपितु पुरोहितों के संकल्पमात्र से भौतिक कामनाओं की तृप्ति होती थी। यज्ञ से सन्तान, शत्रु विनाश, अन्न वृद्धि आदि करने की प्रवृत्ति की बाढ़ सी आ गई थी। देवताओं की पूजा की प्रमुखता और यज्ञानुष्ठान के महत्व में वैप-रीत्य हो गया था जो ऋग्वेद में गौण था वह यजुर्वेद काल में प्रधान बन गया था। नाग पूजा भी सम्मिलित हो चुकी थी—देवासुर संग्राम का वर्णन पर्याप्त है। ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द 'भक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था किन्तु यहाँ अर्थ विस्तार के कारण पावनता तथा वन्दना के मूल तत्व के रूप में विकसित होते-होते उपनिषत्काल में पूर्ण ब्रह्म के सच्चे अर्थ को प्राप्त हो गया।

विधिवत्[65] अनुष्ठानों के प्रयोगों में अलौकिक शक्ति से ब्राह्मणों का वर्चस्व बढ़ा जिसके अन्तस्तल में अन्य वर्गीय यथा क्षत्रियों में उनके विरोध में क्रान्ति के बीज शनैः शनैः विकसित होकर उपनिषत्काल में जहां क्षत्रिय ब्राह्मण को उपदेश देने में संकुचित होते थे वहाँ स्पष्ट रूपेण निम्न वर्ग के लोग भी ब्रह्मविद्योपदेशक के रूप में ब्राह्मण के उपदेशक बने इस विचारधारा के बीज ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठान में नदीष्ण होने के कारण उनका एकाधिपत्य ही कहा जा सकता है। औषधियों का प्रयोग जो अथर्व में बाहुल्य रूपेण हुआ उसके भी संकेत प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जाति प्रथा की दृढ़ीभूतता ने समाज में ब्राह्मणों की उन्नति और अन्य वर्ग की साधारणता का बीजारोपण किया। किन्तु इस प्रकार के अनुष्ठानों के प्रयोग से समाज में पूजा में

65. वैदिक धर्म एवं दर्शन भाग–2, पृष्ठ 568।

आडम्बर, बाह्य आचार का बोलबाला होने लगा और यज्ञ एक यांत्रिक क्रिया के रूप में माना जाने लगा।

निष्कर्ष:—

1. विचारधारा में यजुर्वेद में देव समूह पूर्ववत् होते हुए भी कतिपय देवों के स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ यथा प्रजापति, शिव, विष्णु, तथा नागपूजा का समारम्भ।
2. यज्ञ साध्य के रूप में विधि विधान से जटिल, पदों की भीषण आवृत्ति।
3. यज्ञानुष्ठान से भौतिक सुखोपलब्धि सरल किंतु पोरोहित्याधीन देव।
4. जातिप्रथा जटिल, ब्राह्मणों के बर्चस्य की वृद्धि।
5. अभीष्ट वस्तुओं की उपलब्धि की अद्भुत शक्ति, ब्राह्मण विचारधारा में तप एवं योग साधनों के प्रयोग, जिसे बौद्ध धर्म में शुद्धि के प्रमुख साधनों में परिकल्पित किया गया है, का उदय हुआ।

बहुदेवतावादिता की एकदेवतावादिता की ओर उन्मुखता (उच्छिष्ट तथा स्कम्भ के अभिनव अभिधान)

इस विषय पर विस्तारपूर्वक विवेचन इसी अध्याय के (इ) खंड में किया जाएगा किन्तु संक्षेप में यहाँ भी वर्णन किया जाता है। वस्तुत: ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वेदत्रयी का ही निर्देश है तथा प्राचीन साहित्य में भी तीन वेदों का ही उल्लेख प्राप्त होता है ' शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्यायों तथा तैतिरीय ब्राह्मण एवं छान्दोग्योपनिषद् के रचना काल में चतुर्थ वेद अथर्व वेद को स्वीकार कर लिया गया है किन्तु अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्व वेद में बहुदेवतावादी प्रवृत्ति में पर्याप्त परिवर्तन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में अग्नि, इन्द्र, वरुण, पूषा तथा अदिति आदि देवों में सर्वोच्च शक्ति का वर्णन करते हुए प्रत्येक को पूर्ण देव के रूप में स्वीकार किया है। इन्द्र को सर्व शक्ति सम्पन्न और सभी सुखों के प्रदाता के रूप में, वरुण को भी इसी रूप में स्वीकार करते हुए बहुदेवतावादिता की प्रवृत्ति को हम प्राप्त करते हैं। प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्तियों के रूप में बहुदेववादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ। ब्रह्माण्डीय कास्मिक परिवर्तनों से भी स्तवन की प्रेरणा मिली और सूक्तों के सृजन में शनैः शनैः यह धारणा तीव्रतया दृढ़ होती गई कि बिद्युत् या अग्नि में से कोई उपास्य नहीं है अपितु इनके अन्तर्भूत एक अदृश्यशक्ति है जो यह कार्य करती है वही देव है इसी प्रकार आर्यो की बहुदेववादी प्रवृत्ति एकदेववादी प्रवृत्ति की ओर उन्मुख होने लगी। पहले जो 33 देवों की कल्पना थी वे सभी एक शक्ति के अन्तर्भूत होते दिखाई पड़ने लगे। यद्यपि बाद में इन 33 की संख्या भी 3339 हो गई किन्तु

परिणामतः सभी में (एकं सद् विप्रा बहुधा वदंत्ति)' की भावना 'तदेकम्' में विलीन होती दिखाई पड़ी जिसका विवरण आगे प्राप्त होगा।

शनैः शनैः अथर्व वेद के आगमन से विचारों में परिवर्तन आया यहां मंत्र बल से शत्रु उच्चाटन, तथा व्याधि शमन ब्राह्मणों के प्रमुख कार्य हो गये। इस युग में अथर्व वेदी ही राजा का पुरोहित हो सकता था क्योंकि वह अभिचारण, मारण, उच्चाटन आदि प्रयोगों में दक्ष समझा जाता था। वह समग्र कर्मकाण्ड का ज्ञाता तथा उसे देवों के स्वरूप तथा पूरे याग का रहस्य ज्ञात होना चाहिए। इसीलिए वह ब्रह्मा कहा जाता था अतः ब्रह्म विद्या प्रधान वेद अथर्व वेद है इसे अध्यात्म विद्या का वेद भी कहा गया है।

अथर्व वेद में ऋग्वेद के समान आम्युदयिक मंत्र भी हैं जिनमें दीर्घायु तथा स्वास्थ्य के लाभ का चिन्तन भी है। यदि उसकी आयु क्षीण[66] हो चुकी हो, अथवा वह महाप्रयाण भी कर चुका हो और यम के निकट पहुँच भी गया हो, तब भी मैं उसे प्रलय के मुख से निकाल लूंगा और उसे सौ वर्ष तक सुरक्षित रखूंगा। राज्यश्री के इच्छुक संग्राम में बिजयाभिलाषी भी मंत्र पाठ से साफल्य लाभ करते थे। जागतिक उत्पत्ति विषयक सूक्त भी अथर्व वेद में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं। पृथिवी सूक्त में अभिनव बल तथा मनोरम कल्पनाओं का सम्मिश्रण है। जिस भूमि[67] पर हम बड़े अहंकार के साथ अट्टहास करते हुए गाते और नृत्य करते हैं और शौर्य के साथ संग्राम करते हैं, जहां दुन्दुभी बजती रहती हैं वही पृथ्वी हमारे शत्रुओं के दल का विनाश करे। मैं शत्रु के तिरस्कार वाला श्रेष्ठ रूप में पृथ्वी पर प्रसिद्ध हूँ। वरुण[68] से प्रार्थना करते हुए उसके विभिन्न पाशों का वर्णन किया गया है तथा उनके द्वारा शत्रुओं के विनाश की प्रार्थना में उन्हें जलोदर रोग से नष्ट करने का स्तवन किया गया है।

अथर्व वेद के 11वें काण्ड में **उच्छिष्ट**[69] अर्थात् यज्ञशेष भाग को भी परमात्मा का रूप दिया गया है। यह भाग ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुरूप है, अन्तर इतना ही है कि यहां मन्त्रों में वर्णित है और वहां गद्य में। एक स्थल पर हवन के पश्चात् बचा हुआ प्राशन के लिए रखा ओदन उच्छिष्ट कहा गया है, उस उच्छिष्ट में पृथ्वी आदि लोक समाए हैं और उसी में स्वर्ग पति इन्द्र, पृथिवी के स्वामी अग्नि और समस्त जगत् समाया हुआ है।

66. यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि नि ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥ अथर्व० 3।1।11
67. यस्यां गायन्ति भूम्यां मर्त्या—यस्यां वदंति दुन्दुभिः। अथर्व० 12।1।41
68. शतेन पाशैरभिधेहि वरुणैनं तेमा मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः। अथर्व० 4।16।7
69. उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ अथर्व०। 11।7।1

प्रश्नों के रूप में जिज्ञासुओं ने जब पूछा कि इन्द्र[70] किस कारण से उत्पन्न हुआ, सोम, अग्नि, त्वष्टा और धाता किस किस कारण से उत्पन्न हुए? इसके उत्तर में उच्छिष्ट से ही नाम रूप,[71] इन्द्र, अग्नि और सम्पूर्ण लोकों का सृजन हुआ तथा सभी देव उच्छिष्ट से ही उत्पन्न हुए। इस प्रकार संसार के रचियता ने जब नेत्र कान आदि छिद्रों को बनाया तब त्वष्टा के द्वारा पुरुष देह में देवों ने प्रवेश किया। इस प्रकार इन्द्रियों और उसके अधिष्ठाता देवताओं ने पुरुष देह में प्रवेश किया। अथर्व वेद के उच्छिष्ट रूप में उस परम ब्रह्म के वर्णन के उपरान्त कुछ निर्देश स्कम्भ सूक्त का करना भी परमावश्यक है। यहाँ भी ऋग्वैदिक ऋषि की भांति स्कम्भ के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएं प्रस्तुत की गई हैं।

स्कम्भ—स्कम्भ के विषय में प्रश्न करने पर उसी प्रकार उत्तर मिलता है जैसा इन्द्र के विषय में[72]। अथर्ववेद में स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। इसके[73] किस अंग में तप, किस अंग में ऋत, किस अंग में श्रद्धा, किस अंग में सत्य और किस अंग में व्रत रहता है। उस सर्वाधार स्कम्भ के विषय में अब तक प्रभुत्व प्राप्त प्रजापति से भी महत्ता प्रदर्शित की गई है। जो[74] पुरुष में ब्रह्म को जानने वाले हैं, वे परमेष्ठी प्रजापति और अग्रज ब्राह्मण को जानते हैं, वही स्कम्भ के भी ज्ञाता हैं। जो[75] भूत भव्य और सब लोकों के आधार स्तम्भ को जानता है वह ब्रह्म को जानता है।

जिसमें[76] प्रजाएं स्थित है उस विस्तृत सूत्र और कारण को जो जानता है वही उस महद् ब्रह्म का ज्ञाता हो सकता है। ये प्रजाएं[77] जिसमें स्थित हैं, इस विस्तृत सूत्र का मैं ज्ञाता हूँ। उसके कारण को भी जानता हूँ। वही महद् ब्रह्म

---

70. कुत इन्द्रः कुतः सोम कुतो अग्नि रजायत। कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाता-जायत ॥ अथर्व० 11।8।8
71. उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चोग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥ अथर्व० 11।7।1
72. अथर्ववेद। 11।7।39
73. कस्मिन्नंगे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नंगे ऋतमस्याध्याहितम् ।अथर्व०10।7।1
74. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। अथर्व० 10।7।17
75. भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिता स्कम्भंतं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः अथर्व० 10।7।22
76. यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥
77. वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥

है । नौ द्वारयुक्त[78] पुण्डरीक त्रिगुणात्मक है । उसमें स्थित आत्मा के स्थान को ब्रह्म ज्ञानी जानते हैं। कामना से[79] रहित, धैर्यवान्, स्वयंभू, ब्रह्म अपने ही रस से स्वयं तृप्त रहते हैं, वह किसी भी विषय में असमर्थ नहीं हैं, उस सतत युवा आत्मा के ज्ञाता को मृत्यु से भय नहीं लगता । इस प्रकार इस स्कम्भ सूत्र से विशद रूपेण ब्रह्म को स्वयंभू तथा सर्वत्र व्यापक कर्तुमकर्तु मन्यथा कर्तुं समर्थ वर्णन करके आथर्वण दर्शन में ब्रह्म के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है ।

निष्कर्ष—इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि वैदिक ऋषियों ने जगत् की सभी वस्तुओं में अन्तर्दृष्टि द्वारा एकत्व की प्रतिष्ठा का प्रथम उद्बोधन किया मानव तथा उसके अन्तश्चेतन में मोद, अहंकार आदि सभी तत्व परमात्ममय है इससे बहिर्गत कोई वस्तु नहीं और यह ईश का ही रूप है सारा विश्व उसी में अन्तर्भूत है और सारे विश्व में वह व्याप्त है—सृष्टि का आरम्भ और सभी दृष्टियों का परिणाम ईश्वर है ।

स्कम्भ[80] तथा उच्छिष्ट सूक्तों के विषय में जर्मन दार्शनिक डायसन के विचार इस प्रकार हैं—उन्होंने इन दो स्थलों पर गम्भीर अर्थ के दर्शन किए हैं। वे स्कम्भ सूक्त में तो प्रजापति से ऊपर एक मूलतत्व को खोजने का प्रयास करते हैं, जो सम्पूर्ण विश्व को धारण करता है, और उच्छिष्ट सूक्त में उस एक तत्व की प्रशस्ति पाते हैं, जो शेष रह जाता है । बलि का अर्थ वह नहीं, जैसा कि प्राय: माना जाता है, वह जो इन्द्रिय ग्राह्य की समष्टि से पृथक् कर लिया है जिसकी संगति पुरुष सूक्त के अपितु पावन यज्ञ सम्बन्धी तथ्य के साथ बिठाई जा सकती है जहाँ पुरुष के चतुर्थांश से विश्व की रचना और शेष तीन से विश्व से परे वह पुरुष वर्णित किया गया है । स्कम्भ सूक्त ब्रह्म की एकरूपता में मुण्डकोपनिषद् की प्रेरणा का स्रोत माना ही है ।

(आ)
संहिताओं में दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं में विकास

1. ब्रह्ममयता :—

ऋग्वेद में सभी वेदों में, प्राणियों में जगदात्मा तथा पर ब्रह्म की सत्ता की स्वीकृति की गई है । अदिति को सभी रूप में स्वीकृत कर लिया गया है किन्तु

---

78. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् ब्रह्मविदो बिदुः ।।

79. अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् विमाय्र मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्।। अथर्व० 10।8।37,38,43,44

80. डायसन का विवरण, वैदिक धर्म एवं दर्शन, द्वितीय भाग, डा० सूर्यकान्त पृष्ठ554।

उस परम सत्य को सीमित करना असम्भव है क्योंकि वही एक रूप सब से पूर्व में था और सब के बाद भी रहेगा। देवों की उत्पत्ति तथा सृष्टि का सृजन उस के बाद में हुआ इसलिए देव भी उसके विषय में कुछ नहीं जानते हैं। इसका विशद रूप से वर्णन नासदीय सूक्त में है। विश्वेदेवा के रूप में तथा हिरण्यगर्भ प्रजापति के वर्णनों में तदेक का उद्घोष घोषित किया जा चुका है। इसके यहाँ विस्तार से लिखने की अपेक्षा नहीं है। ऋग्वेद में जिस ब्रह्म के ज्ञान को मानव द्वारा असम्भव समझा गया था अथवा इस विषय में कोई गम्भीर तथा स्पष्ट संकेत नहीं मिलता वहाँ अथर्व वेद में स्कम्भ तथा उच्छिष्ट शब्दों द्वारा ब्रह्म की मानव द्वारा ज्ञातता की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। यह मानव द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ऐसी धारणा दृढ़ हो जाती है यद्यपि इन दोनों विचारों का समन्वय औपनिषदिक विचारधारा में हो जाता है। मनुष्य को ही ब्रह्म रूप की घोषणा 'तस्माद् वै विद्वान् पुरुषादिदं ब्रह्मेति-मन्यते' यह अथर्व वेद[81] के मनुष्य को स्वयं जानने की प्रेरणा में प्राप्त होता है कि स्वयं को जानो तथा जो मनुष्य को जानता है वह ब्रह्म को जानता है यह विचार एक स्वतंत्र विचारधारा के रूप में विकसित होता है। ज्ञानी[82] पुरुष शरीर को भीतर और बाहर से ब्रह्म के द्वारा व्याप्त ही मानता है। उसकी धारणा है कि गऊओं के गोष्ठ में (गोशाला में सुख से) रहने के समान सब देवता इस शरीर में रहते हैं। किन्हीं मंत्रों में शुष्क[83] संसार को गीला करने वाले प्रवृद्धजलों में ब्रह्माण्ड सम्बन्धी देह की स्थिति मानी है, उसके अन्दर तथा ऊपर परमेश्वर ब्रह्म ही रहता है। वह देह से अधिक होने के कारण सूत्रात्मा कहा जाता है। प्रथम[84] उत्पन्न देह के अवसान पर यह व्यक्त देह आत्मा तीन प्रकार से नियमों में बंध जाता है। इस स्कम्भ तथा उच्छिष्ट सूक्तों में भी उस परब्रह्म की व्याप्तता का अच्छा विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं जैसे कि जल इन्द्राभिमानी देवता, विराट् संज्ञक देवता, ब्रह्म तेज वाले देवता शरीर में प्रविष्ट हुए और पुनः संसार के कारण भूत ब्रह्म भी अलक्षित रूप से प्रविष्ट हुए। इस प्रकार ब्रह्ममयता का विचार सर्वत्र प्राप्त होता है।

---

81. तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते।

82. —वही—

83. अप्सु स्तौमासुवृद्धासु शरीरमन्तरा हितम्।
तस्मिंछवोध्यन्तरा तस्माच्छवोध्युच्यते॥

84. प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ्विगच्छति।
अदएकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन निषेवते॥ अ० 11।8।32,34,33।

ब्राह्मण युग में यज्ञों की अनिवार्यता थी और उनमें सामान्य सी भी त्रुटि असह्य थी। अतः यज्ञ तथा उत्सवों का आयोजन श्रद्धा पर आधारित न होकर एक यंत्र संचालित क्रिया की भांति किया जाने लगा था। इनके द्वारा भौतिक उपलब्धियों की प्राप्ति की कामना की भी किसी अंश तक पूर्ति होती थी किन्तु तनिक सी भी विधान की त्रुटि अत्यधिक हानि कर सकती थी। अतः यज्ञ मानव समाज का प्रमुख दैनिक कर्तव्य हो गया था और यही पावन कर्म के अभिधान से क्रिया तथा कर्म के सिद्धान्त का प्रारूप कहा जा सकता है जिसका सभी भारतीय विचारधाराओं में अत्यधिक महत्व रहा है। ब्राह्मणों में इन यज्ञों के महत्व में कर्म सिद्धान्त का प्रचार रहा। जिस कर्म के आधार पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त की भी नींव पड़ी तथा ब्रह्म की सर्वोपरिशक्तिमत्ता के रूप में स्वीकृति हो गई। यज्ञों के औचित्य तथा विधि के अनुसरण में शतपथ ब्राह्मण में यहाँ तक वर्णन है कि मृत्यूपरान्त प्राणी की आत्मा दो अग्नियों से गमन करती है। सत्कर्म पूतात्मा तो शुद्ध रूपेण चला जाता है किन्तु दुष्ट आत्मा उसी में जल जाता है और अपने कर्मानुसार उसे अच्छा या बुरा फल मिलता है। वस्तुतः पूर्व काल में यज्ञों में त्रुटि ही अच्छे बुरे कर्म की द्योतिका थी किन्तु पश्चात् में वह नैतिकता के रूप में सदसत्कर्म की द्योतिका बन गई। कर्म के विषय में विस्तृत विवेचन कर्म तथा पुनर्जन्म वाले अध्याय में किया जाएगा किन्तु यहां इतना संकेत करना आवश्यक है कि समाज में यज्ञ ही सत्कर्म और यज्ञ का न करना ही असत्कर्म के अभिधान से कहे जाते रहे हैं। ऋग्वेद में ऋत के नियामक वरुण से प्रार्थना करने में अनेक स्थलों पर पापों से बचने और सत्कार्य में प्रवृत्त करने की इच्छा व्यक्त की गई है। यहां ऋत शब्द से नैतिक गुणों का ग्रहण किया गया है वैसे ऋत संसार के व्यवस्थापक तत्व के रूप में माना जाता रहा है किन्तु बाद में ऋत और सत्य एक रूप हो गये और ऋषियों ने ऋत और अनृत दोनों का भेद स्पष्ट कर दिया और सदैव ऋत के पालन कर्ता को सभी सांसारिक सुखों तथा अमृतों की श्रेणी में रखा गया और अनृत का पालन करने वाले को नरक गामी बतलाया गया है। इस प्रकार ये भावनाएं समाज में दृढ़ीभूत हो गईं कि सत्य का आचरण ही मानव के लिए आवश्यक है और असत्य के आचरण करने वाले को वरुण अपने पाशों से आबद्ध कर लेता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में जहाँ दार्शनिक विवेचन किया गया है वहां हमें वरुण-सूक्त[85] में नैतिक व्यवस्था (ऋत) एवं पाप के लिए दण्ड की अभिव्यक्ति मिलती है, वहाँ बाद की धारणा ब्राह्मणों में पूरी तरह उभरी हुई नहीं मिलती। ब्राह्मण ग्रंथ नैतिकता का उपदेश आनुभविक आधारों तक पर भी नहीं करते। देवताख्यान, जिनका कि उनमें वर्णन भरा पड़ा है तथा जिनका आविष्कार करते वे अघाते नहीं हैं, कर्म के नैतिक पक्ष के प्रति उदासीन हैं। देवता

---

85. वैदिक धर्म एवं दर्शन पृष्ठ 587

अपने लाभ के लिये मनमाना पाप कर डालते हैं : वे असुरों के विरुद्ध राक्षसों की सहायता प्राप्त करते हैं और उनके सम्मिलित प्रयत्नों से विजय पा जाने राक्षसों को बराबर-बराबर का भाग देने के अपने वचन से हट जाते हैं। यहां सत्य का स्वरूप सारतः नैतिक नहीं है। यह कृत्यों एवं यज्ञीय कर्म-काण्ड के मंत्रों के ठीक-ठीक उच्चारण तक ही सीमित है। जिस प्रकार मनुष्यों की आस्था देवताओं के अच्छेपन में न होकर विधिपूर्वक विहित यज्ञ की शक्ति में है, उसी प्रकार सत्य में वास्तविक नैतिक तत्व न रह कर बौद्धिक दृष्टिकोण से यह यज्ञ तक ही सीमित है, जो कि ब्राह्मणों के लिये सबसे बड़ा सत्य भी सदा देवताओं की वस्तु नहीं रही अपितु मनुष्यों ने इसे जीवन में एक आवश्यक अंग के रूप में ग्रहण कर लिया।

ऋग्वेद में वरुण देव की विशेषता यह है सदा कर्म-काण्ड में होने वाली त्रुटियों के लिए दण्ड देने को तैयार रहता है। वहां पर[86] पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले को वरुण के हाथों दण्ड दिया जाता है। और यह उल्लंघन भी एक कर्म-काण्डीय कर्म समझा गया। मिथ्या दोषारोपण से भी मनुष्य देवताओं से दूर हट जाता है और मिथ्या दोषारोपण करने वाले को ही पाप लगता है। असत्य को वाणी के छिद्र के रूप में दिखाया गया है।

यह निश्चय है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का संकलन अथवा सर्जन भी ऋषि समूह अथवा एक विशेष वर्ग के द्वारा किया गया है। इन कृतियों में याज्ञिक कर्मकाण्ड की स्वेच्छापूर्वक व्याख्याएं हैं जिन्हें आधुनिक वैज्ञानिक पण्डित आत्मसात् नहीं कर पाता है। ब्राह्मण दर्शन[87] की सामान्य विशेषताओं का वर्णन करते हुए डा० ए० वी० कीथ ने वैदिक धर्म एवं दर्शन पुस्तक में डायसन के इस मत का भी वर्णन किया है कि ब्राह्मण दर्शन की सामान्य विशेषता में भी शास्त्रार्थात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वस्तुतः वैदिक ऋषि भी जिज्ञासु थे अतः शंकालु होने पर प्रश्नोत्तर अनिवार्य था। उसी परम्परा के माध्यम से यहाँ भी गुह्यतम गुत्थियों के सुलझाने की चर्चा की गई है। कर्म काण्ड का उद्देश्य केवल अग्नि के महत्व की स्थापना है और अभीष्ट उद्देश्य के लिए भी ज्ञान साधन के रूप में अग्नि की पुनरावृत्ति स्वाभाविक ही है। ब्राह्मण ग्रन्थ तत्वतः यज्ञ सिद्धान्त से सम्बद्ध है। यह प्रमाणित हो जाता है कि यज्ञ ने पुरोहितों के मस्तिष्क पर पूर्ण अधिकार जमा लिया था कि उन्होंने अन्य सब विषयों को गौण समझकर ब्रह्माण्ड तथा देवों एवं मनुष्यों के साथ यज्ञ का सम्बन्ध हीचरम लक्ष्य समझा था। ब्राह्मणों के युग में जीवन में सब कुछ यज्ञ ही स्वीकार्य था यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म था।

---

86. वैदिक धर्म एवं दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ 595
87. ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन, डा० नाथू लाल पाठक, भूमिका पृष्ठ ञ

शास्त्रार्थात्मक प्रवृत्ति में तैत्तिरीय आरण्यक में प्रयुक्त विद्या की उत्पत्ति का वर्णन ज्ञान विकास क्रम में कठोपनिषद् में आए वर्णन के समान ही है। डायसन ने इस विषय में आपत्ति की कि नचिकेता ने जो आत्मविद्या विषयक प्रश्न पूछे उसके विचार में मृत्यु के बन्धन से मुक्ति पाना ही लक्ष्य रहा होगा किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार की अभिलाषा में मुक्ति की भावना नहीं प्राप्त होती। ब्राह्मण ग्रन्थ मंत्रार्थ के परिज्ञान के लिए ही नहीं रचे गए। इनमें प्रदर्शित विनियोगों से मुख्यत: वेदार्थ शैली का ज्ञान प्राप्त होता है पर्यायों की रचना यज्ञ-प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए हुई है। इन यज्ञों के विधि विधान में अनेक प्रकार के बन्धन और ब्राह्मणों का प्रभुत्व आ जाने से शास्त्रार्थ के लिए विशेष अवसर बन गए। जिनका विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है।

4. ब्रह्म परिमर का वैशिष्ट्य:—

ब्रह्मपरिमर का वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण के अंतिम अध्याय में किया गया है। इसमें आधि दैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साम्य के आधार पर ही यज्ञों की कल्पना की गई है। ब्रह्मपरिमर का वैशिष्ट्य यही है कि कर्म के साथ ज्ञान का समन्वय किया गया है। इस ब्राह्मण में भी देवासुर संग्राम तथा देवों द्वारा शरीरों को वरुण के पास रखने, देवों द्वारा ज्योतिर्भूत अग्नि की स्तुति तथा स्वर्ग प्राप्ति का वर्णन है। देवों का यज्ञ द्वारा स्वर्गगमन, न्यग्रोध की उत्पत्ति, प्रजापति, लोक निर्माण, ब्रह्म और क्षत्र की उत्पत्ति के साथ-साथ ब्रह्मपरिमर की विस्तृत व्याख्या प्राप्त होती है। ब्रह्म-परिमर[88] में स्थूल का सूक्ष्म में पर्यवसान तथा सूक्ष्म से स्थूल की क्रमश: सृष्टि बतलाई गई है। यह दृश्यमान स्थूल जगत् ब्रह्म में विलीन होकर पुन: उसी से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सृष्टि का विवरण ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सौ नब्बें सूक्त में मिलता है। वहां ब्रह्म द्वारा तप करके ऋत और सत्य की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इन उल्लेखों की ओर संकेत करने का तात्पर्य यही दिखाई देता है कि जब मनुष्य को इतना बोध हो जाता है तब उसका किसी व्यक्ति के प्रति द्वेष भाव नहीं रहता तथा वह मनुष्य पावन आत्मा और पाप रहित हो जाता है और हृदय में पाप की कलुषता के न रहने से उसका कोई भी शत्रु नहीं रहता। ब्रह्मपरिमर के लिए आवश्यक व्रत के उल्लेख से भी वही भाव प्रकट होता है कि मनुष्य अपने शत्रु के साथ भी सद्व्यवहार करे जिससे वह झुक जाए।

ब्रह्मपरिमर के वर्णन में मनुष्य के लिए शुद्ध व पवित्र होने के विधान में व्रतों का महत्व यहां तक बढ़ गया है कि नम्रता के कारण यदि वह अश्ममूर्धा अर्थात्

88. ऐतरेय ब्राह्मण का अध्ययन—डा० नाथूलाल पाठक, पृष्ठ 190

पाषाण हृदय भी हो तो भी वह द्रवीभूत हुये बिना नहीं रह सकता। उसके साथ शिष्टाचार निभाते हुये तितिक्षा से काम लेना चाहिए। इस प्रकार सद्गुणों के अनुशीलन से मनुष्य की पावनता वाली विचारधारा का ही यहां निर्वाह किया गया है यही ब्रह्मपरिसर का महत्व है।

(इ) संहिताओं में दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं का स्वरूप

1. बहुदेवतावादी, एकदेवतावादी (इष्टदेवतावादी), एकेश्वरवादी, परमेश्वरवादी, विश्वात्मावादी, द्वैतवादी रूपों का विकास:—

प्रथम अध्याय में हमने ब्राह्मण विचारधारा की भेद में अभेदात्मक प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराया है। बहुदेवतावादी[89] प्रवृत्ति शनैः-शनैः अतिशय गुणों के कारण एकदेवत्ववाद में विलीन होती प्रतीत होती है। जिसमें विश्वात्मवाद की मनोरम झांकी लम्य है। प्रकृति की अधिष्ठात्री शक्तियों के रूप में बहुदेवतावादी प्रवृत्ति का जन्म हुआ यथा मानव के प्राचीनतम काल में वह गिरिगुहावास से ग्रामों, नगरों और संरक्षण युक्त निवासों के साथ-साथ गोधन, वाजिधन, स्त्रीधन तथा संग्रहात्मक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप उसे कतिपय नियमों की आवश्यकता हुई। कतिपय वस्तुएँ मानव को हृद्य और अन्य कतिपय भयावह। अतः भयावह स्थितियों तथा शत्रुओं के विनाश हेतु उन्हें दूर रखने की भावना से विद्युत्सम्पात, मृत्यु आदि के कारण वह अन्तर्मुखी हुआ। ब्रह्माण्डीय (कास्मिक) परिवर्तनों से भी स्तवन की प्रेरणा मिली और सूक्तों के सृजन में शनैः-शनैः यह धारण तीव्रतया दृढ़ होती गई कि विद्युत् या अग्नि, मेघ में से कोई उपास्य नहीं है अपितु इनके अन्तर्भूत एक अदृश्य शक्ति है जो यह कार्य करती है वही देव है। प्रारम्भ में तो प्राकृतिक वस्तुएँ जिन पर नयन[90] निक्षेप करते थे देव कहे जाने लगे। इससे बहुदेववादी प्रवृत्ति का आभास हमें मिलता है।

---

89. Though Hindnism has no one creed, yet there are at least two doctrines held by nearly all who call themselves Hindus. One may be described as polytheistic pantheism Most Hindus are apparently polytheists, that is to say they venerate the images of several deities or spirits, yet most are monotheists in the sense that they address their worship to one god. But this monotheism has almost always a pantheistic tinge. This ultimate ineffable God head is called Brahman.

हिन्दूइज्म एन्ड बुद्धइज्म, प्रथम भाग, सर चार्ल्स इलियट, पृष्ठ 18

90. रिलीजन आफ दी वेद, मौरिस ब्लूम फ़ील्ड, पृ० 175

ऋग्वेद के उल्लासपूर्ण सूक्तों में प्रकृति के अद्भुत रूपों को देवत्व प्रदान किया गया है । जीवन के कौतुक के प्रति सरल तथा निश्छल मानसिक प्रतिक्रियाओं को यहाँ अंकित किया गया है । इन देवों में अग्नि, सूर्य, पृथ्वी, मरुत्, वायु, अप्, उषा आदि देवताओं की उपासना है और साथ ही इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषा, अश्विनी कुमारों, रुद्र और पर्जन्य तथा श्रद्धा, मन्यु जैसे अमूर्त गुण वाले देवों की भी सत्ता मानी गई है । इस प्रकार देवों की संख्या तैंतीस[91] हो गई जिनमें आकाश में ग्यारह, पृथ्वी पर ग्यारह, और अन्तरिक्ष में भी ग्यारह बतलाए गए तथा बाद में ये ही तैंतीस[92] सौ उन्तालीस हो गए । बाद में बृ० उ० (3।9।1) में तीन हजार तीन सौ छः संख्या देवों की हो गई । असुर[93] उत्तरकालीन वैदिक ग्रन्थों में देवताओं के शत्रु हो गए, पर ऋग्वेद में उनका अर्थ पुराने भाव में ही हुआ है वहाँ आश्चर्य जनक शक्तितत्व सम्पन्न देव का ही बोध माना है । अवेस्ता में अहुर शब्द जो असुर का ही तत्स्थानीय रूप है, यही अर्थ है । वरुण को यह विशेषण दिया गया जो मेरी पुस्तक ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियों का दार्शनिक विवेचन, में विवेचित हो चुका है । इन देवों के भी आकार का वर्णन न होकर उनके गुण तथा शौर्य कृत्यों तथा प्रभाव का ही वर्णन बहुलता से लभ्य है । यथा[94] अग्नि के स्तवन से ऋग्वेद का समारम्भ हुआ है जो कि यज्ञ के पुरोहित ऋत्विक् और होता है तथा रत्न धारण करने वालों में श्रेष्ठ है । पुरोहित होता और ऋत्विक् वे यज्ञ पुरुष है जो यजमान के यज्ञ में सहायक होते हैं । रत्न धारण का अर्थ उत्तम फल प्रदाता है इसके अतिरिक्त अग्नि को गृहपति[95] देवों का निमित्त तथा उपादान कारण जनिता, नृतयः,[96] अपाँगर्भः आदि विशेषण प्रयुक्त किए हैं जो मात्र नाम निर्देश न होकर उनमें अन्तर्निहित शक्ति के लिए प्रयुक्त किए गए हैं । वायु[97] देवता के

---

91. ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्या मध्येकादशस्थ ।
अप्सुक्षित्तो महिनैकादश स्थ ते देवासोयज्ञमिमं जुषध्वम् ।। ऋ० 1।139।11
92. त्रीणिशता त्री सहस्त्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवानव चासपर्यन् ।
औक्षन्घृतैस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त ।। ऋ० 3।9।9
93. उपनिषदों की भूमिका, डा० राधाकृष्णन्, पृ० 28 ।
94. ऋ० 1।1।1,5
95. ऋ० 2।1।2
96. उदुस्त्रिया जनिता जजानापां गर्भो नृतमो यह्वो अग्निः । ऋ० 3।1।12
97. वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः ।
अपाँ सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव ।
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम । ऋ० 10।168।1,3,4

भी रूपका वर्णन प्राप्त नहीं होते हैं। उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है। इनके रूप के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते। उपासक गण यज्ञ में श्रेष्ठ हवि रत्न से इन वायु देवता का पूजन करते हैं। सूर्य[98] को हिरण्यहस्त, यजमान का प्रेरक तथा जलों के आकर्षण करने वाले अपां नपात सविता कहा है। आगे अश्वों का वर्णन है। शनैः-शनैः मित्र, वरुण, अग्नि ये महान् ज्योतिर्मय सूर्य के तीन नेत्र हो गए। प्राकृतिक घटनाओं के सभी अधिष्ठाता देवता अभिन्न समझे जाने लगे। सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु ये विभिन्न नाम सूर्य देव के अभिन्न रूप से एक माने जाने लगे।

इष्टदेवतावादः—

इस प्रकार विभिन्न देवताओं में से किसी एक देव की पूजा के समय उसे सर्वोच्च सर्वातिशायी समझा जाता है और अन्य सभी देवताओं को उसका रूप समझा जाता है। परमात्मा के सभी गुणों का सन्निवेश उसी इष्ट देवता में किया जाता है क्योंकि ब्राह्मणिक विचारधारा में आज भी इस प्रकार के अनेक देवी देवताओं की पूजा बहुविध रूपेण लभ्य है और उनमें प्रत्येक को परमेश्वर के गुणों से मण्डित ही वर्णित किया गया है। इसे एकेश्वरवाद से भिन्न परमेश्वरवाद ही कहा जायेगा। यही विचारधारा परिवर्तित तथा विकसित होते-होते एकदेवतावाद के रूप में वृद्धिगत हो गई। इस प्रकार सामान्य गुणों के कारण नाम मात्र ही भेदक तत्व रह गया अतः ऋग्वेद में भी इन्द्रावरुण, मित्रावरुण, इन्द्रवायु, इन्द्राग्नि, इन्द्र बृहस्पति, अग्निसोम, सोमरुद्र, द्यावापृथ्वी। इससे देवों की संख्या चाहे दो या अधिक हो किन्तु गुणगान समान ही है। सभी देवों में समान गुणों की भावना अथवा एक देव के ही गुण सभी में व्याप्त हैं। यह व्याप्तता ही इसका आधार रही होगी। शनैः-शनैः इन बहु देवों में इन्द्र, वरुण का प्राधान्य हुआ और पश्चात् में इन्द्र का ही प्रभुत्व रह गया। इसके गुणों[99] का अधिकता से वर्णन किया गया है तथा इनके अतिरिक्त[100] अन्य देव के स्तवन करने वालों को दण्डनीय कहा गया है। इसी कारण उसे अग्नि[101] मित्र, वरुण, अभिधानों से उल्लेख किया जाने लगा विश्वेदेवाः[102] शब्द में अदिति की व्याप्तता तथा ये अन्तरिक्ष द्यौ आदि सभी में वही पिता, पुत्र है। इस प्रकार एकेश्वरवाद से

---

98. हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये। स चेत्ता देवता पदम्।
अपां नपातमवसे सवितारमुप स्तुहि। तस्य व्रतान्युश्मसि॥ ऋ० 1।22।5,6
99. विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। ऋ० 10।86।1-23
100. मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत। ऋ० ।8।1।1
101. इंद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० 1।164।46
102. आदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ ऋ० 1।89।10

भिन्न परमेश्वरवाद ही प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरणों[103] में हम पूर्णतया दार्शनिक विचारधारा में परमेश्वरवाद की भावनाओं को सर्वत्र व्याप्त पाते हैं।

मनोवैज्ञानिक एकेश्वरवाद, जिनमें उपासक का सम्पूर्ण जीवन एक ईश्वर से व्याप्त रहता है, आध्यात्मिक एकेश्वरवाद से वस्तुतः भिन्न है। समन्वयकारी प्रक्रियाएँ, देवों का वर्गीकरण, दिव्यगुणों एवं शक्तियों से आभरित विचारों का सरलीकरण आध्यात्मिक ऐक्य के पूर्व रूप ही हैं जो इस विश्वास के आधायक तत्व है कि इस सम्पूर्ण विश्व में एक ही तत्व व्याप्त है तथा सभी[104] देवों का एक सा ही बल है। विश्वकर्मा शब्द से विश्व के सृष्टा के रूप में महती महिमावान् एकाकी देवों के नामधा[105] आकाश, पृथ्वी, राक्षस, देव सभी को पार करके जहाँ सभी देवता एकत्र हुए दृष्टिगत होते हैं, अजकी नाभि में ब्रह्माण्ड अवस्थित है वहां विश्व के सभी प्राणी निवास करते हैं। देवताओं[106] का वास्तविक सार एक है सभी देवता उस विश्वात्मा के अंगभूत हैं। इसे विश्वकर्मा तथा प्रजापति आदि शब्दों में उस परम सत्ता की रचना और नियंत्रण के गुण एक में ही निहित होते प्रतीत होते हैं। इस परिज्ञान का आभास उन तपःपूत ऋषियों को स्पष्टतया ज्ञात था यह प्रमाणित हो जाता है। हिरण्यगर्भ[107] सूक्त में प्रजापति के रूप में सबके प्रति एक ही ईश है जो पृथ्वी के धारक हैं उन्होंने प्राणी को शरीर और बल दिया है उसकी आज्ञा का सभी देव अनुसरण करते हैं। जिनकी छाया ही मधुर स्पर्शवाली है जिन्होंने आकाश पृथ्वी को अपनी महिमा से दृढ़ किया उस प्रजापति के (क) आदि नाम हैं। प्रजापति की महिमाका गायन इस सूक्त में है। इन गुण-गणों से मण्डित

---

103. एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति एकं वैदंवि बभूव सर्वम्॥ ऋ० 8।58।2
104. महद् देवानामसुरत्वमेकम्। ऋ० 3।55।5-22।
105. विश्वकर्मा विमना धाता विधाता...सप्तऋषीन्परएकमाहुः।
यो नः पिता जनिता यो विधाता...यो देवानां नामधा एक एव तं।
परोदेवेभि रसुरैर्यदस्ति, यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः। ऋ० 10।82।2,3,5,6
106. एकस्यात्मानोन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति। भारतीय दर्शन वाचस्पति गैरोला पृ० 32
107. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ऋ०10।121।1,2,3

प्रजापति हैं यथा 'यों देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम" इत्यादि मंत्रों में उस परम तत्व की प्राप्ति का आभास मिलता है। जो सभी देवों में प्रमुख है, नामधा, धाता, विधाता एक देव है 'पुरुष'। उस एक देवत्व में जनमन का अनुरंजन कुछ काल तक हुआ किन्तु शनैः-शनैः एक- देवत्व से भी एकेश्वर या परमेश्वर या विश्व देवतावाद[108] का रूप निखर आया।

वस्तुतः अदिति को ही जनिता, पिता, पुत्र, पृथ्वी, आकाश सभी कुछ बतलाया गया है। पुरुष सूक्त में पुरुष को सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष बतलाते हुए कहा है कि वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को सब ओर से घेरे हुए है। सर्वत्र व्याप्त है सभी कुछ उन्ही पुरुष में समाया हुआ है किन्तु ब्रह्माण्ड उस पुरुष की मुट्ठी में समाया हुआ है और वह इसको अतिक्रमण करके इसके बाहर विद्यमान[109] है यहाँ उस पुरुष के अन्तर्भावस्थ तथा आतिशय्य दोनों रूपों को एक ही मंत्र में वर्णित किया गया है। सभी देवो में उस महान् देव की सत्ता को हम अद्वैतवाद का रूप देते हैं।

अद्वैतवाद :

सभी देवों में प्राणि मात्र में जगदात्मा तथा पर ब्रह्म की सत्ता की स्वीकृति ही अद्वैत भावना का बीज है। पूर्व में अदिति[110] को सभी रूप में स्वीकार कर लिया गया किन्तु उस परम सत्य को सीमित करना असम्भव है और अनुचित है क्योंकि वही एक सबसे पूर्व में था और देवों की उत्पत्ति भी उसी से हुई है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन नासदीय सूक्त में है। उसे ही सबकी उत्पत्ति का कारण 'तदेकम्'[111] कहा गया है।

---

108. इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स आफ इंडिया, भाग-9, पृ०609
109. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। ऋ० 10।90।1
110. ऋ० 1।164।6,13,39।
111. Pantheism is eloquently expressed in the passage in which Aditi (lit. the Boundless, the Infinite), who is the universe itself and is conceived as the immanent Sprit, is described: 'She is the heaven, She is the atmosphere, She is the mother; She is the father, son, all gods, and the whole world; She is creation and birth.'

    In their search for the ultimate unitary Principle, the rsis conceived of an infinite and absolute Power as the primary cause of all creation, which could be neither masculine nor feminine, which was beyond all names and forms, and which was described as 'Tad Ekam' (That one).

    दी कल्चरल हैरिटेज आफ इंडिया, प्रथम भाग, पृष्ठ 338।

ऋग्वेद में वारुणी विचारधारा के समर्थक अथर्वा के पुत्र दीर्घतमा ने 'को ददर्श प्रथमं जायमानं' के साथ-साथ उसी सूक्त में दार्शनिक विचारों के सुन्दर बीजों का वपन किया है जिसने लोकों को स्थिर किया है वह एक हैं वही 'किस्विदेकम्' से स्पष्ट हो जाता है। तथा 'तस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि' विश्वा आदि ऋचाओं में उस परम पुरुष के अद्वैत स्वरूप की ही भावात्मक अभिव्यक्ति की है। जो सभी देवों तथा असुरों से परे है जिसमें विश्व के सभी प्राणी निवास करते हैं अज की जिस नाभि में ब्रह्माण्ड अवस्थित है। 'एकमध्यमर्पितं विश्वेदेवा'[112] जिसमें कि चराचर सभी प्राणी पशु पक्षी अपना आधार पाते हैं। नासदीय सूक्त में जो 'तदेकम्' का उद्घोष घोषित किया है उससे भी यह स्पष्ट होता है कि उस से परे कोई तत्व नहीं है। इस सूक्त में अद्वैतवाद की सर्वोत्तम आधारशिला स्थापित है। यह सूक्त उस परम पुरुष के सर्वातिशय गुणत्व का आधायक है इस सूक्त के विषय में[113] मैक्समूलर की धारणा है कि यह विचार ऋग्वेद के संकलन से सुदूर पूर्व की विचारधारा है वह भारतीय विचारधारा के इस प्रकार के चिन्तन पक्ष से अत्यन्त प्रभावित हुआ है। इसमें पूर्व में सत् तथा असत् दोनों का अभाव था, कुछ भी नहीं था, अंधकार भी अंधकार से आवृत था, वही एक तत्व तप के प्रभाव से विद्यमान था, उसने ही सर्वप्रथम सृष्टि की रचना की। उसे कोई नहीं जानता। इस सृष्टि के उपादान कारण को भी कोई नहीं जानता, किसने यह रची। इसके रचयिता दिव्यधाम में रहते हैं यह भी सम्भव है कि वे भी इसको न जानते हों। ऋग्वेद[114] विश्व के अनुपम नियन्ता से परिचित है तथा उसमें विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाया है। अतः वैदिक धर्म ही अद्वैत[115] तत्व पर आश्रित है। अनेकता में एकता, दार्शनिक जगत् में एकदम मौलिक तत्व है।

अद्वैतवाद की दृष्टि से ब्रह्म में माया की जो द्वैत कल्पना की गई है वह कितनी सुन्दर है यथा **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते**[116] इस मन्त्र में कहा गया है कि सर्वव्यापक चिद्रूप परमात्मा प्रत्येक शरीर में निहित बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर जीव भाव को प्राप्त होता है। वस्तुतः ऋग्वेद में ही द्वैतवाद के भी बीज प्राप्त होते हैं।

112. ऋ० 3।54।8।
113. दी कल्चरल हैरिटेज आफ इंडिया, पृष्ठ 339।
114. भारतीय दर्शन, पृष्ठ 35।
115. को अद्ध वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। ऋ० 10।129।6
116. ऋग्वेद 6।47।18

द्वैतवाद :—

वस्तुतः यह द्वैत परम्परा ऋग्वेद के सूक्तों के अध्ययन से ही प्राप्त होती है। इस मरणशील प्राणी[117] में वह अमर तत्व विद्यमान है इस विचार में ही द्वैत की भावना का उदय हुआ और साथ ही एक वृक्ष पर दो[118] पक्षी रहते हैं। उनमें से एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा कुछ नहीं खाता, केवल देखता है। जीवात्मा और परमात्मा दो पक्षी हैं। एक भौतिक सुखों में लीन है दूसरा केवल द्रष्टा है। जीव भोक्ता है ईश्वर द्रष्टा जीव का अल्पज्ञत्व, अल्प शक्तित्व, ईश्वर सर्वज्ञत्व सर्व शक्ति सम्पन्न दहनतुहिनवत् विरुद्ध धर्म होने से पृथक्त्व सम्पादित किया गया है आचार्य शंकर[119] ने इस मंत्र की व्याख्या में भी अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टि में सदोष चक्षु से दो चन्द्र दिखाई देते हैं इसमें प्रतीयमान द्वित्व काल्पनिक भेद है पारमार्थिक भेद नहीं है। पूर्वोक्त श्रुति में सुपर्णा, सखाया, एवं सयुजा ये तीन विशेषण जीव ईश्वर के अभेद के ज्ञापक हैं भेदक नहीं। दोनों ही सुपर्ण हैं, हंस हैं, सजातीय हैं अथवा निरुक्त के अनुसार सुपूर्ण हैं। पूर्णमदः पूर्णमिदं में भी अदः अर्थात् परोक्ष तत्व भी पूर्ण है इदं अर्थात् सन्निकृष्ट तत्व जीव भी पूर्ण है। दोनों ही पूर्ण हैं। घटाकाश महाकाश की भांति औपाधिक ही भेद हैं। सखायौ दोनों का समान आख्यान है दोनों की आनन्दरूपता समान ही है। दोनों बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से घटाकाश महाकाश रूप से अविनाभाव से संयुक्त है सयुजौ यह बोधित करता है। परमार्थतः ये दोनों तत्व एक ही हैं।

निष्कर्ष :—

यद्यपि ऋग्वेद में हमें बहुदेववादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं किन्तु इसे ऋग्वैदिक कृतियों का सिद्धान्त पक्ष नहीं कह सकते। उनका दृष्टिकोण सदैव ही अनेकता में एकता ढूंढने का प्रयास करता है। इसके प्रमाण में हमें 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति,[120] 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'[121] उक्तियां दे सकते हैं। ऋग्वैदिक सर्वात्मवादिता की प्रवृत्ति को पाश्चात्यों[122] ने भी दबी जुबान से स्वीकार करने की चेष्टा की है। वैदिक धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता आशावादिता थी। वैदिक ऋषि देवताओं की पूजा भय से नहीं श्रद्धा से करते थे। उनकी श्रद्धा में एक विचित्र

117. ऋ० 1।164।4
118. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। ऋ० 1।164।20
119. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, भूमिका, पृष्ठ 17, हिंदीटीका स्वा० सत्यानन्द।
120. ऋ० 1।164।46
121. ऋ० 10।114।5
122: संस्कृत साहित्य का इतिहास—मैकडानल, पृ० 70,71।

आशावादिता[123] भरी रहती थी। वैदिक धर्म की यह आशावादिता ही उसकी प्राण-भूत विशेषता है।

इससे पूर्व हमने विश्वात्मवाद, एकेश्वरवाद, अद्वैतवाद, आदि का विवेचन किया है। इस विषय में प्रो० डायसन के विचार उद्धृत करते हुए संक्षेप में यही कहना है कि वे ईश्वर को केवल सृष्टि का निर्माता बतलाते हैं और साँख्य दर्शन में जैसे ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। वे ईश्वर को सृष्टि का स्रष्टा तथा उनकी सर्वव्यापकता, निर्माण शक्ति आदि गुणों के कारण' इसे पैन्थिज्म'[124] का रूप देते हैं।

विभिन्न वादों के निष्कर्ष को देते हुए प्रो० हिरियन्ना[125] ने सैद्धान्तिक रूप में परमेश्वर की ईश्वरवादी आस्तिकता पर विजय प्रदर्शित की है। क्योंकि कितने भी भेद हों किन्तु वे सभी इन दो भेदों के अन्दर ही समाहित हो जाते हैं। जिनमें प्रथम एकेश्वरवाद, दूसरा बहुदेववाद। बहुदेववाद भी प्रत्येक देवता में उसी एक ब्रह्म की शक्ति के कारण परमेश्वरवाद में ही आ जाता है व्यवहार रूप में वेदान्त ने आदर्श जीवन को स्थापित किया है।

जीवात्मा अपने सत्कर्मों के द्वारा परमात्म तत्व में लीन हो सकता है। ऋग्वेद में आत्मा के स्वरूप के प्रश्न को भी हम अल्प रूप में ही पाते हैं किन्तु वह भी इसके तत्व को स्पष्ट करने में पूर्णतया सक्षम है। तथा को नु आत्मा[126] वह शरीर पर नियंत्रण रखने वाला अजन्मा भाग है, अजो[127] भागः जो मृत्यु के उपरांत भी रहता है। उसे जीव[128] से पृथक् बतलाया गया है। कार्यों के फल भोगने की विधि का

---

123. संस्कृति साहित्य का इतिहास, मैकडानल पृष्ठ 69।
124. Most imposing of all the systems of pantheism which can claim a religious origin in the Brahmanic in India P. Deussen's account of Indian thought on the relation of God and the world is worth reproducing. He calls realism the view which regards matter as eternal, and independent of God, and God as only a world fashioner, if His existence is not altogether denied, as in the Sankhya Philosophy. According to theism as he defines it, "God creates the universe out of nothing, and the latter then has a real existence independently of God."
इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स, भाग-9, पृष्ठ 610।
125. आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी की भूमिका, प्रो० हिरियन्ना, पृष्ठ 26
126. ऋ० 1।164।4,।30
127. ऋ० 1।164।24।22
128. ऋ० 1।164।21

वर्णन करते हुए 'द्वा सुपर्णा' मंत्र में एक वृक्ष पर दो पक्षियों के निवास का वर्णन अभी द्वैतवादिता के प्रतिपादन में किया है किन्तु जीवात्मा परमात्मा का यह भेद लौकिक प्रक्रिया में ही होता है। सर्वोच्च और अलौकिक अनुभवातीत अवस्था में यह भेद नहीं रहता। वहाँ तो अभेद की ही स्थिति तन्मयता की स्थिति बन जाती है जोकि अनिर्वचनीय अवर्णनीय ही है क्योंकि वह भी स्वयं अपने उद्‌गम से परिचित नहीं हैं। जीवात्माओं का सम्बन्ध हिरण्य गर्भ जगत् से है। किन्तु उस परमेश[129] की सत्ता का अनुभव ऋषि ने स्पष्ट रूप से किया यथा जिसमें प्राणी अमरभाव के चिन्तनार्थ निरन्तर स्तवन में लीन रहते हैं, वह लोकपालक सबका स्वामी मुझ मूर्ख में भी विद्यमान है। (अमृतस्यभागमनिमेषं)[130] मैं मरणशील अमर बन जाऊं। अग्नि के स्तवन में ऋषि ने स्पष्टतया स्तवन किया है कि हे अग्ने! बल के पुत्र, तुम घृत द्वारा आहूत एवं सुन्दर तेज वाले हों, मैं मरणधर्मा मनुष्य तुम्हारे समान ही देवत्व प्राप्त करूं--[131](1)यदग्नेस्यामहं त्वं त्वं वाघास्याअहम्, स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(2) यदग्नेमर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः

इन्द्र से भी ऐसा ही स्तवन किया गया है कि हे इन्द्र ऐसी कृपा करो कि हम तुम बन जाएं (स्यामते त इन्द्र)[132]। व्यक्ति अपने कर्मों से अर्द्ध देवत्व तथा देवत्व प्राप्त कर सकता है इस विषय में ऋग्वेद से ऋभुवों, त्रसदस्यु, वामदेव आदि के उद्धरण पूर्व में दिये जा चुके हैं। आत्म विषयक चर्चा छठे अध्याय में की गई है यहाँ अन्तर्वीक्षण की प्रक्रिया के उद्‌गम को ही हम उद्धृत करते हैं यथा :

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्[133]। इस में ही उपनिषदों की प्रेरणा का स्रोत प्राप्त होता है। एक अन्य स्थल पर सोम से प्रार्थना करते हुए स्वर्ग में निवास की प्रार्थना की गई है कि हे सोम! जहाँ[134] मन्दाकिनी आदि नदियां प्रवाहित हों, जहां वैवस्वत राज्य करते हों जिसे स्वर्ग का द्वार कहते हैं मुझे उसी स्थान पर रखो, उसी लोक में स्थायी निवास दो, मुझे अविनाशी पद दो इत्यादि तथा इन्द्र, वरुण तथा अग्नि से पूर्व में उनके समान होने की प्रार्थना में आत्मा के परमात्म तत्व में विलीन होने की भावना का पोषण प्राप्त होता है।

129. ऋ० 8।19।2
130. ऋ० 1।164।21
131. ऋ० 8।44।23,8।19।25
132. उपनिषदों की भूमिका, डा० राधाकृष्णन्, पृ० 40
133. ऋ० 1।22।20
134. मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव। ऋ० 9।113।1—11

ख- उपनिषदों में दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएं और स्वरूप

उपनिषदों में दार्शनिक चिन्तन की परम्पराओं की आधारशिलाएं

1. विषयी का अन्वेषण
2. व्यक्तित्व सहित देवों के स्थान में व्यक्तित्व रहित देव
3. देव पूजन मात्र लक्ष्य न रहा
4. वेद ज्ञान राशि की ब्रह्म ज्ञान में उपेक्षा
5. याज्ञिक कृत्यों की सीमित उपलब्धि तथा खोखलापन
6. ब्राह्मण ग्रन्थों में उपेक्षित पुनर्जन्म का एक सिद्धान्त के रूप में वर्णन
7. ओंकारोपासना
8. इन्द्रियों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति
9. एकेश्वरवाद
10. कारणतावाद के बीज
11. मानव शरीर देवों का गृह
12. ईश्वरच्छा में अपनी इच्छा को मिलाना
13. यज्ञों से मोक्ष प्राप्ति की असमर्थता

स्वरूप

1. उपनिषद् शब्द का अर्थ, उपनिषदों का प्रतिपाद्य, परमात्मतत्व के दो रूप, परमसत्य ब्रह्म, आत्मपरमात्म ऐक्य।
2. एकेश्वरवाद, विश्वदेवतावाद, विश्वात्मवाद, द्वैतवाद।
3. पुनर्जन्म तथा मोक्ष।
4. निष्कर्ष।

1. विषयी का अन्वेषण—

वैदिक चिन्तन परम्परा के विकास क्रम पर नयन निक्षेप करने से वेदों के उपरान्त ब्राह्मण ग्रन्थों में दर्शन के विकास का शैथिल्य ही रहा और आरण्यकों के अंगभूत ग्रन्थ उपनिषदों के समय तक मौलिक अन्तर स्पष्ट प्रतीत होने लगे। इसका कारण यही है कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना का भी एक सुदीर्घकाल रहा होगा तथा उस विचारधारा में यज्ञ की जटिलता के प्रति जनता में सौविध्य न देख वैविध्य एवं वैषम्य तथा विरोध शनैः-शनैः बढ़ने लगा होगा, अतः दृष्टिकोण में परिवर्तन एक स्वाभाविक कार्य बन गया। क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के यज्ञ के प्रभाव ने पुरोहितों के मस्तिष्कों को जकड़ रखा था उन्होंने अन्य सभी दार्शनिक विवेचन

तथा रहस्यात्मक आधारभूत तथ्यों की उपेक्षा करके यज्ञ को ही सर्वस्व बना लिया था। वैदिक ऋषियों का स्तवन दर्शन तथा यज्ञदर्शन दोनों आत्मोन्नति अथवा आत्मिक जीवन के साधन के रूप में विपुलकायग्रन्थों में वर्णित है। स्तवन अथवा प्रार्थना सत्य की खोज है। सच्चा यज्ञ अहं का त्याग है। वैदिक मनीषी उन अनेक देवों की चर्चा करते हैं जिनमें सर्वोच्च सत्ता परम सत्य के तेज का अंश व्याप्त है उनकी पृथक् कोई सत्ता नहीं। उनमें तेजस्, भ्राजस् ओजस् अंश उसी परम सत्य का है। किन्तु उपनिषदों के दार्शनिक उस परम सत्य के अन्वेषण विधि प्रयोगों के वर्णनों पर बहुविधि वादविवाद करके निष्कर्ष निष्कासन में लीन है। वैदिक कवि भी उस परमेश के एक चरण से सृष्टि का निर्माण करने तथा तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् के रूप में उस ईश्वर की सर्व व्यापकता दर्शाते हैं यथा यजुर्वेदीय ईशोपनिषद् के मंत्र (ईशावास्यमिदम्) में सर्वत्र उसकी व्यापकता दिखलाते हैं। साथ ही जागतिक विषयों (सृष्टि विद्या) आदि के प्रश्नों के उपरान्त विषयों से दृष्टि हट कर विषयी पर आती गई और अन्त में ब्रह्मोन्मुखी प्रवृत्ति में ही उपनिषदों का प्रथम झुकाव हुआ।

परमसत्ता की ब्रह्म के रूप में स्वीकृति करते हुए अहं ब्रह्मास्मि, तत्वमसि, सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तज्जलान्, आदि महावाक्यों की व्याख्या तथा सोऽहम्, नेदमिदमुपासते, योऽसावसावादित्ये सोऽहमस्मि आदि वाक्यों में इसी प्रवृत्ति को पाते हैं।

2. व्यक्तित्व सहित देवों के स्थान में व्यक्तित्व रहित देव—

प्राचीन संहिताकालीन देवों के व्यक्तित्ववाद की सत्ता को समाप्त कर व्यक्तित्व रहित ब्रह्म की उपासना, चिन्तन तथा दर्शन ही मुख्य लक्ष्य हो गया। स्थूल जगत् तथा सूक्ष्म जगत् दोनों में समान रूप में प्राकृतिक शक्तियों और प्रक्रियाओं के अतिरिक्त किसी और सत्ता की अपेक्षा नहीं है इनकी व्याख्या के लिए देवों की कल्पना की भी आवश्यकता नहीं। कतिपय चार्वाक् दर्शनानुयायी कर्मों पर आधारित भाग्य के सिद्धान्त में अनास्था रखने लगे। ये अनीश्वरवादी थे किन्तु पुरोहितों ने इसको भी अपने रूप में ढालने का प्रयास किया। इन्होंने ब्रह्म को सब प्राणियों में व्याप्त सभी इन्द्रियों का प्रेरक, समस्त जगत् में अनुप्रविष्ट तथा विश्व को आवेष्टित किए हुए है, इस प्रकार के वर्णनों से सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों में माना और कहा कि ब्रह्म ही जीवन की उष्णता है, प्राण है। इस प्रकार व्यक्तित्व रहित देवों की कल्पना ब्रह्म के रूप में स्वीकृत की जाने लगी।

3. देव पूजन मात्र लक्ष्य न रहा—

केनोपनिषद् के वर्णित प्रसंग में देवासुर संगाम से देवों ने समझा कि (अस्माकमेवायं महिमा) यह हमारी ही शक्ति है जो हमने असुरों पर विजय प्राप्त की अतः

अग्नि, वायु तथा इन्द्र को जगन्माता उमा हेमवती ने यक्ष के रूप में कहा कि उसी पर ब्रह्म की ही शक्ति इन सब में है अतः ऋषियों ने देवों के यथार्थ स्वरूप को जाना और 'तद्वनम्'[135] को ही उपास्य निश्चत किया। उन्होंने देवों को उस परम ज्योति तथा मनुष्य के बीच की कड़ी सन्देशवाहक ही समझा।

4. वेद ज्ञान राशि की ब्रह्म ज्ञान में उपेक्षा—

श्रमण विचारधारानुमोदित मुण्डकोपनिषद् में ऋषि शौनक महर्षि अंगिरा के समीप समित्पाणि पहुँचे और कहा—भगवन् ! जिसको भली भाँति जान लेने पर यह जो कुछ देखने,[136] सुनने और अनुमान लगाने में आता है, सबका सब जान लिया जाता है, वह परम तत्व क्या है ? ऋग्वेदादि सभी को पढ़ चुका हूँ किन्तु 'नाहमात्मवित्' यह सब अपरा विद्या है अतः परा विद्या को समझाओ, जिससे 'अक्षर' अविनाशी ब्रह्म को जाने। इस प्रकार वेदों के अध्ययन की इस ज्ञान में उपेक्षा का आभास मिलता है। इसका यह आशय नहीं कि वेदों के अध्ययन की मनाही है किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि ऋचाओं के सामान्य अर्थ की अपेक्षा उनके रहस्यात्मक दर्शन के बिना मनुष्य केवल भौतिकवादी बना रहता है और उसकी बुद्धि अन्तर्मुखी नहीं हो पाती। जैसा ऋग्वेद में आया है कि यस्तन्नवेद किमृचा-करिष्यति[137]।

5. याज्ञिक कृत्यों की सीमित उपलब्धि तथा खोखलापन—

मुण्डकोपनिषद् के दार्शनिकों ने जाना कि यज्ञों को एक अदृढ़ नौका 'प्लवाह्येते अदृढ़ाः' 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' तथा छान्दोग्य[138] में भी वर्णित जिस प्रकार कर्म से प्राप्त हुआ लोक क्षीण हो जाता है उसी प्रकार परलोक में पुण्यार्जित लोक क्षीण हो जाता है। जो लोग इस लोक में आत्मा को और इन सत्य कामनाओं को बिना जाने ही परलोकगामी हो जाते हैं उनकी यथेच्छगति नहीं होती ओर जो इस लोक में आत्मा को तथा सत्य कामनाओं को जानकर परलोक जाते हैं उनकी समस्त लोकों में यथेच्छगति होती है। इसी प्रकार बृहदारकोपनिषद्[139] में तीन ही लोकों का वर्णन

135. तद्धितद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेद। केन० उ० 4।6
136. कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति। मु०उ० 1।1।3।
137. ऋ० 1।164।39
138. तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति छा० 8।1।6
139. अथ त्रयो वावलोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः। बृ० उ० 1।5।16

है, मनुष्य लोक, पितृ लोक, देव लोक। यह लोक पुत्र के द्वारा जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्म से नहीं, तथा पितृलोक कर्म से, देव लोक विद्या से जीते जा सकते हैं। इन लोकों में देवलोक ही श्रेष्ठ है अतः विद्या की प्रशंसा करते हैं। विद्या वह सत्य का ज्ञान ही है।

छा०[140] उ० में यज्ञों की उपलब्धि के विषय में कहा गया है कि जो गृहस्थ लोग ग्राम में इष्ट, पूर्त और दत्त ऐसी उपासना करते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्ण पक्ष को, कृष्ण पक्ष से दक्षिण मार्ग को ये लोग संवत्सर को प्राप्त नही होते। संवत्सर शब्द से सर्वव्यापक प्रजापति परब्रह्म का ही अर्थ लिया गया है।

वैदिक ऋषियों की दृष्टि (विषयी) परमात्म तत्व की ओर उन्मुख हुई, वेदों के याज्ञिक रूपों में परिवर्तन आया। उनकी नैतिक व्याख्या की जाने लगी। अब वे याज्ञिक के कथन मात्र के उपासक न होकर तार्किक बुद्धि से प्रेरित होकर चलने लगे और यज्ञों के प्रतीक रूपों में ऋचाओं की मानसिक पूजा का प्रचलन हुआ। इस प्रकार आगे विकसित होते-होते द्रव्य यज्ञों की अपेक्षा ज्ञान यज्ञों का प्रभाव अधिक बढ़ा इसमें विभिन्न विषयों पर चर्चा करना तथा उनकी रहस्यात्मक ग्रन्थियों का सुलझाने का लक्ष्य बन गया। अतः वेद तथा वेद प्रतिपादित यज्ञों की निष्फलता में भी विश्वास बढ़ने लगा।

यज्ञ के स्वरूप में और मान्यता में ब्राह्मण काल में परिवर्तन आ चुका था और विष्णु, प्रजापति को यज्ञ का ही रूप मान लिया गया था। शाँखायन ब्राह्मण के अनुसार अहं यज्ञ हैं और मानव आत्म यज्ञ करने वाला है। 'पुरुषों वे यज्ञ आत्मा यजमानः' वैदिक अनुष्ठान जनहित की भावना से होता है वह मन को अन्तिम मुक्ति के लिए तैयार करता है। इस प्रकार की भावनाएं मनुष्य के लिए आवश्यक समझी गई हैं। यज्ञ की नैतिक व्याख्या में यज्ञ को एक विशेष रूप दिया गया और यज्ञ में स्वाहा की सच्ची अर्थ प्रतीति यास्क[141] ने भी स्वत्व अहंकार के त्याग में वर्णित की है। इस प्रकार 'स्वा हा' अहंकार के त्याग में आत्मसमर्पण होने से श्रद्धा का प्रवेश हुआ।

6. ब्राह्मण ग्रन्थों में उपेक्षित पुनर्जन्म का एक सिद्धांत के रूप में वर्णन—

ब्राह्मण ग्रंथों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। वे इस सिद्धान्त से प्रायः अपरिचित ही हैं। इसी कारण उपनिषदों के दार्शनिकों को तथा ब्राह्मण-कालीन ऋषियों में तत्वतः भी भेद हैं और दृष्टिकोण का भी भेद है। उपनिषदों में पुनर्जन्म एक सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हो गया है उसका अत्यधिक प्रभाव है। वे

140. छा०उ० 5।10।3
141. या० 8।21

प्रतिक्षण प्रतिकार्य में भावी जीवन की शंकाओं से संकुल होने के कारण निराशा के वातावरण में रहने लगे। इसका प्रमुख प्रभाव यह हुआ कि मानव जीवन में कठिनाइयों, संघर्षों दुष्कमों को कर्मों के फलों के रूप में भोगने लगा तथा उन आपदाओं के पूर्व से ही निराकरण की प्रवृत्तियों के चिन्तन में लीन रहने लगा।

7. ओंकारोपासना

सकाम कर्मों यज्ञों की अनित्यता तथा उनसे प्राप्त फलों की भी अनित्यता, यज्ञों के विषय विधि, विधान के प्रति विद्रोह "प्लवा ह्येते अदृढ़ा, परीक्ष्यलोकान् कर्मचितान्," इत्यादि से निर्वेद की स्थिति तथा यज्ञ के प्रतीकों द्वारा ओंकारोपासना का विकास हुआ और (धनुर्गृहीत्वौपनिषदं, अरणिकृत्वा) इत्यादि में प्रतीकों के रूप में यज्ञ की वास्तविक सत्ता के अभाव की प्राप्ति। अतः यज्ञ का भी नया रूप हुआ और ओंकार तथा गायत्री की उपासना का महत्व बढ़ गया।

8. इन्द्रियों की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति—

इन्द्रियों के बाह्याकर्षण से हटाकर 'परांचिखानीन्द्रियाणि, विवृतचक्षुः इत्यादि कठ० उ० में प्रयुक्त मंत्रों में अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की ओर विशेष रुचि हुई और 'तस्यै तपो दम कर्मेति प्रतिष्ठा' का महत्व बढ़ गया।

9. एकेश्वरवाद—

संहिताकालीन विभिन्न देवों, विष्णु, शिव तथा प्रजापति (क) सभी का ब्रह्म में समावेश एकेश्वर का ही महेश्वर महादेव, देवाधि देव आदि अभिधानों में तथा ओंकार की तीनों मात्राओं में उनकी सम्पूर्ण शक्ति का समावेश हो गया।

10. कारणतावाद के बीज—

बृहदारण्यकोपनिषद्[142] में इस कारणतावाद के बीज स्पष्टतया प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार वह ऊर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओं पर ऊपर की ओर जाता है तथा जैसे अग्नि से अनेकों क्षुद्र चिनगारियां उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत विविध रूप से उत्पन्न होते हैं। 'सत्य का सत्य' यह उस आत्मा की उपनिषद् है। प्राण ही सत्य है। उन्हीं का यह सत्य है।

---

142. स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः...आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि...सत्यस्य सत्यमिति। बृ०उ० 2।1।20

11. मानवशरीर देवों का गृह—

मनुष्य की विचारधारा परिवर्तित हुई और वह प्रकृति की रहस्यात्मक व्याख्या के ज्ञान को आत्मा की अथाह गहराई में प्रतिबिम्बित मानने लगा। वह ब्रह्म प्राप्ति के लिए अन्तस्तल की ओर उन्मुख हुआ। उसने अनुभव किया है कि सत्य हमारे अन्दर है। विभिन्न वैदिक देवताओं को आत्मोन्मुख दृष्टि से देखा गया है। अथर्ववेद में स्पष्टरूपेण कहा है—पुरुष को अपना स्थायी घर बनाकर देवता उसमें रहने लगे। यथा गोओं के गोष्ठ[143] के समान सभी देव इसी मानव शरीर में रहते हैं। इसी विचारधारा का उपनिषदों में 'अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्' इत्यादि मंत्र में सभी देवों का इसी शरीर में वास है इससे मानव को अपनी शक्ति का आभास हुआ और मात्र आत्म अविश्वास, जो श्रद्धा और आत्मसमर्पण में देवों के समक्ष वह खो चुका था, उसे उसकी पुनः प्राप्ति हो गई। जैमिनी[144] उप० में भी सभी देव मेरे अन्दर हैं ऐसा वर्णन मिलता है। कोषीतकी[145] ब्राह्मण में तो यहाँ तक घोषित किया है कि दीक्षित वास्तव में वही है जिसके भीतर के देवता दीक्षित[146] हैं। मन-मन से और वाणी-वाणी से दीक्षित हुई है। नेत्र से जब कोई देखता है तो यह ब्रह्म चमक उठता है जब नहीं देखता तो यह मर जाता है।

12. ईश्वरेच्छा में अपनी इच्छा को मिलाना—

जब सभी वस्तुएँ ईश्वर की ही हैं तो उसे अन्य भौतिक वस्तुओं के समर्पण के स्थान में अपनी इच्छा और अपने अहंभाव के सिवाय अन्य वस्तु के समर्पण की कोई तुक नहीं। अपनी पृथक् इच्छा कुछ नहीं जब अहं का समर्पण हो गया तो उस प्रभु से अपनी पृथक् इच्छा का भाव भी सुमुदित नहीं होगा यही सच्ची अनुभूति का सोपान है।

13. यज्ञों से मोक्ष प्राप्ति की असमर्थता—

यज्ञों से केवल पितर लोक की प्राप्ति तथा भौतिक सुखों की पूर्ति ही सम्भव थी किन्तु उपनिषत्कालीन ऋषि यज्ञों द्वारा प्राप्त पितर लोक में निश्चित अवधि तक रह कर पुनः पृथ्वी पर लौटने की इच्छा से सन्तुष्ट न होकर मोक्ष के ही इच्छुक हो गए थे। अतः यज्ञ नितान्त गौण रूप में आ चुके थे।

---

143 गृहं कृत्वा मर्त्यः देवाः पुरुषमाविशन्।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते॥ अथर्व० 11।8।18,32

144. जै० उ० 1।14।2

145. कौ० ब्रा०7।4

146. कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् 2।12

स्वरूप

1. उपनिषद् शब्द का अर्थ, उपनिषदों का प्रतिपाद्य, परमात्मतत्व के दो रूप, परम-सत्य ब्रह्म, आत्मपरमात्म ऐक्य।

उपनिषद् (उप-नि-सद्) का अर्थ है समीप में बैठना। उपसद् का अर्थ कर्मकाण्ड में गुरुचरणों में अन्तेवासी के रूप में शिक्षा ग्रहण करना है। इसका अर्थ उपासना नहीं। अतः उपसद् को छोड़ उपनि-सद् शब्द चुना गया अतः इस उपनिषद में पूजा तथा समादर का भाव भी लभ्य होने लगा। उपासना का अर्थ गूढ ज्ञान तथा गुह्य उपदेश तथा सार इस प्रकार के अर्थों में समझा जाने लगा। उपनिषदों को मात्र दार्शनिक कहना उचित नहीं है क्योंकि दार्शनिकों में तार्किक शक्ति तथा बुद्धि को ही विशेष माना जाता है जबकि उपनिषदों के तार्किक प्रसंगो में उदारता का प्रयोग बहुलता से लभ्य है। वास्तव में उपनिषदों के वाक्यों को तर्क या युक्ति से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती और तत्त्ववेत्ता भी इसकी उपलब्धि पर प्रकाश नहीं डालते और न प्रतिपक्ष ही इसके खण्डन मण्डन में आस्था दर्शाता है। तत्व ज्ञान के विषय में श्रवण, मनन और निदिध्यासन ही उपयोगी साधन है। उपनिषद्[147] एक क्रमबद्ध वर्णन नहीं है किन्तु यह एक नहीं अनेक अनुभूतियों और चिन्तन की मणियों से ग्रथित हैं जिन ऋषियों की जीवनियाँ अज्ञात हैं। उपनिषद् वेद के परम्परावृत ग्रन्थों की अन्तिम कड़ी होने के कारण वेदान्त भी कहे गए हैं। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक के परिशिष्ट सार भाग ही उपनिषद् है। भाषा और शैली की दृष्टि से गद्य पद्य मिश्रित रचनाएं हैं। केनोपनिषद् मुख्य उपनिषदों की अन्तिम कड़ी कही जाती हैं। डायसन[148] के विचार इस विषय में निम्न हैं—

'उपनिषदों में प्राचीन तथा अर्वाचीन मार्ग साथ-साथ संकलित होने से प्रत्येक उपनिषद् का एक अपना युग ही निर्धारित होना चाहिए, चाहे इसमें भाषा की दृष्टि से समानता भी मिले। ब्राह्मणों के ये अन्तिम भाग भी पर्याप्त प्रचीन ही ठहरेंगे और बृहदारण्यक और छान्दोग्य जैसी महोपनिषदों के सम्बन्ध में सम्भवतः हमारा निश्चय यही सिद्ध हो कि अनेक छोटी-छोटी उपनिषदों को मिला कर इनका कलेवर समय-समय पर बढ़ता रहा हो।' डायसन उपनिषदों को आरण्यक का प्रतिरूप

---

147. The Upanisads are not a systematic treatise, but a repesitery of gems of experiences and speculations, not of one rsi, but of many, whose unrecroded biographies covered a millennium or more. We therefore, find varied conception of man, the universe and the Reality behind both of them.
दी कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, प्रथम भाग, पृ० 382।

148. फिलासफी आफ उपनिषद्-डायसन, पृ० 16 तथा आगे।

समझते हैं और इसे वैदिक शिक्षण की शाखा से निकालते है क्योंकि वे इनमें भारतीय विचारधारा के विकास में एक मोड़ की कल्पना करते हैं ।

उपर्युक्त कथन का आधार मेरे विचार से भिन्न-भिन्न उपनिषदों में समान विचारों की प्राप्ति है । वस्तुतः ये चिन्तन परम्पराएँ विभिन्न ऋषियों के आश्रमों गुरुकुलों में स्वतंत्र चिन्तन के परिणामस्वरूप है जो कि इन कार्यों में अग्रसर थे क्योंकि इन बड़ी उपनिषदों के ये रूप मूल रूप में उस समय तक प्रायः निश्चित हो चुके थे ।

यह युग बुद्ध तथा पाणिनि के पश्चात् कदापि नहीं जा सकता । अतः ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकी तथा केन ये छः उपनिषद् वाङ्मय के विकास के प्रथम सोपान हैं[149] इन्हीं में वेदान्त के विशुद्ध एवं मौलिक रूप संगृहीत हैं । कतिपय उपनिषदों में आंशिक रूपेण पद्योपलब्धि है इन्हें बाद के काल में भी रखें तो भी बुद्ध से पूर्व ही इनका समय रहेगा । यद्यपि उनसे सम्बन्धित ब्राह्मण आज उपलब्ध नहीं हैं यथा कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित कठोपनिषद् को ले सकते हैं । तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तिम भाग से सम्बद्ध श्वेताश्वतर तथा महानारायण को यजुर्वेद का विकास ही माना जा सकता है । ईशोपनिषद् भी वाजसेनेयी संहिता का अन्तिम अध्याय है । गद्य पद्य मिश्रित मुण्डक तथा प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद की उपनिषद् हैं । कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध मैत्रायणी उपनिषद् को अर्वाचीन मानते हैं जो कभी बुद्धोत्तर युग की रचना मानी जा सकती है । अथर्व वेदीय माण्डूक्य भी इसी युग की रचना है । क्योंकि इनकी भाषा शैली में वैदिक स्पर्श नहीं है । ब्रह्म सूत्र की व्याख्या में आचार्य शंकर ने इन्हीं बारह उपनिषदों को ही प्रामाणिक तथा मौलिक घोषित किया है, जिनमें मैत्रायणी और माण्डूक्य का उल्लेख नहीं है ये दोनों बाद के युग की रचना है अतः ये 14 उपनिषद् ही भारतीय चिन्तन धारा के आधार हैं । इन्हीं का दर्शन से अधिक सम्बन्ध है ।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य—उपनिषद्[150] ब्राह्मण भाग का ज्ञानकाण्ड है । उपनिषदों में कर्मकाण्ड से विरुद्ध विचारधारा का विकास हुआ है । उपनिषदों का चरम लक्ष्य विधिवत् यज्ञ द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करके ऐहिक सुखोपलब्धि तथा परलोक के सुधारने का नहीं है । उपनिषदों[151] में तो अपने कल्याण चाहने वाले को यह निश्चय

---

149. डायसन का कथन पृष्ठ 188 (हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, वा० प्रथम, भाग-प्रथम, विंटरनित्ज)
150. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग-2, डा० सूर्य कान्त, पृ० 621
151. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् हि ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ॥ मु० उ० 1।2।12

कर लेना चाहिए कि कर्तापन के अभिमानपूर्वक सकाम भाव से किए गए कर्म अनित्य हैं तथा अनित्य फल के देने वाले हैं। यज्ञ को नौका[152] का रूप देते हुए इन अठारह नौकाओं को अदृढ़ बताया है जिनके द्वारा संसार रूपी दुःख की छोटी नदी भी पार नहीं की जा सकती क्योंकि अल्प भूल[153] भी हो जाने से ये यज्ञ लाभ की अपेक्षा हानि विशेष पहुँचाते हैं।

व्यवहार[154] द्वैत में है परमार्थ व्यवहारातीत है। जहाँ द्वैत होता है वहां अन्य-अन्य को सूँघता, देखता, सुनता, मनन करता, जानता है किन्तु जहाँ इसके लिए सब आत्मा ही हो गया वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, देखे, सुने, अभिवादन करे। जिसके द्वारा इन सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने ? हे मैत्रेयि ! विज्ञाता को किस के द्वारा जाने ?

उपनिषदों का लक्ष्य तो प्राणी मात्र के भौतिक अस्तित्व को यथार्थ ज्ञान के द्वारा अथवा जीव और ब्रह्म के ऐक्य के द्वारा समाप्त करना है। अतः उपनिषदों में यागादि की निरर्थकता और अध्यात्म ज्ञान की महत्ता का अमर सन्देश दिया है।

परमात्मतत्व के दो पहलू—उपनिषदों का मूलभूत प्रतिपाद्य (आत्मा परमात्मा का ऐक्य) उपनिषदों के महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि,[155] सोऽहमस्मि, तत्त्वमसि' आदि में एक मौलिक ऐक्य तथा अविच्छिन्नता लभ्य होती है। मुख्य प्रतिपाद्य परब्रह्मस्वरूप का विवेचन है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त आदि विचारों का चरम विकास उपनिषदों में है जहाँ विश्व पुरुष को प्रत्यगात्मा का रूप दिया गया है जहाँ जगन्नियंता, स्रष्टा का मूर्तस्वरूप अखिलाधार पर ब्रह्म के अमूर्तरूप में विकसित हुआ है। उस परमात्म-तत्त्व के दो दार्शनिक पहलु हैं जैसा वेदान्त सूत्र के व्याख्याकार शंकर ने दो[156] प्रकार का ज्ञान निर्दिष्ट किया है, एक ओर तो वे उच्च ज्ञान से, ब्रह्म या आत्मा के एकत्व

152. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा।
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।। मु॰उ॰1।2।7
153. अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत।
मांसप्तमाँस्तस्य लोकान् हिनस्ति ।। मु॰उ॰ 1।2।3
154. यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं शृणोति तदितर इतरमभिवदति इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तन्केन कं विजानीयात्। येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ।। बृ॰ उ॰ 2.4।14
155. बृ॰उ॰ 1।4।10,
156. ब्र॰सू॰ शांकर भाष्य, पृष्ठ 56 सत्यानन्दी टीका

को छोड़कर जो एकदम सत्, चित् तथा आनन्द है, के अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता स्वीकार नहीं करता। ब्रह्म के विशेषण के रूप में सत्य, ज्ञान तथा अनन्त शब्द नहीं आए अपितु ब्रह्म के लिए ही। कोई भी विशेषण यदि उस परम सत्ता के साथ दिया जाएगा तो विविधता का द्योतक होगा।

चित् चेतना, जो ब्रह्म का सारभूत तत्व है वह भी क्रिया का अर्थ द्योतित नहीं करता है। औपनिषदिक दर्शन परम्परा जागतिक पदार्थों की सत्ता के मूलभूत तथा अविच्छिन्न एकत्व से ओतप्रोत है। दूसरे पक्ष में स्वयं चेतना भी प्रकृति से सर्वथा भिन्न स्वभाव वाली है जिसका कोई भी अभिधान नहीं दिया जा सकता, आनन्द भी वही वस्तु है जिसमें किसी प्रकार की चेतना नहीं है अतः यह 'सत्यंज्ञानमनन्तंब्रह्म'[152] एक रूपात्मक अभिव्यक्ति मात्र है। इसी तत्व को ब्रह्म, आत्मा तथा विश्व के रूपों में अनुभव कर सकते हैं। दृश्य वस्तुओं में नानात्व है, उसकी सत्ता नहीं है वह मिथ्या है। जो सत्य है वह ज्ञान है 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैवनापरः' यह ज्ञान ही मनुष्य को आवागमन के बन्धन से मुक्ति दिलाने में समर्थ होता है।

उस आत्मा[153] के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का तत्त्वमसि महावाक्य समस्त उपनिषदों का सार भूत है। यह अखिल अणुरूप अणिमा है एतद्रूप भी यही है। वह सत्य है, वह आत्मा है वहाँ श्वेतकेतु से कहा है कि वही तू है। जो इसे[154] जान लेता है कि मैं ब्रह्म हूँ, वह सर्वस्व हो जाता है देवताभी उसे पराजित नहीं कर सकते क्योंकि वह उनकी भी आत्मा हो जाता है। शतपथ[155] ब्राह्मण में आत्मा का स्वरूप जो-जौ के छोटे-से-छोटे कण के समान है वह हिरण्यमय पुरुष हृदय में वर्तमान है। वह विश्वात्मा ये ही है। इस लोक से जाकर मैं उसी आत्मा को प्राप्त करूंगा।

परमसत्य के लिए उपनिषदों मैं ब्रह्म शब्द प्रयुक्त हुआ। यह बृह धातु से बढ़ने अर्थ में बृहत्वम् निरन्तर वृद्धि पाने वाले को कहते हैं। ब्रह्म आचार्य शंकर ने ब्रह्म का अर्थ 'अतिशयन' आगे निकल जाना, शाश्वत तथा विशुद्ध किया है। ऋग्वेद[156] में ब्रह्म शब्द पवित्र ज्ञान या वाणी, मंत्र, आत्मिक ज्ञान की ठोस अभिव्यक्ति के अर्थ को प्रकट करता है। संहिताओं में दार्शनिक चिन्तन परम्परा के विवेचन में हमने इसी

---

152. तैत्तिरीयोपनिषद् 2।1

153. स य एषोणिमैतदात्म्यमिदंसर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एवमा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ छा०उ० 6।8।7,6,11,3

154. य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति। बृ०उ० 1।4।10

155. यथेदमत्यन्तमणीय प्रियंगुबीज तथैवायंहिरण्यमयः पुरुषो हृदये।
स एव परमात्मा ममात्मा संसरन्नहमित ऊर्ध्वं तमात्मानं प्रयत्स्ये ॥श०ब्रा०10।6।3

156. ऋ० 10।71, 10।81, 10।82, 10।125

अध्याय के पूर्व भाग में इसका विशद विवेचन किया है और यह निश्चय रूपेण दर्शाया है कि जहाँ सभी देव एक रूप में समा जाते हैं देव तथा असुरों से परे जो पिता, जनिता, विधाता आदि है वह ब्रह्म हैं जिसमें सभी भुवन स्थित है इत्यादि तथा अथर्ववेद में भी ऋग्वेद के दशम मण्डल के 125 वें वागाम्भृणी सूक्त की ही आवृत्ति अथर्व०4/30 में की गई है। तथा वह प्रजापति[157] विश्वकर्मा, ब्रह्मणस्पति उच्छिष्ट तथा स्कम्भ अभिधान से विस्ताररूपेण वर्णित किया है। उस परम तत्व के मार्ग के जानने के इच्छुक ऋषियों ने कहा—उस परम[158] सत्य के कारण रूप का ज्ञाता कौन है? उस समझे हुए विषय को प्रकट करने वाला कौन है? वह सरल मार्ग कौन सा है जो देवताओं का सामीप्य प्राप्त कराए।

अथर्ववेद[159] में वाग्देवी के लिए कहा गया है कि जो स्वयं बिना प्राण वाली होकर भी प्राण वालों के साथ चलती है पश्चात् विराट् स्वयं प्रकाश परमेश के पास पहुंचती है। सब को स्पर्श करने वाली अनुरूप विराट् को वे कई देखते हैं कई इस को नहीं देख सकते। तथा[160] ये तीनों इडा सरस्वती भारती सत्य के अनुकूल होती हैं। तीनों यज्ञ वीर्य सन्तति को तृप्त करती है, एक विद्या दूसरी बल की रक्षा करती है, तीसरी दिव्य गुण वाली राष्ट्र की रक्षा करती है तथा एक ही गौ, एक ही ऋषि है, एक ही धाम है, आशीर्वाद एक ही प्रकार दिया जाता है। पृथ्वी पर एक ही व्यापक पूज्य देव है, एक ही ऋत है उससे बढ़ कर दूसरा कोई नहीं। ब्रह्म से ब्रह्म प्रथम प्रकट हुआ। शनैः-शनैः ब्रह्म शब्द पवित्रवाणी, ब्रह्म मंत्र की शक्ति, रहस्यमय शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। ब्राह्मणों में ब्रह्म धार्मिक अनुष्ठान के अर्थ में, अतः इसे सर्वशक्तिमान् कहा है। तथा यह ब्रह्मविद्या[161] ही ज्येष्ठ है। इससे बड़ा कोई नहीं। जो इस रहस्य को समझता है वह ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो जाता। यह ब्रह्म विद्या ऐसी है जिसका न कोई पूर्व है न पर। इससे बड़ा कोई नहीं। ब्रह्म से दीप्तिमान् तथा पुरातन कोई नहीं। परवर्ती चिन्तन में ब्रह्म का अर्थ ज्ञान अथवा वेद ब्रह्म का स्रोत रचनात्मक तत्व तथा सभी के अस्तित्व का कारण माना जाने लगा। उसकी अनुभूति व्यक्तिपरक कदापि नहीं है। उपनिषदों के विचारक ब्रह्म की वास्तविकता का आधार आत्मिक अनुभूति को ही मानते थे, उनमें तर्क के आधार

157. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर दृश्यसमानो बहुधा विजायते। अथर्व० 10।8।13
ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात्, ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार अथर्व० 4।1।1,3
ऋ० 1।1।164

158. को अद्धावेद क इह प्रवोचद् देवां अच्छा पथ्या का समेति। ऋ० 3।54।5

159. अथर्व० 8।9।9, 13।26

160. —वही—

161. छा० 3।14।1

पर भेद नहीं था अपितु अनुभूति के आधार पर। शाण्डिल्य विद्या के आरम्भ में 'तज्जलान्,'[162] जहां से सभी चीजें उभरती हैं, तथा उत्पन्न होती हैं। तथा लीन हो जाती हैं, और जिन में रहती हैं और जिन में उनकी सत्ता है उस तज्जलान् के जानने की उनमें उत्कट अभिलाषा थी।

बृ० उ० के नेति-नेति में परमअद्वैत की अभिव्यक्ति तथा छा० उ० का तज्जलान् शब्द जोकि उस तत्व की ओर संकेत करता है वही सत्यस्यसत्यम्, तद्वनम् तथा ओउम् शब्द से कहा गया है! ब्रह्म को सत्य का सत्य कहा है तथा तैत्तिरीय में भी ब्रह्म के विषय में कहा है (सत्यंज्ञानंमनन्तं ब्रह्म) वह ब्रह्म सत्य; ज्ञान स्वरूप और अनन्त है।

कठोपनिषद् में उस जीवात्मा से बलवती भगवान् की अव्यक्त शक्ति है। उस परम पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है वह सब की परम अवधि तथा परम गति है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उसका वर्णन विशेष रूप से किया गया है। ऋग्वेद में वाक् ही ब्रह्म है तथा (यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावतीवाक्) कह कर ब्रह्म तथा वाक् एकरूप किये गए हैं इस प्रकार ब्रह्म की परम सत्य के रूप में स्वीकृति है।

आत्मपरमात्म ऐक्य—परब्रह्म[163] एक चेतन तत्व है जो व्यवस्थित विश्व का अपुरुषविध आधार है। शनै-शनैः यह भेद कम होता गया और दोनों एकाकार हो गए ईश्वर केवल अनुभवातीत अन्य दिव्य तत्त्व नहीं है, अपितु वह विश्वव्यापी आत्मा भी है। शतपथ[164] ब्राह्मण में इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म कहा गया है; छान्दोग्य[165] उपनिषद में हृदय के अन्दर जो आत्मा है उसे ब्रह्म कहा गया है। छा०[166] उ० में वह पुरुष जो नेत्र में दिखाई देता है वह आत्मा है, अर्थात् ब्रह्म है। ईश्वर[167] यद्यपि सबसे भिन्न, अनुभवातीत और जगत् तथा मानव से परे है तो भी वह मनुष्य में प्रवेश करता है, उसमें रहता है और उसका ही अन्तरतम सार बन जाता है। 'आत्मैव [168]देवताः सर्वाः सर्व ह्यात्मन्यवस्थितम्' तथा तैत्तिरीय में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' वह ब्रह्म सृष्टि का निर्माण कर उसमें स्वयं प्रविष्ट हो गया इत्यादि विचारों में आत्मा यथा ब्रह्म की एकता का आभास मिलता है तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' का भी यही आशय है।

---

162. छा० उ० 3।14।1 तज्ज, तल्ल, तदन्—प्रणितिचेष्टते
163. उपनिषदों की भूमिका, डा० राधा कृष्णन्, पृ० 78।
164. शत० ब्रा० 10।6।3
165. छा० 3।14।3
166. छा० उ० 8।7।4
167. 4।15
168. तै० ब्रा० 2।6, दी फिलोसफी आफ दी उपनिषद्स डायसन, पृ० 245

उपनिषदों में महत्वपूर्ण उपनिषद् बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त किए है अतः छान्दोग्य में वर्णित शाण्डिल्य विद्या के वर्णन के द्वारा सर्व-दृष्टि से बह्मोपासना का वर्णन किया जाता है। यह सम्पूर्ण[169] जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसी से उत्पन्न होने वाला और उसी में लीन होने वाला और उसी में चेष्टा करने वाला है। तज्जलानिति शब्द से तेज, अप् और अन्नादि क्रम से सम्पूर्ण विश्व उस ब्रह्म से उत्पन्न है इसीलिए यह 'तज्ज' है तथा उसी जनन क्रम के विपरीत क्रम से उस ब्रह्म में ही लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूप से उसमें मिल जाता है इसलिए 'तल्ल' है और अपनी स्थिति के समय उसी में अनन्प्राणन् अर्थात् चेष्टा करता है इसलिए 'तदन्' है। इस प्रकार शान्त चित्त होकर उपासना करे, क्योंकि इस लोक में पुरुष जैसे निश्चय वाला होता है वैसा ही यहां से मरकर जाने पर होता है। ब्रह्म सबसे छोटा और सबसे बड़ा भी है। यह आत्मा,[170] जिसे मैं अपना आपा (स्व-रूप) मानता हूँ, वास्तव में मेरा अन्तःकरण ही है जो चावल, सरसों; श्यामाक से भी सूक्ष्म है और साथ ही मुझे यह भी अनुभव होता है कि मेरा अन्त-बिन्दु, पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यु लोक, लोक, लोकान्तर तथा नक्षत्रों से भी बड़ा है। इसी के साथ हृदयस्थित ब्रह्म और परब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है जो ब्रह्म को ही सभी इच्छाओं का गन्ध[171] स्पर्श आदि ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों का स्रोत है, आधार है। सभी कुछ उसी में समाया हुआ है। वह न बोलता है न चेष्टा करता है। यह आत्मा, जो मेरा अन्तःकरण है, ब्रह्म भी वही है। मृत्यु के समय अन्त में, मैं अपनी लघुता से मुक्त होकर उसी (की महिमा) में विलीन हो जाऊंगा। यही एक परम ज्ञान है जो सब संशयों को विच्छिन्न कर देता है, मर्त्य को अमर कर देता है, ईश्वर भाव को प्राप्त कर लेता है। छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में अरुण के पौत्र श्वेत केतु के आत्मविषयक ज्ञान का विषय अतीव आकर्षक है। अनूचानमानी महान् उद्दण्ड श्वेत केतु में सद्धर्म की प्रवृत्ति करने की इच्छा से पिता ने उससे पूछा—"जिसके द्वारा अश्रुत[172] श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है यह कैसा आदेश है? यह कौन सी विद्या है? इस पर श्वेतकेतु विस्मय विस्मित हो गया, "कि भला ऐसी भी कोई विद्या हो सकती है? जिस पर पिता ने उसे समझाना आरम्भ किया," मिट्टी[173] के एक ढेले से मिट्टी की

---

169. सर्वखल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत—अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथकुतुरस्मिंल्लोके—प्रेत्य भवति सक्रतुं कुर्वीत। छा० 3।14।1
170. एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्यामिसंभवितास्मीति। छा० 3।14।4
171. एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्ब्रीहेर्वा यवाद्वा—आत्मान्तर्हृदये। छा० 3।14।3
172. येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमतं विज्ञातमिति। छा० 6।1।3
173. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्ययं विज्ञातं स्याद्वाचारम्मणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। 6।2।1

कोई भी चीज (घड़ा, सकोरा, दीवला आदि) बन सकती है किन्तु परिणामतः वह मिट्टी ही रहेगी। मूर्ति या घड़ा नाम देकर उसकी मूल प्रकृति को बदला नहीं जा सकता और जिस प्रकार, तांबे, सोने, लोहे आदि की भिन्न-भिन्न वस्तुएं बना कर भी सोना, तांबा, लोहे की मूल प्रकृति अपरिवर्तित ही रहेगी। नाम-भेद से वस्तु की प्रकृति में भेद नहीं आ सकता। यही अवस्था 'अश्रुत से श्रुत' सम्बन्धिनी विद्या की है। प्रारम्भ में सब एक रूप ही था और उस एक रूप का नाम था सत्[174]। यद्यपि[174] कतिपय विद्वान् आरम्भ में असत् ही) असत् को मानते हैं किन्तु उस असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? अविद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु कैसे सम्भव हो सकती है? आरुणि ने बतलाया कि यह जो नामरूप एवं क्रियावान् विकारी जगत् दिखलाई देता है 'सत्' ही था इस प्रकार 'आसीत्' शब्द से 'सत्' का सम्बन्ध है। सत् से तपस्, तपस् से आप्, आपः से अन्न इत्यादि। यह सत् ही था जो अपनी त्रिगुणात्मकता से पार्थिव विश्व में व्याप्त होता गया। स्वप्न क्षुधा, तृषा की अवस्था सत्ता, तपस्, जल, अन्न आदि तीन मूल तत्वों पर आधारित है अन्नादि त्रय सत् पर आश्रित है। इस सत् की आत्मा ही थी जो प्राणिमात्र में समा गई, मनुष्यों में भी आत्मा बन कर समा गई।

हे सौम्य[175]! मृत्यु के समय यह प्रक्रिया उलट जाती है यथा मरण को प्राप्त होते हुए इस पुरुष की वाक् मन में लीन हो जाती है, तथा मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज पर देवता में लीन हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उसी मूल तत्व में सत् में पुनः विलीन हो जाती है। उद्दालक ने पुनः उपमाओं के द्वारा विश्व की विविधता तथा मनुष्य की अन्तरात्मा की एकरूपता को समझाया—कि जिस प्रकार विभिन्न पुष्पों के रस से मधुमक्खियां शहद तैयार करती है और सब रसों को एक रस कर देती हैं। विभिन्न फूलों की सुगन्धि तथा रस के गुण को पृथक् करना असम्भव होता है उसी प्रकार मृत्यु के समय उस आदि सत् में विलय के अनन्तर प्राणी-प्राणी में दृष्ट पूर्व विविधता फिर दिखाई नहीं देती यहां पर शेर, चीते, पक्षी कीड़े-मकोड़े मूल में एक थे और अन्त में फिर एक हो जाएंगे।

एक अन्य उदाहरण न्यग्रोध के फल को तोड़ने पर बीज तथा बीजों को भी

---

174. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत।
कुतस्तु खलु—असतः सज्जायेतेति। सक्ष्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा० 6।2।1,2,6।3,6,2

175. सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। छा० 6।8।6
यथा सौम्य मधु-मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्यानां वृक्षाणाँरसान्समवहारतांरसं गमयन्ति। छा० 6।9।1

तोड़ने पर कुछ भी तो नहीं कहने पर आरुणि ने कहा कि ये बीज[176] ही तो सब कुछ थे यही अवस्था हमारी आत्मा की है। वह भी इसी प्रकार सूक्ष्म है। उसी एक आत्मा का स्वरूप तू है जो मेरे सम्मुख बैठा है। किन्तु श्वेतकेतु ने कहा कि मुझे अभी और स्पष्ट करके समझाइए—तब आरुणि ने कहा, 'जाओ नमक की एक डली ले जाओ, लो इसे जरा पानी में डाल दो और पानी में घुल जाने पर आरुणि ने उसे चखने को कहा श्वेतकेतु ने जिधर से भी चखा वह नमकीन था ओर जिस चीज को भी उसके साथ खाता था वह नमकीन हो जाती। तब आरुणि ने कहा—पुत्र यही अवस्था हमारे जीवन की है कि आत्मा के हम इन आँखों द्वारा दर्शन नहीं कर सकते (पानी में घुली नमक[177] की तरह) किन्तु वह इसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त है अन्तर्यामी है। मुझ में, तुममें भी एक रूप से अन्तर्व्याप्त है।

छान्दोग्य उपनिषद् में ही आठवें अध्याय में सातवें खण्ड से बारहवें खण्ड तक आत्मा को ही पूर्णतया समझाने के लिए विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है जीवन में यदि वस्तुतः कुछ ज्ञातव्य है, कुछ अनुसन्धेय है तो वह है आत्मा। आत्मा जो पाप शून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधा रहित, पिपासारहित सत्यकाम[178] और सत्य संकल्प है। उसे खोजना चाहिए और उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए, जो उसे जान लेता है और जिसमें इच्छा करते ही इच्छापूर्ति तत्क्षण सम्भव हो जाती है, समस्त कामनाओं को प्राप्त हो जाता है। आत्मतत्व के अनुसन्धान में लीन देवराज इन्द्र तथा असुर राज विरोचन परस्पर ईर्ष्या करते हुए समित्पाणि प्रजापति के पास पहुंचे। प्रजापति ने 32 वर्ष की तपस्योपरान्त इन्द्र तथा विरोचन की परीक्षार्थ कहा कि "जब दो व्यक्ति परस्परापेक्षी होते हैं तो उनकी आंखों में[179] पड़ रही प्रतिच्छाया ही क्या वह 'आत्मा' नहीं होती। विरोचन इसी से आत्मविभोर हो आत्मज्ञान प्राप्ति की अनुभूति करता हुआ असुरों को समझाने लगा कि इस शरीर की देखभाल ही सब कुछ है, यही आत्मविद्या का अर्थ है।

जिस प्रकार यह आंख उसी पुरुष तत्व के हाथ में एक साधन है जिसके द्वारा

---

176. न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं—स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदंसर्वं तत्सत्यस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकतो इति। छा० 6।12।1-3

177. लवणभेतदुदकेऽवधायाथ—तच्छश्वत्संवर्तते तंहोवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति। छा० 6।13।1,2

178. य आत्मापहतपाप्मा विजरो—सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः छा० 8।7।1

179. य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते। छा० 8।7।4

सम्पूर्ण विश्व को वह स्वगत करता है यही अवस्था सभी इन्द्रियों की है। इन्द्रियाँ साधन है किन्तु सच्चा श्रोता, सच्चा घ्राता, सच्चा द्रष्टा इन इन्द्रियों के झीने आवरण में चुपचाप निगूढ़ आत्मा है। चक्षु आदि इन्द्रियों की बाह्य शक्ति का मूल स्रोत सूक्ष्म शरीर में विद्यमान कुछ और दिव्य शक्ति होती है जिसके अभाव में ये इन्द्रियाँ निष्क्रिय रहती हैं। यह अन्तर्भूतशक्ति ही अन्तरात्मा है जिसकी देवता भी पूजा करते हैं। इसकी अदम्य इच्छा ही सभी मनोरथों की पूर्ति है। आत्मा का अन्तर्बल सभी लोकों को अपने आधीन कर सकता है। यह अन्तः शक्ति ही प्रजापति विद्या के अभिधान से प्रसिद्ध है यथा जो यह जानता है कि मै मनन करूं वह आत्मा है। उसका मन दिव्य नेत्र है, वह यह आत्मा इस दिव्य चक्षु[180] के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है जो ये भोग इस ब्रह्म लोक में हैं, उन्हें देखता हुआ रमण करता है उस आत्मा की देवगण उपासना करते हैं इसी कारण उन्हें सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोपलब्धियां[181] सुलभ हैं। जो उस आत्मा को आचार्य तथा शास्त्र द्वारा उपदिष्ट होकर साक्षात्रूपेण अनुभव करता है उसे समस्त लोक और समस्त भोग सुलभ हो जाते हैं।

इन्द्रियों[182] में परस्पर श्रेष्ठत्व विषयक विवाद में प्रत्येक के शरीर से निकल जाने पर उसके अभाव की क्षति तो रही किन्तु शरीर का क्रम चलता रहा मृत्यु नहीं हुई। यथा वाणी, नेत्र, कान, विचार शक्ति। सभी इन्द्रियाँ लौट आयीं। इस परीक्षण से जीवन में विनम्रता तो आई। किन्तु जब प्राण निकल कर बाहर जाने लगे तो जैसे कोई घोड़ा बलपूर्वक रस्सी को खींचकर भागने की कोशिश करे और जमीन में गड़ा हुआ खूँटा उखड़ने लगे, वही अवस्था सभी इन्द्रियों की हुई अतः प्राण तत्व की श्रेष्ठता अथवा आत्म तत्व ही सर्वश्रेष्ठ है और सभी इन्द्रियाँ इसी के आधीन हैं, यह सिद्ध हुआ।

कौषीतकेय[183] कहोल ने याज्ञवल्क्य से कहा "जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है उसे मुझे तुम समझाओ। याज्ञवल्क्य ने कहा "यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से परे है और इससे अतिरिक्त सभी वस्तु कष्टमय हैं। इसी आत्मज्ञान के बोध हो जाने पर ब्राह्मण, पुत्रैषणा, वही वित्तैषणा, लोकेषणा से विरत होकर भिक्षाचर्या से विचरते हैं। जो भी पुत्रैषणा वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा, वही लोकेषणा है। ये दोनों ही साध्य साधनेच्छाएं एषणाएं ही हैं। अतः ब्राह्मण पाण्डित्य (आत्मज्ञान)

---

180. छा० उ० 8।12।5
181. छा० उ० 8।12।6
182. छा० उ० 5।1।12
183. बृ० उ० 3।5।1

का पूर्णतया सम्पादन कर आत्मज्ञान रूप बल से स्थित रहने की इच्छा करे। तदन्तर वाल्य और पाण्डित्य को पूर्णतया प्राप्त कर वह मुनि होता है। तथा अमौन और मौन का पूर्णतया सम्पादन करके ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है। वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है, जिस प्रकार भी हो ऐसा ही ब्राह्मण होता है, इससे भिन्न और सब आर्त (नाशवान्) है।

तथा जो कुछ भी ब्रह्म के अतिरिक्त हम यहां प्रत्यक्ष रूप में देखते हैं, वह सत्य नहीं है अर्थात् सांसारिक जीवन का यह दु:ख-सुख सब असत्य है, अनित्य है, जिसने यह अनुभव कर लिया, वह सम्पूर्ण विश्व से एकात्म हो जाता है—उसे भय, कष्ट, शोक, मोह नहीं सताते। ब्रह्म विद् के लिए सब कुछ एक ही रूप है, सब कुछ आनन्द रूप है, सब कुछ आत्ममय[184] है उस ज्ञान को प्राप्त कर लेने पर निराशा छिन्न-भिन्न हो जाती है और आशा का सूर्य स्वयं उदित हो जाता है। यह आशा की किरण ही ब्रह्म है, आत्मा है, जो सब सृष्टि चक्र का मूल एवं निलय है।

2. एकेश्वरवाद :

वैदिक ऋषि असामान्य प्रतिभा सम्पन्न पुरुष थे उन्हें प्रातिभ चक्षु प्राप्त थे उन्हें बहुदेववादी प्रवृत्ति अधिक काल तक सन्तुष्टि प्रदान न कर सकी। उनके मन में अनेक शंकाएं तथा किस सर्वोत्तम देव[185] को हवि समर्पण करें, किसने उस प्रथमज[186] को देखा आदि विचारों के आलोडन के साथ-साथ अन्य ऋचाओं में अनेक देवों को एकदेवत्व की भावना में अनुस्यूत होते देखा गया। यथा उस देव को सन्त ऋषि अनेक प्रकार से वर्णित करते हैं। ऋग्वेद में एकेश्वरवाद पूर्णतया विकसित हो चुका था। परस्पर निरपेक्ष स्वतंत्र देववाद में भी एक ही सत्ता का विविध प्रकार से वर्णन लभ्य[187] है। इन्द्र, वरुण, यम और अग्नि मित्र सभी में एक सत्ता की प्राप्ति से विकासवाद की पुष्टि होती है। पुरुषसूक्त[188] से भी जो कुछ भी हुआ है और होगा वह सब पुरुष ही है। समष्टि रूप में प्रजापति और हिरण्यगर्भ आदि के वर्णनों में

---

184. अथ हैनं कहोल: कौषीतकेय: पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति—य आत्मा सर्वान्तरस्तंमे मुनिरमौनं च मौनं च—ब्राह्मण: स ब्राह्मण: केन स्याद्—उपरराम।
बृ० उ० 3।5।1
185. कस्मै देवाय हविषा विधेम। ऋ० 10।121
186. को ददर्श प्रथमं जायमानम्। ऋ० 164।4
187. एकं सद्विप्रा: बहुधावदन्ति। ऋ० 1।164।4
एक सन्तं बहुधाकल्पयन्ति। ऋ० 10।114।5
188. ऋ० 10।90

भी ईश्वर विषयक दर्शन के बीज विकसित होते प्राप्त होते हैं। प्रजापति और हिरण्यगर्भ उन्हीं देवों में श्रेष्ठतम स्थान प्राप्त करते हैं क्योंकि बहुदेवतावाद में देवता प्रायः प्रकृति के पदार्थों के अधिष्ठाता देवों के रूप में या केवल भौतिक वस्तुओं से ऊपर देवी गुणों से सम्पन्न सत्ताएं हैं। 'विश्वेदेवा' के अभिधान से समष्टि रूप में देवों की उपासना में ऋचाएं प्राप्त होती है शनैःशनै सृष्टिकर्ता के गुणों में विश्वकर्मा तथा देवत्वपन की झांकी प्राप्त होती है "महद्देवानामसुरत्वमेकम्' इसी भावना को हम विस्तार से उपनिषदों में प्राप्त करते हैं।

यद्यपि उपनिषदों में एकेश्वरवाद तथा अद्वैतवाद में कोई विशेष अन्तर हमें प्रतीत नहीं होता क्योंकि ये विचार एक दूसरे से इतने गुथे हुए हैं कि किसी भी प्रकार से इनको पृथक्-पृथक् रूप में वर्णन करना असम्भ है। विश्व[189] में एकत्व की खोज के लिए दो प्रकार के दृष्टिकोणों का आभास मिलता है। एक ओर ब्रह्म विषयक धारणा का विकास सम्पूर्ण विश्व को समाविष्ट करने के लिए किया गया था। वह पावनीं चिच्छक्ति जो विश्व की वस्तुओं का नियमन करती है, समस्त वस्तुओं को धारण करने वाली एवं उनकी देख-रेख करने वाली शक्ति के रूप में विस्तार पाती है। दूसरी ओर मानस तत्व का भी विकास होता है वहाँ अंशत जागरण एवं निद्रा की दशा में आत्मा की अवस्था के स्तरों से वह एकत्व पहले पहल 'प्राण' पुनः प्रज्ञा, तथा अन्त में आत्मा के रूप में कल्पित किया गया जिसका आधार ब्रह्म के स्वरूपों की अभिव्यक्ति की असमर्थता के कारण हम विश्वात्मा के रूप में माने जाने वाले ब्रह्म के साथ जीवात्मा के तादात्म्य के भावों को पाते हैं। किन्तु ब्रह्म का स्वरूप प्रज्ञा मात्र नहीं हैं। ब्रह्म के स्वरूप में त्रिक की गणना प्राचीन उपनिषदों में नहीं है। तै० में ब्रह्म को सत् चित् और अनन्त (आनन्द) कहा है। ब्रह्म को सत् असत् कहने में ऋग्वैदिक नासदीय सूक्त की ही आवृत्ति है और वह 'तदेकम्' का ही रूप यहाँ भी उभरता है।

अद्वैतवाद यह एकेश्वरवाद ही अद्वैतवाद के रूप में (एकमेवाद्वितीयम्) प्राप्त होता है। ब्रह्म से विश्व के विकास के रूप को इस प्रकार व्यक्त किया गया है। जैसे मकड़ी[190] से उसके तन्तु जाल का प्रसार, अग्नि से उसकी चिनगारियाँ, तथा लवण के जल में विलीन होने से आत्मा की व्याप्तता में केवल उस एक की ही सत्ता का आभास मिलता है। तैत्ति०[191] 50 में प्राण को ही ब्रह्म माना गया है। ईशावास्य-मिदं में भी उस सर्वव्याप्तता की ही प्रवृत्ति ने यथार्थवाद एवं व्यक्तित्व का साथ

189. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग–2, डा० सूर्यकान्त, पृष्ठ 639
190. यथोर्णनाभिः। मु० उ० 1।1।7
191. तै० उ० 3।1

छोड़ कर अद्वैतवाद में अपना स्वरूप बदल लिया। इसी अद्वैतवाद की भावना में कठ उ० में (छाया तपः) में ब्रह्म तथा जीवात्मा का भेद उभर आया जिसका श्वेताश्वतर में और भी विशद विवेचन किया गया है। वहाँ जीवात्मा तथा परमात्मा के तादात्म्य को अस्वीकृत करके उसकी उपलब्धि एकमात्र परमेश्वर की कृपा मानते हैं। इस प्रकार यहाँ द्वैतवाद की पुष्टि हो जाती है।

विश्वदेवतावाद

(पैन्थिज्म)—विश्वदेवतावाद का स्वरूप 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलान्, तथा[192] ब्रह्मवेदंसर्वं यहाँ दृश्यमान पदार्थ सब कुछ ब्रह्म ही है, हृदय कमल के भीतर यव से सूक्ष्म तथा पृथ्वी आदि से भी बड़ा आत्मा है। यह ब्रह्म ही है। इसी ब्रह्म से ये दृश्यमान उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे जीते हैं और अन्त में इसी में लीन हो जाते हैं उस तत्व को जान। उसी तत्व[193] से अकाश, वायु, अग्नि, आप्, पृथ्वी, औषधि, अन्न तथा पुरुष शरीर आदि सभी का निर्माण हुआ। इस अन्न रसमय शरीर से भिन्न प्राणमय आत्मा भी वही है।

उसने इच्छा[194] की कि मैं बहुत रूपों में प्रकट होऊं, उसने तप किया और जगत् की रचना करके उसी में स्वयं भी प्रविष्ट हो गया। वह स्वयं ही सत् (मूर्त) तथा त्यत् (अमूर्त) भी निरुक्त वर्णनीय और अनिरुक्त अवर्णनीय, निलयनम्, अनिलनम् सत्य तथा अनृत इन सभी रूपों में वह परम तत्व व्याप्त हो गया। जो कुछ[195] भी हैं वह वही है। छान्दोग्य में शाण्डिल्य विद्या अभिधान से इसकी ख्याति है। साथ ही संवर्ग विद्या[196] में वायु ब्रह्म की उपासना देवों में वायु के रूप में इंद्रियों में प्राण के रूप में की गई है, वायु ही सब कुछ है, ऐसा कहा है। षोडशकलाविद्या-ब्रह्म को सोलह प्रकार से समझाया गया है। वृषभ रूपी में वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि सभी को ब्रह्म का ही रूप बतलाते हैं।

---

192. छा० 3।14।1-4
193. तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। तै० उ० 2।1,2
194. सोऽकामयत। वहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तंच। तै० उ० 2।1।2,6
195. Brahman is the sole cause of the world, that it is the ultimate intelligent cause, and that all things, conscious and non-conscious, are grounded in it.

    दी कल्चरल हेंटिरेज आफ इण्डिया, भाग-1, पृष्ठ 170
196. तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु। छा० 4।3।4-9

पैन्थिज्म[197] के विषय में डायसन महोदय ने सर्वंखल्विदं ब्रह्म के रूप को ही विस्तार से समझाने का प्रयास किया है।

विश्वात्मवाद

बृहदारण्यकोपनिषद्[198] में उस स्वयं अक्षर को दृष्टि का विषय नहीं कहा है, किन्तु स्वयं द्रष्टा, श्रवण का विषय नहीं, किन्तु श्रोता, मनन का विषय नहीं किन्तु मंत्ता, स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरों का ज्ञाता, इससे भिन्न को द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षर में ही आकाश ओत प्रोत है। इसी प्रकार[199] हृदय स्थित ब्रह्म और परब्रह्म की एकता के विषय में छान्दोग्य में कहा है कि जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस इन सबको सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाक् रहित सम्भ्रम शून्य है। वह मेरा आत्मा हृदय कमल में स्थित है। यही ब्रह्म है इस शरीर से मर जाने पर मैं इसी को प्राप्त करूंगा जिसको इसमें सन्देह नहीं है वही ईश्वर को प्राप्त करता है। आत्मा ही यह सब कुछ है तथा वही तू है। परब्रह्म[200] परमेश्वर के ही निराकार रूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों किसी से भी ग्राह्य नहीं है। वह गोत्र आदि उपाधियों से रहित ब्राह्मण आदि वर्णगत भेद से भी रहित, रंग आकृति से रहित, नेत्र कान आदि इंद्रियों से रहित अत्यंत सूक्ष्म व्यापक, अन्तरात्मा में व्याप्त सर्वगत सूक्ष्म नित्य है।

---

197. God creates the universe by transforming Himself into the universe. The latter confessedly has become God. Since it is real and also infinite, there is no room for God independently of the universe. but only within it. The terms God and universe become synonymous, and the idea of God is only retained in order not to break with tradition. Indian pantheism is, however, described under the title of idealism. God alone and nothing besides Him is real. The universe as regards its extension in space and bodily consistence is in truth not real; it is mere illusion.

    दी कल्चरण हैरिटेज आफ इण्डिया, भाग-1; पृष्ठ 172

198. एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ—ओतश्च प्रोतश्चेति बृ०उ० 3।8।11

199. सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदम्—छा० 3।14।4

200. यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम्—तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः मु० 1।1।6

द्वैतवाद :—

द्वैतवाद के प्रतिपादन में मुण्डकोपनिषद् में 'द्वा[201] सुपर्णा को पूर्णतया उद्धृत किया गया है तथा अग्रिम मंत्र में वह जीवात्मा परमात्मा के साथ रहते-रहते इस शरीर में आसक्त होकर इसी में निमग्न रहता है, भोगों में लीन रहता है असमर्थ होकर दीनता में रत रहता है वह जीव है जो भगवान् की अहेतुकी[202] कृपा से जब वह सर्वव्यापक ईश के प्रकाश को देख लेता है तो वीतशोक हो जाता है। उसके स्वरूप रुक्मवर्ण[203] (दिव्य वर्ण वाले) को देख लेता है तो परम साम्य को प्राप्त होता है। द्वैत का ही प्रतिपादन श्वेताश्वतर में भी सवज्ञ तथा अज्ञ[204] सर्व समर्थ तथा असमर्थ दोनों को अजन्मा भोक्ता आदि विशेषणों से जान लेता है। यह जो द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता,[205] रसयिता मत्ता विज्ञानात्मा बोद्धा कर्ता आत्मा हैं वह भी उस अविनाशी परमात्मा मैं भली भांति स्थिर है तथा जो इस अक्षर, अविनाशी, को जानता है वह वही हो जाता है। इसी प्रकार कर्मफल वेत्ता की सम्पूर्ण अनुभूति होती है कि वह ब्रह्म के दर्शनों की प्रतीक्षा करे। जो उस आत्मा को साक्षात् करते हैं वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगों को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार कठोपनिषद् में भी मानव शरीर को पुण्यों द्वारा अर्जित कहा गया है और इस शरीर में दोनों का वास है किन्तु भोग में बड़ा अन्तर है जीवात्मा भोग भोगता है और परमात्मा द्रष्टा रहता है। अन्यत्र भी वह हृदय रूपी गुफा में छिपे ब्रह्म के साथ सभी भोगों का अनुभव करता है। 'क्षरमक्षरम्' में भी द्वैत स्पष्ट है।

सगुण रूप में ब्रह्म के वर्णन में जो द्वैत[206] के अभिधान से प्राप्त होता है वह पूर्णतया द्वैत का समर्थन नहीं करता और न पूर्ण अद्वैत का ही समर्थन करता है। यथा उस देवता में इस जीवात्मा रूप से ही तेज, अप् और अन्न के रूप को इस शरीर में प्रवेश करके प्राप्त करूं। तैत्तिरीय में भी जिससे ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं जीवित रहते, उसी में विलीन होते हैं वह भी ब्रह्म का ही रूप है। छाया और आतप के समान भिन्न है। माया को प्रकृति और माया[207] के अधिपति को महेश्वर

201. ऋ० 1।164।20, अथर्व० 9।9।20, श्वेता० 4।67, मु० 2।3।1
202. यमेवैषवृणुते। मु० 3।2।3।
203. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् मु० 3।1।3
204. ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ। श्वेत० 1।1।9
205. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता। प्रश्न० 4।4।9
206. दी कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, भाग-1, पृ० 343
207. अनेनैवजीवेनात्मनानु प्रविश्य नामरूपं व्याकरोत्। छा० 6।3।2
मायांतु प्रकृतिं विद्यान् मायिनं तु महेश्वरम् श्वे० 4।4।10

कहता इस प्रकार द्वैतवाद की सत्ता स्पष्ट है ।

इस प्रकार द्वैतवाद के साथ ही साथ हमें त्रैतवाद की स्थिति भी उपनिषदों में स्पष्ट रूप में प्राप्त होती है । यथा आत्मा,[208] परमात्मा तथा प्रकृति तीनों ही नित्य तथा अजन्मा वर्णित है । ईश[209] सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, जीव अल्पज्ञ, वे दोनों अजन्मा, तीसरी शक्ति जिसे प्रकृति कहते हैं जो भोक्ता जीवात्मा के लिए उपयुक्त भोग सामग्री प्रस्तुत करती है । फिर भी ईश शेष दोनों से विलक्षण हैं । प्रकृति और जीव दोनों उस ईश्वर की प्रकृतियां हैं और परमेश्वर इनके स्वामी हैं जो इस प्रकार इन्हें प्रत्यक्ष कर लेता है वह बन्धनों से मुक्त हो जाता । अग्रिम मंत्र में इसे और भी विशद रूप से समझाया गया है कि जो भोक्ता जीवात्मा, भोग्य, जडवर्ग तथा इन दोनों के प्रेरक ईश्वर को जान लेता है सब कुछ जान लेता है ।

अद्वैतवाद के विवेचन में द्वैत की स्थिति को अविद्यावस्था घोषित करते हुए याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को कहा कि उस विज्ञाता को कैसे जानें ? तथा अन्यत्र इसे जिस व्यक्ति के लिए सब आत्मा ही हो गया है वह किस के द्वारा देखे जिस ग्राह्य, अग्राह्य अशीर्ण को नेतिनेति कहा है उसको किस के द्वारा जाने यही अमृतत्व है । ब्रह्ममयता[210] का सुन्दर वर्णन किया गया है कि जो द्वैत समझता है यथा ये देव, ये वेद, ये भूत, यह सब जो कुछ भी है सब आत्मा ही है, और जो इससे भिन्न जानता है उसे पराजित होना पड़ता है । इसी भावना को स्पष्ट करते हुए छान्दोग्य में (एकमेवा-द्वितीयम्[211]) का उच्च घोष अनु गूँज रहा है कि आरम्भ में वह एक अद्वितीय ही था । आरुणि को मधुमक्खियों के विभिन्न पुष्प रसों में 'मधु' से भिन्नता के अवबोध का अभाव तथा नदियों के समुद्र में नाम रूप के अभाव तथा वृक्ष में सर्वत्र जल की स्थिति है तथा जीव के अभाव[212] में शरीर की मृत्यु हो जाती है । यह जो अणिमा रूप है यह सत्य है वह आत्मा है । हे श्वेतकेतो ! वही तू है । इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न प्रकार के विरोधी विचार भी हमें उपनिषदों में मिलते हैं जैसे वह ब्रह्म अग्राह्य है, तथा किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण नहीं होता वह अरूप है साथ ही उस ब्रह्म ने बहुत होने की इच्छा भी की है । इस प्रकार दोनों विचार विरोधी[213] हैं जिनका वर्णन ऊपर किया जा चुका है । अतः यह बल पूर्वक कहा जा सकता है कि ऊपर

---

208. दी फिलासफी आफ दी उपनिषद्स, डायसन, पृ० 246,
209. श्वे० उ० 1।19,12
210. बृ० उ० 4।5।7
211. छा० 6।2।1
212. जीवापेतं किलेदंम्रियते छा० 6।11।3
213. मु० उ० 1।1।6, छा० 3।1।4।4, 6।2।3, 6।3।2 ।

जो विभिन्न वादों को पृथक्-पृथक् शीर्षक देकर लिखने का प्रयास किया गया है वह प्रयास ही है।

3. पुनर्जन्म तथा मोक्ष :

ऋग्वेद में पुनर्जन्म सम्बन्धी विवरण अत्यन्त स्पष्ट रूपेण तो न्यून मात्रा में ही लभ्य होते हैं और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसके लिए कोई विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं मिलता किन्तु उपनिषदों में यह प्रायः दृढ़ीभूत सिद्धान्त सा हो गया है। ऋग्वेद में वसिष्ठ[214] के जन्म के विषय में वर्णन मिलता है। उस वसिष्ठ ने सहस्रों स्थान वाले जगत् में भ्रमण किया। उन्होंने यम द्वारा चोड़े वस्त्र को बुनते हुए, मातृरूप अप्सरा के पास गमन किया। हे वसिष्ठ। जव तुम देह धारणार्थ अपनी ज्योति को छोड़ रहे थे तब तुम्हें मित्रावरुण ने देखा। उस समय तुम एक जन्म वाले हुए। अगस्त्य तुम्हें यहां ले आए। पश्चात् में तुम उर्वशी में उत्पन्न हुए। इसमें वसिष्ठ के ही पुनर्जन्म का वर्णन है। देवता मनुष्यों की पुण्यों के उपभोग के उपरान्त देव लोक से वृष्टि के द्वारा वनस्पति रूप में वर्षा कर देते हैं उसका पुनर्जन्म वनस्पति में हुआ। अन्यत्र एक सूक्त में मृतव्यक्ति को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि हे मृत पुरुष तेरा श्वास[215] वायु में मिले, नेत्र सूर्य में, तुम अपने पुण्य कर्मों के फल को प्राप्त करने के लिए स्वर्ग, पृथ्वी अथवा जल में निवास करो। तेरे शरीर के अंश वनस्पतियों में व्याप्त हों। इसका अवशिष्ट आयु प्राणवान् हो, हे अग्ने। यह मृत व्यक्ति पुनर्जीवन को प्राप्त हो। इन उद्धरणों में यद्यपि इतना स्पष्ट रूप पुनर्जन्म के पोषण का नहीं मिलता है जितना कि निम्न सन्दर्भ में—

यथा वामदेव[216] कहते हैं कि हम मनु प्रजापति सबको प्रेरणा देने वाले सूर्य हैं, एवं हम ही दीर्घतमा के विद्वान् पुत्र कक्षीवान् ऋषि हैं, हम ही कवि उशना हैं, हमने ही अर्जुनी के पुत्र कुत्स को प्रशंसित किया है। तथा अग्रिम[217] सूक्त में वामदेव ऋषि ने कहा कि हमने गर्भ में रहते हुए ही इन्द्रादि सब देवताओं के प्राकट्य को उत्तमता को जान लिया। त्रसदस्यु ने कहा कि मैं इन्द्र हूँ, मैं वरुण हूँ। ऋग्वेद की विचार-

214. ऋ० 7।33।9,10,12

215. सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्या च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥
अजो—सुकृताम् लोकम्, अव सृज—तन्वा जातवेदः। ऋ० 10।16।3,4,5

216. अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृंजेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ ऋ० 4।26।1।

217. गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। ऋ० 4।27।1।

धारा कि (सूर्यं चक्षुर्गच्छतु, वातमात्मा) से कि मृत व्यक्ति के नेत्र सूर्य में तथा आत्मा वायु में मिल जाय, का ही निर्वहण ब्राह्मण ग्रंथों तथा उपनिषदों तक लभ्य होता है। यथा शतपथ[218] ब्राह्मण में—जब वह अग्नि निकल जाती है, तो वह वायु में मिल जाती है इसलिए कहते हैं कि वह समाप्त हो गई। जब आदित्य अस्त होता है तो वह वायु में मिलता है, वायु में ही चन्द्रमा, वायु में ही दिशाएं—जब इस रहस्य का जानने वाला इस लोक से जाता है, वाणी के द्वारा अग्नि में मिलता है। आँख के द्वारा सूर्य में, मन से चन्द्र में, श्रोत्र से दिशाओं में, प्राण से वायु में, ऐसा होकर जिस जिस देवता की कामना करता है, उस उसको प्राप्त हो जाता है। बृहदारण्य[219] कोपनिषद् में भी इसी प्रकार के प्रश्न को आर्तभाग ने महर्षि याज्ञवल्क्य से कहा—जिस समय इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में तथा प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथ्वी में, हृदयाकाश समय पुरुष कहां रहता है? भूताकाश में लोम औषधियों में और केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं। उस उस समय याज्ञवल्क्य ने कहा कि पुरुष पुण्यकर्म से पुण्यवान्, पाप कर्म से पापी होता है। यही उसका स्वरूप होता है।

कर्म सिद्धान्त भी पुनर्जन्म के साथ ही सम्बद्ध है जैसा कि वामदेव के प्रसंग से पुष्ट होता है वही विचारधारा उपनिषदों में अहंब्रह्मास्मि की भावना को पुष्ट करती है। उपनिषद् में देवयान[220] तथा पितृयान मार्गों का वर्णन है—देवों के तथा पितरों के दोनों मार्गों का वर्णन यहां प्राप्त होता है। पुनर्जन्म की ही पुष्टि करते हुए ऐतरेय उपनिषद् में यह वर्णन आया है कि इस पिता का ही आत्मस्वरूप पुत्र उसका प्रतिनिधि बन जाता है। इस प्रकार आयु पूर्ण होने पर दूसरी जगह कर्मानुसार[221] जहाँ जिस योनि में जन्म लेता है, वह इसका तीसरा जन्म है। इस प्रकार जन्म जन्मान्तर का यह क्रम चलता रहता है।

शतपथ[222] ब्राह्मण में इस प्रकार का वर्णन है जो कि इस रहस्य को जानते हैं या इस कर्म को करते हैं, वे मृत्यु के पश्चात् फिर जन्म लेते हैं। अमर नहीं होते और वे इस मृत्यु का ही भोजन बने रहते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्[223] में आत्म लोक की न

218. यदावाग्नि-सूर्यदेवं—श्रोत्रेणदिशः प्राणेनवायुमति। श० ब्रा० 10।3।3।8
219. यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति—पुण्यो वे पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेनेति। बृ० उ० 3।2।13।
220. देवयानस्य वापथः—पितृयाणस्यवा यत्कृत्वा देवयानं वापन्थानं। बृ०6।2।2
221. सोऽस्यामात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते—स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते। ऐ० 2।1।4
ते य एवयेतद्विदुः येवैतत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सम्मवन्ति ते सम्भवन्त
222. एवामृतत्व मभिसम्भवन्त्यथ य एवं न...पुनः पुनःभवन्ति ।।श०ब्रा०10।4।3।10
223. बृ०उ० 1।4।15, 5।16, 3।8।10

जानने वाला पुरुष महान् पुण्य भी करे तो भी उसका कर्म क्षीण ही हो जाता है। आत्म लोक के उपासक का कर्म क्षीण नहीं होता जो कोई इस लोक में अक्षर को न जान कर हवन करता है यज्ञ करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवान् ही होता है वह दीन है।

ऋग्वेद में वर्णित देवयान तथा पितृयान इन दोनों[224] यानों के वर्णन के भी निष्कर्ष पुनर्जन्म के सिद्धान्त में योग देते हैं। देवयान का मार्ग था जिससे कि मनुष्य कृत यज्ञ देवताओं के पास पहुँचता था अथवा जिस पर चल कर देवता यज्ञ में अवतरित होते थे और जिससे मृत्यु हो जाने पर मनुष्य स्वर्ग में पितरों तथा देवताओं के पास पहुँच जाता था। शरीर जल जाने पर आत्मा ज्वाला में प्रविष्ट हो जाता है तत्पश्चात् दिवस में, मास में; शुक्ल पक्ष में उत्तरायण में, वर्ष में, सूर्य में, चन्द्रमा में तदनन्तर ब्रह्म लोक में ले जाया जाता है। यथा महाभारत में भीष्म उत्तरायण मार्ग की प्रतीक्षा करते हैं। पितृयान के पक्ष में मार्ग भिन्न है। चन्द्रमा दोनों में समान है यह मार्ग धूम्रराशि, दक्षिणायन पितृ लोक का है। आत्मा पुनः पुण्य क्षीण होने पर पृथ्वी पर वीर्य के माध्यम से माता के गर्भ में प्रवेश करता है, जन्म लेता है। सदाचार तथा पूतात्माओं के लिए देवयान मार्ग आदि के लिए विवरण पर्याप्त लभ्य है किन्तु यहां विस्तार भय से नहीं किया जा रहा है। छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक, कौषीतकी आदि में ब्रह्म लोक का वर्णन है। यहाँ यह एक स्वतन्त्र कर्मसिद्धान्त के रूप में प्राप्त होता है बौद्धों में भी तुषित स्वर्ग में रहने का वर्णन मिलता है। इसका परिणाम यह है कि मानव का विचार ही उसके आगामी जीवन का निर्धारण करता है। ऋषि ईशापनिषद् में भी 'ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर' में अपने यज्ञमय भगवान् से याज्ञिक कृत्यों द्वारा (अपने सदाचरणों द्वारा) प्राप्तव्य लोक के देने की प्रार्थना करता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में देहान्तर गमन में जोंक[225] के दृष्टान्त द्वारा आत्मा के जिस शरीर को छोड़ने से पूर्व अग्रिम शरीर में प्रवेश करने का वर्णन प्राप्त होता है। जिस प्रकार जोंक एक तृण के अंत में पहुंच कर दूसरे तृण रूप आश्रय को पकड़ कर अपने को सकोड़ लेती है इसी प्रकार यह आत्मा इस शरीर को मारकर अचेतन मान कर दूसरे का आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेता है। इस प्रकार आत्मा के पुनर्जन्म का प्रायः व्यवस्थित रूपेण ही उपनिषदों में विवरण प्राप्त होता है।

---

224. ऋ० 1।7।85

225. तद् यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदंशरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वान्यमाक्रमाक्रम्यत्मानमुपसंहरति।
बृ० उ० 4।4।3

मोक्ष

ब्राह्मण विचाराधारा की प्रारम्भिक अवस्था में मोक्ष का विचार इतनी परिपक्वता को प्राप्त नहीं कर पाया था। यह तो आध्यात्मिक विकास की शनैः-शनैः ऊर्ध्वमुखी प्रगति है जिसको चरम चूडान्त उपलब्धि के रूप में आत्मा का ब्रह्मैक्य रूप प्राप्त होता है। अन्यथा वेदों में यज्ञ द्वारा दीर्घ आयु, सुख, सन्तति, राज्य, साम्राज्य, शत्रु विनाश, पाप नाश, विजय, हर्ष की ही बहुविध कामनाओं से ओत प्रोत वर्णन है। यथा—

इन्द्र[226] हमें उत्तम धन और ख्याति प्रदान करो। सौभाग्य देकर धन बढ़ाओ। हमारी वाणी मधुरिमामयी बनाओ तथा हमारे लिए सभी दिन सुख से पूर्ण हों। योग और क्षेम[227] अलभ्य वस्तुओं की उपलब्धि तथा लब्ध वस्तुओं के संरक्षण के साथ-साथ सदैव क्षेमकारी रहने की प्रार्थना वरुण से की गई है। इस प्रकार प्रलम्ब आयु तथा स्वर्ग की प्राप्ति हेतु अनेक उद्धरण दिए जा सकते हैं किन्तु यहां तो विचारधारा के विकास क्रम में मोक्ष की धारणा कैसे दृढ़ीभूत हुई, यही विवेचन अभीष्ट है।

ऋग्वेद में ही वरुण[228] से प्रार्थना की गई है कि मैं मिट्टी का घर प्राप्त न करूँ। तुम मुझ पर दया करो और तुम मुझे सुख दो। इन पंक्तियों से ऋषियों का एक उच्चतम वर्ग इस शरीर को पुनः न प्राप्त करने की प्रार्थना में आवागमन की भयानक पीड़ा प्रदायिनी प्रवृत्ति से ऊब चुका था जो पुनः जन्म न प्राप्त करने की प्रार्थना करता है। साथ ही सांसारिक विषयोपभोगों में लीन रहते भोगों को भोगते हुए भी तृष्णा से पीड़ित होता है क्योंकि विषयों के भोगने से तो इच्छाएं और बढ़ती हैं अतः उसका पीड़ा क्रन्दन इन शब्दों (अपांमध्ये[229] तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्) में है कि समुद्र के मध्य में रहते हुए भी मुझे प्यास लगी है। इस प्रकार मोक्ष की प्रवृत्ति की स्थिति स्पष्ट है। तथा वरुण के सहस्रों[230] द्वार वाले घर में प्रविष्ट होने की ऋषि की कामना है। और जो उसे जानता है। वह अमृतत्त्व[231] (देवत्व) प्राप्त कर चुका है। जो उस तत्व[232] को नहीं जानता वह वेद की ऋचाओं

---

226. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वमस्मे।
पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्॥ ऋ० 2।21।6
227. शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ऋ० 7।86।8
228. मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहंगमम्। मृडा सुक्षत्र मृडय। ऋ० 7।89।1
229. ऋ०7-89-4।
230. वृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते। ऋ०7-88-5।
231. य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः। ऋ० 1-164-23।
232. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।ऋ० 1-164-39।

को पढ़ कर क्या करेगा तथा हिरण्य[233] दान करने वाला भी अमृतत्व को प्राप्त करता है। संसार में रहने के लिए (विनष्ट होने के लिए) जीना चाहते हो इस सम्पूर्ण सूक्त में अन्तिम वाक्य यही है (क्षयाय जीव से)[234]। इस प्रकार इस नश्वर जीवन के प्रति जागरूकता सचेष्टता प्राप्त होती है साथ ही वामदेव के द्वारा गर्भ में रहते हुए ही विभिन्न जन्मों की स्मृति एवं मैं स्वयं मनु, इन्द्र, सूर्य कक्षीवान् की घोषणा से आत्म ज्ञानी की महिमा का भी यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से भी यज्ञानुष्ठान द्वारा विभिन्न देवों से सुख प्राप्ति तथा उनके समीपवास की आशा दिलाई गई है। देवता व्यक्तित्व विहीन होते गये और अन्त में अग्नि, इन्द्र, वरुण, प्रजापति, वृहस्पति, विश्वकर्मा आदि सभी देव ब्रह्म में लीन हो गए। आत्मा के साथ ऐक्य ही परम पुरुषार्थ का लक्ष्य होता गया। जो वैश्व् देव यज्ञ[235] करता है तो अग्नि ही हो जाता है अग्नि के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है इसी प्रकार वरुण प्रघास से वरुण का सायुज्य सालोक्य को प्राप्त करता है इसी प्रकार राजसूय यज्ञ करके राजा बनता है और जो कोई उस ब्रह्म को जान लेता है, वह[236] ब्रह्म ही हो जाता है और उसके कुल में सन्तान में कोई भी मनुष्य ब्रह्मा को न जानने वाला नहीं होता है। वह सब प्रकार के शोक, चिन्तादि से मुक्त होकर अमर हो जाता है। इस तथ्य का मात्र ज्ञान ही तो मोक्ष है। ऐसा योगी सब प्रकार की एषणाओं से विरत होकर कहता है कि हम प्रजा[237] (सन्तान) से क्या करेंगे। ऐसे मनुष्य के पाप पुण्य का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिस प्रकार इषीकातूल[238] अग्नि में पड़ कर भस्म हो जाते हैं उसी प्रकार ऐसे विरक्त ज्ञानी के सम्पूर्ण पाप स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

मुक्ति के चार प्रकार हैं जिनमें सामान्य भेद भी हैं यथा सामीप्य अर्थात् दिव्य के साथ घनिष्ठता साधर्म्य दिव्य के साथ स्वरूप की समानता जो उसके तेज को प्रतिबिम्बित करती है। सालोक्य अर्थात् दिव्य के साथ एक ही लोक में सचेत, सह अस्तित्व और सायुज्य अर्थात् दिव्य के साथ संयोग जो एकरूपता के सदृश है। मुक्त आत्मा की स्थिति इस प्रकार की है जैसे अश्व अपने अयाल झाड़ कर फेंक

---

233. हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः। ऋ० 10-107-2।
234. ऋ० 10-58-1-12।
235· सयद्वैश्वदेवेन यजते। अग्निरेव—सायुज्यं सलोकतां। वरुण प्रघासैर्यजते वरुण एव तर्हिभवति वरुण—सायुज्यं सलोकतां। श० ब्रा० 2।6।4।8
236. स योह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। मु०3।2।9
237. किं प्रजया करिष्यामो येषाँ नोऽयमात्मा यं लोकइति—पुत्रैषणायाश्च वित्तेषणायाश्च—व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तिं। बृ० उ० 3।5।1
338. तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रौतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते। छा० 5।24।3

देता है उसी प्रकार यह पापों से मुक्त हो जाता है तथा उसके साथ इस प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे सरकंडे की लकड़ी आग में भस्म हो जाती है। मोक्ष[239] कर्म साध्य नहीं है यह ज्ञान से नष्ट होने वाला है।

जीवन्मुक्त के बाहरी शरीर में कोई परिवर्तन नहीं होता वह वैसा ही बना रहता है। उसकी सशरीर स्थिति आन्तरिक सत्ता की केवल आच्छादन मात्र रहती है। उसका शरीर पर नियंत्रण रहता है इस लिए शारीरिक दशा उस पर प्रभाव नहीं डालती वह उसके वाह्य आवरणमात्र के ज्ञान को जानता है उलझन पड़ने पर भी वह स्पष्ट दृष्टि से कार्य करता हैं। जीवन्मुक्ति तो जीवन रहते ही मुक्त की स्थिति पा लेना, विदेह मुक्ति तो मृत्यु के उपरान्त किन्तु दोनों दशाओं में आत्मा अब शारीरिक बन्धनों से मुक्ति पा लेता है। मोक्ष की स्थिति में परम ब्रह्म के ऐक्य कुछ में विश्वात्मा के प्रति भक्ति तथा जगत् के कार्यों पर जोर। जब ईश से मिलन होता हैं तो चेतना की गहरी पर्तें सक्रिय हो जाती हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य तो (प्रेत्यसंज्ञानास्ति)[240] कहते हैं कि उस स्थिति में व्यक्ति अकाम हो जाता हैं कोई चेतना भी नहीं रहती जैसे शहद में विभिन्न पुष्प रसों[241] का भेद नहीं होता इसी प्रकार आत्मा किन शरीरों से आई है इसका भेद नही रहता यह प्रदीप्त चेतना है। यह सर्वथा कालातीत अवस्था है यह अवैयक्तिक अमरता है जिसमें आत्मा को निरपेक्षता, निरुपाधिक[242] सत्ता प्राप्त हो जाती है।

कुछ अंशों में आत्मा के लिए यह कहा गया है कि उसके साथ उपाधियां होती हैं जो व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं और अन्य अंशों में इन्हें अस्वीकृत किया गया है। बादरायण[243] ने इन दोनों मतों का सामंजस्य इस प्रकार किया हैं कि व्यक्तित्व को धारण करना या न करना मुक्त आत्मा की पूर्णतया स्वयं की इच्छा पर आधारित होता हैं। वह यदि चाहे तो स्वेच्छा से निर्मित अनेक शरीरों में प्रवेश कर सकता है जिस प्रकार दीपक की शिखा अपने को कई शिखाओं में परिवर्तित कर सकती हैं।

जब ब्रह्म और आत्मा को एक मान लिया गया और सर्वोच्च लक्ष्य आत्मा के साथ एकता की प्राप्ति ही हो गया। मानव जीवन का लक्ष्य ज्ञान द्वारा ब्रह्म के तादात्म्य की प्राप्ति हो गया क्योंकि आत्मा और ब्रह्म को एक मान लिया गया।

---

239. मोक्षो न कर्म साध्यो विद्यास्तमयत्वात्। ब्रा० सू० 3।3
240. बृ० 2।4।12,
241. छा० 6।6।10।
242. यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा तु अशरीरतां तदा अशरीर इति। ब्रा० सू० 4।।4।12।
243. —वही—4।4।15

इस प्रकार मुक्ति या मोक्ष स्वर्ग से भिन्न कोई वस्तु है ऐसा निश्चय हो गया और स्वर्ग व्यक्तित्व सहित प्रकृति का ही एक भाग है क्योंकि उसमें इससे ही कहीं बढ़ कर सुख हैं और वह नाशवान् है।

जीवात्मा युगों तक वहां रहने पर (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति) के अनुसार अपने पुण्यों के क्षीण होने पर देवताओं के द्वारा स्वयं वृष्टि के रूप में पृथ्वी पर अवतरित कर दिया जाता है क्योंकि कर्मफल की सीमा यही है। इसके विपरीत मोक्ष परमात्म तत्व में पूर्णरूपेण एकत्व की स्थिति है वहां स्वर्ग जैसा भौतिक सुखों का स्वकेन्द्रित भण्डार न होकर अमन्द असीमित आनन्द अवर्णनीय सुख है। ऐसा व्यक्ति जागतिक आनन्दों से मुक्ति पाकर अमित आनन्द में लीन हो जाता है स्वर्गिक सुख ससीम है, निश्चित समय के लिए है जबकि मोक्ष अनंत आनन्द है, कालातीत है। संक्षेप में यही मोक्ष का वर्णन है।

निष्कर्ष

उपनिषदों[244] का भारतीय मानव के जीवन में अप्रतिम महत्व है। इन्हें यदि हम भारतीय आत्मा की प्रेरणा प्रदायिनी शक्ति कहें तो कोई आश्चर्य नहीं। भारतीय ही नहीं अपितु विदेशी जर्मन देशीय दार्शनिक शोपेनहावर की मेज पर उपनिषदों की एक लैटिन प्रति रहती थी और वे सोने से पहले उसमें से ही अपनी प्रार्थनाएं किया करते थे। उपनिषदों के विषय में उनके उद्‌गार ये हैं:

इनके प्रत्येक वाक्य में से गहन, मौलिक[245] और उदात्त विचार फूटते हैं और सभी कुछ एक उच्च, पवित्र और एकाग्र भावना से व्याप्त हो जाता है। समस्त संसार में उपनिषदों जैसा कल्याणकारी और आत्मा को उन्नत करने वाला कोई और ग्रन्थ नहीं है। ये सर्वोच्च प्रतिभा के प्रसूत हैं। देर सबेर ये लोगों की आस्था का आधार बन कर रहेंगे। डायसन[246] के शब्दों में ये ऐसी दार्शनिक धारणाओं की स्थापना करती हैं जो भारत में या शायद विश्व में भी अद्वितीय हैं। अथवा दर्शन की प्रत्येक मूल समस्या को सुलझाती है! उपनिषदों में जहां इस जगत् के सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण के लिए एक आध्यात्मिक जिज्ञासा है वहां मुक्ति की उत्कट लालसा भी है। इनके विचार न केवल हमारे मन को प्रकाश देते हैं बल्कि हमारी आत्मा को भी विकसित करते हैं।

औपनिषदिक विचारधारा में हमें जागतिक उपलब्धियों के रम्य एवं आकर्षक

---

244. रिलीजन आफ दी वेद—ब्लूम फील्ड पृ० 55।
245. उपनिषदों की भूमिका—डा० राधाकृष्णन् पृ० 13 टिप्पणी 1
246. —वही—टिप्पणी 1। पृ० 14

बन्धनों से निरन्तर ऊपर उठने की प्रेरणा देती है इसका कारण यही है कि इनके सृष्टाओं की आत्मा तपोबल से पूत थी वे तप: पूत मनीषी आत्मा की निर्मलता में उस दिव्य तत्व की ओर अग्रसर होकर अपने जीवन को अलौकिक बनाना चाहते थे और रहस्यों का उद्घाटन भी करते थे। उनका लक्ष्य पूर्व ऋषियों के प्रदर्शित मार्ग पर बढ़ते हुए आगे आने वाले सामान्य जन के लिए मार्ग प्रदर्शन करना था। उनका यह प्रयत्न आत्मिक पुनरुत्थान की अजय एवं अविरल ज्ञान धारा को प्रवाहित करता रहेगा। इसी विचारधारा से विदेशी गोर्डन मिल्बर्न[247] ने प्रभावित होकर (क्रिश्चियन वेदान्तिज्म) नामक पुस्तक लिखी है। उन्होंने भारत में ईसाई धर्म को वेदान्त की आवश्यकता बतलाई है।

डायसन[248] ने उपनिषदों के अध्ययन के तीन निष्कर्ष निकाले हैं।

1. आत्मा ज्ञातृ आत्मा है वह ज्ञान क्रिया का कर्ता है।
2. अपने इस रूप में वह किसी प्रकार के ज्ञान का विषय नहीं बन सकता।
3. आत्मा से परे कोई सत्ता नहीं है क्योंकि एकमात्र यही एक सत्य है।

बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य में सृष्टि रचना एवं अद्वैतवादी स्वतंत्र तथा प्राचीनतर जो ऐसे प्रमुख धाराओं के दर्शाने वाले विचार हैं उन्हें डायसन भी महत्व देते हैं और वे याज्ञवल्क्य के बल को महत्व देते हैं। यह कहते हुए कि आत्मा एक है जिसकी एकता व्यक्तित्व से उद्भावित द्वैत जीवन से दूर जाती है किन्तु जो सुषुप्ति में क्षण भर के लिए और मृत्यु में सदा के लिए लीन हो जाती है।

उपनिषदों में क्रिया (चेतना द्वारा प्रेरित) मात्र सांयोगिक घटना न होकर, सतत गति के रूप में स्वीकृत है। उपनिषत्कार इन घटना तथा क्रियाओं के मूल में चेतन सत्ता को ही इन सब का आधार मानते हैं। वह शक्ति ब्रह्म ही है जिसके द्वारा यह सब प्रकाशित हो रहा है। केनोपनिषद्[249] में परब्रह्म परमेश्वर ने देवों पर कृपा की और उन्हें शक्ति प्रदान कर असुरों पर विजय दिलाई, किन्तु वे उस विजय को अपनी समझ बैठे। बाद में यक्ष के द्वारा अग्नि, वायु की सीमित शक्ति का बोध करा कर उमा हेमवती ने उन्हें ब्रह्म की शक्ति का ज्ञान कराया। वास्तव में इन जागतिक शक्तियों द्वारा जो कुछ भी सम्पन्न होता दिखाई देता है वह उनका नहीं है। अन्त में ब्रह्म की शक्ति द्वारा प्रेरित है क्योंकि क्रिया चेतन में ही होती है। क्रिया को घटना मात्र के रूप में देखना नगण्य है। स्वयं घटनाओं को क्रिया के रूप में जानना चाहिए। इस प्रकार सत्ता में कर्ता और क्रिया का अस्तित्व असंदिग्ध है। इसी प्रकार यह जड़ प्रकृति भी सत्ता का एकांश है, इसमें स्वयं की शक्ति नहीं है जो

247. उपनिषदों की भूमिका—डा० राधाकृष्णन्, पृ० 15, टिप्पणी 1
248. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग 2, पृ० 638, डा० सूर्यकान्त।
249. ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये—त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजय:। केन० 3।3।1

भी शक्ति है वह ब्रह्म की है। 'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं वर्तते[250]। प्रकृतिपुरुष चेतनत्व युक्त ही क्रियाशील होता है जैसे रथ अश्वों से युक्त होने पर ही सारथि के द्वारा चलने में समर्थ होता है। इसी प्रकार भोक्तृत्व तथा कैवल्यार्थ प्रवृत्ति होने के कारण ईश्वर की सत्ता का स्पष्ट प्रमाण लभ्य होता है।

देवाधिदेव इन्द्र को बहुशोभमाना हेमवती 'उमा' के द्वारा इस ब्रह्मविद्या का ज्ञान मिला। वस्तुतः वह भी परम ब्रह्म की उस चेतन शक्ति का प्रतीकात्मक विवरण है। शिव भी इकार शक्ति से विरहित 'शव' भौतिक पिण्ड प्रकृति मात्र रहते हैं अतः ब्रह्म की चिच्छक्ति है, उस उपनिषद् विद्या, ब्रह्म विद्या की प्राप्ति हेतु तपस्या[251] इन्द्रियदमन तथा कर्तव्यपालन ये तीनों ही आधार हैं केवल पुस्तक रटने मात्र से ज्ञानोपलब्धि नहीं, उसका रहस्य ही प्राण है उसका ज्ञान तपःपूत प्राणियों को ही प्राप्त होता है।

दार्शनिक मानव सामान्य मानव से तीन दृष्टियों में महत्वपूर्ण जीवन का अनुपालन करता है। यथा सर्वप्रथम उसको शारीरिक भोगों, ऐश्वर्य, चक्षु, श्रवण, स्पर्श रस आदि सुखों से अपने शरीर को नियमित[252] नियंत्रित करने के लिए तपस्या करनी है वह त्याग अथवा अत्यल्प मात्र शरीर धारणार्थ आहार विहार का सेवन करता है तदनन्तर उन भौतिक सुखों का मन से भी बहिर्निष्कासन, चिन्तन में भी वे विषय न आयें अर्थात् इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने के लिए उनका दमन करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियां ही तो घोड़े[253] हैं और उनके विचरने का स्थान विषय ही है और इन्द्रिय तथा मन के साथ रहने वाले जीवात्मा को ही इनका भोक्ता कहा गया है। इन्द्रियां बहिर्मुखी[254] हैं। शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन्द्रियों के ये सभी स्थूल विषय बाहर हैं। इनका यथार्थ ज्ञान कराने के लिए इन्द्रियों की रचना हुई। तीसरा कर्तव्यपालन नामक अनुशासन भी कम महत्व का नहीं क्योंकि यदि उपर्युक्त दोनों तप तथा दम में लीन होकर अपने कर्तव्य से विमुख होगा तो गीतोक्ति के अनुसार 'संकरस्य च कर्ता स्यां हन्यां बहुप्रजाम्' के अनुसार यद्यपि मुझे कुछ भी करणीय नहीं है तो भी कर्म तो करना ही है। इस प्रकार उपनिषदों में शरीर का अनुशासन मन का अनुशासन तथा कर्म का अनुशासन भली प्रकार से वर्णित किया गया है और इनमें कर्म तथा ज्ञान का सुन्दर समन्वय मिलता है किन्तु इनका लक्ष्य ज्ञान की ओर ही है।

---

250. संघात परार्थत्वात्—भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च। सांख्य का० 17
251. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्। केन० 4।8
252. केन० 4।8
253. क० 1।3।4
254. क० 2।1

आचार पक्ष के विवेचन की रूपरेखा—

1. ऋत का महत्व
2. क्रतु के अर्थ में परिवर्तन
3. धर्म शब्द का प्रयोग
4. मायावी होना दोष
5. पाप-नाश की कामना
6. पाश से मुक्ति
7. दान दक्षिणा का महत्व
8. क्षेम योग की प्रार्थना
9. नैतिकता का सच्चा स्वरूप
10. सार्वजनीन हित
11. विश्वबन्धुत्व की भावना
12. श्रद्धा जीवन का प्रमुख अंग

1. ऋत का महत्व

आचार पक्ष से याज्ञिक कृत्य तथा सदाचरण दोनों का ही ग्रहण है किन्तु यहां हमारा विषय बौद्ध विचारधारा से तुलना करना है। इसलिए यहां सदाचार पक्ष का ही विवेचन किया गया है।

वैदिक सुदीर्घकालीन विचारधारा में पृथक् रूपेण किसी भी सामाजिक हित का विचार एक क्रमबद्ध रूप में प्राप्त करना कठिन है क्योंकि वेदों की ऋचाओं की अनुभूति उनकी लिपिबद्धता समाज के विभिन्न कालों, स्थानों तथा विविध ऋषियों द्वारा हुई है। उस समय भी 'संगच्छध्वं संवो मनांसि जानताम्' हम सभी एक साथ चलें हमारे मन एक जैसे हों तथा दुष्कर्मी मनुष्य[255] सत्य के मार्ग को पार नहीं कर सकते, मित्रो समान[256] मन होकर रहो, सत्य के पथ पर[257] चलो, हमारा मन कल्याणकारी[258] संकल्प वाला हो, हम कल्याणवाही[259] पथ के पथिक हों। भारत में कल्पना प्रवणता के साथ-साथ दार्शनिक विचारों को विशेष महत्व दिया गया है।

भारत की विचारधारा[260] यहां की जलवायु तथा जीवन एवं जातीय संमिश्रण

255. ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः। ऋ० 9।73।6
256. उद् बुध्यध्वं समनसः सखायः। ऋ० 10।101।1
257. ऋतस्य पथा प्रेत यजु० 7।45
258. तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु। यजु० 34।1
259. स्वस्ति पन्थामनुचरेम ऋ० 5।51।15
260. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग 2, डा० सूर्यकान्त, पृ० 585

की विभिन्न दशाओं के कारण क्रिया की ओर न मुड़ कर कल्पना की ओर प्रवण हुई और जीवन को पाप और पुण्य के मध्य एक युद्ध समझने की अपेक्षा उसके भीतर एकत्व को देखने के लिए अग्रसर हुई। ऋग्वेद में वरुण को धृतव्रती तथा व्रत का पालक द्रष्टा और पाप के पाश का प्रयोक्ता वर्णित किया गया है।

'ऋत'[261] प्रकृतिक का वह धर्म है, जिसके द्वारा निर्बाध रूप से प्रकृति में सारे कार्य व्यापार चलते हैं। ऋतुओं का आगमन, सूर्योदय, दिन और रात्रि का आगमन अन्य परिवर्तन आदि सम्पूर्ण प्राकृतिक विधानों की क्रमबद्धता के मूल में ऋत है। वैदिक धारणा में चराचर लोक की सृष्टि, संवर्धन और संहार का नियामक तत्व ऋत है। प्राकृतिक शक्तियां ऋत के नियमानुसार स्व आचरण में लीन हैं। ऋत से ही प्रकृति के सम्पूर्ण कार्य सुचारु रूपेण चलते हैं। ऋत के विपरीत अनृत है पाप है जिस पर वरुण की कठोर दृष्टि लगी है। ऋत के नियम का विरोध होते ही वरुण पाश तैयार है।

इस प्राकृतिक नियम (ऋत) का पालन समाज के संगठन में अतीव उपयोगी हुआ। कतिपय नियमों की आचारसंहिता बनी जिससे जीवन में क्रमबद्धता, व्यवस्था सुचारुरूपता आई। वैसे याज्ञिक कृत्यों में नियमबद्धता का अत्यंत कठोरता से पालन किया जाता था इसी प्रकार समाज में भी इन नियमों से सुव्यवस्था आई। उन्होंने वरुण सूर्य[262] आदि देवों को मनुष्य के सुकर्म तथा दुष्कर्म का लेखा जोखा रखने वाला देव बतलाया। मित्र और वरुण[263] सत्य के द्रष्टा हैं। वे ऋत के स्वामी मित्रावरुण साम्राज्य के निमित्त प्रतिष्ठित हों। वे व्रतधारी, बल को व्याप्त करने वाले हों। वे प्राणियों के ज्ञाता, सब को प्रेरणा देने वाले मित्रावरुण तेज और बल से सुशोभित हुए। सोम[264] को सम्बधित करते हुए कहा है कि तुम सत्यभाषी सत्ययशस्वी तथा सत्यकर्मा[265] हो। पुरातन[266] नियम कहाँ हैं, कौन नया पुरुष उसे धारण करता है, तुम्हारा नियम क्या है, उन नियमों के विपरीत क्या है ?

मित्रावरुण[267] अपने ऋत के तेज से असत्य[268] का निवारण करते हैं। सत्य से

---

261. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमि, डा० रामजी उपाध्याय, पृ० 482
262. ऋ० 4।1।17
263. ऋ० 8।25।7-9
264. ऋतंवदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन्त्सत्यकर्मन् । ऋ० 9।103।4
265. क्व ऋतं पूर्व्यं गतं कस्तद् विभर्ति नूतनो वित्तं मे अस्य रोदसी । ऋ० 1।105।4
266. कदू ऋतं कदनृतं क्व प्रत्ना । ऋ० 1।105।5
267. यद्ध—अनृतं स्वेन । ऋ० 1।139।2
268. ऋतावानः प्रतिचक्ष्यानृता । ऋ० 2।24।7

भूमि का आकर्षण है और ऋत से आदित्य है। ऋत से ऋत[269] ढका हुआ है ऐसा सूर्य के आवरण को लक्ष्य करके कहा गया है। ऋत[270] से ऋत का स्पर्श करते हुए, यहाँ जल की ओर संकेत है। वरुण के लिए सत्य मार्ग का दिखाने वाला यज्ञ रक्षक तथा धन प्रदाता कहा है और ऋत से सम्बन्धित विशेषण दिए गए हैं। सत्य रहित[271] तथा सत्य वाणी से शून्य पापाचारी अध: पतन को प्राप्त होते हैं। ऋत देव के अनेक रूप[272] हैं। साधक गण उनसे अन्न की याचना करते हैं उनके द्वारा गौवें दक्षिणा के रूप से यज्ञ में जाती हैं। स्तुति करने वाले ऋत देव को वश में करने के लिए उनका भजन करते हैं। आकाश और पृथ्वी दोनों ऋत देव ही हैं। इन्द्र[273] को भी ऋत या ऋतजा कहा है। राजावरुण[274] जनों के सत्य तथा अनृत के द्रष्टा हैं। मित्र वरुण को ऋत श्रेष्ट कर्मों के लिए उत्पन्न हुआ कहा गया है। यज्ञ विमुखों के विनाशी ऋग्वेद में ही सत्य तथा असत्य वचन परस्पर विरोधी हैं तथा अनृतदेवों का उपासक होने के कारण क्रोध न करने की प्रार्थना की गई है।

'सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते'[275] यदि वाहमनृतदेव आस मोघं वा किमस्मभ्यं' मित्रावरुण सूर्य के रूप में सत्य को दृढ़ करता हुआ असत्य को मिटाता है। 'ऋतंपि-पर्त्यनृतं नि तारीत्' ऋग्वेद के प्रसिद्ध सूक्त 164 में ऋत को ज्ञान के प्रथमांश के रूप में ग्रहण किया है कि जब ऋत का ज्ञान होता है तभी मैं किसी वाक्य को समझ पाता हूँ। (यदामागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्या:) जो प्राचीन कालीन पुरुष पुण्य कर्मों[276] के द्वारा फल के अधिकारी हुए तथा जो पुण्य के स्रोत को विस्तृत कर चुके हैं और जिन्होंने तपस्या का फल संचय किया है। ऋत निरन्तर अनृत के विरोध में प्रयुक्त हुआ है। असत्यवादी[277] का पेट फूल जाता है। इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे इन्द्र। मिथ्याभाषी राक्षस मुट्ठी में बंधे[278] जल के समान अस्तित्वहीन हों जो सत्यप्रिय होकर भी मुझे स्वार्थवश लांछित करें और जो

---

269. ऋतेन ऋतमपहितं, सपन्तेषिरं। ऋ० 5।62।1, 5।68।4
270. ते हिसत्यां ऋतस्पृश ऋतावानो जने जने।ऋ०5।67।4
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावना जने। ऋ० 5।65।2
271. पापास: सन्तों अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम्। ऋ० 4।5।5
272. ऋतस्य हि···ऋतस्य धीतिर्वृजिनानिहन्ति। ऋ० 4।23।8
273. ऋ० 7।20।6
274. यासां राजा वरुणो याति मघ्ये सत्यानृते।ऋ० 7।49।3
275. ऋ० 7।104।12, 14
276. ऋ० 1।152।3, 1।164।37
277. अथर्व० 4।16
278. ऋ० 7।104।8, 9

कल्याण की भावना वाले पुरुष मुझे व्यर्थ दोष दें उन्हें सर्प के ऊपर फेंक दें।

'विनयशील में पहले तो प्रजापति ने और फिर ब्रह्म ने वरुण के आध्यात्मिक तत्वों को आत्मसात् कर लिया, बाद में मृतकों ने राजा के रूप में उभरते हुए यम की लोकप्रियता ने उसके पाताल सम्बन्धी कार्यों की सीमा बांध दी, फलतः वह देवता जो एक समय ऋत का प्रमुख संरक्षक था अब जलों के क्षेत्र पर उतर आया जोकि आकाश देवता का रूप उसका अपना था और जिसे कोई भी देवता उससे न छीन सका। कहना न होगा ऋत विषयक धारणा भी ब्रह्म के उदय से पूर्व ही लुप्त हो जाती है' इनके इस कथन से कि 'कर्म के नैतिक पक्ष के प्रति उदासीन हैं में सहमत नहीं हूँ।

2. क्रतु के अर्थ में परिवर्तन

क्रतु शब्द जो अभी तक यूप वाले यज्ञ के लिए ही था, वह कर्म (सदाचरण) में प्रयुक्त होने लगा। क्रतु शब्द का विवेचन हमने ब्राह्मण श्रमण परम्परा का दार्शनिक विवेचन पुस्तक में किया है यहां केवल इतना संकेत पर्याप्त होगा कि इन्द्र के लिए शतक्रतु विशेषण अनेक स्थलों पर किया गया है वहां इस शब्द का अर्थ अनेक क्रतुओं कर्मों वाले इन्द्र का बोध सदाचरण के लिए हुआ है, भले ही उसमें शत्रु का विनाश और स्तुति करने वालों का अभ्युदय निहित हो। वरुण के लिए उनके व्रत अटल हैं, उनके नियम क्षीण नहीं होते ऐसा कहा गया है। अनेक स्थशों पर देवयवः, देवनिदः, ब्रह्मयवः ब्रह्मद्विषः यज्ञवाह यज्ञदिषः, देवकामः,देवयन्तः आदि उदाहरणों में कर्म का ही अर्थ में परिवर्तित होता गया है। इसी श्रेष्ठ कर्म के उदाहरणों में ऋभुओं[279] ने मरणधर्मी होते हुए भी अपने सत्कर्मों द्वारा अमरत्व पाया तथा वे सूर्य के समान तेजस्वी हुए।

3. धर्म शब्द का प्रयोग

धर्म शब्द का जो अर्थ आज प्रचलित है उससे कहीं दूर हम उस युग के धर्म शब्द को समझेंगे किन्तु तात्विकरूपेण धर्म की व्याख्या जो (धारणाद्धर्म मित्याहुः) के अर्थ में धर्म की उपयुक्तता तथा औचित्य आज भी वही है यथा मित्रावरुण[280] धर्म से संसार की रक्षा करते हैं। द्यावापृथिवी[281] के लिए वरुण के धर्म द्वारा धारण की हुई अनेक कर्म वाली होने की प्रार्थना की गई है। इन्द्र[282] अकर्मी असुरों का विनाश करे। अग्नि सहस्रों धन के देने वाली है जो मनुष्य कर्म नहीं करते, वे कर्मवान् के

279. मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः सौधन्वाना ऋभव। ऋ० 1।110।4, 5
280. ऋ० 8।103।3
281. व्रतेन स्थो ध्रुवक्षेमा धर्मणा यातयज्जना। ऋ० 5।72।2
282. त्वं विश्वस्माद् भुवनात्पासि धर्मणासुर्यात्पासि धर्मणा। ऋ० 1।134।5

वश में रहते हैं इसलिए यज्ञ रूप कर्म में अग्नि की परिचर्या करो।

4. मायावी होना दोष

यद्यपि इन्द्र को स्वयं भी 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि के द्वारा मायावी कहा गया है। माया का वह रूप[283] जो कि ब्रह्म की माया के समान है उसी के प्रतिरूप जागतिक कृत्यों में मायावी छल छद्म से युक्तता को दोष ही माना गया है। दीर्घतमा[284] ऋषि इस मंत्र में मायावियों को दूर हटाने की प्रार्थना करते हैं। तुम्हीं ने पशु रूप मायावी[285] वृत्र को मारा। तुम स्वयं प्रकाशमान हो। हे इन्द्र[286] तुमने अपनी माया से ही उस मायावी शुष्ण पर विजय प्राप्त की। हे इन्द्र[287] तुमने मायावी वृत्र का बध किया। हे इन्द्र[288] ! जो राक्षस हव्य सामग्री खा जाते थे उन प्रपंचियों को तुमने दूर हटाया। हे इन्द्र तुमने मायावी[289] शुष्ण को मारा। तुमने[290] मायावी शुष्ण को बांध कर रखा था। कपट से कपट[291] बढ़ता है। सत्य[292] के समक्ष असत्य (मायावी) की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती।

5. पाप-नाश की कामना

ऋग्वेद में ऐसे अनेक स्थल हैं जहां कि वैदिक ऋषि पापों से दूर रहने की कामना करते हैं। हम सदैव[293] पाप से दूर रहने की इच्छा करते हैं। पाप[294] का नाश करने वाले वरुण हमारा जो पाप देखें, उसी से हमें मुक्त करें। तात्कालीन ऋषि पाप से अत्यन्त भयभीत हैं तथा पाप स्वयं करने से ही नहीं अपितु वह अन्य प्रकार से भी सम्भव है अतः उन सभी सम्भावनाओं के प्रति वे जागरूक हैं उन्होंने इस मंत्र में

---

283. रूप रूपं मघवा वोभवीति माया: कृण्वान स्तन्वं परिस्वाम्। ऋ० 3।53।8
284. ते मायिनो ममिरे। ऋ० 1।158।4
285. यद्ध त्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययाव धीरर्चन्ननु स्वराज्यम्। ऋ० 1।80।7
286. मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। ऋ० 1।11।7
287. ऋ० 1।32।4
288. त्वं मायाभिरप मयिनोऽधमः। ऋ० 1।51।5
289. यन्मायिनो व्रन्दिनो ऋ० 1।54।4
290. येन शुष्णं मायिनमायसः। ऋ० 1।56।3
291. माया ह जज्ञे मायाया। अथर्व० 8।9।5
292. ऋ० 7।104।12
293. ऋ० 3।39।8
294. प्रति यच्चष्टे अनृतमनेना अवद्विता वरुणो मायीनः सात्। ऋ० 7।28।4

कहा है कि पाप[295] अपने दोष के कारण ही प्राप्त नहीं होता, अपितु वह क्रोध,भ्रम, जुआ खेलना, अज्ञान अथवा देवगति से भीप्राप्त होता है। कभी-कभी बड़े भी छोटों को कुमार्ग पर चलाते हैं तथा स्वप्न में भी कभी पाप की उत्पत्ति हो जाती है। अपने द्वारा किए गए पाप का प्रायश्चित्त करते हुए ऋषि ने इस मंत्र में कहा है कि हे आकाश[296] पृथिवी ! देवगण, बन्धुगण जामाता आदि के प्रति हमने जो पाप किया है वह इस स्तोत्र या यज्ञ से दूर हो। तुम हमको महा पाप से बचाओ। मित्र वरुण[297] अर्यमा तथा प्रकाशमयी अदिति हमें पापों से मुक्त करें।

6. पाश से मुक्ति

वरुण पाश से मुक्ति की सदैव प्रार्थना की जाती रही है। ऋग्वेद में इस प्रकार के अनेक उद्धरण मिलते हैं। वरुण का पाश ही भय की वस्तु है इससे भयभीत होकर ऋत का पालन करने का वर्णन प्राप्त होता है। वरुण पाश से मुक्ति के लिए सोम और रुद्र[298] से प्रार्थना की गई है।

7. दान दक्षिणा का महत्व

दान तथा दक्षिणा का वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों में अतिशय महत्व प्रदर्शित किया गया है। यह परम्परा अद्यावधि समाज में व्याप्त है। दान-दक्षिणा तथा भिक्षादान, अतिथि सत्कार का तो बौद्ध विचारधारा में भी विशेष महत्व है। ऋग्वेद में वर्णन आया है कि—यहां भी पितरों द्वारा प्रदत्त ज्योति प्रकट हुई और दक्षिणा[299] का मार्ग खुल गया। दक्षिणा[300] देने वाले यजमान स्वर्ग के श्रेष्ठ स्थान पर वास करते हैं। अश्वदानी सूर्यलोक में वास करते हैं। वस्त्र देने वाले सोम के पास गमन करते हैं और सुवर्ण देने वाले अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। दक्षिणा[301] पुण्य कार्यों को सम्पूर्ण कर देने वाली है। मिथ्या आचरण करने वालों के कार्यों को देव पूर्ण नहीं करते। दक्षिणा देने वालों के कर्म ही पूर्णता कों प्राप्त करते हैं। जो दानशील[302] व्यक्ति देवों को

295. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चेदनृतस्य प्रयोता। ऋ० 7।86।6
296. देवान्वा यच्चकृमा कच्चिदागः सरवायं। ऋ० 1।185।8
297. ऋ० 8।40।4
298. प्रनो मुंचतं वरुणस्यं पाशाद् गोपायतं। ऋ० 6।74।4
299. उरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि।
300. उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये। हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः।
301. देवी पूर्तिदक्षिणा देवयज्या।
302. दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्रामणीरग्रमेति।

तृप्त करते हैं, दक्षिणा द्वारा उनका अभीष्ट सिद्ध होता है दानशील व्यक्ति ही ग्राम में प्रमुख व्यक्ति होता है। उसे प्रत्येक शुभ कर्म में प्रथम आमंत्रित किया जाता है। जो लोग सर्वप्रथम दक्षिणा आदि प्रदान करते हैं उन्हें मैं राजा के समान श्रद्धा के योग्य समझता हूँ। जो दक्षिणा[303] द्वारा पुरोहित को सर्वप्रथम सन्तुष्ट करते हैं वे ऋषि ब्रह्मा कहे जाने योग्य हैं। सामगाता स्तोता माने जाते हैं। उन्हें ही प्रमुख आसन दिया जाता है क्योंकि वे अग्नि के तीनों रूपों को जानने वाले हैं। इन्हीं के विशद वर्णन से युक्त ऋग्वेद का एक सूक्त 10।117 दानस्तुति का वर्णन करता है। देवगण ने प्राण का नाश करने वाली भूख बनाई है परन्तु भोजन कर लेने पर भी मृत्यु से छुटकारा नहीं मिलता। इस पर भी दानशील पुरुष के धन में न्यूनता नहीं आती इस प्रकार धन, अन्न, वस्त्र, स्वर्ण आदि देने से विभिन्न लोकों की प्राप्ति का वर्णन है।

8. क्षेम योग की प्रार्थना

इन्द्र[304] से अलभ्य वस्तुओं की प्राप्ति तथा प्राप्त वस्तुओं की रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है। योग[305] और क्षेम हमारे लिए कल्याणकारी हों और सदा हमारा पालन करो। 'पुलुकामो हिमर्त्यः' मनुष्य विभिन्न कामनाओं वाला होता है इसलिए उसे अनेक वस्तुओं की कामना बनी रहती है। ऋग्वेद प्रथम अध्याय के 179 सूक्त में युवा गृहस्थी के लिए धर्म पालन का उपदेश सुन्दर ढंग से दिया गया है। धर्म-पालक पुरातन ऋषि देवताओं से सत्य बात कहते थे, वे भी क्षीण हो गए और जीवन के परम फल को प्राप्त नहीं हुए इसलिए पति पत्नी संयमशील, विद्याध्ययन में रत कामभाव के उचित सेवन से सन्तान प्राप्ति कर गृहस्थ धर्म का पालन करें और अपनी भूलों के लिए क्षमायाचना करें और देवों के सच्चे आशीष पायें।

9. नैतिकता का सच्चा स्वरूप

नैतिकता के उदाहरण में हम यम-यमी[306] सूक्त का ही उल्लेख करना चाहेंगे जहां इस नैतिक उत्कर्ष की चरम सीमा प्राप्त होती है। इस सूक्त में कहा गया है कि यहां चारों ओर देवों के गुप्तचर संचरण कर रहे हैं, वे न कहीं ठहरते हैं और न आंख बन्द करते हैं। अतः तुम अन्य किसी युवा के पास जाओ और समाश्लिष्ट वृक्ष की भांति वहीं अविरल आलिंगन करो। इस प्रकार की उक्ति यम ने अपनी बहन यमी

303. यः प्रथमो दक्षिणया रराध। ऋ० 10।107।1-6
304. इन्द्रोवृधामिन्द्र इन्मेधि राणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः। ऋ० 10।89।10
305. ऋ० 7।86।8
306. ऋ० 1।179।5

से उसके द्वारा नैतिकता का उल्लंघन देख कर कही। सामाजिक दृष्टिकोण से द्यूतकार[307] का विलाप भी नैतिकता में रखा जा सकता है जहां कि जुवारी अपना सब कुछ खो कर बाद में पश्चात्ताप करता हुआ दुखित होता है।

10. सार्वजनीन हित

वैदिक ऋषि केवल स्वार्थ के दृष्टिकोण रखने वाले नहीं थे उन्होंने 'केवलाघो[308] भवति केवलादी' के कथन में केवल अपने लिए ही खाने वाले को पापी कहा है तथा 'संगच्छध्वं,[309] संवो मनांसि जानताम् तथा सर्वे भवन्तु सुखिन:' आदि में संपूर्ण मानवों के हित की कामना की गई है तथा मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र बृहस्पति, और विस्तृत चरण वाले विष्णु हमारे साक्षात् सुख स्वरूप हैं वे सभी का मंगल करें। पक्षी को भी भद्रवादी शकुन्त कह कर मंगलकारी वचन बोलने का वर्णन प्राप्त होता है। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हमें उत्तम धन के साथ ख्याति भी दो। इस ख्याति शब्द में सभी प्राणियों के प्रति सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। शं नो मित्र: शं वरुण: में सभी के लिए मंगल कामना है।

11. विश्वबन्धुत्व की भावना

ऋषि ने प्राचीनकाल से ही विश्व के सभी प्राणियों में समानता लाने का प्रयास किया है। ऋग्वेद में तथा अन्य वेदों में भी इस प्रकार के अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं जिनसे संसार के सभी प्राणियों में सद्भावना जगाने का प्रयत्न किया गया है। एक स्थल पर कहा है कि हम में आपस में फूट न हो, पराभव हमारे पास न आवे और हमें अकीर्ति प्राप्त न हो तथा (मेमन: शिव संकल्पमस्तु) मेरे मन में सदैव अच्छे संकल्प आवें जो सभी प्राणियों के लिए हितकारी हों। 'समानोमन्त्र:[310] समिति समानी समानंमन: सहचित्तमेषाम्' तथा 'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्' इत्यादि मंत्रों में विश्वबन्धुत्व की भावना को पाते हैं।

12. श्रद्धा जीवन का प्रमुख अंग

वैदिक ऋषियों की देवपूजा का आधार भी जीवन को सुखमय बनाने की आशाओं पर आधारित था। वे देवताओं का स्तवन भय के कारण नहीं अपितु श्रद्धा

307. ऋ० 10।34।8-11
308. ऋ० 10।117।6
309. ऋ० 10।191।2-4
310. —वही—

से करते थे। ऋग्वेद में इस विषय की पुष्टि प्राप्त होती है कि श्रद्धा[311] के बिना अग्नि प्रदीप्त नहीं होती। जिस यज्ञीय पदार्थ का होम किया जाता है, वह भी श्रद्धा के द्वारा ही सफल होता है। हे श्रद्धे। दानशील को अभीष्ट फल प्रदान करो। जो दान करने का इच्छुक है (परन्तु धनाभाव से दान नहीं दे पाता) उसे भी अभीष्ट फल का भागी बनाओ। हे श्रद्धे! इन याज्ञिकों और यजमानों को इच्छित फल प्राप्त कराओ। इन्द्रादि देवों ने भीषण कर्मा राक्षसों के संहार का निश्चय किया है। हे श्रद्धे! इन याज्ञिकों और यजमानों को अभीष्ट फल प्रदान कराओ। वायु को अपने रक्षक रूप में प्राप्त करने वाले देवता और मनुष्य श्रद्धा की आराधना करते हैं। मन में जब कोई निश्चय उठता है, तब उपासक गण श्रद्धा का ही आश्रय लेते हैं। श्रद्धा की अनुकूलता से ही वैभव की प्राप्ति होती है। प्रातःकाल, मध्यान्ह और सायंकाल के समय हम श्रद्धा का ही आह्वान करते हैं। हे श्रद्धे! हम आराधकों को तुम अपनी महिमा से परिपूर्ण करो।

(ख) ब्राह्मणों में आचार पक्ष

ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों की व्याख्या करने के लिए रचे गए थे। इन ग्रन्थों में यद्यपि यज्ञों का ही विशेष वर्णन है और आचार सम्बन्धी वर्णन अल्प-मात्रा में ही मिलते हैं तथापि ऐसा नहीं है कि इनमें इस प्रकार के वर्णन की नितान्त उपेक्षा रही हो। ब्राह्मणों[312] की नैतिकता के हक में एक मत हापकिन्स ने प्रस्तुत किया है, वे मानते हैं कि यद्यपि पंचविंश[313] के पक्ष में साम तथा कृत्य ब्राह्मण के धर्म का सारांश है फिर भी यह सच रह जाता है कि इस धर्म के लिये एक वास्तविक नैतिक आधार विद्यमान है। किन्तु इसके लिये प्रस्तुत साक्ष्य स्वल्प है, असत्य की भर्त्सना की गई है, और 'हन्त' वध का अनुसरण करता है, जब कि अत्यधिक ग्रहण करना विष खाने के समान है।

ऋत (सत्य) का महत्व जीवन में पूर्ण रूप से आत्मसात् करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के अवसरों पर अपने असत्य को स्वीकार करने की प्रथा थी क्योंकि उस समय की स्वीकृति से दोष से मुक्ति का वर्णन मिलता है यदि न स्वीकार किया गया तो वह उसके कुटुम्ब वालों को कष्ट में डाल देता

311. श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निभ्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ऋ० 10।151।1-5

312. वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग-2, डा० सूर्यकान्त, पृ० 595

313. पं ब्रा० 19।4।10

था। यहां तक कि स्त्रियों के आचरण की कठोर परीक्षा होती थीं प्रति-प्रस्थाता[314] पत्नी से पूछता था (केन चरसि) क्योंकि एक की होकर अन्य के साथ सहवास नहीं कर सकती। अतः पाप की स्वीकृति छिपा लेने पर सम्बन्धियों को कष्ट होता था। आज तो इसकी उपेक्षा है और हम नैतिक उत्थान के प्रश्न को सुलझाना चाहते हैं। सत्यवादी[315] व्यक्ति तेजस्वी हो जाता है यथा—जो कोई सच बोलता है मानो वह अग्नि पर घी छिड़कता है। क्योंकि उससे वह उसको प्रज्वलित करता है। उसका दिन प्रतिदिन तेज बढ़ता है। दिन प्रतिदिन उसका कल्याण होता है और जो कोई झूठ बोलता है वह मानो जलती अग्नि पर पानी डालता है क्योंकि वह इस प्रकार उसको कमजोर करता है दिन प्रतिदिन उसका तेज कम होता जाता है और वह पापी होता जाता है। इसलिए सच ही बोलना चाहिए। देवों तथा असुरों के युद्ध में भी सत्य पक्ष देवों की विजय हुई और असुरों की पराजय। ऐतरेय[316] ब्राह्मण में मनु के पुत्र नाभा नेदिष्ठ ने सत्य बोल कर बहुमूल्य पुरस्कार प्राप्त किया।

ब्राह्मण ग्रन्थों यथा शतपथ तैत्तिरीय में से और कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इसका समापन किया जाता है। वरुण[317] पापकर्ता को पकड़ लेता है और क्योंकि सायंकाल वरुण का समय है इसलिए मनुष्य को किसी भी कीमत पर उस समय असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। किन्तु सायंकाल[318] सत्य बोलने पर बाद में यदि असत्य बोले तो उसका प्रभाव कुछ नहीं। नियत समय पर प्रयुक्त मौलिक सत्य का, एक स्थायी प्रभाव रहता है। असत्य[319] एवं अपवित्रता को जल से धोया जा सकता है। स्नान से इतना पाप भी नहीं रहता जितना बिना दांत वाले शिशु का। सोम के मन में ब्राह्मण के सताने का विचार आया अतः पाप लग गया। ऋग्वेद में ऋत और अनृत का जो वर्णन है वही यहां सत्य और झूठ के रूप में बदल गया। धर्म का रूप पश्चात्काल में बदला और राजा धर्म के रक्षक के रूप में हो गया। धर्म सूत्रों

314. अथ प्रति प्रस्थाता प्रतिपरैति। स पत्नीमुदानेष्यन्पृच्छति केन चरसीति।
वरुण्यं वा एतत्स्त्री करोति यदन्यस्य सत्यन्येन चरत्यथः। श० ब्रा० 2।5।2।20

315. सत्यमेवोपचारः स यः सत्यं वदति—तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति।
श० ब्रा० 2।2।2।19

316. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, डा० रामजी उपाध्याय, पृ० 485

317. तै० ब्रा० 1।7।2।6, 1।5।3।3

318. श० ब्रा० 4।4।5।23

319. श० ब्रा० 4।1।2।4

में इसका विकास हुआ । ऋग्वेद में व्रत शब्द एक देवेच्छा है, देवानुशासन है । वरुण को व्रतपति कहा है ।

निष्कर्ष रूप में मनुष्य यज्ञ के लिए देवताओं का, वेदाध्ययन के लिए ऋषियों का, सन्तान के लिए पितरों का ऋणी है । यह ऋणों का एक त्रिक्[320] है । अतिथि सत्कार के लिए मित्रों का ऋणी है । इन्हीं ग्रन्थों में दान तथा आत्म संयम का भी उल्लेख मिलता है ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में बहुशः गाथाएं प्राप्त होती हैं जिनके माध्यम से विविध गुणों सत्य, अहिंसा, तप की प्रशंसा और मद, दर्प तथा नैतिक मूल्यों को भौतिक तथा राजनैतिक कार्यों में प्रयुक्त करने की निन्दा की गई है । गोपथ[321] ब्राह्मण में एक प्रसंग प्राप्त होता है जिसमें देवों के यज्ञ में उन्होंने वरुण को दक्षिण में और विष्णु को उत्तर में तथा बृहस्पति को केन्द्र में लगा देने पर भी अपने को निर्बल अनुभव किया है जहां कि देव अपने वचनों का पालन सहायता के रूप में करते हैं और इससे नैतिकता (वचनपालन) का ही पालन होता है । इस सत्यासत्य के विवेचन में देवताओं और मनुष्यों को (सत्यं देवाः, अनृतं मनुष्याः) कह कर मनुष्य को चरित्र के पालन में नैतिक तथ्यों को अपनाने पर महत्व दिया गया है । वस्तुतः यहां भी ऋग्वेद की 'पुमान्[322] पुमांसं परिपातु विश्वतः' की भावना का ही पोषण प्राप्त होता है ।

(ग) आरण्यकों तथा उपनिषदों में आचार पक्ष

ब्राह्मण युग में कर्मकाण्ड की प्रधानता बढ़ी । अनेक यज्ञ यागादिकों के विधि विधानों की विस्तृत रूपरेखा से संहिताओं में वर्णित धर्म का स्वरूप और भी जटिल हो गया । उपनिषदों में इस ब्राह्मणकालीन जटिल स्वरूप की प्रतिक्रिया हुई और शुद्ध दर्शन का विकास हुआ । संहिताकालीन विचारों में विश्वासों का प्राधान्य था, ब्राह्मणकालीन विचारों में आचारों की प्रमुखता आ गई और उपनिषदों में विचार पक्ष का मौलिक रूप विकसित हुआ । आरण्यकों में वैदिक विचारधारा में साधना और उपासना के विविध रूपों की प्राप्ति होती है । इस प्रकार वेदों से लेकर वैदिक विचारधारा एक निर्दिष्ट मार्ग से अपने सर्वांगीण विकास को प्रदर्शित करती हुई हमारे समक्ष उपस्थित होती है ।

---

320. ऋणं—जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः । श० ब्रा० 1।7।1।3

321. रिलीजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ब्राह्मणाज, डा० जी० वी० देवस्थली, पृ० 39

322. ऋ० 6।75।14

वेद में स्पष्ट रूपेण घोषणा की जा चुकी है कि 'पुलुकामो हि[323] मर्त्यः' मनुष्य विभिन्न कामनाओं वाला है और साथ ही साथ वह सदैव योग क्षेम की कामनाओं से ओतप्रोत है। सुदिनत्वमह्नाम्[324] तथा सोभगत्व की सुभग वन्दनाओं से अनेक सूक्तों के भाव में आया है। शनैः शनैः योग क्षेम तथा विभिन्न भौतिक इच्छाओं की उपलब्धि मात्र के लक्ष्य में परिवर्तन आया और नैतिक तत्व की और मानव का झुकाव बढ़ा। उपनिषत्काल में विचार की प्रधानता बढ़ती गई वैसे वेदों में 'स्वस्तिपन्थामनुचरेम' 'केवलाघो[325]भवति केलादी' स्वस्ति कल्याण के मार्ग का अनुसरण करने तथा अकेले अपने लिए आप ही भक्षण करने वाला पापी होता है तथा भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयामः, शतहस्त, समाहर, सहस्र हस्त संकिर आदि वाक्यांशों में जिनके उद्धरण संकेत इससे पूर्व में दिए जा चुके है, ऋषि जागरूक है किन्तु उपनिषदों में भौतिकता का इच्छुक प्रेय तथा इसके विपरीत श्रेय मार्ग को बतलाकर स्पष्ट संकेत किया है।

वैदिककालीन ऋत की परम्परा का निर्वहण उपनिषदों[326] में भी प्राप्त होता है। वहां प्राणी दीर्घकाल तक नीरोग जीवन की कामना करता है जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार कर सके। वह कहता है कि मैंने जिस सत्य का उल्लेख किया है उसी सत्य एवं तपस्या के कारण मैं ऋत हूं और इसी प्रकार का प्रयास करना चाहिए। पुरुषाकृति में उस विज्ञान मन के अंगों की कल्पना पक्षी के अंगों की भांति की गई है। श्रद्धा[327] ही उसका शिर है, ऋत विश्वास ही दक्षिण पंख है सत्य ही वायां पंख है योग आत्मा में मैं ऋत[328] तथा सत्य ही बोलूंगा। सदाचारपालन तथा स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद नहीं करूंगा।

श्रेय तथा प्रेय

आचार तत्व के निर्धारण हेतु औपनिषदिक दर्शनानुयायी ऋषियों ने जो कुछ भोग पदार्थ अप्राप्त है उनकी प्राप्ति योग तथा अप्राप्त का संरक्षण क्षेम दोनों को ही प्रेय मार्ग के अन्तर्गत लाकर मन्द बुद्धि मानवों के लिए मार्ग निश्चित किया और धीर व्यक्ति के लिए 'सम्परीत्य[329] विविनक्ति' खूब सोच विचार कर श्रेय मार्ग को

---

323. ऋ० 1।179।5
324. ऋ० 10।89।10, ऋ० 7।89।8
325. ऋ० 10।117।6
326. अयंलोको नास्ति पर इति मानी, पुनः पुनर्वशमापद्यते। कठ० 1।2।6
327. सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः। कठ० 1।1।6
328. न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। कठ० 1।2।10
329. श्रेयश्च प्रेयश्च···सम्परीत्य···योगक्षेमाद् वृणीते। कठ० 1।2।2

अपनाने को कहा क्योंकि दोनों का फल भिन्न है, विपरीत है। इन्हीं का नाम विद्या तथा अविद्या भी कहा गया है। ईशोपनिषद् में इन्हें सम्भूति तथा असम्भूति कहा है। स्वेच्छाचार सत्यासत्य, कर्तव्याकर्तव्य, कुकृत्यों एवं सुकृत्यों में भेद न करने वाले जो बस इसी लोक को ही मानते हैं ऐसे नास्तिक इस प्रकार के चार्वाक दर्शनानुयायी मनुष्य बराबर इस जन्म मरण के बंधन में पड़ते हैं। मरण[330] धर्मा अनाज की तरह जरा जीर्ण होकर पक जाता है मृत्यु को प्राप्त होता है और पुनः उत्पन्न होता है। इन अनित्य विनाशशील वस्तुओं में चरम लक्ष्य आत्मज्ञान परमेश तत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, तथा तर्क[331] के द्वारा भी तत्व ज्ञानोपलब्धि नहीं है। साथ ही न अधिक प्रवचन से, ने मेधा से, न बहुत श्रुत (ज्ञान) से इस परम तत्व को जाना जा सकता है वह तो जिस पर कृपा करता है उसे ही उनके दर्शन होते हैं। इसके लिए पूर्ण काम होना आवश्यक है।

योग क्षेम

वह परमात्मा वाणी में क्षेम रूप में (रस शक्ति के रूप में) योग और क्षेम प्राण तथा अपान[332] में प्राप्त की रक्षा। वस्तुतः यहां वाणी में क्षेम करने की क्षमता तथा प्राण अपान में जीवन शक्ति यह सब उस परम तत्व की ही शक्ति है जिसमें हम योगक्षेम की कल्पना करते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् में वरुण, अर्यमा, ब्रह्मणस्पति सभी देवों से प्रार्थना करते हुए कहा है कि मैं ऋत कहूँगा, सत्य कहूँगा आप सब रक्षा करें। इस उपनिषद् में जीवन को निराशा में, दीनहीन स्थिति में व्यतीत करने की वस्तु नहीं कहा गया है। जिस प्रकार आत्मिक उन्नति अभीष्ट है उसी प्रकार लौकिक जीवन भी उन्नत होना चाहिए। मनुष्य की कामना यह होनी चाहिए कि मैं सबसे अधिक यशवान् बनूं, अधिक धनी, नीरोग बनूं। सभी सम्पत्तियों का स्वामित्व मुझे प्राप्त हो। स्नातक के लिए दीक्षान्त भाषण के रूप में गुरु शिष्यों को कहता है सत्य बोलो, धर्माचरण करो, श्रेष्ठ कर्मों का पालन करो।[333] मानव तथा आचार्य को देव तुल्य मानो, शिष्टाचार से व्यवहार करो, अतिथि का सत्कार करो और आचार-सम्बन्धी किसी कार्य के विषय में सन्देह होने पर विद्वानों से पूछ कर कार्य करो।

आचार तत्व की सुन्दर व्याख्या, हमें बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति द्वारा देव,

---

330. सस्वमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः। कठ० 1।16
331. नैषा तर्केण मतिरापनेया। कठ० 1।2।9
332. योगक्षेम इति प्राणापानयोः। छा० 3।17।4
333. तै० उ० शिक्षावल्ली।

मनुष्य और असुरों तीनों को एक ही अक्षर 'द'[334] से पृथक्-पृथक् दम, दान और दया के, उपदेश में प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार तीनों दकारों में तीनों गुणों का संकलन करके उपदेश दिया गया है जो आज भी देवी वाक् के समान अपना महत्व रखता है।

बौद्ध विचारधारा में भी मानव को कामोन्माद, लोभ और रोष की भयानक अग्नियों से, जो मानवों के हृदयों को जला रही है, बुझाने का उपदेश दिया गया है। यह औपनिषदिक विचारधारा का ही प्रभाव है। वस्तुतः आत्म निग्रह परम उपयोगी है, हमें अपनी आवश्यकताओं को सीमित करना और संयम से जीवन व्यतीत करने का उपदेश इन उपनिषदों से प्राप्त होता है।

अच्छे आचरण को भावी जीवन का निर्माता बतलाते हुए छान्दोग्य में कहा गया है कि अच्छे आचरण वाले व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य योनियां प्राप्त करते हैं और अशुभ आचरण वाले कूकर, शूकर[335] योनी को पाते हैं।

वस्तुतः उपनिषदों में ज्ञान के भण्डार के साथ विचार प्राधान्य होते हुए भी विचार तत्व का महत्वपूर्ण निर्देश मिलता है। ईशोपनिषद् में ही आचार की प्रधानता 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' मन्त्र में त्याग भाव से संसार के पदार्थों का सेवन करते हुए किसी के धन के प्रति भी लालच न करने का उपदेश दिया है और साथ ही संसार की वस्तुओं का प्रयोग का अधिकार मात्र देकर उनमें आसक्त न रहने को कहा है। केनोपनिषद् में अग्नि, वायु तथा इन्द्र आदि देवताओं के अहंकार के विनाश के माध्यम से अहंकार न रखने का उपदेश दिया है और बतलाया है कि यह विश्व उस परम ब्रह्म की ही वस्तु है; इसका उपभोग केवल शरीर की स्थिति और आवश्यकताओं की अनासक्त भाव से पूर्ति करते हुए अपने चरम लक्ष्य ब्रह्म को पाना है। उस ईश्वर के प्रकाश से ही सब प्रभासित 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' हैं और उसके अलावा कोई मार्ग नहीं है कि आप उस भगवान् को अपनी अन्तरात्मा में ढूंढ़ने का प्रयास करें और विश्व कल्याण के लिए सदाचरण में लीन रहें।

सूत्र साहित्य और आचार पक्ष

सूत्रकाल में धर्म के विधानों का एक सुदृढ़ रूप समाज के सम्मुख आया। कल्प, गृह्य, धर्म आदि अभिधान से इनको व्यवस्थित किया गया। विस्तारपूर्वक इस पक्ष को न लेकर संक्षेप में निष्कर्ष यही है कि सूत्र ग्रन्थों में यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि

334. बृ० उ० 5।2।1, 3
335. छा० 5।10।7

यदि पाप हो गया है तो उससे छुटकारा पाने के लिए दैनिक यज्ञों के अवसर पर प्रार्थना विशेष करके मुक्ति पाई जा सकती थी। वे जानकर या अनजाने किए गए पापों का प्रायश्चित्त कर लेते थे। वस्तुतः यहां धर्म तथा अधर्म का स्वरूप यही था कि जो कर्मश्रेष्ठ पुरुषों द्वारा प्रशंसित समादृत आचरित हो वही धर्म है उनसे निन्दित कर्म को अधर्म कहा गया।

सत्य के आचरण पर चलने वाले व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन बोधायन[336] धर्म सूत्र में किया गया है। वसिष्ठ[337] धर्म सूत्र में दुराचारी के पाप को स्वाध्याय, दान, तप आदि भी नहीं दूर कर सकते, उसे उनका फल अवश्य भोगना होगा। उनके मत में आचार का स्थान सर्वोपरि है। उनकी दृष्टि में सभी आश्रमों के मनुष्यों का लोभ, मोह प्रवंचना, क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या, निंद्रा, अभिमान, कुटिलता तथा आत्म प्रशंसा का त्याग करना चाहिए। इन सभी से बचने के लिए ही सूत्र ग्रन्थों में अनेक वर्णन आए हैं। धर्म सूत्रों में प्रमुख गौतम[338] धर्म सूत्र में सच्चरित्रवान् ही प्रशंसित होता है। उन्होंने आत्मा के आठ गुणों का वर्णन किया है जिनमें सच्चरित्र व्यक्ति अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अष्ट गुण रहित व्यक्ति ब्रह्मा के समीप नहीं पहुँच सकता। चालीस संस्कारों में से कुछ भी किए हों किन्तु अष्ट गुणी ही ब्रह्ममय क्षेत्र में पहुँचता है। आपस्तम्ब[339] धर्म सूत्र में चरित्रवान् व्यक्ति को ही सर्वोत्तम उपलब्धियां प्राप्त होती हैं। मानव को काम, क्रोध, मद, आसक्ति आदि बुराइयों का निराकरण करके स्पष्टवादिता, सज्जनता, जितेन्द्रियत्व, (अहिंसा) प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करना है। जात कर्म के अवसर पर ही सत्यता तथा ईमानदारी जैसे गुणों को सत्य[340] प्राप्ति का साधन बता दिया जाता था। जातक के जात कर्म के अवसर पर, गुरु स्नातक के समावर्तन के अवसर पर शक्ति प्रदान का साधन मात्र सत्य ही निर्दिष्ट किया करता था और दीक्षान्त भाषण के समय सत्य आचरण पर बल दिया जाता था।

कर्म सिद्धान्त—जीवन के प्रति कर्म के सिद्धान्त का महत्व दर्शाते हुए कहा है कि अच्छे कार्यों से अच्छा[341] लोक और बुरे कार्यों से निम्न लोक यह सिद्धान्त प्रायः

336. बो० धर्म सु० 3।2।4।25
337. व० धर्म सू० 6।2।6
338. गौतम धर्म सूत्र 8।20-।22
339. आप० धर्म सूत्र 1।8,23,3-6
340. गौभिल गृ० सूत्र 1-6; आश्व गृ0 सूत्र 1।5।5
हिरण्येन संपातान् संनिघृष्य मधुचेत्येके तन्मुखे कृत्वा प्रपाययति आयुर्धय जरां धयं सत्यं धय श्रियं धयोर्जं धय रायस्पोषं धय ब्रह्म वर्चसं धय। का० गृ० 34-6
341. आप० धर्म सूत्र 2।1।2-7

सूत्र काल तक निश्चित सा ही हो चुका था। आपस्तम्ब के अनुसार कर्मानुसार जन्मोपलब्धि प्राप्त होती है, इस जन्म में तो पाप का फल दृष्टिगत होता ही नहीं अपितु अपापकर्मा ही कठिनतया जीवन बिताता दिखलाई देते हैं। कर्महीन[342] व्यक्तियों को नरक का वास सामान्यतया वर्णित है, विशेषतया पुराणों में इस प्रकार के वर्णन प्राप्त होते हैं।

जीवन में आचार का महत्व--जीवन के प्रति निराशावादी[343] दृष्टिकोण नहीं था। संसार को कहीं भी दुःखागार नहीं बताया। सूत्रकाल में संसार में जीवन सुख भोगने के योग्य था अतः दीर्घ जीवन तथा सुखी जीवन के लिए प्रार्थनाएं की जाती थीं। जीवेम शरदः शतं का प्रचार था। मानव को जीवन में शौर्य युक्त होकर प्रवेश करना चाहिए तथा समस्याओं पर विजय पाना एवं कर्तव्य पालन करते हुए धर्म, अर्थ, काम की ओर उचित बल देते हुए, और यज्ञों से जीवन के विविध क्षेत्रों में विजय पाते हुए आगे बढ़ने का सन्देश दिया गया है। इस काल में आश्रमों का महत्व[344] था और वानप्रस्थ के बाद ही सन्यास का प्रचलन था। सन्यासियों के लिए भी धर्म ग्रन्थों के नियमों का पालन करना अनिवार्य था। इस प्रकार सूत्रकाल में आचरण का महत्व प्राप्त होता है।

शुल्व सूत्र—प्राचीन भारतीय आर्यों की उपासना का आदिम स्वरूप प्रार्थना प्रधान अथवा स्तुति-प्रधान था, आगे चल कर यही रूप आहुति प्रधान हो गया। ऋग्वेद एवं यजुर्वेद इन्हीं दो परम्पराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। ऋग्वेद में अनेक देवों के प्रति स्तुतियां ऋचाएं हैं, उनमें वास्तोष्पति की प्रकल्पना प्रासाद के वास्तु-मण्डल अथवा वास्तुशास्त्रीय वास्तु पुरुष निवेश परम्परा का प्राचीन बीज प्रस्तुत करता है। शनैःशनै हिन्दू प्रासाद के नाना निवेशों, वास्तुनिवेश पीठ प्रकल्पन, (जगती रचना), गर्भगृह विन्यास (अर्थात् विमानोत्थान), मंडपनिवेश, शालाविन्यास आदि की विकसित परम्पराओं में वैदिक पृष्ठ भूमि का प्रभाव बौद्ध चैत्यों विहारों पर प्राप्त होता है।

देव पूजागृह (प्रासाद) की निर्मिति में भू कर्षणादि से समीकृत भूमि का आध्यात्मिक, आधि दैविक, आधि भौतिक आधार है। यथा पृथु का गोदोहन वृत्तान्त इसकी पुष्टि करता है। इसी भावना से अनुप्राणित होकर महात्मा बुद्ध के जन्म के समय उनके चरणों के स्पर्श के लिए पृथ्वी स्वयं समतल कोमल बन गई। वैदिक चिति[345] के वर्णन में विस्तार से इन सूत्रों का प्रयोग किया जाता है। ब्राह्मण विचार-

---

342. —वही—1।4।13।4
343. पारस्कर गृह्य सूत्र 1।116,17
344. इण्डिया आफ कल्प सूत्राज, डा० रामगोपाल, पृष्ठ 482,483
345. भारतीय वास्तु शास्त्र हिन्दू-प्रासाद-डा० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, पृ० 35

धारा में वेदी पृथिवी के पृथुल विस्तार का प्रतीक है, यज्ञीय कर्मकाण्ड का तो वह क्षेत्रमात्र है। शतपथ ब्राह्मण में पृथ्वी को वेदी और द्यौ: को अन्तर्वेदि कहा है इन्हीं वेदि रचना के प्रतिपादक शुल्ब सूत्रों में ये वर्णन मिलते हैं।

वैदिक चिति या यज्ञवेदी[346] को हिन्दू मन्दिर की जननी कहें तो कोई आश्चर्य नहीं। यज्ञ को यज्ञ नारायण अभिधान दिया गया, उसी प्रकार मन्दिर या प्रासाद को विराट्-पुरुष के रूप में संकल्पित किया गया। प्रासाद शब्द का अमरकोष के अनुसार 'प्रासादो देवभूभुजाम्', प्रासाद अर्थात् महल या मन्दिर राजाओं एवं देवों, दोनों के लिए संज्ञापित होकर काव्य नाटकों के लिए उपादेय बन गया। वस्तुत: प्रासाद शब्द की व्युत्पत्ति 'सदनं साद' अर्थात् इष्टिकाओं अथवा शिलाओं का सादन है। यही वैदिक चिति का श्रीगणेश करती है। चिति से ही आगे बौद्धों के चैत्य बने जो केवल नरावास ही नहीं थे अपितु बौद्धों के पूज्य तथा उपास्य स्थल थे जैसे ब्राह्मणों के मन्दिर। इस प्रकार सूत्र ग्रन्थों का प्रभाव बौद्धों पर देखा जा सकता है।

346. —वही—

चतुर्थ अध्याय

ब्राह्मण विचारधारा का विश्वास पक्ष

(क) संहिताओं में पौराणिक आख्यान

(ख) संहिताओं में परलोक सम्बन्धी विश्वास

(ग) संहिताओं में लोकाचार तथा लोक विश्वास से सम्बन्धित सामग्री

(घ) संहिताओं में कुछ अन्य कोटि के विश्वास

ब्राह्मण विचारधारा का विश्वास पक्ष

उत्तर वैदिक काल में धार्मिक जीवन में परिवर्तन हुआ। नए देवताओं का महत्व बढ़ गया था और प्राचीन देवता विस्मृत हो गए। ऋग्वेद में वर्णित प्रजापति का यजुर्वेद में भी उल्लेख है। ऋग्वेद के रुद्र, शंकर, शिव, पशुपति, शम्भु, भव, नीलग्रीव, कपर्दी आदि नाम हैं। इस प्रकार हमें यजुर्वेद में पौराणिक शिव के दर्शन होते हैं। विष्णु का भी महत्व बढ़ गया। यज्ञ से उसका तादात्म्य हो गया था। देव असुर भले बुरे के अभिधान से ख्यात हो चुके थे उनके पारस्परिक झगड़े देवासुर संग्राम के रूप में पौराणिक गाथाओं में आए। यजुर्वेद में अप्सराओं का वर्णन भी है जिन्हें पौराणिक कथाओं में महत्व मिला। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय ईशोपनिषद् में ब्रह्म का वर्णन है।

यह धार्मिक परिवर्तन अथर्ववेद में विशेष रूपेण आया क्योंकि सामान्य जन के अन्धविश्वास, जादू टोने का भी वर्णन वहां किया गया है। वरुण सूक्तों में नैतिक आदर्श तथा व्रात्य सूक्त व काल सूक्त अपने नैतिक व आध्यात्मिक आदर्शों के विवेचन में विशेषता लिए हुए है। उनमें उदात्त दार्शनिक मनोवृत्ति का स्पष्ट आभास लभ्य है। अथर्व वेद में इन दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रण हुआ उदात्त विचारों में सामान्य जनों का जादू टोना भी मिल गया। इन दोनों के मिश्रण होने से सर्प, पत्थर, पेड़ आदि की पूजा को भी आर्यों ने अपनी धार्मिक पूजा में सम्मिलित कर लिया। शनैः शनैः ये पौराणिक देव ब्रह्मा, विष्णु, शिव त्रिदेव के रूप में हो गए।

प्रत्येक विचारधारा में सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ प्रचलित परम्पराओं पर आधारित एक विश्वास पक्ष भी होता है। जिसका प्रभाव जीवन पर प्रमुखरूपेण होता है। प्रत्येक विचारधारा में कतिपय आस्था एवं विश्वासों की दृढ़भूमि निर्मित की जाती है जिससे उसके अनुयायियों में उस विचारधारा के प्रति आकर्षण हो। इसी कारण कतिपय दैविक आख्यान चमत्कारी घटनाओं से आपूरित हो गए तथा अमुक अमुककृत्यों, आचरणों एवं यत्नों से अमुक सिद्धि, सफलता प्राप्त होगी। इस प्रकार के अनेक इतिवृत्तात्मक वर्णन से उनकी आस्थाओं को आश्वस्त किया जाता है इसी कारण यह विश्वास पक्ष कहलाता है। इसी कारण ब्राह्मण विचारधारा में पुराणों का बाहुल्य है। इतना ही नहीं अन्य बौद्ध विचारधारा में भी भगवान् बुद्ध के (ऋद्धि प्रातिहार्य) के वर्णनों से जातक ग्रन्थ भरे पड़े हैं। आधुनिकतम युग में भी महात्मा गांधी के शताब्दी समारोह से पूर्व ही गांधी पुराण का भी विमोचन किया गया। अतः पुराणों में विश्वास पक्ष का स्थूल रूप प्राप्त होता है जो सामान्य बुद्धि के लोगों को प्रभावित करने की क्षमता रखता है क्योंकि उनमें तर्क की बुद्धि न

होकर अन्धानुसरण की मात्रा अधिक होती है और यही सामूहिक बुद्धि का रूप ले लेती है।

ब्राह्मणिक विचारधारा में पूर्वत: इस प्रकार के विश्वासों की रूपरेखा हम प्राप्त करते हैं। देवताओं में विश्वास उनका स्वरूप तथा उनका स्तवन, देवत्वोपलब्धि तप द्वारा सम्भव, ऋत का महत्व, अनृतपालन में वरुण द्वारा दण्ड (सत्यासत्य का विवेचन पाप पुण्य के भावों की सुदृढ़ भूमिका (कर्म का महत्व), शुभाशुभ की धारणा, परलोक सम्बन्धी विश्वास, मृत्यु के सम्बन्ध में विवेचन, स्वर्ग नरक की स्थिति सुदृढ़, मूर्ति पूजा की भावना का विकास, पुनर्जन्म की भावना का उदय, इह लोक में पूर्व में प्रवृत्ति मार्गी विचारधारा पश्चात् में निवृत्ति मार्गी, व्यक्ति से ऊपर राष्ट्र का महत्व। इन्हीं उपर्युक्त विस्तृत वर्णनों को वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों के आख्यानों के द्वारा हमने निम्न शीर्षकों में वर्णित किया है। लोकाचार में ऋत का महत्व पाप-पुण्य का अनुशीलन तथा लोक विश्वास में अन्य स्वर्ग, नरक आदि भावनाओं का वर्णन किया गया है और 'ग' भाग में अन्य कोटि के विश्वासों में सामान्य व्यक्तियों द्वारा अन्धविश्वास की भी झलक मिलती है।

(क) संहिताओं में पौराणिक आख्यान

1. देवता-सम्बन्धी आख्यान
   - (क) सृष्टि-उत्पत्ति
   - (ख) देवता और यज्ञ
   - (ग) देवासुर-संग्राम

2. इतिवृत्तात्मक आख्यान
   - (क) ऋषियों से सम्बन्धित
   - (ख) यज्ञ के प्रतिपोषक राजाओं से सम्बन्धित

1. देवता-सम्बन्धी आख्यान—ब्राह्मणिक विचारधारा के ऋषि का देवों का स्तवन भय के कारण नहीं था अपितु उनके प्रति अगाध श्रद्धा एवं भक्ति प्रवणता के कारण था तथा स्वयं उन देवों के गुणों का आचरण करते हुए देवत्व की प्राप्ति की जिज्ञासा ने ही उन्हें देवों का भक्त बना दिया था वे याचना करने में घबराते नहीं थे नि:संकोच प्रार्थना करते थे। वरुण[1] मनुष्यों से कुछ ऊपर के देव हैं, उनसे जान या अनजान में किए गए पापों का नाश करने को कहा गया है। जलोदर पीड़ित व्यक्ति भी आत्म-कल्याण की कामना वरुण से करता है। ऋग्वेद में वरुण के साथ-साथ अग्नि, इन्द्र, पूषा, अश्विनी कुमारों आदि के स्तवन से सम्भूत मंत्रों का बाहुल्य

1. ऋ० 8।4-1-2 ऋ० 8।19।25-26, 5।85, 7।89

है। जिन स्तवनों के श्रद्धावृत होने के कारण देव यज्ञ में स्वयं उपस्थित होकर हविर्भाग अथवा सोमरस पान करते थे। इन स्तवनों के अनुषंग में देवों के विभिन्न शौर्य युक्त विक्रमों का वर्णन है जिनके द्वारा उपासकों, याजकों को साहाय्य प्रदान किया गया और इसी प्रकार की सहायता का ही क्रम प्रायः लभ्य होता है। अग्नि स्तवन में स्वेच्छा से देवों के पास हव्य ले जाने के कारण उन्हें देवदूत की उपाधि से समलंकृत किया और उनको ही देवों को अपने रथ पर ले कर आने का भी निवेदन किया। इन सूक्तों में विजय प्राप्ति का सुन्दर वर्णन, सोम सूक्तों में सोमपान करने का प्रसंग प्राप्त होता है आश्विन सूक्तों में व्याधि से व्यथित व्यक्तियों पर अनुग्रह का निवेदन किया गया है। सूर्या सूक्तों[2] में तेजोयुक्तता का वर्णन है। मरुत्सूक्तों में सुवर्णालंकारों से विभूषित होने का वर्णन है। शकुन्तसूक्त[3] गर्भ स्राविण्युपनिषद् जैसे कुल मण्डलों के सूक्तों का वर्णन है।

(क) **सृष्टि-उत्पत्ति**—ऋग्वेद के नासदीय सूक्त[4] तथा हिरण्यगर्भ[5] सूक्त की ही विचारधारा को ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रसारित किया गया है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में ऐतरेय[6] ब्राह्मण में प्रजापति से ही सम्बन्धित आख्यानों का वर्णन है। प्रजापति द्वारा दुहिता से समागम और मानुष[7] की सृष्टि प्रजापति[8] के संचित वीर्य से आदित्य, भृगु, आंगिरस तथा पशुओं की उत्पत्ति, सूर्यासावित्री का विवाह तथा प्रजापति द्वारा सन्तानोत्पत्ति की अभिलाषा, पृथ्वी अन्तरिक्ष, द्यौ, तीनों वेद तथा ओंकार की उत्पत्ति, प्रजापति द्वारा यज्ञ[9] की रचना और उससे ब्रह्म व क्षत्र की उत्पत्ति के आख्यान इस वर्ग में रखे जा सकते हैं। इन उपयुक्त आख्यानों के द्वारा ऋषियों ने आधि दैविक तथ्यों की ओर संकेत किया है। प्रजापति को ही यज्ञ कहा है और यज्ञ से ही निखिल सृष्टि का सृजन हुआ है। प्रजापति के दुहिता[10] से समागम के आख्यान में भी दुहिता को कुछ द्यौ कहते हैं, कुछ उषा कहते हैं।

---

2. ऋ० 10।85
3. ऋ० 2।43
4. ऋ० 10।129
5. ऋ० 10।190
6. ऐ० 3।33
7. ऐ० 3।36
8. ऐ० 5।32
9. ऐ० 8।19
10. प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्याय। ऐ० ब्रा० 4।7

अन्य कथा में प्रजापति के संचित शुद्ध शुक्र द्वारा आदित्य[11] की सृष्टि होती है, कहते हैं कि देवों ने इस वीर्य को वैश्वानर अग्नि से घेर लिया। मरुतों ने उसे हिलाया। वैश्वानर अग्नि ने उसे चलाया। उस वीर्य से जो पहले ऊपर उद्दीप्त हुआ, वह आदित्य हुआ।

'मानुषम्'[12] मनुष्य की उत्पत्ति के विषय में इस प्रकार का वर्णन मिलता है कि प्रजापति ने अपने दुहिता से भोग की इच्छा की। उसने स्वयं रिश्य हिरण और दुहिता ने हिरणी का रूप धारण किया। देवों ने इस अकार्य को देखा और अपने घोरतम अंश से भूतवान् देव को उत्पन्न किया, जिसने प्रजापति के दुष्कर्म पर आक्रमण कर उसे बांध लिया। प्रजापति के जिस रेतस् का वहां पतन हुआ उसका एक सरोवर बन गया वह दूषित न हो इसलिए देवों ने इसे 'मानदुषत्' कहा वही मादुषम् और बाद में मानुषम् हो गया।

(ख) देवता और यज्ञ

इनमें प्रथम कोटि में देवों के यज्ञ और आहुति के द्वारा स्वर्ग गमन के आख्यान[13] हैं तथा उसका रहस्य अन्य असुरों को न मालूम हो सके अत: यूप को उल्टा गाड़ना, असुरों के विरूप होने का शाप, देवताओं का यज्ञ, श्रम तथा तप एवं आहुतियों द्वारा स्वर्ग पर विजय आदि। सभी ब्राह्मणों में यज्ञ को स्वर्ग प्राप्ति का साधन माना है। मानव को यज्ञ की प्रेरणा देने के लिए इस प्रकार के आख्यानों को जोड़ लिया। वपा की आहुति देने के बाद ही उन्हें स्वर्ग लोक दिखाई देने लगा अत: शेष कृत्यों को त्याग कर वपा आहुति को ही उन्होंने अपनाया। अशरीरा आहुति न कह कर ऋषियों ने यहां भी आधि दैविक या आध्यात्मिक तथ्य की ओर संकेत किया है।

(ग) देवासुर-संग्राम

इस प्रसंग में देवेन्द्र द्वारा वृत्र के वध का वर्णन ऋग्वेद में अनेकश: वर्णित है। इस प्रकार शौर्य के प्रतीक इन्द्र के स्तवन में यत्र तत्र पर्याप्त आख्यान, वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में लभ्य हैं। दैनिक कृत्यों में पितरों का प्राधान्य,[14] इन्द्र के द्वारा वृत्र

---

11. यद्रेतस: प्रथममुद्दीप्यत तदसावादित्योऽभवत्। ऐ० 3।34
12. तद्वा इदं प्रजापते रेत: सिक्तमधावत्तत्सरोभवत्त—मानुषमित्या चक्षत।
ऐ० ब्रा० 3।33
13. ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन, डा० नाथूलाल पाठक, पृ० 139
14. ऐ० ब्रा० 3।15

वध में मरुतों की सहायता,[15] इन्द्र की प्रजापति[16] के समान बनने की अभिलाषा की। ऐ० ब्रा० में इन्द्र वृत्र को मारने से पूर्व सुदूर देश में घूमता रहा। वह सुदूरदेश अनुष्टुभ् और वाणी ही अनुष्टुभ् है। 'इन्द्रो वै यज्ञः'[17] कह कर इन्द्र का अर्थ यज्ञ भी किया है। यज्ञ में पितरों का कृत्य एक दिन पहले किया जाता है क्योंकि उन्होंने देवों से एक दिन पहले इन्द्र के वाणी में प्रवेश को जान लिया था।

2. इतिवृत्तात्मक आख्यान

(क) **ऋषियों से सम्बन्धित**—ऋषियों से सम्बन्धित आख्यानों के अन्तर्गत अंगिरा द्वारा कृत्य में भूल, नाभानेदिष्ट द्वारा भूल सुधार,[18] आदित्य और अंगिरा में कलह,[19] ऋभुओं द्वारा तप करके सोमपान का अधिकार प्राप्त करना,[20] ऐतशमुनि द्वारा ऐतशप्रलाप का दर्शन,[21] सर्प ऋषि द्वारा देवों का पथ-प्रदर्शन,[22] बुलिल ऋषि का विश्वजित् में होता बनना, शिल्पों पर विचार,[23] मनु के पुत्र शर्यात द्वारा अंगिरा के षडह कृत्य में भूल सुधार,[24] वामदेव को संपातों द्वारा त्रिलोक प्राप्ति,[25] विश्वतर द्वारा श्यापर्णों का निष्कासन,[26] वृषशुष्म और गन्धर्वगृहीता का अग्निहोत्र काल पर विवाद,[27] सरस्वती के तट पर ऋषियों द्वारा सत्र तथा कवष का यज्ञ से निष्कासन[28] आदि आख्यान आते हैं।

इन कथाओं को समग्र रूप में देखने से पता चलता है कि ऋषियों की ये कथायें किसी न किसी प्रकार के यज्ञ कर्म से सम्बन्धित हैं। कृत्यों से त्रुटि होने पर ऋषियों

---

15. ऐ० ब्रा० 3।16, 3।20
16. ऐ० ब्रा० 3।21-22
17. ऐ० ब्रा० 4।34
18. ऐ० ब्रा० 5।14
19. वही 4।17
20. वही 3।30
21. वही 3।30
22. वही 6।1
23. वही 6।30
24. वही 4।32
25. वही 4।30
26. वही 7।27-28
27. वही 3।29
28. वही 2।19

द्वारा उचित मार्ग-दर्शन, कर्म विशेष के लिये नवीन सूक्त का निर्देशन आदि संकेत इन कथाओं में प्राप्त होते हैं।

(ख) **यज्ञ के प्रतिपोषक राजाओं से सम्बन्धित**—यज्ञ के प्रतिपोषक राजाओं[29] से सम्बन्धित आख्यानों में कुछ तो ऐसे आख्यान हैं जिनमें इन्द्र के महाभिषेक के समान राज्याभिषेक के या राजसूय यज्ञ कराने वाले राजाओं की लघु कथायें आई हैं। यथा कवष के पुत्र तुर द्वारा परीक्षित के पुत्र जनमेजय का राज्याभिषेक, भृगु के पुत्र च्यवन द्वारा मनु के पुल शर्यात का अभिषेक, कश्यप के द्वारा भुवन के पुत्र विश्वकर्मा का, वशिष्ठ के द्वारा पिजवन के पुत्र सुदास का, अंगिरस के पुत्र सवर्त द्वारा अविक्षित के पुत्र मरुत्तम का, अभि के पुत्र उदमय के द्वारा अंग का तथा मयता के पुत्र दीर्घतमा द्वारा दुष्यन्त के पुत्र भरत का, इन्द्र की महाभिषेक विधि से राज्याभिषेक हुआ, वाम देवों की संपातों द्वारा त्रिलोक प्राप्ति का वर्णन आदि इन आख्यानों में आते हैं।

वैदिक संवाद सूक्तों में पुरुरवा[30] और उर्वशी का आख्यान ख्याततम है अठारह पद्यों में एक मर्त्य और अप्सरा में परस्पर यह संवाद होता है। चार साल तक उर्वशी पुरूरवस् की पत्नी बन कर इस पृथ्वी पर रही, यह मां बनने वाली थी, कि सहसा सृष्टि की प्रथम उषा के सदृश दिव्य सुन्दरी एकदम लुप्त हो गई। पुरुरवस् उसे खोजने निकला और अन्त में उसने उसे एक सरोवर में अप्सराओं के साथ क्रीडा करते प्राप्त कर लिया। सूक्त से एक परित्यक्त पति पत्नी के वार्तालाप से हम उनके प्राचीन सम्बन्ध का आभास पा सकते हैं।

शतपथ[31] ब्राह्मण में यह वर्णित है कि उर्वशी ने पुरुरवा की पत्नी होने से पूर्व तीन शर्तें रखी थीं जिनमें पहली शर्त यह थी कि पुरुरवा उसकी आंखों के सामने नंगा कभी न आएगा किन्तु उधर गन्धर्व अपनी इस अप्सरा को स्वर्ग में वापिस बुलाना चाहते थे। जिसके लिए उन्होंने एक रात को एक युक्ति निकाली उर्वशी सो रही थी कि वे उसके दो मेमनों को चुराकर भाग गए। उर्वशी की नींद खुल गई और वह रोने लगी कि मुझे लूट लिया, मुझे लूट लिया उर्वशी को स्वप्न में भी यह आभास न हुआ कि यहां कोई है। पुरुरवा उनकी चीख सुनकर बिस्तर से कूद पड़ा, कपड़े पहनता तो देर होती, वह जैसा था वैसा ही चोरों के पीछे बेतहाशा दौड़ा। इसी समय बिजली कड़की और उर्वशी के साथ वह अनहोनी होकर रही। पुरुरवा और उर्वशी के मिलन के विषय में ऋग्वेद तथा शतपथ दोनों मौन हैं। सम्भवतः पुरुरवा तपस्या करके गन्धर्व बन गया और स्वर्ग में दोनों का मिलन हुआ।

29. ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन, डा० नाथूलाल पाठक, पृष्ठ 145
30. पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि।
पुरूरवो नु ते केतमायं राजा मै वीर तन्व स्तदासीः॥ ऋ० 10।95।1-18
31. श० ब्रा० 11।5।1

यमयमी[32] सूक्त इसमें वैवस्वत यम का वर्णन आधुनिक युगीन भौतिक भावनाओं के निदर्शन का एक आधुनिकतम रूप है। यमी यम को अपने समीप बुलाना चाहती है किन्तु यम अपने संयम एवं धैर्य से उसे दूर रहने का आग्रह करता है। यम यमी दोनों सगे भाई बहिन है। वे सत्यभाषी है और साथ ही साथ में प्रजापति के धर्म विषय के वर्णनों (दार्शनिक विचारों) में भी डूबते हैं। वे समान मति वाले होकर कार्य करने की भावना को व्यक्त करते हैं और साथ-साथ यह भी मानते हैं कि देवदूत अहर्निश सचेष्ट रहकर सृष्टि का निरीक्षण करते हैं। उनके लिए रात दिन की कोई बाधा नहीं है किन्तु यम उससे दूर ही रहने का संकेत करता है। यम विवस्वत् का पुत्र था जो मर कर स्वर्गवासी प्रथम मनुष्य हुआ और इसी ने मनुष्यों के लिए पितृ लोक में जाने का मार्ग ढूँढ निकाला था।

ऋग्वेद[33] में शुनःशेप की कथा प्राप्त होती है यद्यपि यहां इसका केवल संकेत मात्र किया गया है जिसका विस्तार ऐतरेय ब्राह्मण[34] में 'तदेतत्परं ऋक्शतगाथं शौनःशेपमाख्यानम्' प्राप्त होता है। ऋग्वेद की एक सौ सात ऋचायें शुनःशेप से सम्बन्धित हैं। इन ऋचाओं का द्रष्टा शुनःशेप है। इन ऋचाओं में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है। आख्यान में भी उन्हीं देवताओं का प्रसंग आया है, जिनकी स्तुति इनमें मिलती है। शुनःशेप का नाम तो ऋग्वेद के केवल तीन मंत्रों में आया है। दो मंत्रों में वरुण से पाशमुक्ति के लिये याचना करते हुए शुनःशेप का चित्रण है तथा तीसरे मंत्र में अग्नि द्वारा उसकी शतशः पाश-मुक्ति का वर्णन है। इस प्रकार शुनःशेप की यूप-स्तम्भ से मुक्ति वैदिक तथ्य है।

डा० एच० एल० हरियप्पा[35] ने इस आख्यान का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। आख्यान का क्रमिक विकास बतलाते हुए जो निष्कर्ष उन्होंने दिये हैं, वे इस प्रकार हैं:—

1—शुनःशेप की पाश-मुक्ति का आख्यान वैदिक तथ्य है।

2—ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में वरुण के द्वारा शुनःशेप के गृहीत होने का वर्णन है इस आख्यान से सामाजिक जीवन का पता चलता है कि वह युग कर्मकाण्ड-प्रधान युग था। वरुण उस समय के शक्तिशाली देवता थे।

विश्वामित्र तथा विपाद् एवं शुतुद्री नदियों के वार्तालाप की ओर संकेत किया जा सकता है जिसमें दोनों नदियों ने विश्वामित्र की मन्त्र शक्ति से प्रसन्न होकर उन्हें अनुयायियों के साथ अपनी तेज धारा से पार जाने वाले पथ को प्रदर्शित किया। इन

---

32. ऋ० 10।10

33. ऋ० 1।24।12

34. ऐ० ब्रा० 7।18

35. ऋग्वेदिक लीजेन्ड्स थ्रू दी ऐजेज, पूना 1953, पृ0 185-240

सूक्तों में स्वामिभक्त सरमा को पथ से बिचलित करने में प्राणियों के साथ सुदीर्घ तपस्या के उपरान्त रति की प्रार्थना करने वाली लोपा मुद्रा तथा उसे सन्तुष्ट करने वाले ऋषि अगस्त्य का वर्णन है।

इन्द्र तथा वामदेव[36] का आलाप जन्म से पूर्व ही इन्द्र के अनूठे ढंग का कथन उसकी वीरता का परिचायक है। ('अपाला-सूक्त में सोमवल्ली का रस अपनी दाढ़ों से पी सकूँ। इन्द्र को सोम समर्पित करने वाली अपाला श्रद्धा के साथ राम को शबरी के झूठे बेरों की कथा की स्मृति कराती है।)

अथर्व वेद के सूक्तों में भी अग्नि की ही प्रमुखता है जिसके साथ प्राचीन आख्यानात्मक इतिहास के अंश सम्बद्ध हैं। अग्नि स्वयं आयु[37] 'जीवित' है। कथाओं एवं आख्यानों के आयु का, विशेषतः पुरुरवा और उर्वशी के पुत्र 'आयु' का वास्तविक स्वरूप इस प्राकृतिक पृष्ठभूमि की सहायता से ही स्पष्ट होता है अथर्व वेद के लिए अग्नि सर्वे सर्वा है।

श्री सूक्त में लक्ष्मी देवी की उपासना ऐश्वर्य प्राप्ति के हेतु विष्णु पत्नी के रूप में की गई है। ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर लक्ष्मी पूजा गुप्त युग में अस्तित्व में आई। यद्यपि इसके बीज वेद में हैं। एक अन्य सूक्त में महादेव को विश्वेश्वर विरुपाक्ष, सदाशिव, शम्भु, शिवशंकर कहा है तथा यमुना तीर पर रहने वाले नौ फणों वाले कालिया सर्प का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार पौराणिक परिसर के अनेक आख्यानों की अवधारणा इन सुक्तों में दृष्टिगत होती है। ऋग्वेद अनेक धार्मिक एवं सामाजिक सन्दर्भों से परिपूर्ण है। ब्लूम फील्ड के अनुसार वैदिक धार्मिक सिद्धान्तों के बीज वेद से पूर्व के हैं। 33 वें सूक्त में ओंकार परमात्मा, ओंकार चतुर्भुज तथा लोकनाथ नारायण की स्तुति है। निश्चय ही इनसे महापौराणिक नारायण की प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। 36वें सूक्त में ब्रह्म के सार्वत्रिक अस्तित्व की सूचना मिलती है। इस प्रकार संक्षेप में संहिताओं में पौराणिक अख्यानों का विवरण प्रस्तुत किया गया है जिसका प्रभाव बौद्ध विचारधारा में भी प्राप्त होता है जो आगे अध्याय में वर्णित है।

(ख) संहिताओं में परलोक संबंधी विश्वास

आर्यों[38] का यह लोक भी तेजस्, ओजस्, तथा भ्राजस् से सदा भासमान था

---

36. ऋ० 4।26।1-2

37. गो० ब्रा०, पृष्ठ 132

38. यत्र ज्योतिरजस्त्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्त्रव ।।
यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः।

और साथ ही साथ वे मरणोपरान्त भी ऐसे परलोक की कल्पना से ओतप्रोत थे जो कि नन्दनवन की आभा से आभासित था जैसा कि ऋग्वेद में ऐसे लोक (स्वर्लोक) की कल्पना की गई है जिसमें प्रतिक्षण प्रकाश की पौ फटती रहती हो और जहां आनन्द, मुद्, प्रमुद्, मोद एवं आह्लाद की अमिताभा एवं ज्योत्स्ना की सतत वृष्टि बरसती हो वेदान्त[39] दर्शन के अनुसार जीवात्मा की उत्क्रान्ति, गति, तथा अगति (पुनरावृत्ति) का श्रुतियों में वर्णन है। 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्[40]' इसी प्रकार के विचार अन्यत्र भी प्राप्त होते हैं यथा वह जीवात्मा जब इस शरीर से उत्क्रमण करता है तब इन प्राणों के साथ ही उत्क्रमण होता है। जो-जो प्राणी इस लोक से मरणोत्तर प्रस्थान करते हैं वे सब चन्द्रलोक को ही प्राप्त होते हैं। उस चन्द्रलोक से जीवात्मा इस लोक के लिए भुक्त शेष कर्म के फल भोगने के निमित्त जब पुनः आता है तो इसे आगति कहा है। अथर्व वेद के अठारहवें काण्ड में अनेक मंत्र पुनर्जन्म के समर्थक आए हैं जो ऋग्वेद में भी हैं। 'पुनर्नः[41] पितरो मनो ददातु देव्यो जनः' जीवं व्रातं सचेमहि, में पुनः पुनः माता पिता को तथा दिव्य जन जीव के विग्रह को प्राप्त करने का वर्णन है।

मृत्यु के उपरान्त मानव शरीर के विभिन्न भाग यथा स्थान तितर बितर होकर पहुँच जाते हैं, ऐसा वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है। हे मृत पुरुष[42]। तेरा श्वास वायु में मिले, तेरा नेत्र सूर्य से संगति करे, अपने पुण्य कर्मों के फल को प्राप्त करने के लिए स्वर्ग, पृथ्वी अथवा जल में निवास करे। तेरे शरीर के अंश वनस्पतियों में व्याप्त हों। हे अग्ने ! इस देहधारी के देह में जो अजन्मा[43] है, उसे अपने ताप से तपाओ, तुम कल्याणमय विभूतियों के द्वारा इसे पुण्य लोक की प्राप्ति कराओ। तप तथा यज्ञ समर्पित हव्य सेवी अपने रूप को पितरों के पास प्रेरित करो। इसका अवशिष्ट आयु प्राणवान् हो। हे अग्ने ! यह मृत व्यक्ति पुनर्जीवन को प्राप्त हो। ऋग्वेद में मृत्यु के देवयान[44] मार्ग से भिन्न मार्ग द्वारा गमन करने का वर्णन आया है कि तुमसे

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। यत्र कामा निकामाश्च,
स्वधा च यत्रतृप्तिश्च तत्र माममृतं, यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुदः।
ऋ० 9।113।7-11

39. वेदान्त दर्शन 2।3।19
40. सयदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वेरुत्क्रामंति।
ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। कौ० ब्रा० 1।2
41. ऋ० 10।57।5, य० 3।55
42. ऋ० 10।16।3
43. अजोभागस्तपसा···वहेनं सुकृतामुलोकम्। ऋ० 10।16।4
44. परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते स्वइतरो देवयानात्। ऋ० 10।18।1

निवेदन करता हूँ कि तुम उन पितरों[45] के पास जाओ जो तप के बल से स्वर्ग पहुंचे हैं। पुण्य फल प्राप्त करने के लिए विविध प्रकार के यान के विविध फलों का वर्णन दक्षिणा[46] सूक्त में प्रचुर मात्रा में मिलता है। अथर्व वेद[47] में इस प्रकार के पुण्यों के द्वारा उत्तम लोक की प्राप्ति का वर्णन है। 'प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोके आदधत्' स्वर्ग के वर्णन में जहां पहुंच कर मनुष्य की सभी कामनाएं तृप्त रहती हैं वह प्रकाश पुँज है। इस सम्पूर्ण सूक्त में उत्तम गति प्राप्त करके निवास का वर्णन है। इसी सूक्त में ब्राह्मण के लिए तीनों लोकों[48] की प्राप्ति का भी वर्णन है।

एक ऋषि अपने ज्ञान से स्वर्ण हंस बनकर स्वर्ग गया और सूर्य में लीन हो गया। मनुष्यों की धरणा थी कि स्वर्ग की प्राप्ति हेतु यज्ञ आवश्यक है। यज्ञ साधन के रूप में वैदिक काल में प्राकृतिक शक्ति सूर्य आदि का स्तवन मान्य था, शनैः शनैः ब्राह्मणकाल में यज्ञ नारायण (साध्य) के रूप में हो गया। प्रारम्भ में यज्ञ देवों की प्रसन्नता हेतु समारम्भ किया गया था। इसके द्वारा भौतिक अभ्युदय तो हुआ किन्तु निःश्रेयस् का अभाव हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों में स्तुति के द्वारा यज्ञ साध्य के रूप में ही हो गया, जहां ऋत्विजों से यज्ञों का आयोजन किया गया किन्तु आरण्यकों ने इन यज्ञों को विदाई दे दी और निःश्रेयस् की प्राप्ति पर बल दिया और आध्यात्मिक यज्ञ के अभिधान से ध्यान, योगाभ्यास, चिन्तन, मनन निदिध्यासन का रूप 'ऋषयों मन्त्रद्रष्टारः' के अनुसार तत्व की ओर अभिमुख हो गए और यज्ञ में प्रतीकात्मक रूप को अपनाया। जनता को ज्ञान की ओर अभिमुख किया 'आत्मानं विद्धि' की ओर विश्वास बढ़ा इसलिए बाह्य देवों की पूजा का बहिष्कार हो गया। श्राद्ध[49] कर्म करने का अभिप्राय भी एकमात्र मृतात्मा को सुख शान्तिमय लोकों की प्राप्ति का सूचक है। इस मंत्र में मृतात्मा को सूर्य रश्मियों के साथ गमन से लोकान्तर गमन का बोधक है। अन्यत्र[50] अग्नि से पुनर्जन्म की प्रार्थना की गई है, कि पितृ लोक में भेजो और पुनः पुत्ररूप में उत्पन्न करो।

यज्ञादि कृत्यों के अवसर पर बुलाए जाने पर यह मृत पितर (प्रेतात्मा) भी सूक्ष्म रूप से अपना भाग लेने को आता है। वस्तुतः उस काल तक मृत्यु की भयंकरता तथा यमराज का भयानक रूप स्वीकृत नहीं हुआ था। अपितु वहां बडे

45. तपस ये स्वर्ययुः। ऋ० 9।113
46. ऋ० 10।107
47. अथर्व वे० 11।4।11
48. त्रयो लोकाः समिता ब्राह्मणेन। अथर्व० 12।3।20
49. ऋ० 1।109।7
50. अब सृज पुनरग्ने ! पितृभ्यः। ऋ० 10।16।5

सम्मान के साथ यमराज का आह्वान[51] किया गया है, किन्तु[52] यमदूतों को लम्बी नाक और महान् बल वाला कहा है जो दूसरों के प्राण लेकर ही सन्तुष्ट होते हैं।

नरक के वर्णन में यम लोक के नाम से वहां पहुँचने के लिए मार्ग में सरमा नदी के पार करने का वर्णन मिलता है तथा मार्ग में सरमा नामक शुनी के लम्बी नाक और चार-चार आंखों वाले दो पुत्र (कुत्ते)[53] पहरा देते थे। कतिपय विद्वान् इसे क्रमश: आकाशगंगा तथा श्वन् और प्रश्वन् तारों का संकेत मानते हैं। देवविरोधी, देवभक्ति विरोधी और पापात्मा को अन्धकारमय लोक (नरक) में ढकेल दिया जाता है तथा यज्ञ विहीन अत्याचारी पापाचारी का अध: पतन होता है। इस प्रकार इस अध्याय में हमने परलोक (स्वर्ग-नरक) का संहिताओं में वर्णन किया है पश्चात् कालीन उपनिषत् साहित्य में ये दोनों अत्यन्त स्पष्ट रूप में उभर आये हैं और नरकों में भी विभिन्न प्रकार के लोकों का वर्णन हैं। बौद्धों ने अवीचि[54] नरक का भी वर्णन किया है।

(ग) संहिताओं में लोकाचार तथा लोक विश्वास से संबंधित सामग्री

पुण्य तथा पाप की भावना में विश्वास की पराकाष्ठा—वस्तुत: ब्राह्मण विचार-धारा का प्राणभूत तत्व जो कर्म सिद्धान्त के रूप में सभी को स्वीकार्य है। उसमें महत्वपूर्ण स्थिति कर्म पर आधारित है। ऋग्वेद में अनेकश: सत्कर्मों की प्रेरणा देने के लिए पुण्यवान् व्यक्ति पुण्यलोक स्वर्ग को प्राप्त करता है और कुत्सित कर्मशील लोक में जाता है। वेदों, एवं ब्राह्मण ग्रन्थों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं किन्तु कलेवर वृद्धि से यहां संकेतमात्र किया जाता है। जो प्राचीनकालीन[55] पुरुष पुण्यकर्मों द्वारा फल के अधिकारी हुए हैं जो पुण्य की वृद्धि कर चुके हैं और जिन्होंने तपस्या का फल संचय किया है पितर[56] लोक में वास करने वाले पितरों में ऊंच, नीच, मध्यम श्रेणी के विभाजन से उनके कर्म फल का परिचय मिलता है।

पुनर्जन्म

ऋग्वेद में पुनर्जन्म विषयक चर्चा कई स्थलों पर लभ्य होती है। ऋषि अपने इस जन्म के सुख दु:ख के अनुभव के आधार पर अग्रिम जन्म में भी मानव शरीर

---

51. विवस्वन्तं हुवे य: पिता। ऋ० 10।15।3
52. उदुम्बलौ यमस्य दूतौ। ऋ० 10।14।12
53. अति द्रव सारमेयो श्वानौ…यमेन में सधमादं मदन्ति। ऋ० 10।14।10
54. बु० च० पृ० 84
55. ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृध:। ऋ० 10।154।4
56. उदीरतामर उत्परास: उन्मध्यमा: पितर: सोम्यास:। ऋ० 10।15।1

तथा सभी उपलब्ध इन्द्रियों की प्राप्ति के साथ भगवत्कृपा एवं उनकी उपलब्धि के लिए लालायित होकर ईश से स्तवन करता है कि हे असुनीते[57] (प्राणों के लेने वाले हे सुखदायक परमेश) कृपा करके पुनर्जन्म में भी हमें चक्षु आदि इन्द्रियों को प्रदान करना तथा प्राण, बुद्धि, चित्त, अहंकार बलपराक्रम तथा उत्तम भोगों को प्रदान करना और आपकी ही कृपा से हम सूर्यलोक को स्नेह से देखें। हे भगवन्[58] ! आपकी कृपा से हमें पृथ्वी प्राण को, प्रकाश चक्षु को और अन्तरिक्ष स्थानादि अवकाशों को देते रहें। पुनर्जन्म में सोम अर्थात् औषधियों का रस हम को उत्तम शरीर देने में अनुकूल रहे और पुष्टि करने वाला परमेश्वर हमें सभी जन्मों में स्वस्ति प्रदान करे। अथर्व वेद[59] में भी प्रार्थना इस प्रकार की गई है कि हे प्रभु ! हम जब जन्म लेवें, तब हमको शुद्ध मन, पूर्ण आयु, आरोग्यता, प्राण कुशलता युक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और भोज प्राप्त हो। शरीर के पालनकर्ता ईश हमारी सभी जन्मों में रक्षा करें, बुरे कामों और सब प्रकार के दुःखों से हमें पुनर्जन्म में अलग रखे। हे प्रभु[60]। आपकी कृपा से हमें अग्रिम जन्म में मन आदि ग्यारह इन्द्रियां प्राप्त हों तथा मुझे मनुष्यदेह ही प्राप्त होवे।

ऐतरेय ब्राह्मण में ऐतरेय ने सभी जन्मों का अन्तर्भाव तीन जन्मों में ही माना है। उनके मत में शोणित में प्रथम जन्म, शुक्र जन्म का इसी में अन्तर्भाव है। नौ मास के अनन्तर गर्भाशय भूयिष्ठ होना द्वितीय जन्म अग्नि के द्वारा परलोक प्रतिष्ठा तृतीय जन्म है। संस्कारों के द्वारा जायमान जन्म तृतीय जन्म है और यही जन्म परलोक में जन्म का साधन है। ऋग्वेद[61] में महर्षि दीर्घतमा के (अस्यवामीय सूक्त) में अमर्त्य तथा मर्त्य दो तत्वों का वर्णन है। एक तत्व तो मनुष्य है, दूसरा अदृश्य है। इनमें आत्मा सतोगुणी होने से धार्मिक, तमोगुणी होने से कामी और रजोगुणी होने से धार्मिक का विरोधी अर्थवान् होता है। ऋग्वेद[62] के इस मंत्र में 'अपाङ्' और 'प्राङ्' ये दोनों शब्द क्रमशः पुनर्जन्म और मोक्ष के वाचक हैं। पुनर्जन्म और मोक्ष दोनों ही स्थिति में आत्मा को शरीर में आना पड़ता है पर जो आत्मा इस शरीर में आकर प्रकृति के तमोगुण या रजोगुण से बंध जाता है, वह अपाङ् अर्थात् पीछे की तरफ पृथ्वी पर लौटता है, ये ही वस्तुतः पुनर्जन्म है। पर जो आत्मा इस शरीर में आकर भी धार्मिक प्रवृत्ति का ही रहता है वह प्राङ् अर्थात् आगे बढ़ता है,

57. असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नौ धेहि भोगम्।
58. ऋ० 10।15
59. पुनर्मनः पुनरायुर्मे। अथर्व० 4।15
60. पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा। अथर्व०
61. ऋ० 1।164।38
62. ऋ० 1।164।38

दूसरे शब्दों में वह मोक्ष की तरफ बढ़ता चला जाता है। इस प्रकार हमने लोकाचार तथा लोक विश्वास से सम्बन्धित प्रमुख मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है।

(घ) संहिताओं में कुछ अन्य कोटि के विश्वास

आर्य लोक कबूतर या फाख्ता पक्षी को घर के अन्दर आ जाने तथा उल्लू के बोलने को अशुभ सूचक मानते थे। इसी कारण ऋग्वेद में 'कपोतोलूक अमंगलनाशक सूक्त'[63] का वर्णन मिलता है। हे विश्वदेवो ! यह परावृत (पारावत) निर्ऋति का भेजा हुआ दूत है। यह हमें पीड़ित करने को ही हमारे घर में आ गया है। हम इस कपोत का पूजन करते हैं, हम इस अमंगल को अपने पास से दूर करते हैं इसके द्वारा हमारे गौ, अश्व, पुत्र, यौन, दासदासी आदि आधि व्याधि में न फंसे। इस उलूक[64] की अमंगल सूचक ध्वनि व्यर्थ हो जाय। यह कबूतर अग्नि स्थान में बैठता है। जिन यमराज का दूत होकर यह कपोत हमारे घर में आया है, मृत्युरूपी उस यजमान को हम प्रणाम करते हैं। हे देवगण,[65] हमारे घर में इसके प्रभाव को दूर करे, इसके द्वारा जिस अमंगल की आशंका हुई है उसे नष्ट कर हमारी गौ को सुख पूर्वक आहार करने वाली बनाओ।

पक्षियों[66] से शकुन की कल्पना करने में ऋग्वेद में भद्रवादी शकुन्त कहा गया है। बारम्बार शब्द करने वाले शकुन्त तुम मंगलप्रद हो, बाजपक्षी तुम्हारी हिंसा न करे। हे शकुनि तुम घर की दक्षिण दिशा में मधुर वाणी से कल्याण सूचक शब्द बोलो। दुष्ट वंचक अथवा असुर हमारे स्वामी तथा शासक न बन बैठें। पुत्र पौत्र युक्त होकर हम इस यज्ञ में स्तोत्र का उच्चारण करें। शकुन्तों[67] को सम्बोधित करते हुए कहा गया है कि तुम हमारे पुण्य बढ़ाने वाला कल्याण सूचक शब्द सुनाओ। हे शकुनि ! तुम्हारा शब्द सुनकर हम अपने कल्याण सूचक विचार को प्राप्त करते हैं। हे शकुनि ! जब तुम मौन धारण कर बैठते हो तब हम से प्रसन्न नहीं रहते जान पड़ते। जब तुम उड़ते हो तब कर्करि के समान मधुर शब्द करते हो। हम पुत्र और पौत्रवान् हुए इस यज्ञ में रची हुई स्तुतियों का गान करेंगे।

---

63. देवाः कपोत इषितो—शं नौ अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। ऋ० 10।165।1
64. यदुलूको वदति मोघमेतं। ऋ० 10।165।4
65. सुमंगलश्च शकुने भवासि मा त्वा। ऋ० 2।42।1
66. अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां सुमंगलो भद्रवादी शकुन्ते। ऋ० 2।54।1-3
67. सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद, विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वदा। ऋ० 2।43।2
    आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धिनः। ऋ० 2।43।3

दुःस्वप्न विषयक—हे दुःस्वप्न[68] ! तुमने हमारे मन पर अधिकार किया है। तुम अब यहां से दूर भागो और वहीं विचरण करो। हम से बहुत दूर जो निर्ऋति देवता विराजमान है, उनसे हम पर कृपा करने को कहो। क्योंकि मनुष्य के अभीष्ट विस्तृत होते हैं और वे अभीष्टों के फल देने वाली है। प्राणवान् मनुष्य विस्तृत कामनाओं वाले होते हैं और वे अभीष्ट सम्पत्ति की कामना करते हैं। वे श्रेष्ठफल पाने की आशा में सदा रहते हैं। यमराज अपने मंगलमय चक्षु से देखते हैं। आज हमारी[69] विजय हुई है, पाने योग्य वैभव हमने प्राप्त कर लिया है। हम सभो अपराधों से मुक्त हो गए हैं। हमारी सुषुप्तावस्था में अथवा वाणी द्वारा ही जो पाप हम से हो गया है उसका दुष्ट फल हमारे शत्रु को पीड़ित करे। हम जिस से बैर करते हैं, वह उसी को प्राप्त हो।

पत्नी के वस्त्र का पति के द्वारा पहनना अमंगल का सूचक—पत्नी[70] के वस्त्र से पति अपने शरीर को ढके तो उस पर कृत्या का कोप होता है और उसका सुन्दर शरीर मलीन हो जाता है।

मंत्रों द्वारा रोगों का निराकरण—रोगों का राजा राजयक्ष्मा, जो तपेदिक, भयानक रोग है, उसके निराकरण के लिए दो सूक्त ऋग्वेद में दिए गए हैं। हे रोगिन्[71] मैं तुम्हें अज्ञात क्षय रोग से और दुर्दान्त राजयक्ष्मा से यज्ञानुष्ठान द्वारा मुक्त करता हूँ। इस प्रकार तुम्हारी प्राण रक्षा होगी। हे रोगिन्[72] तुम्हारे दोनों कान, दोनों नेत्र, नासिका छिद्र, शिर, मस्तिष्क, जिह्वा ढोडी आदि से यक्ष्मा रोग को बाहर निकालता हूँ। इस सूक्त के मंत्र में देवता का नाम ही 'यक्ष्मघ्नम्' दिया है। सम्पूर्ण सूक्त में शरीर के सभी अंगों से रोग के बाहर निकालने का वर्णन किया गया है। जैसे हे रोगिन् ? तुम्हारे शरीर के प्रत्येक सन्धि स्थान, लोभ आदि सर्वांग में जहां कहीं भी रोग की उत्पत्ति हुई हो, वहीं से रोग को निकालता हूं। हे रोगिन्[73]

---

68. अपेहि मनसस्पते पक्राम परश्चर। ऋ० 10।164।1-2
69. अजैष्माद्यासनाम्—जाग्रत्स्वप्नः संकल्प पापो—योनो द्वैष्टि तमृच्छतु।
ऋ० 10।164।5
70. अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमंगमभिधित्सते। ऋ० 10।85।30
71. मुंचामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्। ऋ० 10।161।1
72. अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वजिह्वाया वि वृहामि ते। ऋ० 10।163।1
अंगादङ्गाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि। ऋ० 10।163।6
73. आहार्ष त्वाविदं त्वा पुनरागाः पुनर्नव।
सर्वांग सर्व ते चक्षुः सर्वमायुश्च ते विदम्॥ ऋ० 10।161।5

मैंने तुम्हें प्राप्त कर लिया है। मैं तुम्हें लौटा लाया हूं। तुम यहां पुनः नवीन होकर आए हो। मैंने तुम्हारे सभी अंगों, नेत्रों और परम आयु को भी प्राप्त कर लिया है।

'गर्भसंस्रावेप्रायश्चित्तम्'[74] इस सूक्त में गर्भ रक्षण हेतु रोग को नारी के शरीर से बाहर करने का वर्णन है। हे नारी ! जो रोगरूप पिशाच तुम्हारे गर्भ को नष्ट करता है अथवा नष्ट करना चाहता है, उसे हम तेरे शरीर से दूर भगाते हैं। जो रोग तुम्हें निश्चेष्ट कर तुम्हारे बल को खींच लेता है उसे तुम्हारी देह से दूर करते हैं। सन्तान प्रदान कराने तथा गर्भ की रक्षा करने के लिए सूक्तों में वर्णन मिलता है। हे अश्विनीकुमारो ! तुम स्वर्णिम कमल से अलंकृत होते हो। तुम इस नारी के गर्भ का पालन करो। हे पत्नी ! अश्विनी कुमारों ने तुम्हारे जिस गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए सुवर्णमय दो अरणियों को परस्पर घिसा है, दसवें मास में प्रसव होने पर उसी शिशु को हम यहां बुलाते हैं।

'धाता गर्भं दधातु ते' धाता इसे गर्भ धारण योग्य बनावें। इतना ही नहीं यजमान तथा यजमान पत्नी दोनों को होता का आशीर्वाद निम्न प्रकार से लभ्य होता है। होता भी अन्तर्द्रष्टा ऋषि है जिसने अपने हृदय चक्षु से यजमान तथा उसकी पत्नी के गुणावगुण का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। यथा होता[76] कहता है कि मैंने हृदय चक्षु से देख लिया है। तुम तपस्या द्वारा उत्पन्न होकर ज्ञानी हुए हो। तपस्या के ही द्वारा तुम समृद्धि को पा सके हो। तुम यहां पुत्र की कामना करते हुए इस लोक में रहो। हे भार्ये ! हृदय चक्षु द्वारा मैंने तुम्हें देखा, तुम श्रेष्ठ रूप वाली हो। तुम यथा समय अपत्य कामना करती हो तुम्हारी पुत्र कामना अवश्य सफलीभूत होगी।

हाथ के स्पर्श से रोग को नाश होने का भी वर्णन ऋग्वेद में प्राप्त होता है यथा[77] ऋषि कहते हैं कि यह मेरा सौभाग्यशाली हाथ सबके लिए भेषज के समान है। यह स्पर्श के द्वारा मंगल को देने वाला है। अन्यत्र[78] वाणी के साथ जिह्वा भी गति करती है। दोनों हाथ दश उंगलियों से युक्त हैं। तुम्हारे रोग को दूर करने के

---

74. यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।—तमितो नाशयामसि।
ऋ० 10।162।2, 3
75. गर्भं धेहि सिनी वालि गर्भं धेहि सरस्वति—दशमे मासि सूतवे।
ऋ० 10।184।2, 3
76. अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसोविभूतम्। ऋ० 10।183।1,2
77. अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः, अयं मे दिव्य भेषजोयं शिवाभि मर्शनः।
ऋ० 10।60।12
78. हस्ताभ्यां दश शाखाभ्यां—त्वोप स्पृशमसि। ऋ० 10।137।7

लिए दोनों हाथों से तुम्हारा स्पर्श करता हूँ। इस प्रकार चक्षु प्राप्ति सूक्त तथा गर्भरक्षण सूक्त के साथ-साथ अन्य मानसिक दुःखों की निवृत्ति के लिए कतिपय सूक्तों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा सपत्नी नाशन सूक्त,[79] सपत्नी पीडन सूक्त,[80] दरिद्रतानाशक,[81] शत्रुनाशक[82]। इसी प्रकार जल चिकित्सा, औषधि चिकित्सा अन्य स्थलों पर बुढ़ापे को दूर करने का अंधेपन-बहरेपन के विनाश का वर्णन करने वाले सूक्त भी प्राप्त होते हैं। औषधियों को मनुष्य के समान सम्बोधन करते हुए रोग-निराकरण करने को कहा है कि 'या औषधीः पूर्वा जाताः' पूर्व में उत्पन्न औषधियां रोग को दूर करने में आस्था मिलती है। आज भी अपा-मार्ग मूल औषधि को गर्भिणी के गर्भशूल के समय बालक की उत्पत्ति होने के लिए स्त्री की करधनी में बाँधने से उसका प्रसव सुखपूर्वक हो जाता है। इसकों विस्तार से वेदविद पं० केशव-देव शास्त्री विरचित 'कर्मज भवव्याधि दैवी चिकित्सा', में पढ़ें।

वृक्षों में अश्वत्थ[83] वृक्ष की पूजा प्राचीन काल से मिलती है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि कभी अग्नि देव देवों से हटकर अश्वरूप होकर अश्वत्थ वृक्ष पर चढ़ गए और एक वर्ष भर वहाँ ठहर गए। अश्व जिस पर ठहरा है इसलिए इसका नाम अश्वत्थ पड़ा। वर्ष भर वह तेज इस पर ठहरा रहा, इस कारण से यह वृक्ष तेजयुक्त हो गया। इसी अश्वत्थ वृक्ष के लिए गीता[84] में भगवान् कृष्ण ने 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' कह कर इसके महत्व को प्रदर्शित किया है।

ब्राह्मण विचारधारा के विश्वास पक्ष में आस्थापुंजों के अगाध उदधि 'तीर्थ' शब्द-ब्राह्मण धर्म को ही हमने पहले लोक धर्म के रूप में स्वीकार किया है अतः इस लोक धर्म की आस्था का विशाल क्षेत्र है। जिस आस्था में तीर्थ विषयिणी लोक धर्मिणी आस्था अपने विपुल मंजुल भावपुंजों के प्रसाद को विनिर्मित करती हुई अद्यावधि भारत के कण कण में व्याप्त है। इस शब्द में हिम मण्डित हिमालय से कुमारी अन्तरीप तथा विस्तृत भू-भाग के नाना जनपदों एवं प्रान्तों तथा अनेक वर्गीय एवं विभिन्न भाषा भाषी मानवों की मौलिक आस्था-भगवद्-दर्शन, पुण्य स्थानावलोकन, तपः पूत पावनाश्रम विहार एवं निसर्ग सुषमा सुरम्य अरण्य, कानन श्रीखण्ड मण्डित नारिकेल खण्डित खण्ड धाम आवर्त, पतित पावनी पुण्यतोया

79. ऋ० 10।159
80. ऋ० 1।145
81. ऋ० 10।155
82. ऋ० 10।155, 6।50।7, 8।20।26
83. अग्निदेवेभ्यो निलायत। अश्वो रूपं कृत्वा। सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत् तदश्वस्याश्वत्वम्। यदाश्वत्थः संभारो भवति। तै० ब्रा० 1।1।3।9
84. गीता। 10।26

सरिताएं, ज्योतिसर, ब्रह्मकुण्ड, तप्त कुण्ड आदि पावन मनोहारिणी रम्यस्थलियों की नयनाभिराम झांकियां मुदित मन में अमित आह्लाद भरती हुई इस तीर्थ शब्द की चरितार्थता करती हैं।

इन तीर्थ स्थलों के दर्शन, उनके प्रति अदम्य दर्शन लालसा, शारीरिक सुखोपभोग कीत्याग तपस्या ब्राह्मण विचारधारा के सम्यक् समुत्थान में तथा सम्पूर्ण भारत-भूमि में उस विचारधारा की मौलिक एकता के संरक्षण में तथा मानव मन में पावनता, उच्चस्तरीयता लाकर, संकीर्ण स्वार्थ पूर्ण सामान्य निम्न तत्वों की उपेक्षा की भावना को सजग करती हुई नैतिक मूल्यांकन की निधि का कार्य करती रही है। इस ऐक्य में तीर्थ-यात्राओं का महान् योगदान रहा है। महाभारत तथा पुराण सहित्य इन्हीं तीर्थों के महात्म्य का अक्षय कोष है। इन्हीं की उदात्तता के कारण देवता भी भारत भूमि के आवास के आकांक्षी रहे हैं। इन्हीं तीर्थ स्थलों पर देव मन्दिरों के भव्य निर्माण ने देश-विदेश सभी को प्रभावित किया है।

ऋग्वेद सप्तम मण्डल[85] में जल को देवता के रूप में सविधि सम्मानित किया है। और समुद्र में जल को पुनाना[86] कहते हुए जल देवता हमारे रक्षक हों ऐसा स्तवन किया है। इसी प्रकार सभी नदियां हमें हानि न पहुँचाएं ऋग्वेद में दो महानदियां विपाश[87] (आधुनिक व्यास) तथा शतद्रु (सतलज) पर्वतों की क्रोड से निकलती हैं। इन्हीं के साथ सरस्वती, सरयू, सिन्धु, गंगा-यमुना[88] आदि नदियों का गुणगान तथा निवेदन ऋग्वेद में ही लभ्य होता है। सरस्वती[89] के दो रूप जिनमें एक नदी रूप भी है। ऋग्वेद में नदियों की पावनता के साथ ही महाकवि कालिदास की आस्था 'हिमालय को देवतात्मा' कहने में है। ऋग्वेद की ऋचाओं में पर्वतउपत्यका तथा नदियों के संगम की पवित्रता वर्णित है। जिन रम्य स्थलों पर विपुल साहित्य का सृजन हुआ।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में तीर्थ[90] शब्द का अर्थ मार्ग तथा जलावतार है जैसाकि कोषकारों ने 'तीर्थ योनोजलावतारेच' स्वीकार किया है, वह मार्ग के अर्थ में प्राप्त

---

85. आपो यं वः प्रथमदेवयन्तः
ते सिन्ध वो वरिवो घातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ।। ऋ० 7।47।1-4
86. समुद्रज्येष्ठाः सलिलस्य मध्यात् पुनाना···भामवन्तु । ऋ० 7।49।1-7
87. विपाट शुतुद्रि पयसा जवेते । ऋ० 3।31।1
88. इयं मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि···सुषोमया । ऋ० 10।75।5
89. पावका नः सरस्वती वाजेभि वीजिनवती यज्ञं वष्टु धियावसुः ।
प्रचोदयत्री सुनृतानाँ चेतन्ती सुमतीनां यज्ञं दघे सरस्वति ।।
महो अर्णः सरस्वति प्रचेतयति केतुना धियोविश्वा विराजति । ऋ० 1।3।12
90. तीर्थे नार्यः पौंस्यानितस्थुः । ऋ० 1।169।6

होता है तथा[91] वही जलावतार के अर्थ में रमणीय घाटों के अर्थ में प्रयुक्त होता है, ऋग्वेद के दशम मण्डल[92] तक पहुँचते हुए इसी शब्द के अर्थ में तीर्थ शब्द से पुण्य स्थल का बोध होने लगा।

अथर्व[93] वेद में भी तीर्थों का महत्व स्वीकार किया है तथा ब्राह्मण[94] ग्रन्थों में भी तीर्थ का महत्व आया है। महाभारत[95] तथा पुराणों में इनका महत्व अधिक हो गया और इनकी लोकप्रियता ने अविकल सामान्य धर्म का रूप ले लिया। पद्म पुराण[96] में तथा स्कन्द पुराण[97] में नदियों को पतित पावनी के रूप में माना है तथा वहाँ अरण्यों में नैमिषारण्य, तडागों में पुष्कर, क्षेत्रों में कुरुक्षेत्र आदि का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है।

ब्राह्मण विचारधारा रूपी यज्ञ की पूर्णाहुति गया तीर्थ के वर्णन में निहित है। यह स्थान तीर्थ क्षेत्र एवं मन्दिर पीठ दोनों महत्वों के कारण मूर्धन्य माना गया है। हिन्दु मात्र अपने दिवंगत मातापिता की 'गया' करने का अभिलाषी रहता है जिससे उनको मोक्षोपलब्धि हो सके। 'गयशिरस्' 'गयासुर' इस प्रकार के अभिधान के रहस्य को अवगत करने के लिए वेदों पुराणों, बौद्ध जैन ग्रन्थों सभी पृष्ठ भूमिका पर नयननिक्षेप करना होगा। 'गय' आर्ष संज्ञा है। सर्वप्रथम ऋग्वेद के दशम मण्डल 63, 64, सूक्त के 17वें मंत्र में 'गय' षब्द' 'असतावि जनो दिव्यो गयेन' प्रयुक्त हुआ है।

अथर्व वेद में प्रथम मण्डल के चौदहवें सूक्त में चतुर्थ मंत्र में गय को एक जादूगर कहा गया है। वैदिक संहिताओं के असुर, दास, राक्षस, आदि अनार्य जादूगर विस्मयावह, विस्मय विमुग्धकारी घटनाओं से सम्बद्ध थे अतः यह निष्कर्ष समीचीन नहीं होगा कि अथर्ववेद में प्रयुक्त यह जादूगर 'गय' पुराणों में असुर बनकर गयासुर नाम से विख्यात हो गया।

गयासुर[98] नामक विक्रममूर्ति असुर जिसकी ऊंचाई 125 योजन और मोटाई 60 योजन कही गई है। वह कोलाहलपर्वत पर इसके सहस्रों वर्ष अदम्य साहसपूर्ण

---

91. अरित्रं वाँ दिवस्पृथु तीर्थे...सुतीर्यमर्वतो...ऊतयः ऋ० 8।47।11
92. अधायि...तीर्थेन यन्त्यूमाः। ऋ० 10।31।3
93. तीर्थस्तरन्ति प्रवतो महीः। अथर्व० 18।4।7
94. यथा धेनं तीर्थे तर्पयन्ति। तै० ब्रा० 1।8।3
    चैतद्वै देवनांतीर्थम्। षडविंश ब्रा० 3।1, पंचविंश ब्रा० 9।4
95. महा० बन० 82।17
96. पद्म पु० 5।62।46
97. स्कन्द० पु० पंचम भाग गुरु मण्डल ग्रन्थमाला, पृ० 69
98. भारतीय वास्तु शास्त्र हिन्दु-प्रासाद, डा० द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, पृ० 66

कार्यों से देवों को आतंकित करता रहा। देव आतंकित हो ब्रह्मा के समीप गये और ब्रह्मा के साथ शिवधाम, विष्णुधाम पहुँचे और विष्णु ने सभी देवों के साथ गयासुर से कठोर तप का कारण पूछा और वर माँगने को कहा। गयासुर ने अपनी सर्वतो वरिष्ठा पुण्यता मांगी देवों ने 'तथास्तु' कहकर उसे वरदान दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो गयासुर का स्पर्शकरता वह पुण्यात्मा होकर स्वर्ग पहुँचता। इस कार्य से चिन्ता करते हुए ब्रह्मा शीघ्र ही विष्णु के समीप गये तो विष्णु ने गयासुर से अपने शरीर को यज्ञ हेतु देने को कहा। विष्णु की बात गयासुर ने मान ली अब उसका शरीर धड़ाम से पृथ्वी पर गिर गया। शिर, कोलाहल पर्वत के उत्तर में और पैर दक्षिण में और अब ब्रह्मा ने अपने यज्ञ संभार जुटाए किन्तु गयासुर के शरीर के हिलते रहने के कारण ब्रह्मा को अपने यज्ञ में कठिनाई अनुभव हुई। ब्रह्मा ने यम से उस पर एक शिला रखने को कहा तब भी शरीर का स्पन्दन न रुका। अब ब्रह्मा ने शिवादि देवों को उसके ऊपर खड़े होने को कहा किन्तु शरीर हिलता ही रहा तो ब्रह्मा विष्णु के समीप गए और गयासुर के हिलने को बन्द करने को कहा। विष्णु ने अपनी मूर्ति दे दी किन्तु उससे भी स्पन्दन न रुका अन्त में विष्णु और जर्नादन, पुण्डरीक, फल्ग्वीश, केदार, विनायकगणेश लक्ष्मी, गौरी आदि अपने नाना रूपों में उस गयासुर के शरीर पर सवार हो गये तब गयासुर का हिलना बन्द हुआ।

गयासुर ने इस प्रकार धोखा देने के लिए शिकायत की कि जब उसने यज्ञार्थ अपना शरीर दान कर दिया था तो इस प्रकार बोझ से लादने का क्या कारण था। विष्णु के वचन मात्र से ही वह स्तब्ध हो जाता फिर भी सभी देवों की स्थिति को अपने यहाँ स्थापित करने के लिए मैंने ऐसा किया। गयासुर का वरदान ही गया महात्म्य का रहस्य है। गयासुर ने वरदान मांगा।

'जब तक पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तारागण का अस्तित्व है तब तक ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि ये सभी देव मेरी इस शिला पर बने रहें। यह पवित्र क्षेत्र मेरे नाम से विश्रुत हो। सभी तीर्थ पंचकोश परिमित गया क्षेत्र में रहें। सभी देवगण[99] (पद

99. एष्टव्या वहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्।
यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृष्टमुत्सृजेत्॥
महानदी च तत्रैव तथा गयशिरो नृप।
यत्रासौ कीर्त्यते विप्रैरक्षय्यकरणो वटः॥
यत्र दत्तं पितृभ्योऽन्नमक्षय्यं भवति प्रभो।
सा च पुण्यजला तत्र फल्गु नामा महानदी॥ महा० व० प० 87-10-12
गयाशिरे तु यत्किंचिन्नाम्ना पिण्डं तु निर्वपेत्।
नरकस्था दिवं यान्ति स्वर्गस्था मोक्षमाप्नुयुः। काणे लिखित स्मृति,
वा० 4, पृ० 46

चिह्नादि) देव-मूर्ति रूप में विराजमान है और जिनको यहां सपिण्डश्राद्ध दिया जावे तो वे ब्रह्म लोक को जायेंगे और ब्रह्म हत्या आदि पापों का यहां नाश हो जाएगा। देवों को 'तथास्तु' कहना पड़ा। ब्रह्मा ने यह तीर्थ ब्राह्मणों को दे दिया। ब्राह्मणों ने धर्मारण्य में धर्मराज के नाम पर बड़ा यज्ञानुष्ठान किया तथा यज्ञ दक्षिणा मांगी, इस पर ब्रह्मा क्रुद्ध हो गए और शाप देकर उनका ऐश्वर्य ले लिया और कहा कि अब यात्रियों के द्वारा दिये गए दान से ही तुम्हारी आजीविका चलेगी। गया में तीन प्रधान तीर्थ हैं फल्गुनदी का स्नान विष्णु पद तथा अक्षयवट दर्शन। विष्णु पद का सबसे बड़ा मन्दिर है जो भगवान् के पद्चिह्न पर उत्थित हुआ है। गया में लगभग 45 श्राद्ध वेदियाँ हैं।

भगवान् बुद्ध ने भी अपनी तपस्या के लिए सर्वतीर्थस्थली गया को ही अपनी तपस्या का लक्ष्य बनाया जो आज बौद्ध गया के नाम से प्रसिद्ध है। महा सम्बोधि तरु बौद्धों का तीर्थ है और हिन्दुओं के लिए भी वह मान्य है, पूज्य है।

पंचम अध्याय

साधना का स्वरूप

(क) संहिताओं में विविध साधनाओं का स्वरूप
(ख) ब्राह्मण ग्रन्थों में साधनाओं का स्वरूप
(ग) आरण्यक ग्रन्थों में साधना का स्वरूप
(घ) उपनिषदों में साधना का स्वरूप
(ङ) सूत्र साहित्य और विविध साधनाएं

(क) संहिताओं में विविध साधनाओं का स्वरूप

साधना, उपासना तथा पूजापक्ष के स्वरूप का वर्णन प्रत्येक विचारधारा किसी न किसी चरम लक्ष्य को लेकर ही अनुप्राणित होती है। उस प्राणभूत तत्व के बिना उसकी निर्जीवता शीघ्र विनाशकारी होती है। इसके लिए चिरन्तनकालीन तत्व उसका लक्ष्य ही निर्धारित करता है। ब्राह्मण विचारधारा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि ही इसका चरम लक्ष्य माना गया है और इनमें भी 'मोक्ष' का प्राधान्य है। वैसे सभी आस्तिक विचारधाराएं मोक्ष को ही अपनी प्राप्ति का चूडान्त उन्नयन स्वीकार करती है, वेद विरोधी बौद्धदर्शन में भी निर्वाण प्राप्ति ही अन्तिम लक्ष्य माना है। उस मोक्ष प्राप्ति की प्रयत्न पद्धति को ही हम साधना कहते हैं। किस प्रकार के प्रयत्नों, अनुष्ठानों, त्याग, तपश्चर्या तथा सद्गुणों के आकलन, अनुसरण से साधक को मोक्ष प्राप्ति हो सकती है। इन साधन युक्त मार्गों को ही साधना का अभिधान दिया गया है। उस साधना की प्रयत्न पद्धति के आन्तरिक समर्पण को ही उपासना कहेंगे। सभी धर्मों में अपने अभीष्ट के सम्मुख उपास्य की उत्कृष्टता तथा निज की दरिद्रता असमर्थता प्रकट करने की भावना सामान्यरूपेण प्राप्त होती है। इस प्रकार की प्रयत्न पद्धति के द्वारा आत्मसर्पण को ही उपासना माना जाता है तथा प्रत्येक उपासना पद्धति में बाह्यशुद्धि तथा उपकरण सामग्री तथा बाह्य उपचार आदि को पूजा का रूप स्वीकृत किया गया है। यह व्यक्ति विशेष के अनुसार विभिन्न रूपों तथा स्तरों पर की जाती है।

वस्तुतः पूजा यजन के ही अर्थ में स्वीकृत है। यज्ञ से कर्मकाण्ड का विकास हुआ। कर्मकाण्ड का ही एक अंग पूजा है। इस कर्मकाण्ड का बहुविकास ब्राह्मण ग्रन्थों में लभ्य है। आरण्यकों में यही पूजा उपासना प्राणोपासना ओंकारोपासना के रूप में विकसित हुई। ज्ञान का स्वरूप उपनिषदों में निखर आया। संहिताओं में तप और यज्ञ ही साधन के रूप में मान्य तथा प्रचलित थे। संहिताओं के पश्चात्काल में ज्ञान, कर्म तथा उपासना तीनों शनैः शनैः स्पष्ट हो गए, दिशाएं परिवर्तित हो गईं। सूत्र साहित्य भी बौद्ध त्रिपिटकों से पूर्व था अन्य धर्म सूत्रों यथा वैखानस में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हुई तथा अन्य गृह्यसूत्रों एवं श्रौत सूत्रों में कर्म की प्रधानता रही है। उपनिषदों में ज्ञान काण्ड का स्वरूप पूर्णतया मुखरित हो गया था जो कि आज भारतीय ही नहीं अपितु विश्व की दार्शनिक अनुपम निधि के रूप में मान्य है।

संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में साधनाओं के रूपों का निर्वहण–वेदों में कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार से है कि सभी वेद मंत्रों का उच्चारण यज्ञ कृत्यों के पावन अवसर पर किया जाता था। सोमयाग जैसे यज्ञों

में चार ऋत्विक् होते थे। वेदि के उत्तर में ब्रह्मा अथर्ववेद के मंत्रों से, उसकी उसकी दाहिनी ओर होतृ ऋग्वेद से, उसकी बाई ओर उदगातृ सामवेद से और ब्रह्मा के सम्मुख अध्वयु यजुर्वेद के मंत्रों से वेदि में आहुति डालते थे। अन्य मंत्रों का भी उच्चारण किया जाता था। इन मंत्रों के प्रयोग के कारण याज्ञिक कृत्यों का कार्य कर्मकाण्ड कहलाता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन लभ्य है। इस प्रकार के कर्मकाण्ड के प्रवर्तक जैमिनी थे। उनके मत में वेदों का प्रणयन मानव के लिए कुछ कर्म (यज्ञ) करने के लिए हुआ है। मुनियों ज्ञानकाण्डी विद्वानों का दूसरा वर्ग वेदों के दो लक्ष्य निर्धारित करता है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति। यज्ञों द्वारा भौतिक सुखों की प्राप्ति 'अभ्युदय', यह कर्मकाण्ड अथवा उपासनाकाण्ड है और वेद के कतिपय सूक्त तथा उपनिषद् वेदान्त आत्मज्ञान के द्वारा अवधि के नाश से आत्मदर्शन कराते हैं इसलिए यह मार्ग निःश्रेयस् की प्राप्ति ज्ञानकाण्ड का है अतः दो वर्ग स्पष्टरूपेण लभ्य हैं। यथा पुरुष सूक्त, विश्वेदेवा सूक्त, नासदीय सूक्त आदि सूक्तों के अनेकशः उदाहरण तथा इन्हीं भावों की उपनिषदों में आवृत्ति लभ्य होती हैं। वाजसनेयी संहिता का अंश ईशोपनिषद् शतपथ ब्राह्मण का सत्रहवां अध्याय वृहदारण्य मंत्र ब्राह्मण का अन्तिम भाग छान्दोग्य तलवकार ब्राह्मण का अंश केनोपनिषद्। यद्यपि इनका पृथक् निर्देश किया गया है किन्तु यह धारा भी साथ ही साथ सर्वत्र व्याप्त सी ही प्राप्त होती है।

कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड इन दो वर्गों के विभिन्न लक्ष्यों का पोषण करते हुए कहा गया है कि वेदों का प्रधान लक्ष्य कर्म था जिनमें यज्ञों का किया जाना ही अभीष्ट था और दूसरा वर्ग वह था जो वेदों का लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नति निःश्रेयस् को मानता था। कतिपय आलोचकों[1] का मत है कि ब्राह्मणों तथा उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ संहिताओं के अध्ययन से दोनों भेदों (कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड) का आधार शिथिल तथा कृत्रिम प्रतीत होता है। उनकी धारणा है कि किसी एक स्थल विशेष को कर्मकाण्ड अथवा दूसरे को ज्ञान काण्ड के रूप में अलग करना कठिन है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में ही औपनिषदिक विचारधारा के बीज भी मिलते हैं किन्तु मेरी इस विचार से सहमति नहीं है, क्योंकि यदि हम किसी भी मन्त्र को ध्यान से पढ़ें तो हम इन दोनों रूपों की छाया उसमें प्राप्त कर सकते हैं। जैसे कहा गया है कि मनुष्यो[2]! तुम सब उस परम पुरुष को नहीं जानते, जो सबको उत्पन्न करता और पीछे समेट लेता है। न जानने के कारण ही तुम्हारे और उस परम पुरुष में बड़ा भेद आ पड़ा है। पुरुष उत्पादक है, तुम सब उत्पन्न होने वाले हो। वह घुमाने वाला

1. दी कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, भाग प्रथम, पृ० 185,187
2. न तं विदाथ यऽइमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं वभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽउक्थशासश्चरन्ति ॥ शु० यजु० 17।31

यन्त्री है और तुम सब घूमने वाले यन्त्र हो। उसे यदि सबका अन्तर्यामी मानकर उसकी उपासना करो तो निश्चय ही बन्धन से मुक्त हो जाओ। कुहरे के समान अज्ञान से आवृत बहुत कुतर्क करने वाले लोग, परमेश्वर की उपासना का तिरस्कार कर भोगों के द्वारा इन्द्रियों की तृप्ति में यावज्जीवन प्रयत्नशील रहते हैं।

उपासना का तत्व बहुत गूढ़ है। आज के संतप्त मानव को उपासना ही शान्त एवं सुखी बना सकती है-'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति[3] नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् 'उपासना द्वारा ज्ञान-प्रकाश पाकर, उस आत्मस्वरूप परमात्मा को जानकर ही मानव मृत्यु को लांघ जाता है। उसकी प्राप्ति का कोई अन्य मार्ग नहीं है।

वेदों के अध्ययन का निष्कर्ष यही है कि 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्य जायत' तेजोमय तप के द्वारा ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। तदुपरान्त अन्य सृष्टि। इस प्रकार तप का महत्व समारम्भ अथवा अनादिकाल से ही स्वीकृत हुआ है। 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' ब्रह्मचर्य रूपसाधना द्वारा देवों ने मृत्यु को जीता। इन उदाहरणों से यही ज्ञात होता है कि आदि देवों ने आत्मसात् करने का साधन ब्रह्मन् (प्रार्थना) बनाया उस ब्रह्मन् का अधिष्ठाता बृहस्पति तथा वाग्देवी मानी गई। वैदिक देव ऋषियों की प्रार्थनाओं के 'स्यूमन्' में बंधे चले आते थे। वे हमारे जैसे शरीरी होकर भी हमसे महान् हैं। इन देवों की गरिमा तथा महिमा का मानबिन्दु मात्र सौजन्य तथा शालीनता न होकर इनका उद्‌गूर्ण बल एवं अमोघ शक्ति पुंज तथा अप्रतिम शौर्य है। अतएव वैदिक ऋषि दैविक चमत्कृति एवं विस्मयावह परिस्थितियों में देवों के सम्मुख नत मस्तक हुए और उन्होंने उनका स्तवन करना आरम्भ किया। वैदिक जीवन की अक्षयधुरी आर्जव चर्चित शौर्य का संबल लेकर भौतिक तथा अध्यात्मिक क्षेत्रों में शीर्षस्थ होती हुई विराजमान है।

साधनाओं के विवेचन से पूर्व यदि संक्षेप में यह विचार कर लें कि साधना किस वस्तु की प्राप्ति के लिए करते हैं तो औचित्य का निर्वाह ही होगा लक्ष्य का ज्ञान हुए बिना प्रयत्न किस लिए ?

'य इत्तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः[4]'

जो उसे जानता है वह देवत्व (अमरत्व) प्राप्त करता है।

'यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते[5]'

ऋचाएं उच्च स्थान को प्राप्त हैं, सब देव उन्हीं के आश्रित हैं जो इस बात को नहीं जानता वह ऋचा से क्या लाभ उठायेगा।

---

3. शु० यजु० 31।18 तथा श्वेत० 3।8
4. ऋ० 1।164।23
5. ऋ० 1।164।38

देवशिरोमणि देवेन्द्र के विषय में जब ऋषि नेम को शंका हुई और उसने नेन्द्रोऽस्तीति[6] कहा तो इन्द्र ने स्वयं प्रकट होकर कहा कि मैं अपनी महिमा से स्वयं प्रकट हुआ हूँ और ऋत द्रष्टा (यज्ञ) के कर्ता ऋषि मुझे बढ़ाते हैं। मैं सभी लोकों का विदारण करने वाला हूँ। वरुण का स्तवन करते हुए ऋषि[7] ने कहा है कि हे वरुण ! तुम ऋत से अनृत को विविक्त करते हुए मेरे राष्ट्र के अधिपति बनो तथा जो मानव अपने अन्तस्तल के ऋत तत्व (अहं) को नहीं जानता वह मन से इधर-उधर भटकता फिरता है। निम्न ऋचा में कहा गया है कि मैं नहीं जानता[8] कि मैं क्या हूँ ? मैं मूर्ख और अर्द्ध विक्षिप्त के समान हूँ जब मुझे ज्ञान का प्रथमांश प्राप्त होता है तभी मैं किसी वाक्य को समझ पाता हूँ। वस्तुतः मानव अपने को तब तक नहीं पहचान पाता जब तक ऋत के प्रतीक अग्नि तत्व के उसे दर्शन नहीं हो पाते क्योंकि ज्योति (प्रकाश) वही है, वही अन्दर है, वही बाहर है, मन में उसी का एक स्फुलिंग मात्र है। इस ऋत प्रजात अग्नि तत्व के दर्शन में ही मानव जीवन की इति कर्तव्यता है। जैसा कहा है कि मरण धर्मा[9] के साथ ही अमर तत्व रहता है। अन्नमय शरीर पाकर वह कभी नीचे कभी ऊपर जाता है, ये दोनों विपरीत गति वाले हैं। संसार उनमें एक को पहचानता है (शरीरमात्र को)परन्तु दूसरे अमर तत्व को नहीं जान पाता उसके विषय में भ्रम में पड़ा रहता है।

साधना[10] के मार्ग में सर्वप्रथम कर्म की प्रधानता ऋग्वेद में वर्णित है। जिन सत्कृत्यों के द्वारा ऋभु शिल्पी होते हुए भी अमरत्व प्राप्त कर सके, उन्होंने चमस् के चार भाग किए, अपने माता-पिता को यौवन प्रदान किया। अपने सत्कर्मों के द्वारा ही इन्द्र, वरुण देवों की मित्रता प्राप्त की। देवत्व प्राप्ति में सत्कर्म का प्राधान्य है। उनके देवों के मार्ग (देवयान) से गमन करने का वर्णन प्राप्त होता है। कर्म से देवत्व तथा यज्ञ में देवतुल्य भाग की प्राप्ति का वर्णन यहां किया गया है। त्रसदस्यु[11] नामक दानी राजा को भी अर्द्ध देवत्व की प्राप्ति हुई।

---

6. ऋ० 8।100।4
7. ऋतेन राजन्ननृतं विविंचन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। ऋ० 10।124।5
8. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
   यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥
   अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
   ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यऽन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥
   ऋ० 1।164।37, 38
9. को ददर्श प्रथमं जायमान मस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्ति॥ ऋ० 1।164।4
10. ऋ० 1।20, 1।161।4।34।4।36
11. ऋ० 4।38

तप का महत्व—(दुर्धा दधाति परमे व्योमन्[12]) तप के प्रभाव से निम्नस्तर वाला मनुष्य भी उच्च स्थान में बैठ सकता है। ऋग्वेद में तपः, तपत्, तपनी, तपनः, तपना, तपन्तं, तपस्, तपसा, तपिष्ठ आदि शब्द लगभग 47 या 48 स्थानों पर प्रयुक्त हुए हैं जिनमें से कतिपय उद्धरणों में 'तपस्या' अथवा तप द्वारा देवत्व तथा देवों में भी इसी तप की शक्ति का वर्णन है अतः तपश्चर्या साधनों में प्रमुख स्थान रखती है यथा हे अग्नि[13] ! जो शत्रु छिप कर हमारा नाश करना चाहता है अथवा जो शत्रु हमारे भीतर घुसकर हमारा नाश करना चाहता है इन दोनों प्रकार के शत्रुओं को अपने तेज से भस्म कर डालो तुम्हारा तप (तेज) अजर, वृष्टि के कारण रूप सामर्थ्य से युक्त हैं। हे अग्नि ! जिस कठोर तेज (तपस्) से जरूथम राक्षस का नाश करते हो उसी तेज से शत्रुओं का नाश करो। हे इन्द्र[14] ! तुम सज्जनों से वैर रखने वाले दुष्टों को अभीष्टों की वर्षा करने वाले अपने तेज (तप) से सर्वव्याप्त होकर भस्मसात् कर दो। तप शब्द का अर्थ ऋग्वेद में तपन पीड़ा का भी है यथा हे इन्द्र,[15] वरुण जिसके यज्ञ में तुम जाते हो, उसके पास विघ्न, पाप, दुष्कर्म और सन्ताप नहीं पहुँचते।

तपस्या के अर्थ में 'तप' शब्द का वर्णन वृहस्पति के अपनी पत्नी जूहू के छोड़ देने के प्रसंग में प्राप्त होता है। तब देवों ने उन्हें (तप)[16] प्रायश्चित्त कराया तथा उन तपस्वी सप्तर्षियों[17] ने उस पत्नी को अत्यन्त चरित्र वाली कहा। जो प्राचीन-कालीन पुरुष[18] पुण्य कर्मों द्वारा फल के अधिकारी हुए हैं, जो पुण्य के स्रोत को विस्तृत कर चुके हैं और जिन्होंने तपस्या का फल संचय किया है। उन्होंने इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे इन्द्र ! तुमने अपने तप से स्वर्ग पर विजय प्राप्त की। 'त्वं परितप्याजयः[19] स्वः' हे अग्नि[20] इस देहधारी की देह में जो अजन्मा है, उसे अपने तप से तपाओ। नासदीय सूक्त में सृष्टि की रचना से पूर्व अन्धकार ने अन्धकार को आवृत किया हुआ था। वह सर्व व्याप्त ब्रह्म भी अविद्यमान पदार्थ से ढका

---

12. ऋ० 10।109।4
13. ऋ० 6।5।4
14. तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च। ऋ० 6।22।8
15. न तमंहो न दुरितानि मर्त्यमिन्द्रावरुणा न तपः कुतश्चन। ऋ० 7।82।7
16. तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन। ऋ० 10।109।1
17. देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः। ऋ० 10।109।4
18. ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावधः। ऋ० 10।154।4।15
19. ऋ० 10।167।1
20. अजो भागस्तपसा तं तपस्व। ऋ० 10।16।4

हुआ था, वही[21] एक तत्व तप के प्रभाव से विद्यमान था। तुम तपस्या[22] द्वारा उत्पन्न होकर ज्ञानी हुए हो, तपस्या द्वारा समृद्धि पा सके हो। इन्द्रावरुण[23] ! पूर्व कालीन ऋषियों को जो बुद्धि, बल, वाणी, श्रुत और स्तुति तुमने दी उन सब को हम इस यज्ञ में तप के द्वारा देख लेंगे। इन्द्र[24] को पवित्र स्तोत्रों, सत्य, श्रद्धायुक्त श्रेष्ठ कर्मों से निष्पन्न किया जाता है उनके द्वारा तप से राक्षसों के विनाश का वर्णन है। इस प्रकार अनेक स्थानों पर तपिष्ठ[25] शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि साधना क्रम में तप का विशेष महत्व रहा है।

तपस्या का महत्व—वस्तुतः सृष्टि का सृजन ही इस बात का प्रमाण है कि सभी की उत्पत्ति तप के द्वारा हुई। 'ऋत च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' ऋग्वेद की इस ऋचा में प्रजापति ने सर्वप्रथम ऋत, सत्य तथा तप के द्वारा अन्य भौतिक महा तत्वों का निर्माण किया। देव[26] भी पूर्व में मरणधर्मा थे, उन्होंने तप के द्वारा ही देवत्व प्राप्त किया। इसकी पुष्टि में ऋभुओं का वर्णन ऋग्वेद में है। जब कि प्रजापति ने मरणधर्मा ऋभुओं को अमरत्व प्रदान कराया। अथर्व वेद में भी ब्रह्मचर्य[27] तथा तप के द्वारा अमरत्व प्राप्त करने का वर्णन मिलता है। तैत्तिरीय संहिता[28] में देवों ने याग विशेष द्वारा मृत्यु को पराभूत किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण[29] में भी इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है। तप के महत्व को बतलाते हुए कहा है कि जो तप द्वारा दुर्धर्ष[30] हुए और जो तप के द्वारा ही स्वर्ग में पहुँचे और जिन्होंने घोर तप किया कि वे ही अपना अभ्युदय कर सकें।

वेद प्रतिपादित रीति के अनुसार अपना कल्याण ही नहीं बल्कि राष्ट्र का कल्याण और सुखों का साधन भी तप के द्वारा प्राप्त करने का वर्णन प्राप्त होता है यथा देश के कल्याण[31] को चाहते हुए सुख और सुख के साधनों को जानते हुए

---

21. तम आसीत्—तपसस्तन्महिनाजायतैकम्। ऋ० 10।129।3
22. तपसो जातं तपसोविभूतम्। ऋ० 10।183।1
23. तपसाम्यपश्यम्। ऋ० 8।59।6
24. ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुत। ऋ० 9।113।2
25. ऋ० 10।87।20, 4।5।4, 7।59।8, 10।89।12, 4।4।1
26. देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसित भगमुत्तमम्। ऋ० 4।54।2
27. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। अथर्व० 11।6।19
28. 7।4।2।1
29. 3।12।3।1
30. ऋ० 10।154।2
31. भद्रम् इच्छन्तः ऋषयः स्वर्विदः तपोदीक्षाम्—ततो राष्ट्रं बलम्।
अथर्व० 19।41।1

ऋषियों ने पूर्व काल में तप और तप के नियमों को ग्रहण किया, उससे राज्य, उसका साधन, बल, तेज भी प्राप्त किया। ऋग्वेद[32] में भी तप के द्वारा आन्तरिक तथा बाह्य शत्रु को मारने का वर्णन है।

तप के महत्व को स्वीकार करते हुए मैक्सवैबर[33] ने लिखा है कि मनुष्य तपोबल से देवों को भी अपनी सुखोपलब्धि के लिए विवश कर सकते हैं ऐसा सुदृढ़ विश्वास व्यक्त किया गया है। (ओउम्) के जप से भी मानव मन को शान्ति, भौतिक पदार्थों से निवृत्ति तथा अन्त में मोक्षोपलब्धि का वर्णन किया गया है। इस तप के क्षीण[34] होने पर पुन: मानव जन्म में आकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है अत: स्वर्ग ही ब्राह्मणिक विचारधारा का चरम लक्ष्य नहीं रहा इसका विवेचन बाद में उपनिषदों में होगा।

ब्राह्मणिक विचारधारा साधनाओं की ही विचारधारा है। इसमें प्रत्येक क्षेत्र में साधना का ही साम्राज्य है। वैदिक ऋषि ने साधनामय जीवन पाया और अन्य मानवों को भी साधनामय जीवन बिताने का सन्देश दिया। उसका जीवन तथा जीवन का प्रत्येक क्षण साधना, व्रत, तप, अनुष्ठान, दीक्षा से अनुप्राणित रहा है। यद्यपि इस साधना का कोई क्रमिक विकास तो लभ्य नहीं होता किन्तु मानव जीवन को पूर्णतया अनुशासित करने के लिए साधना को विस्ताररूपेण प्रयुक्त किया है।

साधना को हम तप, व्रत, दीक्षा, यज्ञ, दान और ज्ञान के शीर्षकों में रख कर विवेचित करें तो इसका कुछ रूप मुखरित होगा। इन यज्ञ, दान तथा तप सभी के अनुगमन करने पर भी ज्ञान को सर्वोपरि निर्धारित किया है।

सत्य ऋत के अनुशीलन से ब्रह्मन् की उपलब्धि तथा उसकी प्राप्ति के लिए तप, व्रत, दीक्षा, यज्ञ, दान, श्रद्धा और ज्ञान साधन के रूप में अनुशीलित किए गए हैं क्योंकि इस जगत् की स्थिति भी इन्हीं छ: प्रधान तत्वों के आश्रय पर ही है।

यथा[35] छ: बातों सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ के द्वारा ही पृथ्वी की स्थिति है। ऋत,[36] यज्ञ और ब्रह्म सत्य के ही स्वरूप हैं। सत्य से ही महत्तत्व वायु बहता है, सूर्य तपता है, अग्नि प्रज्वलित होती है, स्वर्ग का भी सत्य में ही वास है,

32. तपसा युजा विजहि शत्रून्। ऋ० 10।83।3
33. दी रिलीजन आफ इंडिया—मैक्सवैबर, पृ० 167
34. —वही—166
35. सत्यं बृहद्दतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व० 12।1।1
36. सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रवि:—सत्यं यज्ञस्तपो वेदा:—
सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्। महा० शा० प० 199।67-68

वह सत्य वेदों में वर्णित है उसका परम लाभ भी सत्य में ही है। 'ऋतं च सत्यं च' में भी यही ध्वनि है इन दोनों में विशेष भेद नहीं किया जा सकता है। जिस ऋत की सहायता[37] से देवता भी शरीर त्याग कर अमृत के केन्द्र रूप आत्मीय प्रकाश (स्वर्ग) को प्राप्त हुए। प्रकाश पूर्ण उस व्रत से और तपस्या से यशोधनी हम सुकृत के लोक में अपने स्थान को प्राप्त करेंगे। वह वेगवान्[38] तपस्वी निःसन्देह विश्व में भ्रमण करता है। तपस्वी विश्व को भ्रमित, आश्चर्यचकित करने की क्षमता रखता है। 'विद्युत्'[39] की देवी को नमस्कार करते हुए उसे तप का समूह कहा गया है।

उस प्रभु के विषय में भी श्रम तथा तप के महत्व को अथर्व वेद में स्कम्भ सूक्त में स्वीकार करते हुए कहा है कि जो तप के श्रम से प्रकट होकर सभी लोकों में व्याप्त होता है। यद्यपि तप शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेकशः हुआ है परन्तु इसका अर्थ अधिकता के साथ तेज, सन्ताप अथवा दाह है तपस्या नहीं। क्लेश युक्त निवृत्ति-परक तप तथा उससे प्राप्त सिद्धियों का यहां क्रमशः विकसित रूप लभ्य नहीं होता। कतिपय ऐतिहासिक इस तप शब्द को आष्ट्रिक तेपु अथवा तबु शब्द का पर्यायवाची सिद्ध करते हैं जिसका अर्थ 'त्याग' अथवा 'निषेध' था। यह आष्ट्रिक[40] तपु अथवा तबु शब्द पालीशियन टेबू शब्द से बना है।

दीक्षा या अनुशासन—तपस्या के द्वारा जिस चरम लक्ष्य परमसत्योपलब्धि (ब्रह्मन्) की प्राप्ति की जाती थी उस आध्यात्मिक विकास के लिए आत्मानुशासन आवश्यक है। व्रत का पालन अनिवार्य है। आत्मदर्शन के लिए स्वसंस्कृति अपरिहार्य है। ऋग्वेद में वरुण व्रत के पालक धृतव्रती[41] कहे गए हैं तथा शुचिव्रत[42] कह कर अश्विनी कुमारों को सम्बोधित किया गया है। विष्णु[43] के पराक्रम को देखो जिनके बल से सभी नियम स्थित हैं। वरुण[44] के नियम अटल हैं। ऋषि[45] वरुण को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हम तुम्हारे नियम के पालन करते हुए निरपराध

---

37. येन देवाः—व्रतेन तपसा यशस्यवः। अथर्व० 4।11।6
38. अथर्व० 5।2।8
39. अथर्व० 1।13।2
40. दी कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया, वा० प्रथम, पृ० 7
41. त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः ऋ० 2।1।4
42. ऋ० 1।141।9, 1।15।6, 1।25।10
43. अश्विना पिबतं-मधु दीद्यग्नी शुचिव्रता ऋतुना यज्ञवाहसा। ऋ० 1।15।11, 1।182।1
44. अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि। ऋ० 1।24।10
45. वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम। ऋ० 1।24।15

रहे। नियमों में दृढ़,[46] सुन्दर प्रज्ञावान् वरुण प्रजाजनों में साम्राज्य स्थापन के निमित्त बैठते हैं। इस सूक्त में तीन बार धृतव्रत विशेषण वरुण के लिए प्रयुक्त हुआ है। (धृतव्रतायदाशुषे)[47] वे निष्ठावान् यजमान की साधारण हवि को भी नहीं त्यागते। इन्द्र के द्वारा व्रती तथा अव्रती दोनों को अनुशासित करने का वर्णन है कि हे इन्द्र! तुम आर्य तथा अनार्य दोनों को जानते हो कर्महीनों को दण्ड दो तथा उन्हें कर्मवान् व्यक्तियों के अधीन करो। हे सोम[48]! तुम में वरुण[49] के सभी नियम निहित हैं।

(दस्युमव्रतम्)[50] दस्यु पापी के लिए सुव्रती,[51] अनुव्रती[52] का प्रयोग व्यक्तियों के अनुकूल आचरण पर महत्व दिया है क्योंकि व्रतपा, अनुव्रतम्, अनुव्रतान् आदि पदों से यह प्रमाणित होता है कि दैविक नियमों के पालन से देव प्रसन्न होकर रक्षा करते हैं और दैहिक, दैविक, भौतिक तापत्रय का विनाश कर आध्यात्मिक सुख शान्ति प्रदान करते हैं। वरुण, अग्नि तथा इन्द्र आदि देवों के कर्मों को अटल कहा गया है। इन नियमों के पालन करने से मानव का जीवन भी नियमित तथा अनुशासित होता था। इस कारण कठोर नियमों का यथाविधि पालन ही तपश्चरण कहलाने लगा। साधक को अपनी साधना पूर्ति के लिए कठोर तपश्चरण आवश्यक हो गया।

प्रमाद, आलस्य, तन्द्रा मानव जीवनोत्कर्ष के लिए महान् शत्रु हैं अतः इनका त्याग करके कठोर परिश्रम तथा अनुशासित जीवन को महत्व दिया गया है और इसकी पुष्टि में कहा गया कि देवता[53] भी परिश्रम के ही मित्र होते हैं अन्य के नहीं।

इसके साथ ही देवताओं की कृपा भीं वे ही यज्ञकर्ता प्राप्त करते हैं जो आलस्य को त्याग कर जागरूक रहते हैं यथा 'इच्छन्ति[54] देवा सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति देव तन्द्रा से रहित दृढ़व्रती प्रमाद से रहित याज्ञिक को ही चाहते हैं। यजुर्वेद[55] में

---

46. निषसाद धृतव्रतो वरुणः—ऋ० 1।25।10
47. ऋ० 1।25।6
48. विजानीह्यार्यान्ये—शासदव्रतान्। ऋ० 1।51।8
49. वरुणस्य व्रतानि। ऋ० 1।91।3
50. ऋ० 1।175।3
51. ऋ० 1।180।6
52. ऋ० 1।183।3
53. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋ० 4।33।11
54. ऋ० 8।2।18, अ० 20।18।3
55. व्रतेन दीक्षामाप्नोति, दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
    दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति, श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥ य० 19।30

आत्मदर्शी को प्रथमव्रती होना चाहिए यथा व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा (कृपा), दक्षिणा से श्रद्धा, प्रतिष्ठा, सम्मान तथा सत्य की प्राप्ति होती है।

वस्तुत: दीक्षा कोई सामान्य प्रवृत्ति मात्र नहीं है। यह गुरु तथा शिष्य का निकट सम्पर्क था। अर्थवेद में इसका वर्णन विस्तार से मिलता है तथा आचार्य शिष्य को तीन रात्रि व्रत के लिए अपने पास रखता था जैसे माता पुत्र को जन्म देने से पूर्व कुक्षि में छिपाकर रखती है। इतनी गोपनीयता, वत्सलता, पावनता, तल्लीनता की तीन रात्रि[56] बिताने पर गुरु शिष्य को बाहर लाता था, मानो उसका इस जीवन में नूतन जन्म हुआ हो। ऐसे नव जीवन प्राप्त दीक्षित शिष्य को देखने के लिए देवता तथा दिव्य प्रकाश से युक्त महापुरुष भी आते थे। उस ब्रह्मचारी की तप से[57] रक्षा करते और देव उस पर प्रसन्न होते थे। वही ब्रह्मचारी[58] वेदात्मक ब्रह्म को धारण करता और सब प्राणियों को प्राणापानों को प्रकट करता है। व्यान नामक वायु को, शब्दात्मिका वाणी को अन्त:करण और उसके आवास रूप हृदय को, वेदात्मक ब्रह्म और विद्यात्मिका बुद्धि को वही ब्रह्मचारी उत्पन्न करता है। यहां पर ब्रह्मचारी की महिमा उत्कृष्ट रूप से वर्णित है।

गुरु की दीक्षा का मार्ग अन्धकार से प्रकाश की ओर, मानवता से देवत्व की ओर, असत्य से सत्य के मार्ग की ओर अग्रसर करने की विधि है। यजुर्वेद में अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा है कि हे व्रत पति ! मैं व्रत का पालन करूंगा, तुम्हारी स्तुति[59] करते हुए जो मेरे में स्थित हुआ है वही मेरे शरीर में भी स्थित रहे। इस अग्नि ने मेरे दीक्षा नियमों और तप को स्वीकार किया है। क्षेत्रज्ञ क्षेत्र का मार्ग दूसरे को दिखाता है। यह मार्गदर्शन की विधि है यहां शिष्य स्वयं अपने मार्ग को प्रशस्त करता है, अग्नि तो मार्गदर्शक ही है। शिष्य मात्र श्रोता नहीं अपितु वह कर्ता 'स्वयं क्रियाशील होकर ज्ञान की उपलब्धि करता है। इसी प्रकार ज्ञानोपलब्धि सम्भव है। इसी ब्रह्मचर्य तथा तप से देवों ने मृत्यु को जीता। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या सुन्दरपति पाने की प्रार्थना करती तथा युवक सुन्दर पत्नी की तथा समाज में समुन्नत आदरणीय जीवन (गृहपति) होने की क्षमता के लिए भी प्रार्थना करता है। गृहस्थी होने पर भी संयम का महत्व था।

---

56. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः। अथर्व० 11.5.3
57. ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति। अथर्व० 11.5.8
58. ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्। अथर्व० 11.5.24
59. ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। अथर्व० 11.5.6

इस व्रत के अनुशीलन के पर्याप्त उदाहरण ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त होते हैं जिनमें से कतिपय यहां दिये जाते हैं। यथा कौषीतकी[60] ब्राह्मण में कहा है कि जो व्रतहीन हैं उसके द्वारा दी गई हवि को देवता ग्रहण नहीं करते हैं।

'न हवा अव्रतस्य देवा हविरश्नन्ति। तस्मादुपवसति'

व्रती[61] के लिए नियमों, आहार तथा वस्त्र आदि का भी विधान किया गया है। अव्रती[62] के लिए ईश्वर पराभव प्रदान करता है। व्रत[63] में दीक्षित व्यक्ति वही है जो सत्य का अनुशीलन करता है। इस प्रकार व्रतों का पालन और नियमों का अनुशीलन एक कठोर बन्धन के रूप में समाज को सुव्यवस्थित करने के लिए निर्धारित किया गया और साथ ही इसके प्रयोग से ज्ञान के मार्ग का भी उदय हुआ।

स्वाहा

स्वत्व 'अहंकृति' तथा भौतिक उपलब्धियों को उस प्रभु के समर्पण करने की इस पावन एवं उदात्त भावना को इस शब्द में भर दिया है, इसका वर्णन करना कठिन है। वस्तुतः आत्म सर्वस्व समर्पण ही सिद्धि का मार्ग है। इस प्रकार मानव उत्तमोत्तम पदार्थों को देवों के लिए अर्पित करता हुआ त्याग भावना से अनुप्राणित होता है यही सिद्धि का मार्ग कहा गया है। (स्व) अपने सर्वस्व को (हा) त्यान देने का नाम स्वाहा है। अपने अधिकार में जो तन, मन, धन स्वार्थ में ही न लगाकर परार्थ में लगाने का नाम ही स्वाहा है।

ऋग्वेद[64] में स्वाहा शब्द का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। अन्य स्थानों में स्वाहा कृतम्, स्वाहाकृतस्य, स्वाहाकृतानि, इन्द्रायस्वाहा, इदं न मम इन पदों से यह इन्द्र के लिए दिया है, यह मेरा नहीं है। इस प्रकार इस परम्परा में त्याग की भावनाओं

---

60. कौषीतकी ब्राह्मण 3।1
61. तस्य व्रतमन्नभवेच्छयानं न प्रत्याचक्षीतेति। कौ० ब्रा० 6।8
62. ईश्वरो विवक्तारं प्रेषो अन्वेतोः। कौ० ब्रा० 5।1
प्रेषो नियमत्यागो विवक्तारं भ्रशं वाचिनकन्वेतोः पराभवाय अन्वेतुमीश्वरः समर्थः। नियम प्रेषकारी वक्ता पराभवं प्राप्नोतीति। विनायक भाष्य
63. स यः सत्यं वदति स दीक्षित इति ह स्माह। कौ० ब्रा० 7।3
64. स्वाहा यज्ञं कृष्णोतनेन्द्राय यज्वनो गृहे। तत्र देवां उप ह्वये। ऋ० 1।13।12
सुपुत्रा स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्। ऋ० 3।4।11
ऋ० 1।93।12, 1।42।1,2, 2।36।1, 3।44।11, 32।11, 35।1

को भरने का विचार सब जगह प्राप्त होता है । अथर्व वेद[65] में भी स्वाहा शब्द का अर्थ सर्वस्व समर्पण ही ग्रहण किया गया है यही सिद्धि का मार्ग है। इसी प्रकार हम देखते हैं कि स्वाहा और स्वधा शब्दों के द्वारा ब्राह्मण विचारधारा में मानव के लिए स्वाहा शब्द अमूल्य और रहस्यमय अर्थ को द्योतित करता है और स्वधा शब्द तो देव शब्द का सुन्दर ही वाचक है ।

(ग) आरण्यक ग्रन्थों में साधना का स्वरूप

ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कर्मकाण्ड है । विभिन्न प्रकार के यज्ञों की प्रक्रियाएं और उनके नियमोपनियम तथा उनके द्वारा अभीष्ट फलों की उपलब्धि का विस्तारपूर्वक वर्णन इन ग्रन्थों में लभ्य है । कार्मकाण्ड के प्राधान्य के कारण यहां लोकरुचि के भौतिक उपलब्धियों की ओर अधिक आकृष्ट होने का स्पष्टतः अनुमान होता है इसी कारण यहां ज्ञान पक्ष अत्यन्त ही क्षीण प्रतीत होता है । इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के वर्णनों ने यज्ञ फलों के रूप में अनेक लोकों की प्राप्ति बतला कर आत्मा के पुनर्जन्म एवं परलोक विषयक आस्थाओं को दृढ़ किया ।

अर्चा और अर्च्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । अर्च्य देवों के बिना अर्चा का कोई अर्थ नहीं । यह अर्चा या देव पूजा अपने विभिन्न विकासों में प्राप्त होती है । इस विकास के प्रमुख पांच सोपान दृष्टिगत होते हैं । स्तुति, आहुति, ध्यान अथवा चिन्तन, योग एवं उपचार । ऋग्वैदिक पूजा को स्तुति प्रधान, यजुर्वेदादि उत्तर वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थ सूक्त ग्रन्थों तक पूजा आहुति प्रधान (यज्ञ अग्निहोत्र आदि) वही आरण्यकों एवं उपनिषदों के समय चिन्तन, ध्यान प्रधान हो गई । इसी ध्यान परम्परा से दूसरा सोपान योग प्रधान पूजा विकसित हुई जो प्रायः सभी दर्शनों ने मोक्ष प्राप्ति का सामान्य साधन माना । कालान्तर में पौराणिक एवं आगमिक परम्पराओं के विकास से पूजा उपचार प्रधान परिकल्पित हुई । इसके भी दो रूप हुए । वैयक्तिक और सामूहिक । इसी सामूहिक पूजा के विकास में इस देश में तीर्थ-स्थानों का निर्माण गंगा स्नान, कीर्तन, भजन, तीर्थयात्रा आदि अपूर्तव्यवस्था की प्रतिष्ठा है ।

आरण्यकों में ब्राह्मण ग्रन्थों के स्थूल एवं यज्ञानुष्ठान जो शरीर की क्रिया की अपेक्षा रखते थे, वे सूक्ष्म मानसिक ध्यान एवं उपासना में परिवर्तित हो गए । अतएव यज्ञ के वास्तविक स्थूल रूप मानसिक ध्यान के प्रतीकों के रूप में वर्णित हुए

---

65. न्वेतेनारात्सीरसौ स्वाहा (नु एतेन असौ अरात्सीः)
अवैतेनारात्सीरसौ स्वाहा (एतेन असौ अव अरात्सीः)
अपैतेनारात्ससीरसौ स्वाहा (एतेन असौ अप अरात्सीः) अथर्व० 5।6।5,6,7

हैं। बाह्योपचार या कर्मानुष्ठान ने मानसिक उपासना का रूप ग्रहण किया। आरण्यको के अन्तिम भाग उपनिषदों में यह मुखरित हो गया।

आरण्यकों के दर्शन का सार ही उपनिषद् हैं इसलिए हमने आरण्यक तथा उपनिषद् दोनों का विवेचन (ग) तथा (घ) भाग का विवेचन एकत्र ही प्रस्तुत किया है।

ब्राह्मण विचारधारा में ध्यान के प्रकार का वर्णन करते हुए कहा है कि मैं देवताओं[66] के लिए अमृतत्व का आगान (साधन) करूं। इस प्रकार चिन्तन करते हुए आगान करे। पितृ गण के लिए स्वधा, मनुष्यों के लिए आशा (इष्ट वस्तुओं), पशुओं के लिए तृण और जल, यजमान के लिए स्वर्गलोक और अपने लिए अन्न का आगमन करूं। इस प्रकार इनका मन में ध्यान करते हुए अप्रमत्त होकर स्तुति करे। इसी ध्यान[67] प्रक्रिया के फलस्वरूप प्रजापति ने लोकों के उद्देश्य से ध्यान रूप तप किया। उन अभितप्त लोकों से त्रयी विद्या की उत्पत्ति हुई और उस अभितप्त विद्या से 'भूः, भुवः और स्वः' ये अक्षर (व्याहृतियां) समुत्पन्न हुई। इन अक्षरों के आलोचन से ओंकार की समुत्पत्ति हुई, इसी ओंकार से सम्पूर्ण वाक् तथा सब कुछ व्याप्त हुए हैं।

मधु विद्या[68] के रहस्य को समझाया है कि यह आदित्य निश्चय ही देवों का मधु है। द्युलौक उसका तिरछाबांस है जिस पर कि वह सूर्य लटका हुआ है, अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणें मक्खियों के बच्चे हैं। देव मधु के रूपक से इसे समझाया है। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, दर्शन मात्र से जीवित रहते हैं, सूर्य देवताओं के मधु हैं, मोक्ष ही अमृत तथा मधु रूप है, सूर्य की उपासना से परम मधु ब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस विद्या के विषय में कहा गया है कि इसे धनधान्य[69] से पूर्ण पृथ्वी देने पर भी किसी को न दे, केवल सुपात्र में ही देवे। इस प्रकार यह त्रैविद्या भौतिक उपलब्धियों से अधिक महत्वशाली है। इस विद्या के जानने वाले को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है जहां न सूर्य उदित न अस्त होता है उसके लिए सदा दिन ही रहता है।

पंचाग्निविद्या[70]—श्वेतकेतु के पांचालों की सभा में जाने पर और उसके द्वारा पांचों प्रश्नों के उत्तर न दे सकने पर वह अपने पिता गौतम आरुणि के पास पहुँचा

66. छा० 2।22।2
67. छा० 2।23।2,3
68. छा० 3।1।1
69. नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति। छा० 3।11।6
70. बृ० उ० 6।2।9

और कहा कि आपने मुझे सब विद्याएं नहीं सिखाई। अतः वे पुनः राजाप्रवाहण के पास जाकर पंचाग्नि विद्या का ज्ञान प्राप्त करने लगे। यह विद्या इस प्रकार है कि यह लोक अग्नि है सूर्य, लकड़ी, किरणें धूम, दिन ज्वाला, दिशाएं अंगार हैं, अवान्तर दिशाएं विस्फुलिंग (चिनगारियां हैं। इस अग्नि में देवगण श्रद्धा को हवन करते हैं, उस आहुति से सोम राजा होता है।

शाण्डिल्य विद्या

'सर्व खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, उसी से उत्पन्न होने वाला, उसी में लीन होने वाला, उसी में चेष्टा करने वाला है इस प्रकार शान्त मन से उपासना करे। 'तज्ज', 'तल्ल', 'तदन' उत्पन्न, लीन, प्राणन्; चेष्टा करता है। 'मुखं हितस्य कारुण्यं' शाण्डिल्य सूत्र में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही ब्रह्म है इस भावना से उपासना करनी चाहिए।

दहर विद्या

पुरुषार्थ से अर्जित सम्पत्तियां नश्वर है उसी प्रकार पुण्यार्जित लोक भी नश्वर है अतः दहर मनुष्य का शरीर ही ब्रह्मपुर है। उसका दहर हृदय कमल भगवान् का निवास स्थान है उसी में परमात्मा को खोजो। 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति'। छा० 8।1

भूमाविद्या[71]

जागतिक प्राणी सुख के इच्छुक हैं। क्षणिक सुख तो नाशवान् है। वही सुख भूमा है 'आनन्दो ब्रह्मणोरूपम्' के अनुसार 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पेसुखमस्ति भूमैव सुखम्'। अतः जो भूमा है वही सुख है।

दीर्घायुष्य विद्या

यथेच्छ आयु की प्राप्ति के लिए 'महिदास ऐतरेय नामक उपासक ने बहुत दिनों का दीर्घ जीवन प्राप्त किया और वे 1600 वर्षों तक जीवित रहे।

मन्थ विद्या[72]

यह मन्थाख्य विद्या है, इसमें अग्नि स्वरूप देव भगवान् की प्रार्थना है तथा

71. छा० 7।23।1
72. बृ० उ० 6।3।1

इसमें इस प्रकार का वर्णन है कि यज्ञकर्ता कहता है कि सब देवता विपरीत होकर मेरे अभिजयों को नष्ट कर देते हैं, मैं उनकी तृप्ति के लिए आहुति देता हूँ। किसी अच्छे मुहूर्त में दुग्धपायी रह कर औषधियां तथा फलों का हवन 'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' कह कर आहुति देने का विधान है।

इस प्रकार उपनिषद् साहित्य में विविध प्रकार की साधनाओं का वर्णन विस्तार-पूर्वक जाना जा सकता है। ब्रह्म के सत्य स्वरूप का वर्णन भी उपनिषदों में विस्तार-पूर्वक प्राप्त होता है कि जिस स्वरूप की प्राप्ति के लिए ऋषियों ने विभिन्न प्रकार का वर्णन किया है। ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध: स्मृत:।

गीतोक्ति में उस परमेश के सत्यस्वरूप ओंकार के साथ तत् सत् को भी सम्मिलित किया गया है वस्तुत: 'सत्यं ज्ञान[73] मनन्त ब्रह्म' में वह ब्रह्म ही सत्य, ज्ञान तथा अनन्त शब्द विशेषण न होकर स्वरूप मात्र को ही दर्शाते हैं। उस लक्ष्य[74] को सत्य का ही स्वरूप छान्दोग्य में भी स्वीकृत किया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में भी उसे[75] सत्य का भी सत्य घोषित किया गया है तथा सत्य[76] ही ब्रह्म है सत्य[77] निश्चय ही ब्रह्म है। मुण्डकोपनिषद् में सत्य से देवयान[78] मार्ग के पूर्ण होने का वर्णन है। ब्रह्म के स्वरूप तथा सत्य पर इस प्रकार अन्य उद्धरण भी दिए जा सकते हैं किन्तु यहां हमारा विषय साधनाओं के स्वरूप को विवेचित करता है अत: इस सत्य की प्रगति में तप को ही अग्रगण्य दर्शाया गया है यथा ऋत और सत्य को तप[79] से ही उत्पन्न किया, यह ऋग्वेद का उद्घोष उपनिषदों में भी पूर्णतया अनुमत है यथा यह आत्मा सत्य तथा तप[80] के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् में भी सत्य धर्म के दर्शनों के इच्छुक के लिए सूर्य से अपना हिरण्यमय कवच हटा कर प्रत्यक्ष सत्य के दर्शन कराने की प्रार्थना की गई है। उस तत्व को सत्य तथा तप के द्वारा दर्शन करने का वर्णन श्वेताश्वतर में भी लभ्य है। ऋग्वेद में 'क' प्रजापति के अतिरिक्त[81] अन्य जगत् को वश करने में कोई समर्थ नहीं है उसे ही सत्य धर्मा कहा है। सत्य का ही महर्षि वेद व्यास पूर्ण महत्व

---

73. तै० उ० 2।1।1
74. तत्सत्यं स आत्मा। छा० 6।8।7
75. तत्सत्यस्य सत्यम्। बृ० उ० 2।1।20
76. सत्यं ब्रह्म। बृ० उ० 5।5।1
77. सत्यं ह्येव ब्रह्म। बृ० उ० 5।4।1
78. सत्येन पन्था विततो देवयान:। मु० उ० 3।1।6
79. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। मु० 3।1।5
80. सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति। श्वेता० 1।15
81. यो वा दिवं सत्यधर्मा जनान। ऋ० 10।121।9

प्रतिपादित करते हुए सम्पूर्ण वेद ज्ञान का सार बतलाते हैं और सत्य को ही सनातन धर्म कहते हैं ।

सत्यानुप्राप्ति की साधना ही भारत में सर्वोपरि रही है । उस सत्य को यज्ञ, दान, विद्या, धर्म, वेद वेदांग, जनन, सन्तति सभी का सार एवं सर्वोपरि निर्धारित करते हुए महाभारत शान्तिपर्व[82] में स्पष्टरूपेण घोषित किया गया है कि इस प्रकार सत्य को ही ब्रह्म स्वरूप मानते हुए जीवन में सत्य का बड़ा महत्व रहा है, उस सत्य को जीवन के सभी क्षेत्रों में अपनाने के लिए संयम, सदाचार का सेवन अपरिहार्य हो गया, इतना ही नहीं, यही सत्य का अनुशीलन जीवनचर्या का अभिन्न अंग बनाया । इसी सत्य का अनुपालन आदर्श में भी और व्यवहार में भी, बौद्धिक रूप में भी और जीवन की उच्चतम साधना के रूप में ब्राह्मण विचारधारा का सर्वव्यापी अंग बन गया । यही परमार्थ विषयक गवेषणा तथा उसकी प्राप्ति में सहायिका विद्या, ब्रह्मविद्या के अभिधान से ख्यात हुई । यही ब्रह्मवाद बौद्धदर्शन की दृष्टि में भी श्रेष्ठतम ज्ञान है । इसी कारण मुण्डकोपनिषद् में 'ब्रह्मविद्या सर्वाविद्या प्रतिष्ठाम्' कह कर इसे शिरोमणि स्वीकार किया गया है । इसी के पराविद्या, गुह्य विद्या, राजविद्या आदि नाम हैं ।

मनुष्य की इन्द्रियों को शस्त्र का भी शस्त्र बतलाते हुए अथर्ववेद में कहा है कि आंख, मन, ज्ञान और तप के जो शस्त्र होवें, ये उन शस्त्रों के भी शस्त्र हैं अर्थात् शस्त्रों से कई गुना बल आत्मिक बल होता है । विश्वामित्र के पाशवी शस्त्र तपस्वी वसिष्ठ की इच्छा शक्ति के सम्मुख व्यर्थ हुए । उसकी प्राप्ति के लिए साधक को निष्काम तथा धीर होना चाहिए । इन्द्रियों के दैविक स्वरूप का जो वर्णन वेदों में किया गया है उसी का निर्वहण उपनिषदों में भी प्राप्त होता है जैसे ज्ञानी के मन में जब यह धारणाएं दृढ़ीभूत हो जाती हैं कि सूर्य मेरा चक्षु है, वायु प्राण है, अन्तरिक्ष आत्मा है और पृथ्वी शरीर है ।

अमर नाम वाला यह मैं हूँ । सूर्य[83] और वायु क्रमशः पुरुष के आंख और प्राण में विभक्त हुए हैं, इसी प्रकार अन्य देव अन्य भागों में प्रविष्ट हुए । तो उसमें आत्म-बल बदता है । उपनिषदों में भी इसी प्रकार का देवों के शरीर में वास करने का वर्णन प्राप्त होता है । यथा अग्नि[84] वाणी बन कर मुख में प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बन कर नाक में प्रविष्ट हुआ । सूर्य आंख बन कर नेत्र में रहने लगा, दिशाएं नेत्र

---

82. न यज्ञ फलदानानि नियमास्तारयन्ति हि । यथा सत्यं परे लोके तथेह पुरुषर्षभ । तपांसि चाग्नि—विशिष्यते । सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्य मेकाक्षरं तपः—प्राणिनां जननं सत्यं सत्यं सन्ततिरेव च ।। महा० शा० प० अध्याय 199।62-66

83. अथर्व० 11।8।31

84. ऐ० उ० 1।2।4, 1।1

बन कर कान के स्थान पर रहने लगी, चन्द्रमा मन बन कर हृदय में प्रविष्ट हुआ। देवों के वास के कारण यह शरीर देव मन्दिर कहा गया है। बाह्य सृष्टि के महत् तत्व तथा वृहद्देवो के अंश शरीर में रहते हैं और यहां इन्हीं अंशों से पुनः विस्तृत देव बनते हैं तथा मुख से वाणी, वाणी से वाचा, नासिका से प्राण, प्राण से वायु, आंखों से चक्षु, चक्षु से सूर्य, कानों से श्रोत्र, श्रोत्र से दिशाएं, त्वचा से लोभ, लोभों से वनस्पतियां, हृदय से मन, मन से चन्द्रमा, नाभी से अपान, अपान से मृत्यु, शिश्न से रेतस्, रेतस् से जल हुआ। इस प्रकार मानव को इन दैविक शक्तियों का स्मरण करते हुए अपने में असीम आत्म बल का अनुभव कर ज्ञानार्जन करना चाहिए।

सत्यस्वरूप आत्मा में स्थिति होने के चार ही साधन पूज्यपाद आचार्य शंकर ने भी विवेचित किए हैं। उन्होंने प्रथम साधन गित्यानित्य वस्तु का विवेक, दूसरा लौकिक एवं पारलौकिक सुख भोग में वैराग्य, तीसरा शम, दम उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान ये छः सम्पत्तियां और चतुर्थ मुमुक्षता। वस्तुतः नित्यानित्य वस्तु के विवेचन में ब्रह्म ही सत्य है जगत् मिथ्या है, ऐसी धारणा को दृढ़ करना चाहिए तथा दर्शन श्रवणादि के द्वारा देह से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य भोग पदार्थों में घृणा बुद्धि ही वैराग्य का स्वरूप है। बार-बार विषयों के दोषों को विचारते हुए विरक्त होकर चित्त को अपने लक्ष्य में स्थिर करना ही शम है। कर्मेन्द्रिय[85] तथा ज्ञानेन्द्रियों को विषयों से आकृष्ट करके इनके गोलकों में स्थिर करना ही दम कहलाता है। विषयों के आश्रय से वृत्तियों का हटना 'उपरति' कहलाता है। चिन्ता और शोक से रहित होकर बिना प्रतीकार के चेष्टाओं को नियन्त्रित कर कष्टों का सहन तितिक्षा कहलाती है। शास्ता और गुरु वाक्यों में सत्यत्व बुद्धि ही श्रद्धा है। अपनी बुद्धि को सब प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में सदा स्थिर रखना 'समाधान' कहलाता है। अहंकार से लेकर देह पर्यन्त जितने अज्ञान कल्पित बन्धन हैं, उनके अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा त्यागने की इच्छा मुमुक्षा है। वैराग्य तथा मुमुक्षत्व में साधक की मन्दता तथा तीव्रता के अनुकूल ही लक्ष्य प्राप्ति होती है। केनोपनिषद्[86] में भी उस रहस्यमयी विद्या के तप, दम, कर्म ये तीनों ही आधार दर्शाए गए हैं। तप, दम, तथा कर्म कर्तव्यपालन ये तीन ही साधन हैं। उस ब्रह्म को लक्ष्य करके जो शास्त्र विधि से तप, दम और निष्काम कर्म आदि का आचरण करते हुए उसके तत्व का अनुसंधान करते हैं वे ब्रह्म विद्या के सर्वस्व परब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं। इसी[87] उपनिषद् में देवों के अहंकार के विनाश के लिए उनका शक्ति परीक्षण तृण के

85. साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः। विवेक चूडा० 18
86. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। केन० 4।8
87. ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति। के० 4।1

माध्यम से किया गया और बाद में बतलाया गया कि यह विजय उस ब्रह्म की ही थी।

जब साधक का हृदय विषयों में लीन हो जाता है तो उससे मुक्ति पाने के लिए उसे कठोपनिषद्[88] का नचिकेता का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिए। इस उपनिषद् में स्पष्ट रूपेण प्रेय तथा श्रेय दोनों मार्गों के विवेचन में मोक्षेच्छु के लिए श्रेय मार्ग का विधान किया है। जागतिक पदार्थों में अनित्यत्व की बुद्धि का जो वर्णन शंकराचार्य के भाष्य आधार पर किया है यहाँ इन्हीं विचारों का समर्थन है। अध्यात्म[89] योग के द्वारा शुद्ध बुद्धि से नित्य निरन्तर चिन्तन के द्वारा परम तत्वोपलब्धि होती है। जब साधक का हृदय ऐहिक तथा पारलौकिक कामनाओं से भरा रहता है और उस परम तत्व की ओर उन्मुख नहीं होता तो वह ब्रह्म की प्राप्ति नहीं कर सकता, किन्तु जब उसकी कासनाएं नष्ट हो जाती हैं तभी वह ब्रह्म को प्राप्त करता है और विरज हो जाता है। ऋग्वेद में भी साधक के लिए तपस्या के द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति का वर्णन मिलता है। जिस[90] परम ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा से साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करते हैं। उसी ब्रह्म से तप, श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मचर्य प्रकट हुए हैं। वह तप अर्थात् संचय रूप साधन कर्म अर्थात् बाह्य साधनों द्वारा किए जाने वाले कृत्य तथा परम अमर ब्रह्म यह सब कुछ परम ब्रह्म ही है।

इस प्रकार उपनिषदों में सत्य, तप, ब्रह्मचर्य आदि का वर्णन उस परम तत्व की उपलब्धि के साधन के रूप में वर्णित है। वस्तुतः मुण्डकोपनिषद् एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण उपनिषद् है इसमें साधनों की आधार भित्ति को सुदृढ़ करते हुए घोषणा की है कि सर्वान्तिर्यामी प्रभु सभी के हृदय में विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञान-स्वरूप है जिन्हें निष्कल तथा विरज साधक ही जान पाते हैं वे परमात्मा सदैव सत्य भाषण, तपश्चर्या, संयम, स्वार्थ त्याग तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा ही लभ्य हो सकते हैं। इनसे रहित होकर जो भोगों में आसक्त है तथा उनकी प्राप्ति के लिए मिथ्या भाषण करते हैं वे संयमी नहीं हैं और वे ब्रह्म को नहीं पा सकते। ब्रह्म की प्राप्ति के लिए स्पष्ट रूप में घोषणा की है कि—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष[91] आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यमं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

---

88. श्रेयश्च प्रेयश्च, कठ० 1।2।2
89. अध्यात्मयोगाधिगमेन, कठ० 1।2।12
90. यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति। कठ० 1।2।15
91. मु० 3।1।5

ब्रह्म का ज्ञान उसी को होता है जिस पर वे कृपा करते हैं इसलिए आत्म-समर्पण[92] की भावना भी यहां प्राप्त होती है।

इसी मधु विद्या[93] की परम्परा का निर्वाह छान्दोग्य उपनिषद् में प्राप्त होता है कि ? अपने ज्येष्ठ पुत्र अरुण नन्दन उद्दालक को ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दिया कि इसे किसी दूसरे को नहीं बतलावे चाहे समुद्र से परिवेष्टित धन से पूर्ण पृथ्वी दे तो भी किसी दूसरे को इस विद्या का उपदेश न करें। महाकवि कालिदास[94] ने दिलीप के द्वारा गुरु वसिष्ठ को अथर्वनिधि ब्रह्मण विद्या के ज्ञाता कह कर सम्बोधित किया है। वृहदारण्यकोपनिषद्[95]में अश्वमेधविद्या में यज्ञ को अश्व का प्रतीक मान कर उषा (ब्राह्म मुहूर्त)यज्ञ सम्बन्धी अश्व का सिर, सूर्य, आंख, वायु, प्राण, अग्नि मुख और द्यु लोक उसकी पीठ कल्पित करने में इस विचारधारा का प्रभाव है।

गीता में तीन प्रकार की उपासना का वर्णन है। यथा[96] कितने ही व्यक्ति ध्यान योग के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं, अन्य सांख्य योग के द्वारा और अन्य कर्म योग के द्वारा, ये मार्ग भक्ति योग, ज्ञान योग तथा कर्म योग ही हैं। वस्तुतः 'मयि[97] सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' तथा 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' असत् की सत्ता नहीं और सत् का अभाव नहीं। सत् की ही उपासना की जाती है। कर्म योग में भी सत् की ही उपासना है 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'[98] यथा कृत प्रत्यय का नाश कभी नहीं होता। सत्[99] की व्याख्या कई बार की गई है। उस परमेश की सत्ता से ही सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित है। सांख्य योग में असत् का त्याग कर सत् का ही चिन्तन होता है। कर्म योग तथा ज्ञान[100] योग के द्वारा यही उपलब्धि है।

---

92. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। मु० 3।2।3
93. नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णा दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति। छा० 3।11।6
94. रघुवंश 1।59
95. बृ० उ० 1।1।1
96. गी० 3।26
97. गी० 7।7
98. गी० 2।40
99. गी० 2।16
100. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। गी० 5।5

साधना में भक्ति योग

श्वेताश्वतरोपनिषद्[101] में कहा गया है कि जिस साधक की परम देव परमेश्वर में परम भक्ति होती है तथा जिस प्रकार परमेश्वर में होती है, उसी प्रकार अपने गुरु में भी होती है, उस महात्मा मनस्वी पुरुष के हृदय में ही ये बताये हुए रहस्य-मय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः जिज्ञासु को पूर्ण श्रद्धालु और भक्त बनना चाहिए। जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उसी महात्मा के हृदय में ये गूढ़ अर्थ प्रकाशित होते हैं। इसी भक्ति के प्रभाव को मुण्डकोपनिषद्[102] में स्पष्टतया स्वीकार करते हुए कहा है कि 'यमवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्' वे परमात्मा उसी को प्राप्त होते हैं जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसी को करते हैं, जिसमें उनके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह नहीं सकता। जो अपनी बुद्धि या साधन पर भरोसा न करके केवल उनकी कृपा की ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधक पर परमात्मा कृपा करते हैं और योग-माया का परदा हटाकर उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं। तथा यह आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वर उपासना रूप बल से रहित मनुष्य द्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते।

मानव के लिए श्रद्धा, प्रेम, ज्ञान तथा ध्यान के द्वारा भक्ति का उदय होता है। इन तीनों के समन्वय से ही कार्य पूर्णत्व को प्राप्त होता है। प्रेम भी भौतिक, मानवीय तथा आध्यत्मिक ईश्वर सम्बन्धी होता है। भौतिक में सभी वस्तुओं के प्रति मोह, यथा भाई-मित्र, माता-पिता, बच्चे और आध्यत्मिक में ईश सम्बन्धी प्रेम क्योंकि वस्तुओं में एक दूसरे के प्रति आकर्षण नहीं। यह उस प्रभु की ही सत्ता है जो सर्वव्यापक है जो इस आकर्षण स्नेह, श्रद्धा, प्रेम का आधार है।

भक्ति[103] की धारा को तैलधारवत् बहना चाहिए, उसमें बाधा या अवरोध नहीं होना चाहिए। निःस्वार्थता के साथ परहित साधन तथा इसी के माध्यम से ईश भक्ति की प्राप्ति, पवित्रता का अभ्यास यथा (सत्यता, स्पष्टता, अहिंसा, दान आदि का सेवन), ईश को सत्य रूप मानना और मन वचन कर्म से किसी को कष्ट न पहुचाना, नैराश्य का त्याग कर ईश्वर में दृढ़ आस्था तथा विश्वास रखकर हर्षित तथा प्रफुल्लित मन से रहना, अत्यधिक सुखों का परित्याग, भोजन में आहार

101. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वे॰ 6।6।23

102. मु॰ 3।2।3

103. हिन्दूइज्म, स्वामी निखिलानन्द, पृ॰ 108

की नियमितता आदि विषयों का उचित सेवन भक्ति का रहस्य है जो उपनिषदों तथा गीता में विस्तार से वर्णित किया गया है। ईश्वर प्राप्ति की उत्कट इच्छा का होना और उसकी प्राप्ति में पूर्ण आस्था का होना आवश्यक है। यह भी बिना सच्चे गुरु के प्राप्त नहीं होता जैसे जलते हुए दीपक से ही दीपक का जलाना सुलभ होता है इसी प्रकार ज्ञानी गुरु के स्पर्श, दृष्टिपात, इच्छा मात्र से शक्तिपात हो जाने से मानव अन्तर्मुखी हो जाता है।

वस्तुतः त्याग के बिना कोई योग नहीं हो सकता। कर्मयोग में कर्म के फलों का त्याग, राजयोग में प्रकृति की भौतिक वस्तुओं का त्याग, ज्ञानयोग में सारे संसार का त्याग करना अभीष्ट है। इस प्रकार उपनिषदों में वर्णित प्रकारों के माध्यम से साधनाओं का वर्णन किया गया है। भगवान् बुद्ध ने भी पांच नीवरणों के त्याग तथा भोजन में नियमितता आदि गुणों पर बल देते हुए त्यागमय जीवन से परम ज्ञान सम्बोधि की प्राप्ति का उल्लेख किया है।

सूत्र साहित्य और विविध साधनाएं

वैदिक ऋत के पालन से, आत्मा के आठ गुणों के अर्जन तथा आत्मानुशासन के द्वारा ही सत्य का अन्वेषण करने की विधि पर धर्म[104] सूत्रों में विविध प्रकार से वर्णन किया गया है। यह सूत्र साहित्य श्रौत, धर्म तथा कल्प, शुल्व आदि भेदों से विपुलकाय साहित्य है जिसका अध्ययन ब्राह्मणिक विचार परम्परा के सर्वांगीण विकास के ज्ञान के लिए परमावश्यक है। श्रौत सूत्रों में विविध यागों की विधि पर एक सुनियोजित प्रकाश प्राप्त होता है यथा कात्यायन[105] श्रौत सूत्र में दर्शपूर्ण मासयाग, अग्निष्टोम, अग्निहोत्र, वरुण प्रघास तथा अश्वमेध आदि का परिचय मिलता है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र में आत्मानुशासन के लिए काम, क्रोध, मद, लोभ को दूर करके स्पष्टवादिता, विरक्ति, सौजन्य, जितेन्द्रियत्व, अहिंसा आदि गुणों के अर्जन द्वारा ब्रह्म के समीप पहुँचने का साधन बताया गया है। कात्यायन[106] गृह्य सूत्र में ऊर्ध्व रेता व्यक्ति अपने लिए आयु, सत्य, श्री, ब्रह्मवर्चस् की प्रार्थना करता है। श्रौत सूत्रों में धर्म तथा दर्शन का रहस्यमय वर्णन है। ध्यान तथा चिन्तन के द्वारा आत्मानुशासन और स्तवन तथा यज्ञ के द्वारा परम रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। मन्दिरों[107] को देवकुल अभिधान दिया गया था। चैत्य[108] भी प्राप्त

104. इंडिया आफ वैदिक कल्पसूत्राज, डा० रामगोपाल, पृ० 487।

105. 1।18, 23, 3-6, का० श्रौ सूत्र पृ० 253, 313, 333। .

106. आयुर्धय जरांधय सत्यं धय, श्रियं धयोर्जं धयरायस्पोषम् धय ब्रह्म वर्चसं धय का० पृ० 34।6

107. शांखायन गृह्य 2।12, 6

108. आश्वला० गृह्य सूत्र

होते हैं। मूर्ति पूजा अभी ब्राह्मण विचारधारा का अंग नहीं बनी थी किन्तु प्रतिमाओं का आदर होने लगा था और प्रतिमा भंग दोष माना जाता था। आत्मा[109] की अमरता में विश्वास किया जाता था और प्राचीन गृह्य सूत्रों में आत्मा मृत्यु के बाद किसी लोक को अवश्य जाता था। वैखानस धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्रों में मोक्ष का वर्णन भी मिलता है।

कर्म का सिद्धान्त—आपस्तम्ब[110] धर्मसूत्र में भावी जन्म के लिए अच्छा कर्म करना आवश्यक था और कहा गया है कि इस जन्म में तो पाप का फल दृष्टिगत नहीं होता अपितु अपापकर्मी ही कठिनतापूर्ण जीवन बिताते दृष्टिगत होते हैं और कर्महीन व्यक्ति नरक में जाते हैं। पारस्कर गृह्य सूत्र में 'जीवेम शरदः शतं' की भावनानुसार जीवन संसार में रहने योग्य था इसलिए दीर्घजीवन तथा सुखी जीवन की प्रार्थना की गई है। सूत्रों में आश्रमों का महत्व था और निश्चित कर्तव्य पालन को ही सुखों का साधन तथा आत्म दर्शन के सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति का साधन माना था।

109. आश्वला० गृह्य सूत्र 4।4।2-4
110. आप० ध० सू० 211, 2, 2-7

षष्ठ अध्याय

बुद्ध वचनों पर ब्राह्मण चिन्तन परम्पराओं का प्रभाव

(क) आत्मा के प्रति भगवान् बुद्ध का दृष्टिकोण
(ख) संहिताएं और भगवान् बुद्ध के आत्मतत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन
(ग) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा
(घ) भगवान् बुद्ध के ईश्वर सम्बन्धी विचार
(ङ) श्रुति ग्रन्थों का उन पर प्रभाव
(च) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा
(छ) भगवान् बुद्ध का जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण
(ज) श्रुति ग्रन्थों के जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रभाव
(झ) माया, काल, दिक् आदि अन्य विषयों के दोनों विचारधाराओं में संकेत
(ञ) निष्कर्ष

(क) आत्मा के प्रति भगवान् बुद्ध का दृष्टिकोण

यह प्रश्न पुरातन एवं सनातन है। जिज्ञासुओं की इस भावना की स्पष्ट अभिव्यक्ति कठोपनिषद्[1] में स्पष्ट हो जाती हैं कि मृत्यु के उपरान्त कतिपय व्यक्ति आत्मा का अस्तित्व मानते हैं कतिपय नहीं। नचिकेता के यमराज से ऐसा प्रश्न करने पर यमराज ने इस आत्मतत्व के विषय को अत्यन्त सूक्ष्म तथा गहन बतलाते हुए कहा कि पूर्वकाल[2] में देवताओं को भी इस विषय में विचिकित्सा हुई और उसकी चिकित्सा का अन्वेषण हुआ। किन्तु नचिकेता ने यमराज से कहा इस सूक्ष्म तथा महत्वपूर्ण विषय पर आपसे अधिक अनुभवीवक्ता[3] प्राप्त नहीं हो सकता। तदन्तर यमराज ने कहा[4] कि इस गूढ तत्व का वर्णन करने वाला पुरुष आश्चर्यमय होगा और उसे प्राप्त करने वाला भी कुशल होगा तथा आत्मदर्शन प्राप्त कुशलानुशिष्ट आश्चर्यमय ज्ञाता भी दुर्लभ होता है।[5] एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करने के स्वभाव वाला देही (जीवात्मा) जब इस शरीर से निकल जाता है और उसके साथ ही जब इन्द्रिय, प्राण आदि भी चले जाते हैं तब इस मृत शरीर में क्या बच रहता है ? यमराज[6] ने कहा—कि ब्रह्म के विषय में भी जब तक उसके अस्तित्व में दृढ़ आस्था नहीं होती अतः प्रथम 'अस्ति' ऐसी भावना से मन को भावित करो। इस प्रकार इस आत्मतत्व विषयक विवेचन से पूर्व गौतम को भी शंका अवश्य रही होगी किन्तु दोनों मतों का समान आदर है। ऋषियों के मत में अनास्था कैसे हो और महात्माबुद्ध को भी कैसे न सम्मान दिया जाय। क्योंकि

कपिलो[7] यदि सर्वज्ञः सुगतो नेति का प्रभा।
उभयोः यदि सर्वज्ञो मतिभेदः कथं तयोः ॥

किन्तु ब्राह्मण विचारधारा के प्रणेता ऋषियों की स्पष्ट स्वीकृति और सुगत की प्रच्छन्न अनात्मवादी धारणा के रहस्य को सुष्ठु प्रकार से विवेचन करना है। इतना

---

1. येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। कठ० 1।1।20
2. देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। कठ० 1।1।21
3. वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः। कठ० 1।1।22
4. आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः। कठ० 1।2।
5. अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
   देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। एतद्वैतत्। कठ० 2।2।4
6. अस्तीति ब्रुवतोऽन्त्र कथं तदुपलभ्यते। कठ० 2।3।12
7. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-1, भरतसिंह, पृष्ठ 410

अवश्य है कि प्रत्येक मानव किसी न किसी रूप में अहं की स्वीकृति करता ही है। क्योंकि मैं नहीं हूँ ऐसी अनुभूति किसी को नहीं होती[8]। यद्यपि करुणाप्लावित सुगत प्रवेदित मत में अनात्मवादिता तथा अनीश्वरवादिता दोनों ऐसे प्रश्न विश्व मानव के लिए रहस्यमय बन गए हैं कि इनके मतों को आत्मसात् करना कठिन हो जाता है। इतना क्रान्तिकारी दार्शनिक महापुरुष किसी महत्वपूर्ण प्रश्न की गुत्थी को सुलझाने के स्थान में उलझाए यह बुद्धिगम्य नहीं होता।

यह सिद्धान्त ही सर्वमान्य नहीं है कि महात्मा बुद्ध ने ही अनात्म धर्म सिद्धान्त की नींव डाली अपितु यह विचारधारा पूर्वकालीन ही थी यथा महावीर ने ही जैन धर्म की नींव नहीं डाली अपितु उससे पूर्व भी जैन तीर्थंकर हुए हैं। इस प्रकार बुद्ध ने अपने से पूर्व बुद्धों के द्वारा प्रतिपादित मार्ग का ही परिवृंहण किया है जो कि प्रो० शेर वात्स्की[9] ने अनात्म सिद्धान्त विवरण में लिखा है इन्होंने सांख्य मत में अनात्म सिद्धान्त के विचार व्यक्त किए हैं तथा कठोपनिषद् में कहा है कि वर्षा का जल एक ही है, पर वह जब ऊंचे पर्वत की ऊबड़-खाबड़ चोटी पर बरसता है तो वहां ठहरता नहीं, तुरन्त ही नीचे की ओर बह कर विभिन्न वर्ण, आकार और गन्ध को धारण करके पर्वत में चारों ओर बिखर जाता है। इसी प्रकार एक ही परमात्मा से उत्पन्न हुए विभिन्न स्वभाव वाले देव-असुर-मनुष्यादि को जो परमात्मा से पृथक् मानता है और पृथक् मानकर ही उनकी उपासना, पूजा आदि करता है, उसे भी बिखरे हुए जल की भांति ही विभिन्न देव-असुरादि के लोकों में एवं नाना प्रकार की योनियों में भटकना पड़ता है।[10] वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं हो सकता।

इस मंत्र में कठ के आत्म सिद्धान्त की सत्ता में प्रो० शेर वात्स्की[11] की धारणा का पता चलता है। इसी के माध्यम से आत्मा का पृथक् सिद्धान्त स्थिर हुआ तथा आत्मा परमात्मा के पृथक् रूपों का स्थिरीकरण हुआ। वैसे आत्मा तथा परमात्मा का वर्णन वेदों में प्राप्त होता है। उस आत्म तत्व का परमात्मा तत्व के साथ संबंध का विवेचन उपनिषदों में किया गया है। आत्मा एक अमर तत्व के रूप में वेदों में विस्तरशः विवेचित नहीं किया गया। उपनिषदों तथा अन्य दर्शनों में जैन, सांख्य, मीमांसा आदि में वर्णित है किन्तु चार्वाक तथा बौद्धों ने इसे अस्वीकृत किया। सांख्य ने लिंग शरीर के रूप में इसको स्वीकार किया है। प्रो० जैकोबी के विचार में बौद्धों ने ब्राह्मणिक विचारधारा के प्राचीन तथा नवीन आत्म विषयक विवेचन की यत्र तत्र

---

8. न हि कश्चित् संदिग्धे अहं वा नाहं वेति। भामती
9. दी सेंट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेर वात्स्की, पृ० 37
10. यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
    एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ कठ० 2।1।14
11. दी सेंट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेर वात्स्की, पृ० 60

आलोचना की है। बौद्धों ने आत्मवाद को पुद्गलवाद कहा है इसे बुद्धानुशासन कहते हैं। दार्शनिक भाषा में धर्मता के अतिरिक्त और कुछ नहीं जिसे अनात्मन् या नैरात्म्यवाद कहा गया है, इसमें वत्सी पुत्रीय तथा सम्मितीय दोनों विचारधारानुयायी पुद्गलवाद को मानते हैं। वसुमित्र की दृष्टि में एक विशेष समय पर ये पंचस्कन्ध मिल कर शरीर का संचालन करते हैं इनका सम्बन्ध उसी प्रकार है जैसे अग्नि का ईन्धन से। बौद्धों का पुद्गल एक अविनाशी आत्मा का ही दूसरा नाम है। पुद्गल की पंच स्कन्ध के द्वारा भार वहन कर्ता की स्वीकृति भी किसी न किसी रूप में भगवान् बुद्ध के द्वारा आत्मा (पुद्गल) की ही स्वीकृति है।

वस्तुतः तत्वों[12] की भिन्नता से प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारधारा का बौद्ध विचारधारा के उदय तक विकसित रूप ही इसका प्रमाण है। बौद्ध विचारधारा में वाणी, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, मन के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्वों का रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार आदि का विकास हुआ किन्तु 'मन' का रूप वही रहा। बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त स्कन्धों तथा विज्ञान (मन) के प्रयोग से प्राचीन परम्परा का ही अनुगमन किया गया है। इस प्रकार की दो विचारधाराएं उस समय प्रचलित थीं। एक अनात्म धर्म की विचारधारा निश्चित रूप में उदित हुई जिसमें कारणवाद का रूप उभरा। किन्तु स्कन्धों में विभाजन अनुपयोगी था। बौद्ध विचारधारा का मूल इन उपनिषदों में लभ्य होता है। यह विभिन्न तत्वों के संघातवाद का सिद्धान्त भी उस समय रहा होगा जिस समय बुद्ध ने अनात्मवाद के सिद्धान्त को प्रचलित किया।

बुद्ध[13] स्वयं कट्टर अनात्मवादी थे। उन्होंने स्वयं प्रतिपादित अनात्मवाद का अनेक दृष्टान्त देकर समर्थन किया है। यह अनात्मवाद बौद्ध विचारधारा का प्राणभूत तत्व है जिस पर उनका समग्र आचार और विचार अवलम्बित हैं उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने अनात्मवाद के समर्थन में ब्राह्मण विचारधारा अनुमोदित आत्मवाद का खण्डन बड़ी दृढ़ता के साथ किया है। उनके खण्डन का प्रबल तर्क यह है कि आत्मवादी पुरुष आत्मा के स्वरूप को बिना जाने हुए उसकी मंगलकामना हेतु अनेक प्रकार के सत्कर्म तथा दुष्कर्म करने में ही अपनी जीवनचर्या समाप्त कर देता है। भगवान् बुद्ध की वाणी से यह सही है कि बहुत से स्थलों पर हमें ऐसा आभास मिलता है कि आत्म विषयक कोई भी कल्पना उन्हें मान्य न थी।

आत्मा[14] की सत्ता को हीन दृष्टि से अनुभव करते हुए बुद्ध भगवान् ने कहा है जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्ता, अनुभव का विषय है और यहां अपने बुरे कर्मों के विषय को अनुभव करता है, यह मेरा आत्मा नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अपरि-

12. दी सेंट्रलकन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेर वात्स्की, पृ० 62
13. सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट, भाग —11, भूमिका, पृ० 19
14. मज्झिम निकाय 1।1।2।

वर्तनशील, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा—'हे भिक्षुओ, यह भावना बिल्कुल बाल धर्म है। अनात्मवाद के पोषण में उन्होंने अनेक उदाहरणों को लिया है। इसी अनात्मवाद को बौद्ध ग्रन्थों में पुंगल नैरात्म्यवाद, सत्कायवाद, दृष्टिवाद आदि अभिधान दिए गए हैं। पुद्गल प्रतिषेधवाद में बौद्ध आत्मा या पुद्गल को वस्तुसत् नहीं मानते, आत्मा नाम का कोई पदार्थ स्वभावतः नहीं है। जिस आत्मा का अस्तित्व अन्य मतों में प्रतिपादित है वह स्कन्ध सन्तान के लिए प्रज्ञप्ति मात्र नहीं है, किन्तु वह स्कन्ध व्यतिरिक्त वस्तु सत् है। आत्मग्राह से केवल क्लेशों की उत्पत्ति होती है। आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती न प्रत्यक्ष प्रमाण से, न अनुमान प्रमाण से। यदि अन्य भावों के समान आत्मा का पृथक् सद्भाव है, तो इसकी उपलब्धि या तो प्रत्यक्ष ज्ञान से होनी चाहिए, जिस प्रकार पंचेन्द्रिय विज्ञान तथा मनोविज्ञान के विषयों की प्राप्ति होती है अथवा अनुमान ज्ञान से होनी चाहिए। पुद्गल प्रज्ञप्ति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे लोक में 'राशि' बहु के समुदाय मात्र को कहते हैं, जिसमें कोई एकत्व नहीं होता, अथवा जैसे जलधारा बहु क्षण में समवाहित जल को कहते हैं, जिसमें नैरन्तर्यमात्र है, नित्यता नहीं है। भगवान् बुद्ध कहते हैं—'हे भिक्षुओ[15] ! यह जानो कि सब ब्राह्मण-श्रमण जो आत्मा को मानते हैं, केवल उपादान-स्कन्ध को मानते हैं। इसलिए विपर्यास के कारण अनात्म धर्मों में आत्मा की कल्पना होती है और आत्म-ग्राह होता है। बौद्ध विचारधारा में आत्मा केवल नाम है उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। परस्पर सम्बद्ध अनेक धर्मों का एक सामान्य नामकरण आत्मा है। बौद्ध विचारधारा में व्यावहारिक रूपेण आत्मा का प्रतिषेध नहीं किया गया है अपितु पारमार्थिक रूपेण इससे स्पष्ट रूपेण हम यह कह सकते हैं कि लोक व्यवहार में आत्मा की सत्ता है जो रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान पंचस्कन्धों का संघात मात्र है उसकी पृथक् कोई सत्ता नहीं है। आत्मा को ही मानसिक, भौतिक, आभ्यन्तर तथा बाह्य, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय-ग्राह्य पदार्थों का सन्तान रूप भी माना है। 18 धातुएं (इन्द्रिय, इन्द्रिय-विषय तथा सद् सम्बद्ध विज्ञान) परस्पर मिल कर इस सन्तान की उत्पत्ति करते हैं और इन सभी का पारस्परिक सम्बन्ध 'प्राप्ति' नामक संस्कार के द्वारा होता है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पाद की आधारभूत भावना में एक क्षण के लिए भी आत्मा की स्वतन्त्र स्वीकृति नहीं मानी है।

बौद्ध विचारधारा में पंच स्कन्ध

आत्मा का प्रतिषेधकर मन तथा मानसिक वृत्तियों की सत्ता में दृढ़ आस्था की स्वीकृति उन्होंने की है और औपनिषदिक विचारधारा में भी वस्तुतः हमें आत्मा का

15. अलगद्दूपम सुत्त, मज्झिम-निकाय, पृष्ठ 91

आभास भी मानसिक व्यापार जन्य क्रियाओं द्वारा ही होता है। मूर्त रूप में तो उसके दर्शनों का संकेत ही है। बुद्ध के मूल दर्शन में आत्मा की पृथक् सत्ता को मान्यता नहीं है। वे मनुष्य या पुद्गल का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, किन्तु मानसिक और भौतिक अनेक अवस्थाओं का समुदाय मात्र मानते हैं जो उत्पत्ति और विनाश के निरन्तर क्रम में घूमा करती है। सभी भौतिक अवस्थाओं का संग्रहात्मक नाम संज्ञा, वेदना तथा संस्कार दिया गया है यथा कोई पदार्थ साक्षात्कार करने पर संज्ञा किसी भी वस्तु को वैसा करके पहचानना संज्ञा है। विषय के स्पर्श से जो सुख दुःख की अनुभूति वही उसकी संग्रहात्मक संज्ञा वेदना और उसके संसर्ग से, विचार, लोभ, द्वेष, मोह करुणा आदि मानसिक प्रवृत्तियों को एक साथ मिलाकर संस्कार जो अनुभूति के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्तियों को संस्कार कहा जाता है। चित्त में कुशल अकुशल में भेदोपभेद से युक्तता की स्थिति विज्ञान। इन सब की संग्रहात्मक संज्ञाएं पंच स्कन्ध नाम से बौद्ध विचारधारा में वर्णित है। जिस प्रकार[16] अलग-अलग अंगों के संयुक्त होने पर 'रथ' की संज्ञा होती है उसी प्रकार पंच स्कन्धों के आधार पर व्यक्ति के व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है।

आत्मा[17] पांच स्कन्धों का संघातमात्र है। स्कन्धों के नाम हैं—रूप, वदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। जिसे हम व्यक्ति के नाम से पुकारते हैं, वह इन्हीं पांच स्कन्धों का समुच्चयमात्र है। इन स्कन्धों की व्याख्या में बौद्ध ग्रन्थों में पर्याप्त मतभेद है। वस्तुतः प्रत्येक जीव 'नीरूपात्मक' है। 'रूप' से अभिप्राय शरीर के भौतिक भाग से है और 'नाम' से तात्पर्य मानसिक प्रवृत्तियों से है। शरीर और मन के परस्पर संयोग से ही मानव की स्थिति है। 'नाम' को चार भागों में बांटा गया है—विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार।

(1) रूप स्कन्ध—'रूप' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गई है। रूप्यन्ते एभिर्विषयाः' अर्थात् जिनके द्वारा विषयों का रूपण किया जाय अर्थात् इन्द्रियां। दूसरी व्याख्या है—रूप्यन्ते इति रूपाणि अर्थात् विषय। इस प्रकार रूपस्कन्ध विषयों के साथ सम्बद्ध इन्द्रियों तथा शरीर का वाचक है।

(2) विज्ञान स्कन्ध—'अहं—मैं' इत्याकारक ज्ञान तथा इन्द्रियों से जन्य रूप, रस, गन्ध आदि विषयों का ज्ञान—ये दोनों अप्रवाहापन्न ज्ञान 'विज्ञान स्कन्ध' के द्वारा वाच्य हैं। इस प्रकार बाह्य वस्तुओं का ज्ञान तथा आभ्यन्तर 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान—दोनों का ग्रहण इस स्कन्ध के द्वारा होता है।

---

16. यथा हि अंगसम्भारा होतिसद्दो रथो इति। एवं खन्धेसु सत्तेसु होति सत्तोति सम्मुति। संयुत्त निकाय। 1|3|9
17. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ० 84, 85

(3) वेदना स्कन्ध—प्रिय वस्तु के स्पर्श से सुख, अप्रिय के स्पर्श से दुःख तथा प्रिय-अप्रिय दोनों से भिन्न वस्तु के स्पर्श से न सुख और न दुःख की जो चित्त की विशेष अवस्था होती है वही वेदना स्कन्ध है। बाह्य वस्तु के ज्ञान होने पर उसके संसर्ग का चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है वही 'वेदना' है।

(4) संज्ञा स्कन्ध—इसी वेदना के आधार पर हम वस्तुओं के यथार्थ रूप और गुण के आधार पर उनका नामकरण करते हैं, यही संज्ञा स्कन्ध है।

(5) संस्कार स्कन्ध—वस्तु की संज्ञा से परिचय मिलते ही उसके प्रति हमारी मानसिक प्रवृत्तियों में जो इच्छा, द्वेष और क्लेश, धर्म, अधर्म आते हैं ये संस्कार-स्कन्ध कहलाते है।

बुद्ध ने स्कन्धों[18] के मिश्रण को एक विशेष परिस्थिति में व्यक्ति का रूप माना है, आत्मा पृथक् कोई वस्तु उनके विचार में नहीं है। बिम्बसार प्रवचन में स्पष्ट रूपेण कहा है कि मैं और मेरा यह विचार मूर्खता का विचार है और अशिक्षित मनुष्यों की धारणा है जो कि तात्कालिक विचारों से अनुमोदित है। इन पांच स्कन्धों को ही प्राचीन प्रचलित नाम आत्मा कहते हैं वस्तुतः कर्म रहते हैं उनका परिणाम रहता है किन्तु वह व्यक्ति नहीं रहता। कोई भी आत्मा जैसा पदार्थ न इन पंच स्कन्धों को उतारता है न ग्रहण करता है। आनन्द के साथ वार्तालाप करते हुए महात्मा बुद्ध ने कहा कि यदि मैं कहता हूँ कि पहले आत्मा है, अब नहीं है अथवा मैं कहूं कि आत्मा है तो इसके नित्य मानने का भय है और यदि मैं कहता हूँ कि नहीं है तो चार्वाक होने का भय है अतः इसको बड़ी सावधानी से कहना होगा। जैसे कोई शेरनी अपने बच्चे को दांतों से[19] पकड़ कर उठाती है। दांत गहरे भी न लगे और इतना ढीला भी न रहे कि बच्चा गिर जाय।

आत्मा है या नहीं इसका उत्तर हां या ना में स्पष्टतया नहीं देते बल्कि इस विषय में देशना का प्रकार भिन्न है। भगवान् बुद्ध यह पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं, विधेयात्मक या निषेधात्मक कोई उत्तर नहीं देते। जो आत्मा के अस्तित्व में प्रतिपन्न है, वह दृष्टि दंष्ट्रा से विदीर्ण होता है और जो संवृति संवृतिसत् पुद्गल को नहीं मानता वह कुशल कर्म को नष्ट करता है। आत्मवाद शाश्वतवाद है और यह सोचना कि आत्मा नष्ट हो गई है उच्छेदवाद है।

अनात्म शब्द का अर्थ—'सर्व अनात्म' का कथन ही सिद्धान्त है। बौद्ध विचार-

---

18. दी सोल थ्योरी आफ दी बुद्धिस्ट, प्रो० शेर वास्की, पृ० 31
19. दृष्टि दंष्ट्रा व भेदं चापेक्ष्य भ्रंशं च कर्मणाम्।
    देशयन्ति बुद्धा धर्मं व्याघ्री पोतापहारवत्॥
    कुमारलात—बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० 245

धारा की गति है इससे अभिप्राय यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ स्वरूप शून्य है, वे कतिपय धर्मों के समुच्चयमात्र हैं, उनकी स्वयं स्वतंत्र सत्ता प्रतीत नहीं होती। अनात्म शब्द की निर्मिति में प्रसज्य प्रतिषेध न होकर पर्युदास है। अनात्म शब्द से आत्मा के अभाव का ही बोध नहीं होता अपितु आत्मा के अभाव के साथ-साथ अन्य पदार्थों की सत्ता को बतलाते हैं। आत्मा को छोड़कर सभी बस्तुओं की सत्ता या अस्तित्व है। आत्मा नाम का पदार्थ केवल नाम के लिए है अर्थात् वह केवल प्रज्ञप्तिसत् है, द्रव्यसत् नहीं। 'दुःख[20] ही यहां है किन्तु दुःखित कोई नहीं', क्रिया है किन्तु 'कारण' नहीं, निर्वाण है निर्वृत्ति नहीं, मार्ग है किन्तु गमन करने वाला नहीं। आशय स्पष्ट है कि प्रतीत्य समुत्पन्न सभी बाह्य और आध्यात्मिक धर्मों में अन्वेषणोपरान्त किसी स्थिर तत्व (आत्म तत्व) की उपलब्धि नहीं होती जिसे 'आत्मा का अभिधान दिया जा सके क्योंकि जितने भी ग्राह्य नाम हैं वे सभी क्षणिक, अनित्य, दु;ख रूप ही है।

मज्झिम[21] निकाय के ही चूल राहोलवाद सुत्त में भगवान् बुद्ध राहुल को विमुक्ति के लिए परिपाक होने लायक धर्म (विचार) परिपक्व हो गए हैं, 'क्यों न में राहुल को आस्रवों (चित्तमलों) के क्षय की ओर ले चलूं, 'तो क्या मानता है राहुल ! चक्षु नित्य है या अनित्य'। इस प्रकार देखते श्रुतवान् (बहुश्रुत) आर्यश्रावक चक्षु में निर्वेद को प्राप्त होता है। विराग होने से विमुक्त होता है। विमुक्त होने पर 'विमुक्त' हूँ ज्ञान होता है, फिर जन्म (आवागमन) नष्ट हो गया, ब्रह्मचर्यवास समाप्त हो गया, करणीय किया जा चुका है और अब यहां करने को (शेष) नहीं, यह जानता है।

उन्होंने सत्कायवाद के रूप को भी इस प्रकार वर्णित किया है—'भिक्षुओ ! यह सत्काय (आत्म नित्यतावाद) के समुदय (उत्पत्ति) की ओर ले जाने वाली प्रतिपदा (मार्ग) है--चक्षु को समझता है—'यह मेरा है' 'यह (चक्षु) मैं हूँ, यह मेरा आत्मा है, रूप को, चक्षु विज्ञान को।'

सत्कायवाद[22] का खंडन करते हुए उन्होंने कहा 'भिक्षुओ ! यह सत्कायवाद के निरोध (विनाश) की ओर ले जाने वाली प्रतिपदा है कि चक्षु प्राण, जिह्वा, काय, मन यह सब आत्मा नहीं है। मज्झिमनिकाय के सब्बासव सुत्त में अमनसिकरणीय धर्मों के मन में करने से पुरुष के भीतर अनुत्पन्न आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव बढ़ते हैं। 6 दृष्टियों[23] में कोई एक दृष्टि उसे उत्पन्न होती है (1) मेरा

---

20. दुक्खमेव हि न च कोपि दुक्खितौ कारको न क्रिया च विज्जति। विशुद्धि मार्ग पृ० 312
21. हिन्दी अनुवाद, पृ० 597
22. —वही—पृ० 7
23. म० नि० सब्बासव-सुत्त, पृ० 7

आत्मा है, (2) मेरे भीतर आत्मा नहीं है (3) आत्मा को ही आत्मा समझता हूं (4) आत्मा को ही अनात्मा समझता हूँ (5) अनात्मा को ही आत्मा समझता हूँ अथवा (6) उसकी दृष्टि (मत) ऐसी होती है। जो यह मेरा आत्मा अनुभवकर्ता (वेदक), तथा अनुभव होने योग्य है और वहां वहां अपने भले बुरे कर्मों के विपाक को अनुभव करता है, वह यह मेरा आत्मा नित्य ध्रुव शाश्वत, अपरिवर्तशील (अविपरिणाम धर्मा) है, सदैव रहता है। भिक्षुओ ! इसे कहते हैं दृष्टिगत (मत-वाद) दृष्टिगहन, दृष्टिकान्तार, दृष्टि का कांटा, दृष्टि की कुदान, दृष्टि का फंदा जिसमें फंसकर अज्ञ जन्म से नहीं छूटता। इसलिए मनसिकरणीय धर्म यह दुःख है, यह दुःखसमुदय है, यह दुःख निरोध है, यह दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग प्रतिपद् है यह ठीक से मन में धारण करना चाहिए। जिनसे (1) सत्काय दृष्टि (काया के भीतर एक नित्य आत्मा की सत्ता को मानना) (2) विचिकित्सा (संशय) (3) शील व्रत परामर्श (शील और व्रत का अभियान) ये सब छूट जाते हैं। यहां स्पष्टरूपेण काया के भीतर नित्य आत्मा की सत्ता की अस्वीकृति है।

भगवान् बुद्ध ने दीर्घ निकाय के पोट्ठपाद सुत्त में अपने धर्म के विषय में आनन्द से कहा कि मैंने दश अव्याकृत वस्तुओं के लिए कहा है। संसार शाश्वत है, अशाश्वत है, संसार सान्त है, संसार अनन्त है, जीव वही है जो शरीर है, जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है, मृत्यु के बात तथागत रहते हैं, नहीं रहते, तथागत होते हैं, नहीं होते हैं, जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रोना-पीटना, पीड़ित होना, परेशान होना हर हालत में है और इसी जन्म में जीते जी इन्हीं सब के नाश का उपदेश देता हूँ।

'इसलिए भिक्षुओं[24] ! मेरे जिस भाषण का अर्थ तुम समझे हो, उसे वैसे धारण करना, और जिसका अर्थ तुम नहीं समझे, उसे मुझ से पूछना, या (दूसरे) जानकार भिक्षुसे।

'भिक्षुओ[25]। मैं बेड़े (कुल्ल) की भांति निस्तरण (निस्तार, पार जाने) के लिए तुम्हे धर्म को उपदेशता हूँ, पकड़ रखने के लिए नहीं। उसे सुनो, अच्छी तरह मन में करो, कहता हूं।'

बौद्धों की अनात्मवाद विषयिणी विचारधारा को हृदयंगम करने की अपेक्षा इसकी कटु आलोचना ही अधिक की गई है। ब्राह्मण विचारधारा तो पूर्णतया आत्म-वादी है। दार्शनिकों ने इसकी तुलना में बौद्धमतानुमोदित अनात्मवाद की पर्याप्त पर्यालोचना की है। महान् दार्शनिक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक में कहा है कि बुद्ध के अनात्मवाद को संभाल कर ही समझना चाहिए। इस उपर्युक्त विषय का विवेचन वसुबन्धु द्वारा पांचवीं शती ए० डी० में संकलित अभिधम्म कोश

24. —वही—अलगद्दूपम-सुत्त, पृ० 87
25. म० नि० अलगद्दूपस-सुत्त, पृ० 87

के अन्तिम अध्याय में प्राप्त करते हैं। इसे 'अष्टम कोश स्थान सम्बद्ध पुद्गल विनिश्चयः' शीर्षक अभिधान देकर अंकित किया है। महात्मा बुद्ध ने आराडकालाम व उद्रक राम पुत्र दो दार्शनिकों से अध्ययन किया किन्तु कोई नियमित अध्ययन का प्रमाण नहीं मिलता। भगवान् बुद्ध ने सर्वं नित्यं के सिद्धान्त को मूर्खों का सिद्धान्त बतलाया है। इसे वह सत्काय दृष्टि कहते हैं। जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं। भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्यों और आर्य अष्टांगिक मार्ग का वर्णन अनेक स्थलों पर किया है जिसमें से कुछ यहां उद्धृत करते हैं।

'भक्षुओं[26]। रूप आत्मा नहीं है। भिक्षुओ! यदि रूप आत्मा होता तो इसमें रोग न होता, और हम रूप के सम्बन्ध में कह सकते, 'मेरा रूप ऐसा हो', 'मेरा रूप ऐसा न हो।' चूँकि भिक्षुओ! रूप आत्मा नहीं है, इसलिए रूप में रोग होता है और हम रूप के सम्बन्ध में नहीं कह सकते 'मेरा रूप ऐसा हो,' मेरा रूप ऐसा न हो। इसी प्रकार वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आत्मा नहीं है।

इस उपर्युक्त विवरणिका में जो अनात्मवाद की व्याख्या की गई है उससे हमें तीन निष्कर्ष ज्ञात होते हैं। प्रथमतः यह स्पष्टरूपेण कहा है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा नहीं स्वीकृत किया जा सकता क्योंकि ये बाधाओं से बाधित है, रोगग्रसित है। दूसरा निष्कर्ष यह है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य है, अतः दुःख है, अतः आत्मा नहीं कहे जा सकते। तीसरा निष्कर्ष परिणामात्मक है क्योंकि जब ये आत्मा नहीं है तो इन से निर्वेद की उपलब्धि की जानी चाहिए, इनसे विरक्ति अपेक्षित है और इस प्रकार विराग के माध्यम से विमुक्ति की उपलब्धि से मेरे कर्तव्यपूर्ण हो गए और मैं मुक्त हो गया, ऐसा अनुभव करना चाहिए।

'मेरा आत्मा[27] रूपवान् और अनन्त है, प्रज्ञापन करता है। रूप रहित अणु आत्मा करते हुए' मेरा आत्मा अरूप अणु है, कहता है। रूप रहित अनन्त को आत्मा मानते हुए 'मेरा आत्मा अरूप अनन्त' कहता है। 'वहां जो आनन्द आत्मा को प्रज्ञापन करते हुए रूपवान् अणु आत्मा कहता है वह वर्तमान के आत्मा को प्रज्ञापन करता है। उच्छेदवादी आत्मा को विनाशी मानते हुए, वर्तमान में ही उसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, अथवा भावी आत्मा को रूपवान् अणु कहता है। शाश्वतवादी आत्मा को शाश्वत (नित्य) मानते हुए भविष्य में भी उसकी सत्ता स्वीकार करता है।'

अन्त में हम दीर्घ निकाय के प्रोट्ठपाद सुत्त के विवरण को संक्षेप में देकर इस अनात्म विवरण को समाप्त करते हैं। 'जैसे कि पोट्ठवाद। कोई पुरुष ऐसा कहे—इन जनपद में जो जनपदकल्याणी (देश की सुन्दरतम स्त्री) है। मैं उसको चाहता हूँ,

26. अनन्त लक्खण सुद्ध और महावग्ग।
27. दीर्घनिकाय, महानिदानसुत्त

उसकी कामना करता हूँ। उसको यदि (लोग) ऐसा कहें—हे पुरुष! जिस जनपद कल्याणी को तू चाहता है—कामना करता है, जानता है कि वह क्षत्रियाणी है, ब्राह्मणी है, वेश्या स्त्री है या शूद्री हैं? ऐसा पूछने पर वह नहीं बोले, तब उसको यह कहे—हे पुरुष! जिस जनपद कल्याणी[28] को तू चाहता है, जानता है, वह अमुक नाम वाली, अमुक गोत्र वाली है, लम्बी छोटी, मझोली, काली, श्यामा या मुद्गर (मंगुर मछली) के वर्ण की है, इस ग्राम, निगम या नगर में रहती है? वह पूछने पर 'नहीं' कहे। तब उसको वह कहे—हे पुरुष! जिसको तू नहीं जानता, जिसको तूने नहीं देखा, उसको तू चाहता है, उसकी तू कामना करता है? ऐसा पूछने पर 'हां' कहे तो क्या मानते हो पोट्ठपाद उसका भाषण प्रतिहारण रहित नहीं हो जाता?

उन्होंने आग[29] जलने का उदाहरण देते हुए कहा कि आग बुझ गई, वह किस दिशा को गई पता नहीं, इसी प्रकार उस आत्मा को जो विभिन्न मत वादी मानते हैं, न जान पाते हैं, न देख पाते हैं। इस प्रकार सभी प्राचीन मान्यताएं, सभी अस्तित्वों, सभी अहंकारों, सभी मेरे कहे जाने वाले भावों के नाश हो जाने से विराग से, त्याग से, छटने से, उपादान न रहने से तथागत विमुक्त हो जाते हैं और इसी प्रकार तथागत ने नेतं मम, न सोऽहमस्मि, 'न मे सो अत्ता' इत्यादि सभी में अनित्यता के कारण दुःख एवं विनाशकारी रहते हुए अनात्मवाद का उपदेश दिया है। 'वत्स! तुझे अज्ञान की जरूरत नहीं, सम्मोह की जरूरत नहीं। वत्स! यह धर्म गंभीर, दुर्दृश्य, दुर्-अनु-बोध (दुर्ज्ञेय), शांत, प्रणीत (उत्तम), तर्क का अविषय, निपुण (सूक्ष्म) पंडित-वेदनीय (पंडितों द्वारा जानने लायक) है। वत्स! यह (धर्म) अन्य-दृष्टिक (दूसरे मत का आग्रह रखने वाले), अन्य-क्षान्तिक, अन्य-रुचिक, अन्यत्र-योग (सम्बन्ध) वाले, अन्यत्र आचार्यक (दूसरी जगह के ज्ञान वाले) तेरे लिए दुर्ज्ञेय है। उसी की अनित्यता की पुष्टि करते हुए वत्स गोत्र परिव्राजक ने भगवान् से यह कहा—अनित्य होने पर जैसे उस महान् शाल वृक्ष के पत्ते नष्ट हो जायें, छाल-पपड़ी नष्ट हो जायें, गुद्दा नष्ट हो जाये। बाद में वह शाखा-पत्र रहित सार मात्र में अवस्थित रह जाये, ऐसे ही आप गौतम का प्रवचन शाखा-पत्र रहित, छालपपड़ी-रहित, बुद्ध सारमात्र में अवस्थित है।

हमनेइस से पूर्व प्राचीन[30] त्रिपिटक ग्रन्थों से पर्याप्त उदाहरण अनात्मवाद के पोषण में उद्धृत किए हैं किन्तु विषय को समाप्त करने से पूर्व मिलिन्द प्रश्न में जो यवनराज मिलिन्द और नागसेन के मध्य में वार्तालाप हुआ है उसका कुछ अंश प्रस्तुत करना आवश्यक है क्योंकि यह आत्मा के बुद्धसम्मत सिद्धान्त को अच्छी प्रकार समझाने

---

28. बु० च० 182
29. मज्झिम निकाय, पृ० 284
30. बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृ० 86-87

में सफ़ल हुआ है। मिलिन्द ने पूछा—आपके ब्रह्मचारी आपको 'नागसेन' नाम से पुकारते हैं, तो यह 'नागसेन' क्या है ? भन्ते क्या ये केश नागसेन हैं ?

नहीं, महाराज !

तो रोयें नागसेन हैं ?

नहीं महाराज !

ये नख, दांत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वृक्, हृदय, यकृत्, क्लोम, प्लीहा, फुस्फुस, आंत, पतली आंत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आंसू, चर्बी, लार, नेटा, लासिका दिमाग नागसेन हैं ?

नहीं, महाराज !

भत्ते, तब क्या आपका रूप नागसेन है ?—वेदनायें नागसेन हैं, संज्ञा—, संस्कार विज्ञान—नागसेन हैं ?

नहीं महाराज !

भन्ते, तो क्या रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी एक साथ नागसेन हैं ?

महाराज, मैं आप से पूछते-पूछते थक गया, परन्तु पता नहीं चला कि रथ कहां है ? क्या रथ केवल शब्दमात्र है ? आखिर यह रथ क्या है ? महाराज, आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है। महाराज सारे जम्बूद्वीप के आप सबसे बड़े राजा हैं। भला किसके डर से आप झूठ बोलते हैं।

जैसे रथ अपने अवयवां के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'रथ' ऐसा नाम कहा जाता है इसी तरह मेरे केश इत्यादि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए नागसेन ऐसा एक नाम कहा जाता है। परन्तु वास्तव में नागसेन ऐसा कोई पुरुष वर्तमान नहीं है। उन्होंने दीपशिखा के दृष्टान्त से भी समझाया कि जो मनुष्य रात के समय दीपक जलाता है, क्या रात भर वही दीपक जलता है, परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न है क्योंकि रात के पहले पहर की दीप शिखा दूसरी थी, दूसरे और तीसरे पहर की दीपशिखा उससे भिन्न थी। फिर भी सारी रात एक दीपक जलता रहता है। दीपक एक है परन्तु उसकी शिखा प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। आत्मा के विषय में भी यही दशा आप समझ सकते हैं कि इसके अस्तित्व के सिलसिले में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक लय होती है इस प्रकार क्रम अथवा प्रवाह चलता रहता है और पहली अवस्था बदलती है कि दूसरी आ जाती है। यही क्रम जीव का रहता है कि वह जन्म लेता है और मर जाता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार दूध से बनी हुई वस्तुओं में जैसे दूध दुहे जाने के कुछ समय बाद दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी बन जाता है किन्तु प्रश्न करने पर कि क्या जो दूध था वही दही आदि वस्तुओं में है तो इसका उत्तर यही है कि ये चीजें दूध नहीं हैं, दूध के

विकार हैं, दूध से बनी हुई हैं। इसी प्रकार आत्मा का प्रवाह आत्म रूप में न होकर विज्ञान के रूप में उन्होंने स्वीकृत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध ने आत्मा की स्वीकृति कहीं भी नहीं की है। इनसे कर्म फल[31] के विषय में पूछते हुए कहा है कि आप पुद्गल से क्या समझते हैं? बौद्ध कहते हैं कि जब हम अहम् कहते हैं तब हमारा आशय 'पुद्गल' से होता है। कर्म के कर्ता के विषय में पूछने पर बौद्ध कहते हैं कि जिसे किसी कर्म का कर्ता कहते हैं वह उसके सब कारणों में उसका कर्म ही प्रधान कारण है। इस प्रकार यह सन्तति रूप में माना हुआ प्रवाह ही बौद्धों के मत में आत्मा का निषेधात्मक स्वरूप सर्वत्र ही वर्णित प्राप्त होता है।

(ख) संहिताएं और भगवान् बुद्ध के आत्मतत्व सम्बन्धी दृष्टिकोण का विवेचन

वस्तुतः बौद्ध विचारधारा में ब्राह्मण विचारधारा के ज्ञान 'कर्म' समुच्चय तथा ज्ञान और कर्म को दैनिक जीवन में प्रायोगिक रूपेण लाने का प्रयास ही है। जैसा ब्राह्मण विचारधारा में आत्मा की चार अवस्थाएं स्वीकृत की गई हैं। जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्या। इन अवस्थाओं में आत्मा की सम्पूर्ण शक्ति का विकास होता है। इन अवस्थाओं के परमात्म तत्व के साथ जाग्रत वैश्वानर, स्वप्न तेजस, सुषुप्ति प्रज्ञ और शुद्धात्मा। आत्मा की चार अवस्थाओं[31] का वर्णन इस प्रकार है—

तुर्या	—	शुद्धात्मा	नैष्कर्म अवस्था (ज्ञान) निवृत्ति,
सुषुप्ति	—	प्राज्ञ	अद्वैत का अनुभव
स्वप्न	—	तेजस्	कर्म अवस्था (कर्म) प्रवृत्ति,
जागृति	—	वैश्वानर	द्वैत का अनुभव

दो अवस्थाएं कर्म की और दो नैष्कर्म्य की चारों आवश्यक होने के कारण ज्ञान और कर्म का समुच्चय होना आवश्यक है। जो अवस्था नष्ट होगी उस अवस्था में आत्मा की शक्ति गुप्त रहेगी, उस अवस्था के बिना आत्मा की वह शक्ति प्रकट नहीं हो सकेगी इस प्रकार जैसे आत्मा सनातन है इसी प्रकार ये अवस्थाएं भी सनातन है। परमात्मा भी तेजस् वैश्वानर आदि द्वारा कर्म करता ही है जो सृष्टि रूप में अनादि प्रवाह से दृष्टिगत होता है। परिच्छिन्न जीव की भी उक्त कारण से ही चार अवस्थाएं हैं। चतुष्पाद् आत्मा इसी कारण से कहा गया है। मुक्ति आदि अवस्था में

31. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० 248
32. आत्म ज्ञान, श्री पाद दामोदर सातवलेकर, पृ० 11

कतिपय जाग्रति आदि अवस्थाओं के अभाव की कल्पना करते हैं किन्तु शरीर के होने न होने से मुक्ति अमुक्ति का प्रश्न नहीं है। शरीर में रहते हुए भी आत्मा मुक्ति का अनुभव कर सकता है और शरीर त्यागने पर भी आत्मा अपने आपको बन्धन में देख सकता है इसलिए आत्मा की विकसित शक्ति का अनुभव करने के लिए जागृति की आवश्यकता है। आत्मा के लक्षणों में इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख, प्रयत्न और ज्ञान 6 हैं जिनका अंत् धातु के अर्थ के साथ सम्बद्ध है। इन पूर्वोक्त चार अवस्थाओं (पुरियों) में रहने से पुरुष कहाता है। वस्तुत: नर—न, र जो विषयों में नहीं रमता वह नर उच्च निष्काम कर्मी पुरुष कहा जाता है। भोगों का उपभोग करने के लिए शरीर है, जिसने फलों के उपभोग लालसा का परित्याग कर दिया अर्थात् जिसे शरीर (काया), देह की चिन्ता नहीं रही वही अकाय, विदेह आदि अभिधान से स्वेच्छा से शरीर धारण करता है कर्म के वश में रह कर शरीर धारण नहीं करता।

ब्राह्मण विचारधारा के आदि स्रोत ऋग्वेद तथा ब्रह्मवेद (अथर्व वेद[33]) में इस ज्ञान का विशद वर्णन है। दध्यङ् अथर्वा ऋषि ने ब्रह्म का वर्णन किया है। गोपथ ब्राह्मण में अथर्व वेद को ब्रह्म वेद के रूप में स्पष्टतया स्वीकृत किया है यथा—इसको अथर्वा इसलिए कहा गया है कि इसने अन्य अर्वाक् एनं अन्विच्छ इसको यहां ही ढूंढो ऐसा कहा। 'अथ[34] अर्वा क्' ऐसा कहने से अथर्वा कहा गया। इसका अभिप्राय यह है कि परमेश्वर को बाहर कहां ढूंढते हो, यहां अपने अन्दर ढूंढो। ऐसा जिसने कहा वह अथर्वा अभिधान से ख्यात हुआ। निरुक्तकार[35] ने भी अथर्व का अर्थ स्थिर है। थर्व का अर्थ गति अत: अथर्वा का अर्थ गति रहित, एकाग्रता तथा स्थिर बुद्धि, स्थित प्रज्ञ समाधिस्थ, योगी इस प्रकार के व्यक्ति का ब्रह्म विचार के साथ सम्बन्ध है। यह अथर्वा ऋषि ने आत्म विचार का विषय वर्णित किया है। आत्मा के विषय में कहा है कि जो सत्य[36] विचार वाला सविता देव है वह अपनी कर्म शक्ति द्वारा सम्पूर्ण दुष्कृत्यों की रक्षा करता है। वह अत्यन्त प्रशंसनीय सत्य-निष्ठ देव आत्मा के समान ही सेव्य है।

आत्मा[37] ही यज्ञ में सर्वप्रथम उपास्य है। यह देवों का आत्मा, भुवनों का

---

33. यजुर्वेद के 40 अध्याय का ऋषिदीर्घतमा, 37 वें में दध्यङ्आथर्वण।
34. तद्यद ब्रवीदथर्वाङनं—अन्विच्छेति तदथर्वाङ्भवत्। गो० ब्रा० 1।4
35. अथर्वण: अथनवन्त:। थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेध:। निरुक्त नै० 11।19।1
36. देवो न य: सविता सत्यमन्मा क्रत्वा निपाति वृजनानि विश्वा।
पुरुप्रशस्तो अमतिर्न सत्य आत्मेव शेवो दिधिषाय्योऽभूत्। ऋ० 1।73।2
37. आत्मा यज्ञस्य पूर्व्य: ऋ० 9।2।10

गर्भ[38] है। यह अपनी इच्छा के अनुरूप चलता है, इसका रूप नहीं दिखाई देता केवल इसका घोष सुनाई देता है। आत्मा का रूप नहीं दृष्टिगत होता। यह सब में अनुस्यूत प्रेरक तत्व है। आत्म-देव सब देवों का आत्मा अपनी शक्ति से विविध इन्द्रियों में विविध शक्ति पुंज का प्रदाता है इस प्रकार की असीम शक्ति की अनुभूति के लिए अथर्व वेद[39] में स्पष्ट घोषणा की है। इतना ही नहीं सूर्य मेरा चक्षु है, वायु मेरा प्राण है, पृथ्वी मेरा शरीर,[40] अन्तरिक्ष मेरा आत्मा है। अ-स्तृतः कभी न मरने वाला है। ऐसा मैं अपने आपको द्यावा पृथिवी द्वारा सुरक्षित होने के लिए समर्पित करता हूँ। उस परमात्मा,[40] आप्तकाम, धीर, अमर, स्वयं भू, सर्वव्यापक, अजर, युवा, अमर को जानने से मृत्यु का भय नहीं रहता।

डा० धमेन्द्रनाथ[41] शास्त्री ने अपनी पुस्तक में स्पष्ट रूपेण यह अंकित किया है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचारधारा में यथार्थवाद तथा आदर्शवाद जैसे भेद न होकर आस्तिक नास्तिक अभिधान से भेद स्वीकार किए गए हैं। प्रथम का आधार श्रुतियां (वेद) हैं और दूसरा इस प्रकार का कोई आधार नहीं मानता। षड् आस्तिक दर्शनों को सभी जानते हैं और नास्तिक दर्शनों में तीन चार्वाक जैन तथा बौद्ध को मानते हैं। नास्तिक दर्शन का आधार भौतिकोपलब्धि मात्र है। डा० शास्त्री की दृष्टि में विचारधारा को उपनिषदों से प्रेरणा मिलने के कारण यह विचारधारा आत्मवादी है। बौद्ध अनात्मवादी है। बौद्ध विचारधारा में आत्मा शब्द विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त है। उनके विचार में प्राणी मात्र के शरीर में कोई अनित्य वस्तु 'आत्मा' के रूप में नहीं है। कोई अवयविन् नहीं है इसीलिए इनके मत को अद्रव्यवाद कहा गया है (सर्वमनात्मम्)। इसी अनात्मवाद का आधार लेकर दिङ्नाग तथा धर्म कीर्ति ने अपने दर्शन को विस्तार से लिखा है। ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा के भेदीकरण का यही आधार[43] है।

दोनों विचारधाराओं की भिन्नता का प्रतिपादन करते हुए डा० टी० आर० वी०

---

38. आत्मा द्रेवानां भुवनस्य गर्भो यथावंश चरति देव एषः
    घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं। ऋ० 10।168।4
39. मा हं प्राणेन—मात्मना मा प्रजया विराधिर्षि। अथर्व० 3।29।8
40. प्राणोन्तरिक्षमात्मा—अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे
    द्यावा पृथिवीभ्यां गोपीथाय। अथर्व० 5।9।7
41. अथर्व० 10।8।44
42. क्रीटीक आफ इण्डियन रिअलिज्म, डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, पृ० 49
43. क्रीटीक आफ इण्डियन रिअलिज्म, डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री, पृ० 50-53

मूर्ति[44] ने अपने लेख में कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया में ब्राह्मण विचारधारा को आत्मवादी तथा बौद्ध विचारधारा को अनात्मवादी भिन्न धारा माना है। भारतीय दर्शन की विचारधारा में दो विभिन्न धाराएं स्पष्ट हैं। एक उपनिषदों पर आधारित आत्मवादी तथा दूसरी बुद्ध की अनात्मवादी। ब्राह्मण विचारधारा विधि मुख से तथा बौद्ध विचारधारा निषेधमुख से। ब्राह्मण विचारधारा मौलिक रीति को स्वीकार करती है, जिसमें वेदों का महत्व है जबकि बौद्ध विचारधारा अनुभूति तथा आलोचना पर आधारित है जिसमें गति तथा विकास उपनिषदों की अपेक्षा तीव्र है। एक विरोधी विचार भी है जो ब्राह्मण विचारधारा को उपनिषदों से उद्भूत मानता है और बौद्ध तथा जैन को सामान्य दिशा परिवर्तन ही मानता है न कि विरोधी। इन विचारों में दोनों विचारों की आधार भित्ति की उपेक्षा की गई है।

आत्म तत्व के नित्यत्व के विषय में हमें यह वर्णन विस्तार से अनेक स्थानों[45] पर प्राप्त होता है, जिसमें आत्मा को एक ऐसा तत्व माना है जो हमेशा रह सकता है इस प्रकार एक विचारधारा ऐसी निश्चित हुई जिसमें आत्मा की अमरता को माना गया और बताया गया कि आत्मा पूर्व जन्म के कर्मानुसार वर्तमान अस्थायी स्थिति में हैं, पूर्व रूप में यह एक समान ही थी।

यह आत्मा[46] इन्द्रिय गोचर नहीं है, वह देहेन्द्रिय संघात से विलक्षण है। सब

---

44. The Brahmanical systems based on the Atman doctrine of the Upanisads and the Budhist schools on the Nairatmya doctrine of Budha conceive reality on the two distinct and exclusive patterns. The Upanisads and the systems drawing their inspiration from them conceive reality on the pattern of an inner core or soul (Atman), immutable and identical amidst an outer region of impermanence and change to which it is unrelated or but loosely related. This may be termed the substance view of reality (Atmavada).

    They interpret Indian philosophy as having developed out of one tradition. the Upanisadic. Buddhism and Jainism are treated as deviations, rather than redical departures, from the Atmavada of the Upanisads. This, however, ignores the sharp differences and exclusive attitudes inherent in these systems. Similarly it overlooks the internal differences within the fold of Buddhism, and considers it one unitary system.

    दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, वा०-3, पृ० 27-29
45. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स, वा०-2, पृ० 743।
46. स यो तो श्रुतो—सर्वेषां भूताना मन्तरपुरुषः—आत्मेति। ऐ० आ० 3।2।4।10

प्राणियों के अन्तर रूप में यह आत्मा है, जो अश्रुत, अमत है उसे किस प्रकार जान सकते हैं तो इसके उत्तर में कहते हैं कि उन-उन कार्यों के व्यापारकर्ता के उपलक्ष्य द्वारा हम उसे श्रोता, विज्ञाता रूप में जान सकते हैं क्योंकि आत्मा विषय नहीं होता है विषयी तो होता ही है। कौषीतकि ब्राह्मण में भी कहा है कि वाणी[47] को न जानो अपितु वक्ता को जानो। गन्ध को मत जानो, घ्राता को जानो, रूप को न जानो द्रष्टा को जानो—इस प्रकार दश इन्द्रियों के दश ही प्रबोधों के स्वरूप को जानकर उसके अनुभवकर्ता को जानो। ये दशभूत मात्राएं ही प्रज्ञा मात्राओं का आधार है और यदि ये भूत मात्राएं ही न हो तो प्रज्ञा मात्राएं भी न होंगी और यदि प्रज्ञा मात्राएं न हों तो भूत मात्राएं भी नहीं, ठीक उसी प्रकार जैसे चक्र के अरों पर नेमि रखने से तथा नेमि पर अरे रखने से दोनों की सत्ता में ही चक्र की स्थिति होगी, प्रज्ञामात्र ही प्रज्ञा है।

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि जो यह विज्ञान स्वरूप पुरुष जीवात्मा है, यह भी उन परम अविनाशी सब के आत्मा पर ब्रह्म पुरुषोत्तम में स्थित है।

महात्मा बुद्ध के अन्तस्तल में प्रतीत्य समुत्पाद वाद की प्रेरणा देने वाला यह औपनिषदिक अध्ययन ही रहा है क्योंकि आडारकालाम उद्दकराम पुत्र जैसे गुरुओं के पास जाकर उनकी दीक्षा में भी उन्हें उस परमेश का विवेचन ही प्राप्त हुआ किन्तु उनके पास भी वस्तुतः ज्ञान नहीं था वे तो अभी अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में ही थे। किन्तु बुद्ध ने अपने पूर्व जन्मों में यह अर्जित कर लिया था, अब तो आवरण के के हटने की ही देरी थी, कि प्रकाश आलोकित ही था।

उन्होंने केनोपनिषद् में शिष्य के प्रश्न करने पर कि 'केनेषितं पतति' कि यह जड़ रूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी, कर्मेन्द्रियां और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने की क्षमता प्रदान करने वाला और उन्हें अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाला जो कोई एक शक्ति सम्पन्न चेतन है वह कौन है ?

ऐसे प्रश्न करने पर गुरु ने 'श्रोत्रस्यश्रोत्रं' इत्यादि शब्दों के द्वारा संकेत से समझा दिया है कि जो मन, प्राण और सम्पूर्ण इन्द्रियों का समस्त जगत् का परम कारण है जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं जिसकी शक्ति पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करने में स र्थ हो रहे हैं और जो इन सब को जानने वाला है वह परमेश ही इन सब का प्रेरक है। इसे जान कर ज्ञानी जन जीवन्मुक्त होकर इस लोक से प्रयाण करने के अनन्तर अमृत तुल्य विदेह युक्त हो जाते हैं।

उसके सत्य स्वरूप को न स्वयं ही जाना गया है और न किसी से स्पष्ट रूप से समझाया ही है क्योंकि वह नेत्र, वाणी, तथा मन का भी विषय नहीं वह परमेश

---

47. प्रश्न० उ० एष—मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः—
स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते। प्रश्न० उ० 419।

प्राचीन ऋषियों के अनुसार जड़ चेतन दोनों से भिन्न तथा यथा यह दृश्यमान जगत् क्षर तथा उसमें अन्तर्भूत है प्राकृत अन्तःकरण तथा इन्द्रियों का वह विषय नहीं वह 'विदितात्, अविदितात्' से भिन्न ही है इस प्रकार उसकी मन, इन्द्रियों द्वारा अज्ञेयता जान लेने पर ज्ञेय वस्तु से भिन्न वह ब्रह्म है इतना नहीं ब्राह्मण विचारधारा में देवताओं का महान् महत्व है और उन्हें ही ब्रह्म स्वरूप मानकर जो उपासना पूजा का क्रम चल रहा है उसको भी अग्रिम कथा रूप में स्पष्ट किया गया है कि जो उस ब्रह्म का स्वरूप तुझमें तथा देवताओं में भी है वह भी विचारणीय है। वस्तुतः ये देव स्वयं कुछ नहीं है, उस परमेश ब्रह्म की ही शक्ति से कार्य करते हैं। यथा इन्द्र, अग्नि और वायु तीनों देवों ने एक यक्ष को देखा और इन्द्र ने अग्नि को उसे जानने, पुनः वायु को जानने को भेजा किन्तु वे अपनी शक्ति से हीन रहे, शक्ति का उनकी सत्ता में क्या महत्व है और वह शक्ति किस की है इसे समझाने के लिए ही यह सब वर्णन यहां दिया गया है जिसका निष्कर्ष है कि हमारे जैसे प्राणियों में और सर्वशक्तिमान् ब्राह्मण विचारधारा के सर्वोत्कर्षेण श्रवस्तम देवों, इन्द्र, अग्नि तथा वायु में उसी चेतन ब्रह्म की शक्ति और प्रेरणा है। इस विवरण से गौतम बुद्ध ने यह जान लिया कि इन देवों की उपासना में कोई सार नहीं है और उनकी दृष्टि में इनका महत्व क्षीण हो गया इसी कारण त्रिपिटक साहित्य में अनेक स्थानों पर शक्र का भगवान् बुद्ध के सामने उपस्थित होना तथा अन्य देवों यथा सहम्पति ब्रह्मा द्वारा लोक हित के लिए उपदेश देने की प्रार्थना करने का वर्णन प्राप्त होता है, जिनसे देवताओं की पूजा और उनका महत्व बुद्ध के लिए नगण्य हो गया। 'नाहं मन्ये[48] सुवेदेति' तथा 'यस्यामतम्' आदि दोनों मंत्रों में उस परम ब्रह्म का प्राकृतिक उपायों तथा इन्द्रियों द्वारा बौधगम्य होने का निषेध किया गया है वे तो स्वयं ही ज्ञेय हैं अपितु वह जिस पर कृपा करते हैं वही जान पाता है 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' के अनुसार इस प्रकार का चिन्तन कि वह ब्रह्म, मन, वाणी, चक्षु आदि सभी का अविषय है।

वस्तुतः यह समझ लेना कि चक्षु, वाणी, मन आदि सभी विषयों से वह ईश्वर अज्ञेय है तथा वह इन देवों आदि सभी की प्रेरक शक्ति है इन सभी का कारण है तो यह ज्ञान, यही बोध समझ, बुद्धि, प्रतिबोध शब्द का आशय इन संकेतों से बारबार होने वाला यह ज्ञान ही (मतम्) वास्तविक ज्ञान है। 'प्रतिबोध विदितं मतम्' यही मत अमरता को प्राप्त करने वाला है। 'आत्मना[49] विन्दतेवीर्यम्' इस पंक्ति से मेरे विचार में बुद्ध ने अपनी सभी गुरुओं को खोखला पाकर कि इनके पास देय कुछ नहीं, मार्गदर्शन मात्र ही है सो वह 'आत्मना' उस ब्रह्म से ही वीर्य (शक्ति) उसे जानने

48. केन० उ० 2।2।2
49. केन० उ० 2।2।4

की शक्ति मिलती है और उस ज्ञान से परब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

इस प्रेरणा से 'प्रतिबोध विदितं मतम्' और 'आत्मनाविन्दते वीर्यम्' आदि के अनेकश: चिन्तन मनन ने यह प्रेरणा दी की उस ब्रह्म के ज्ञान की शक्ति जब उसी से मिलती है तो अन्य किस की शरण ली जाय। इस प्रकार यह धारणा तो दृढ़ हो गई कि उस ब्रह्म के द्वारा ही उसके साक्षात्कार की शक्ति प्राप्त होती है और साथ ही साथ यही[50] इस जन्म में प्राप्तव्य है और इसी का बोध आत्म साक्षात्कार का ज्ञान ही सत्य है और यदि इस जन्म में यह उपलब्धि न हुई तो बड़ा भारी अनिष्ट होगा। इसलिए मानव जन्म की सार्थकता इसी में है कि भागवती कृपा से उपलब्ध दुर्लभ मानव शरीर के रहते ही यह प्राप्ति कुशल-मार्ग है अन्यथा अकुशल है। इस प्रकार धीर मानव प्राणी प्राणी में पर ब्रह्म पुरुषोत्तम को समझकर इस लोक से प्रयाण करके अमरता को प्राप्त करते हैं क्योंकि मनुष्य जन्म के अतिरिक्त जितने जन्म हैं सभी कर्मों के फल भोगने के लिए हैं। उनमें परमात्म साक्षात्कार के लिए प्राणी कोई उपाय नहीं कर सकता। बुद्धिमान् पुरुष इस तत्व को समझ लेते हैं और प्रत्येक जाति के प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए सदा के लिए आवागमन से मुक्ति पा जाते हैं। साथ[51] ही साक्षात्कार करने के पन्था को भी पूर्व ऋषियों द्वारा जाना ही गया है, ऐसे प्रमाण भी उपलब्ध हुए यथा कि मैंने उस महान् आदित्यवर्ण तपस् से परे उस ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। उसी को जानकर ही मृत्यु को पार किया जा सकता है, इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है।

मज्झिम निकाय के सव्वासव सुत्त में (आस्रवों) मलों दोषों के विनाश करने के साथ मनसिकरणीय तथा अमनसिकरणीय विषयों के विवेचन के द्वारा बुद्धमत के विषय में महत्वपूर्ण विवेचन किया गया है। उन्होंने आस्रवों के क्षय के बारे में कहते हुए योनि सोमनस विकार (ठीक से मन में धारण करना) और अयोनि सोमनस विकार (ठीक से मन में धारण न करना) दोनों प्रकार का विशद विवरण दिया है। यथा (बेमनसिकरणीय) विषयों को धारण करने से न उत्पन्न आश्रव उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न आस्रव बढ़ते हैं। ठीक से धारणा करने में नए उत्पन्न नहीं होते और उत्पन्न भी विनष्ट होते हैं। आस्रवों की विविधता के आधार पर उनसे मुक्ति के भी उपाय

---

50. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टि:।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ केन० 2।5

51. शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आये धामानि विश्वानि तस्थु:।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्ण यजु० तमस: परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ श्वे० उ० 3।8

विभिन्न रूपेण बताए हैं। तथा कोई आस्रव दर्शन से प्रहातव्य है। दर्शन से यथा यह दुःख है, यह दु.ख समुदय है (दुःख की उत्पत्ति) यह दुःख निरोध (विनाश) है यह दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग है, प्रतिपद् है।

उपर्युक्त आस्रव दुःखों के विनाश और साथ ही साथ इनके प्रहाण का विशेष फल है। तीन संयोजनों (फन्दे) आसक्ति का विनाश, जिनमें सर्व प्रथम आत्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

1. सत्कायदृष्टि—काया के भीतर एक नित्य आत्मा की सत्ता को मानना।
2. विचिकित्सा—संशय।
3. शीलव्रत परामर्श—शील (सदाचरण तथा व्रत आदि) करने का अभियान।

ये तीनों बातें छूट जाती हैं। जिनमें प्रथम सत्कायदृष्टि में स्पष्टतः अनात्मवाद की विचारधारा पोषित होती है।

कुछ आस्रव संवर (संयम) द्वारा प्रहातव्य हैं जिसमें सभी इन्द्रियों के संयम का वर्णन है यथा चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा तथा मन इनके असंयम के भयंकर परिणामों का वर्णन जैसा ब्राह्मण विचारधारा में वर्णित है वैसा ही यहां भी लभ्य है। कतिपय आस्रवों को प्रतिसेवन द्वारा क्षीण करना चाहिए। इसमें भिक्षुओं के लिए दैनिक आवश्यकताओं के औचित्य पर प्रकाश डाला है। यथा चीवर, भिक्षान्न (पिण्डपात), शयनासन, रोगी परिचर्या ये नियम विशेष रूप से विहारों में वास करने वाले भिक्षुओं के लिए अथवा किसी भी आश्रम में रहने वाले परिव्राजकों के लिए उचित ही है।

कतिपय अधिवासन द्वारा—ऋतु परिवर्तन जन्य शीतातप, पीड़ा आदि की सहनशीलता के द्वारा इन आस्रवों का क्षय होता है। कटु वचन, पीड़ाओं को हंसते-हंसते सहन करना।

कतिपय परिवर्तन के द्वारा प्रहातव्य है। बुरे मित्रों, उन्मत्त वन्य जन्तुओं अनुचित आसन, अनुचित विचरण आदि के त्याग से कतिपय आस्रव क्षीण हो सकते हैं। और कौन से विनोदन द्वारा प्रहातव्य आस्रव है। कामवितर्क—कामवासना सम्बन्धी संकल्प विकल्पों का स्वागत न करके, छोड़ कर, हटा कर, अलग कर, मिटा कर, उत्पन्न हुए व्यापाद वितर्क (द्रोह के विचार) का उत्पन्न हुए विहिंसा वितर्क (प्रतिहिंसा के विचार से) पुनः पुनः उत्पन्न होने वाले पापी विचारों (धर्मों के) जिनके न हटाने से दाह तथा पीड़ा देने वाले आस्रव उत्पन्न होते हैं उन्हें विनोद न करने से क्षीण करना चाहिए। कौन सी भावना द्वारा प्रहातव्य है—चिन्तन द्वारा ठीक से जान कर विवेक युक्त, विरागयुक्त,निरोधयुक्त, मुक्ति परिणाम वाले स्मृति सम्बोध्यंग की भावना करता है। सम्बोधि परम ज्ञान उसके लिए उपयोगी अंगों को सम्बोध्यंग कहा गया है स्मृति, धर्म विषय आदि में विभिन्न विधियों द्वारा सारे आस्रवों से संयम युक्त हो विहरता रहा। उसने तृष्णा को छिन्न कर दिया।

इस महत्वपूर्ण विवेचन में मुझे यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय ईशावास्योपनिषद् के 9-13 में मंत्रों की भावना का स्पष्टतया प्रभाव प्रतीत होता है क्यों कि इस विवेचन में जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण उपादेय कर्तव्याकर्तव्यों का विधिवत् वर्णन किया है। यथा-विद्यां चा[52] विद्यां च यस्तद् वेदो भयाँ सह' से मनसिकरणीय तथा अमनसिकरणीय (उपर्युक्त वर्तन में पालि के हिन्दी अनुवाद के रूप) की भावना निकलती है। अविद्या आस्रव (अज्ञान रूपी मल) का अमनसिकरणीय ही बतलाया है। अविद्या अथवा अमनसिकरणीय धर्मों के सेवन से काम आस्रव; भव आस्रव अविद्या आस्रव तीनों की उत्पत्ति बतलाई है जिसमें इशोपनिषद् में अविद्या के अन्तर्गत सभी वर्ज्य कार्यों की विशद व्याख्या है।

जहां तक विद्यानुसेवियों के घोर अन्धकार में जाने का प्रश्न है उसका भी निराकरण तो दर्शन से प्रहाण होने वाले संयोजनों (फन्दों) से मुक्ति रूपी फल के अन्तर्गत ही आ चुका है क्योंकि तृतीय संयोजन जो शीलव्रत परामर्श है उसकी व्याख्या में शीलव्रत आदि आचरणों से अभिमान का फन्दा छूट जाता है। वस्तुतः ज्ञान का मिथ्या आरोप करके शास्त्रों के पठन मात्र से जो ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं कि हमारे लिए कोई कर्तव्य नहीं है जो अन्तःकरण की अशुद्धि से कर्तापन का अभिमान रखते हैं ऐसे व्यक्तियों की और भी अधिक दुर्गति होती है। अतः इस संयोजन की भी मुक्ति दर्शन द्वारा प्रहाण आस्रवों में हो जाती है। इन्होंने व्यावहारिक रूप से समझाने का प्रयास किया जबकि वहां अस्पष्ट ही है। पहले यह पुरुषाकार[53] आत्मा ही था, उसने आलोचना करने पर अपने से भिन्न और कोई न देखा। उसने आरम्भ में 'अहमस्मि' ऐसा कहा इसलिए वह 'अहम्' नाम वाला हुआ। इसी कारण से जब पहले किसी को बुलाते हैं तो वह यही कहता है (अयमहम्) बाद में अपना नाम बतलाता है।

वस्तुतः यहां आत्मा शब्द से सर्वप्रथम अण्डे से उत्पन्न प्रथम शरीरी प्रजापति का बोध होता है। प्रजापति ने अपने पुरुषविध लक्षणों से युक्त स्वरूप से विचार कर अपने प्राण समुदाय रूप देहेन्द्रिय संघात से भिन्न कोई और पदार्थ नहीं देखा। भगवान्[54] बुद्ध ने भी अपने को अण्डे को फोड़ कर निकलने का उदाहरण दिया है। इस भावना में ब्राह्मण विचारधारा के हिरण्य गर्भ की भावना का भी प्रभाव माना जा सकता है। केवल अपने को ही सर्वात्म रूप से देखा तथा पूर्व जन्म के 'वह मैं सर्वात्मा प्रजापति हूँ' इस श्रौत विज्ञान जनित संस्कार वश सबसे पहले 'अहमस्मि' ऐसा कहा, इसी से, क्योंकि पूर्व ज्ञान के संस्कार से उसने आरम्भ में अपने को 'अहम्'

52. ईश० 9
53. वृ० उ० 1।4।1
54. बु० च०, पृ० 130

ऐसा कहा था। इसलिए वह अहंनाम वाला हुआ। एक पक्ष तो यह 'अयमहमस्मि' का हुआ। दूसरे पक्ष में उस प्रजापति ने यह किस प्रकार ज्ञात किया कि मैं ही हूँ और मेरे सिवाय अन्य कोई नहीं—उस प्रजापति ने अपने पूर्व जन्म में साधकावस्था में सम्यक् कर्म और ज्ञान की भावनाओं के अनुष्ठान द्वारा प्रजापतित्व की प्राप्ति की इसलिए सर्वप्रथम उसने प्रजापतित्व प्राप्ति में बाधक होने वाले बन्धनों का विनाश किया, उनका ओषण किया। पूर्व में औषण करने के कारण वह पुरुष कहलाया। इसी प्रकार अन्य विद्वान् भी जो इस प्रकार प्रजापतित्व की उपलब्धि चाहता है। उसे भी इसी प्रकार अपने पापों अथवा प्रतिबन्धक कारणों को जलाना होगा। महर्षि याज्ञ-वल्क्य ने अपनी पत्नी को एक दृष्टान्त में कहा—जिस प्रकार जल में डाले हुए नमक के डले को जल में विलीन हो जाने पर उसे पृथक् नहीं किया जा सकता किन्तु जल में लवणत्व का आस्वाद सर्वत्र सुलभ होगा उसी प्रकार वह सर्व चेतन सब में ज्ञात है। बृ० उ० में उस ब्रह्म को महद् भूत, अनन्त, अपार और विज्ञान धन कहा है। वह इन सत्य शब्द वाच्य भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के साथ विलीन हो जाता है। देहेन्द्रियभाव से मुक्त होकर इसकी कोई संज्ञा[55] नहीं रहती। श्वेताश्वतर उप-निषद् आत्मा को 'प्रज्ञा' माना है, जिसका रूप बौद्धों में मिलता है।

इससे मैं तीन निष्कर्ष निकालता हूँ—प्रथम, प्रजापति का ही केवल 'आत्मा' रूप में आविर्भूत होकर अहं कहना इसका आशय यह है कि (आत्मा) उस परब्रह्म परमेश के लिए ही प्रयुक्त होना चाहिए। सामान्य 'आत्मा' साधारण प्राणीमात्र में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग भ्रमित करता है। जब प्रजापति मात्र ही है और उसने खूब देखकर अपने को 'अयमहम्' कहा तो (आत्मा) जिसे हम औपनिषदिक शब्दों में प्राणी में पृथक् आत्मा मानते हैं वह कहां है?

दूसरा निष्कर्ष—आत्मेव, इस शब्द से अण्डे से उत्पन्न हुआ प्रथम शरीरी प्रजा-पति ही कहा गया है। वही ब्राह्मण विचारधारा के ज्ञान और कर्म का फलीभूतरूप है क्योंकि यह शरीरादि भेद समुदाय उस प्रजापति के शरीर से अभिन्न है, कारण शरीरान्तर की उत्पत्ति से पूर्ण आत्मा ही था वही पुरुषविध विराट् पुरुष था, वह प्रजापति सम्पूर्ण प्रतिबन्धक पापों का औषण करके ज्ञान और कर्म की भावना से अनुष्ठान रूप अग्नि से अथवा केवल ज्ञान बल से उन प्रतिबन्धकों का औषण करता है। प्रजापतित्व या बुद्धत्व प्राप्ति के लिए ज्ञानाग्नि से मलों को दग्ध करना अनि-वार्य है।

तीसरा निष्कर्ष—महद्भूत अनन्त अपार विज्ञान धन ही इन भूतों से प्रकट होकर उन्हीं के साथ विलीन हो जाता है और देहेन्द्रिय भाव से मुक्त होने अर्थात् मृत्यु के बाद इसके कोई नाम (आत्मा) आदि नहीं दिया जा सकता है। यह वर्णन बुद्ध के

55. न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे। बृ० उ० 2।4।12

अनात्म वाद के लिए पर्याप्त भूमिका प्रदान करता है। तथागत के रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पांच स्कन्धों की भांति बृ०उ० में 'प्रेत्य संज्ञानास्ति' का भी यही अभिप्राय है कि मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। इस प्रकार हमने ब्राह्मण विचारधारा के आत्म तत्व सम्बन्धी विवेचन का बौद्ध के अनात्मवाद के साथ विवेचन प्रस्तुत किया।

(ग) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

भगवान् बुद्ध ने आत्मवाद का खण्डन किया किन्तु तथागत ने जिस आत्मवाद का खण्डन किया वह औपनिषदिक आत्मवाद से भिन्न है। औपनिषदिक विचारधारा उस परम तत्व आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और नित्य तत्व मानती है किन्तु तथागत ने अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन किया है, उनका लक्ष्य पुद्गल से अहंकार का उच्छेद करना था। इसी लक्ष्य की अभीष्ट सिद्धि हेतु उन्होंने आत्मविषयक खण्डनात्मक शैली को अपनाया। किन्तु केवल आत्मवाद खण्डन के आधार पर उन्हें नास्तिक अथवा अनात्मवादी नहीं कहा जा सकता। मेरे विचार में तथागत ने परम तत्व या मूल आत्म तत्व के सम्बन्ध में मौनावलम्बन किया था। उपनिषदों के गम्भीर आलोडन ने उन्हें यह स्पष्ट कर दिया था कि ऋषि, महर्षि, योगी और ज्ञानी सभी इन उलझनों में फंसे रहते हैं और समय और जीवन की उपयोगिता को उस परमतत्व की उपलब्धि तथा ज्ञान में नहीं लगा पाते इस नैराश्य ने उन्हें इस ओर से विमुख किया अतः ऐसे प्रश्न अव्याकृत कोटि में रखे गए। शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मतत्व के सम्बन्ध में बुद्ध ने कोई व्याख्या नहीं की 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' इसकी पुष्टि में मज्झिम निकाय के 'चूलमालुंक्य[56] सुत्त' के वर्णन प्रसंग से पर्याप्त प्रकाश प्राप्त होता है कि एक समय श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के आराम जेतवन में बिहार के अवसर पर मालुंक्य पुत्त ने प्रतिसंल्लयन से उठकर भगवान् से अपने मन में उत्पन्न वितर्क विषयक प्रश्न किए। उन्होंने कहा—मालुँक्य पुत्त! कोई पुरुष गाढे लेप वाले विष से युक्त शल्य से बिंधा हो उसके हित, मित्र, भाई, बन्धु शल्यचिकित्सक भिषक् को ले आवे और वह घायल यह कहे—मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूंगा, जब तक कि अपने बेधने वाले उस पुरुष को न जान लूं कि वह क्षत्रिय है या ब्राह्मण, वैश्य है या शूद्र। मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूंगा कि वह पुरुष अमुक नाम का, अमुक गोत्र का है वह पुरुष कद में लम्बा, नाटा या मझोला है अथवा वह पुरुष काला है, श्याम है या मंगुर (मछली) के रंग का है। कि वह अमुक ग्राम या निगम (कस्बे) या नगर में रहता है। मैं तब तक इस शल्य को नहीं निकालने दूंगा कि जब तक उस बेधने वाले धनुष को न जान लूँ कि वह चाप है या कोदण्ड

56. म० नि०, हिन्दी अनुवाद, पृ० 261-53

ज्या को न जान लूँ, कि वह श्रर्क (भेदार) की या संठे की या तांत की है। काण्ड को न जान लूँ कि वह जलाशय के तट पर स्वयं उगे सर्पत का है, तीर के पर को न जान लूं कि वह बाज का या गिद्ध का है—ऐसा होने पर तो ये सब श्रज्ञात ही रह जाएंगे और वह पुरुष मर जाएगा। इसलिए जो इन प्रश्नों के समाधान में लगेगा वह तब तक मर जायेगा और लोक शाश्वत या अशाश्वत जैसे भी रहे जन्म है, जरा है इत्यादि। ये प्रश्न अव्याकृत हैं, वचन के अविषय हैं, ये न सार्थक हैं न आदि ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी हैं, न यह निर्वेद, उपशम, अभिज्ञा, सम्बोध तथा निर्वाण के लिए ही आवश्यक हैं इसलिए ये अव्याकृत प्रश्न हैं। उन्होंने दुःख को दुःख के हेतु, दुःख के निरोध तथा दुःख निरोधगामी प्रतिपद् मार्ग को स्पष्ट किया और आत्मा, जीव, ब्रह्म आदि अनावश्यक प्रश्नों का उत्तर दे दिया।

भगवान् बुद्ध की दृष्टि में दस प्रश्नों के अव्याकृत कहने का कारण यही था कि वे न चित्त की शान्ति के लिए, न विमुक्ति के लिए, न अभिज्ञा के लिए, न उपशम के लिए, न निर्वाण के लिए उपयोगी थे। निश्चय ही मिलिन्द प्रश्न में उनके विचारों को सम्यक् तया उद्धृत किया है—

'नैतस्स दीपनाय हेतु वा कारणं वा अत्थि, तस्मा सो पञ्हो
ठपनीयो। नत्थि भगवन्तानं बुद्धानं अकारणम हेतुकं गिरमुदीरणंति'

मालुँक्य[57] पुत्त के अनेक बार पूछने पर भी उन्होंने कहा कि मेरे उपदेश में 'आचार्य मुष्टि' जैसी कोई वस्तु नहीं है। उन्होंने आनन्द से कहा आनन्द ! यदि मैं उसको किसी भी प्रकार उत्तर देता तो इन श्रमण ब्राह्मणों के ही शाश्वतवाद, अशाश्वतवाद, उच्छेदवाद का उपदेश करता, किन्तु ये तो हीन कोटियां हैं, हीन, ग्राम्य और पृथग्जनों के योग्य। आत्मज्ञानी व्यक्तियों को वे अज्ञान ही अज्ञान में यथा 'अन्धंतमः प्रविशन्ति' तथा जो कहते हैं कि आत्मा शरीर से उच्छिन्न हो जाता है, वे तथागत के उपदेश को मूलतः उच्छिन्न कर देते हैं, उसे निःशेष रूप से काट डालते हैं। उसकी कोई उपयोगिता ही नहीं छोड़ते जो अशाश्वत आत्मा को बतलाते हैं वे भी उच्छेदवादियों की श्रेणी में ही आते हैं। तथागत ने यह सब देख लिया, वे इन सब से परे हैं। वे इन सभी दृष्टियों को मिथ्या दृष्टि कहते हैं। वस्तुतः भगवान् बुद्ध ने उपनिषदों की विचारधारा को भी समझा और 'प्रेत्यसंज्ञानास्ति' के विचार को ही पंच स्कन्ध, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान से बाहर और अतीत कुछ नहीं देखा, अतः वे या तो रहस्यवादी थे या अविज्ञेयतावादी। डा० कीथ[58] ने उन्हें अविज्ञेयतावादी कहा है। किन्तु भगवान् बुद्ध ने जानकर ही उपदेश किया है अविज्ञेयता का

57. अलगद्दूपमसुत्त म० नि० 1।3।2
58. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, भरतसिंह उपाध्याय, पृ० 449

कथन उचित नहीं 'जत्वा सच्छिकत्वा, अभिज्जायाहं भिक्खवे धम्मं देसेमिनो अयिज्जायाति'। कतिपय भिक्षुकों के मन में यह सन्देह शेष न रह जाय कि तथागत का ज्ञान सीमित है इस कारण वे अनेक प्रश्नों को अव्याकृत कह कर छोड़ देते हैं। एक समय उन्होंने स्पष्टतया शिंशपा की कतिपय पत्तियों को हाथ में रख कर पूछा कि भिक्षुओ मेरे हाथ में जो पत्तियां हैं ये अधिक हैं अथवा शिंशपा वन की सम्पूर्ण पत्तियां तो उन्होंने कहा—भन्ते के हाथ की पत्तियां अत्यल्प है। इसी प्रकार उन्हें समझाया 'इसी प्रकार भिक्षुओ ! वे वस्तुएं बहुत अधिक हैं जिन्हें मैं अपनी अभिज्ञा से जानता हूँ परन्तु जिन्हें मैंने तुम्हें नहीं बताया है। उनकी अपेक्षा जो मैंने तुम्हें बताया है, वह तो सम्पूर्ण शिंशपा वन की अपेक्षा अल्प है, क्यों नहीं बताया ? ये न लक्ष्यसिद्धि के लिए है, न ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी है, न निर्वेद, वैराग्य, ज्ञान, उपशम और निर्वाण की ओर ले जाने वाली है। वाष्कलि और वाध्व के उदाहरण में 'उपशान्तोऽयमात्मा' के रूप में ही मालुक्य पुत्र 'तूष्णीं वभूव' को हम अनुमानित कर सकते हैं।

बुद्ध उपनिषदों की ओर देखते हैं, उपनिषदें[59] लौट कर बुद्ध की ओर आती हैं। ऐसा यह विचित्र संयोग हुआ है। तत्व ज्ञान और नीति में बुद्ध और उपनिषदें एक समान मौन है, यह मौन ही भारतीय दर्शन का रहस्यमय उपदेश है। मौनाः हि भगवन्तस्तथागताः।' भगवान् बुद्ध के अनात्मवाद के आधार में यह धारणा है कि संसार में जितने भी पदार्थ हैं कोई भी पदार्थ नित्य तथा अकेला नहीं है, वे सभी मिश्रित तथा अनित्य हैं। इलियट[60] महोदय भी अपनी पुस्तक में 'आत्मा' की स्वीकृति के बिना बुद्ध विचारधारा के कर्मों के फलों पर आधारित पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्वीकृति की प्रतीति को कठिन बतलाते हैं क्योंकि वे कर्मों को ही स्कन्धों का आधार मानते हैं। बुद्ध के कथन में यह उक्ति कि मैं जो कहता हूँ वही सत्य है और अन्य झूठ 'इदमेव सत्यं मोघमन्यत्'[61] में उनके विचारों की मौलिकता का औषण मिलता है, किन्तु आत्मा के निषेध के विषय में उनका स्पष्ट न कहना ब्राह्मण विचारधारा के प्रेत्यसंज्ञानास्ति के प्रभाव को दर्शाता है।

(घ) भगवान् बुद्ध के ईश्वर सम्बन्धी विचार

भगवान् बुद्ध ने स्पष्टतया ईश्वर की स्वीकृति कहीं भी नहीं की। उनका अर्थ साक्षात्कार करके ज्ञान प्राप्ति से है। उन्होंने इस प्रश्न को औपनिषदिक तथा वैदिक

59. गौतम दी बुद्ध, पृ० 40, बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ० 456
60. हिन्दुइज्म तथा बुद्धिज्म, प्रथम भाग, पृ० 191-193
61. दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, भाग-2, पृ० 454

ग्रन्थों में ब्राह्मण विचारधारा में अनेक विद्वानों के आजीवन इसी में उलझे रहने पर भी परमार्थ तत्व की उपलब्धि के अभाव में बाह्याडम्बर तथा स्तवन आदि के रहस्य को स्वयं अवगत कर तात्कालीन 6 विशेष धर्म प्रवक्ताओं को टटोला किन्तु उन्हें सामान्य सिद्धि तक ही देख, जान, समझ कर सबको पीछे छोड़ दिया और स्वयं ही अपना मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने ब्रह्म या ईश्वर नाम से कुछ भी न कह कर कहा कि यह धर्म ऐसा है—"वत्स ! यह धर्म गम्भीर, दुर्दश्य, दुरनुबोध, शान्त, प्रणीत, उत्तम, तर्क का अविषय निपुण पण्डित वेदनीय है। यह धर्म अन्य दृष्टिक (दूसरे मत का आग्रह रखने वाले), अन्य क्षान्तिक, अन्य रुचिक, अन्यत्र योग (सम्बन्ध), अन्यत्र आचार्यक दूसरी जगह के ज्ञान वाले, तेरे लिए दुर्ज्ञेय है।"

साधु भिक्षुओ[62] ! तुम्हें समयान्तर में नहीं तत्काल यहीं दिखाई देने वाले, विज्ञों द्वारा अपने आप में जानने योग्य इस धर्म के पास उपनीत किया है। यह धर्म समयान्तर में नहीं, तत्काल फलदायक है। इसका परिव्यय यहीं दिखाई देने वाला है। यह विज्ञों द्वारा अपने आप में जानने योग्य है, यही कारण है।

महात्मा बुद्ध अनीश्वरवादी[63] थे। ईश्वर विषयक प्रतिपादन में हमें उनके ग्रन्थों में उचित सामग्री उपलब्ध नहीं होती। वस्तुतः वे अनजाने अनसुने ईश्वर को इस रूप में नहीं मानते थे जैसे कि ब्राह्मण विचारधारा में मान्य है। इस विषय के विवेचन से पूर्व महात्मा बुद्ध द्वारा उपदिष्ट कतिपय प्रसंगों को उद्धृत कर विवेचन करना समीचीन होगा। यथा दीर्घ निकाय के तेविज्जसुत्त[64] में गौतम बुद्ध ने यह स्वीकार किया है कि वाशिष्ट तथा भारद्वाज माणवक दोनों भगवान् बुद्ध के समीप पहुँचे और सम्मोदन कर कहा—'हे गौतम ! मार्ग-अमार्ग के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण तैत्तिरीय ब्राह्मण, छान्दोग ब्राह्मण, छन्दावा ब्राह्मण, ब्रह्मचर्य ब्राह्मण अन्य-अन्य ब्राह्मण नाना मार्ग बतलाते हैं। तब भी वह (वैसा करने वाले को) ब्रह्मा की सलोकता को पहुँचाते हैं। जैसे हे गौतम ! ग्राम या निगम के अदूर में बहुत से नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राम में ही जाने वाले होते हैं। ऐसे ही हे गौतम ! ब्राह्मण नाना मार्ग बतलाते हैं, ब्रह्मा की सलोकता को पहुँचाते हैं।

गौतम ने वाशिष्ट से कहा ! क्या त्रैविद्य (तीनों वेदों के ज्ञाता) ब्राह्मणों में, उनके आचार्य, प्राचार्यों में आचार्यों की सातवीं पीढ़ी तक में कोई है ? जिसने ब्रह्मा को अपनी आंख से देखा हो ? 'क्या वाशिष्ट ! जो त्रैविद्य ब्राह्मणों के पूर्वज, मन्त्रों के कर्ता, मन्त्रों के प्रवक्ता ऋषि थे जिनके गीत, प्रोक्त, समीहित पुराने मन्त्र पद को आजकल त्रैविद्य ब्राह्मण अनुगान, अनुभाषण करते हैं, भाषित को अनुभाषण करते

62. म० नि० महातण्हा संखय सुत्त, पृ० 159
63. बौद्ध दर्शन-मीमांसा, पृ० 89
64. तेविज्जसुत्त दीर्घनिकाय, बु० च०, पृ० 190

हैं, बाचे को अनुवाचन करते हैं, जैसे कि अट्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भारद्वाज, वसिष्ठ, कश्यप, भृगु। उन्होंने भी क्या यह कहा—जहां ब्रह्मा है, जिसके साथ ब्रह्मा है, जिस विषय में ब्रह्मा है, हम यह जानते हैं, हम यह देखते हैं। 'नहीं हे गौतम ? इस प्रकार वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मणों में एक ब्राह्मण भी नहीं जिसने ब्रह्मा को अपनी आंख से देखा हो, आचार्य, प्राचार्य, सात पीढ़ी जिसको न जानते हैं, न देखते हैं उसकी सलोकता के लिए हम मार्ग उपदेश करते हैं। यही मार्ग ब्रह्म सलोकता के लिए जल्दी पहुँचाने वाला है, तो क्या मानते हो वाशिष्ट ! क्या ऐसा होने पर त्रैविद्य ब्राह्मणों का कथन अप्रामाणिकता को प्राप्त नहीं हो जाता।

भगवान् बुद्ध ने वाशिष्ट को सम्बोधित करते हुए कहा कि हे वाशिष्ट ! त्रैविद्य ब्राह्मण बेरास्ते जा फंसे हैं, फंसकर विषाद को प्राप्त हैं, सूखे में मानो तैर रहे हैं। इसलिए त्रैविद्य ब्राह्मणों की त्रिविद्या मरुभूमि (कांतार) भी कही जाती है, विपिन भी कही जाती है, कसन भी कही जाती है। ब्रह्म निमन्तक[65] सुत्त में बक ब्रह्मा को अपने लोक के विषय में एक बुरी धारणा हो गई थी, 'यह ब्रह्म लोक नित्य है, ध्रुव, शाश्वत, केवल (शुद्ध), अ-च्वन-धर्मा (जहां से च्युति नहीं होती) है, यह न जन्मता है, न जीर्ण होता है, न मरता है, न च्युत होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (निकलने का स्थान) नहीं है।' तब भिक्षुओ ! मैं चित्त से बक ब्रह्मा[66] के चित्त की बात जानकर, जैसे बलवान् पुरुष (अप्रयास) अपनी फैलाई बांह को समेट ले, या समेटी को फैलादे, ऐसे ही उकट्ठा के सुभग वन में शालराज के नीचे अन्तर्धान हो उस ब्रह्म लोक में (जाकर) प्रकट हुआ। 'भिक्षुओ ! बक ब्रह्मा ने दूर से ही मुझे आते देखा। देख कर मुझ से यह कहा—'आओ मार्ष ! स्वागत, मार्ष ! चिरकाल के बाद मार्ष ! यहां आना हुआ। मार्ष ! यह नित्य है—इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है।' 'भिक्षुओ ! ऐसा कहने पर मैंने बक ब्रह्मा को यह कहा—'अविद्या में पड़ा है, अहो ! बक ब्रह्मा, अविद्या में पड़ा है, अहो ! बक ब्रह्मा, जो कि अनित्य होते को नित्य कहता है—इससे आगे (बढ़कर) दूसरा निस्सरण होते भी, इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है—कहता है।' तब भिक्षुओ ! पापात्मा मार एक ब्रह्म-पार्षद के (शरीर के) भीतर प्रविष्ट हो मुझ से बोला—'भिक्षु ! भिक्षु ! मत इन (ब्रह्मा) को अपमान करो, मत इनका अपमान करो। भिक्षु ! यह ब्रह्मा है, महाब्रह्मा, अभिभू, अन्-अभिभूत, वशवर्ती, ईश्वर, सृष्टि कर्ता, निर्माता, श्रेष्ट, स्रष्टा, वशी, भूत-भव्य प्राणियों के पिता हैं।

भिक्षु ! तुझसे पूर्व भी लोक में पृथ्वी, जल, तेज, वायु, भूत, देव, प्रजापति

65. मज्झिम निकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० 162
66. ब्रह्मनिमन्तक-सुत्त, मज्झिम निकाय (हिन्दी) पृ० 197-199

निन्दक, श्रमण ब्राह्मण हुए हैं, वे काया छोड़ प्राण के विच्छेद होने पर हीन काया में प्रतिष्ठित हुए। मैंने पापात्मा मार को कहा—'पापी! मैं तुझे जानता हूँ, मत समझ कि मैं तुझे नहीं जानता। जो ब्रह्मा है, ब्रह्म-परिषद् है, सभी तेरे वश में हैं। ऐसा कहने पर बक ब्रह्मा ने मुझे यह कहा—मार्ष! मैं नित्य होते ही को नित्य कहता हूँ। जितनी तेरी सारी आयु है, उतना उनका तप-कर्म था। इस पर मैंने ब्रह्मा से कहा कि मैं तेरी गति जुति को जानता हूँ। ऐसा महर्द्धिक—। ब्रह्मा! और भी तीन काय (लोक-समूह) हैं, जिन्हें तू नहीं जानता देखता, (किन्तु) मैं उन्हें जानता देखता हूँ। ब्रह्मा! आभास्वर नामक (देव) काय है, जहां से च्युत होकर कि तू यहां उत्पन्न हुआ। चिरकाल तक (यहां के) निवास से तुझे उसका स्मरण नहीं, जिससे तू उसे नहीं जानता, देखता (किन्तु) उसे मैं जानता देखता हूँ। इस तरह भी ब्रह्मा! अभिज्ञा (ज्ञान) में मैं तेरे बराबर नहीं हूँ बल्कि तुझ से बढ़ कर हूँ, कम कहां से हूँगा। ब्रह्मा! शुभकृत्स्न नामक (देव) काय भी है,—। ब्रह्मा! वृहत्फल नामक (देव) काय भी है—बल्कि तुझ से बढ़ कर हूँ। ब्रह्मा! मैं पृथ्वी को पृथ्वी के तौर पर जानकर, जो (निर्वाण) पृथ्वी के पृथ्वीत्व से परे है, उसे भी जानकर, मैंने (तृष्णा की दृष्टि, या मान के ग्रहण से) पृथ्वी को नहीं (पकड़ा) था, पृथ्वी का नहीं था, पृथ्वी से नहीं था, पृथ्वी मेरी है (यह मुझे) नहीं हुआ, पृथ्वी का अभिवादन (प्रशंसा) मैंने नहीं किया। तब बक ब्रह्मा ने श्रमण गौतम को अंतर्धान करने के लिए दृढ़ मनोबल को लगाया, किन्तु ऐसा न होने पर मैंने इस प्रकार का ऋद्धि बल प्रयोग किया, कि जिससे ब्रह्मा, ब्रह्म-परिषद् और ब्रह्म-पार्षद मेरे शब्द को सुनते थे, किन्तु मुझे देखते न थे, और अंतर्धान हुए मैंने यह गाथा कही—'भव (संसार) में भय को देखकर, और भय को विभव का इच्छुक (देख), मैंने भय का स्वागत नहीं किया और नन्दी (तृष्णा) को नहीं स्वीकार किया।

भगवान् बुद्ध ने अपने धर्म को गम्भीर,[67] दुर्दृश्य, दुर् अनुबोध (दुर्ज्ञेय), शान्त, प्रणीत (उत्तम), तर्क का अविषय, निपुण (सूक्ष्म) पण्डित-वेदनीय (पण्डितों द्वारा जानने लायक) कहा है। वत्स! यह (धर्म) अन्य दृष्टिक, अन्य-क्षान्तिक, अन्यत्र-योग तेरे लिये दुर्ज्ञेय है। इस प्रकार कहते हुए उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को ही अपना विचार निर्दिष्ट किया, जिसको हम इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। भगवान् बुद्ध ने मुख्य अतियों से बचकर अपने सम्यक् दर्शन को प्रस्तुत किया, उन्हें संक्षेप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) सब्बं अत्थि—सब है—नित्यतावादी मत।

(2) सब्बं नत्थीति—सब नहीं है—अनित्यतावादी मत।

---

67. अग्गिवच्छगोत्त-सुत्त, मज्झिम-निकाय, पृ० 285

(3) सब्बे पुब्बेकतहेतू—सब पूर्वकृत हेतुओं के कारण है, चाहे वह हेतु ईश्वर हो, या भाग्य या काल या अन्य कोई !

(4) सब्बे अहेतू अप्पच्चया—सब का कोई हेतु या प्रत्यय नहीं है ।

(5) सुखदुक्खं सयं कतं—सुख-दुःख स्वयंकृत हैं ।

(6) सुख दुक्खं परं कतं—सुख-दुःख पर कृत हैं ।

प्रतीत्य समुत्पाद[68] (पालि, पटिच्चसमुप्पाद) का अर्थ है प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम—प्रतीत्य (इसके होने से) समुत्पाद (यह उत्पन्न होता है) इस सम्बन्धी ज्ञान। इसी परिभाषा में यह भी सम्मिलित है कि इसके न होने से यह नहीं होता, इसके निरोध से यह भी निरुद्ध हो जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद में 'प्रत्यय' शब्द अत्यन्त सार्थक है। इसलिये प्रतीत्य समुत्पाद का तात्पर्य केवल उत्पत्ति मात्र नहीं है। 'न उप्पादमत्तं पटिच्च समुप्पादों'। केवल उत्पत्ति मात्र का ज्ञान प्रतीत्य समुत्पाद नहीं है। प्रत्येक उत्पाद (उत्पत्ति) का कोई प्रत्यय, कारण, हेतु है, यह प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है। जिसके होने से जो अन्य वस्तु हो, तो वह पहली वस्तु उस दूसरी वस्तु का प्रत्यय कहलाती है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु का अवश्यम्भावी रूप से आश्रय लेकर स्थित होती है या उत्पन्न होती है, तो वह (दूसरी वस्तु) उस (पहली वस्तु) का 'प्रत्यय' कहलाती है। उपकारक या सहायक होना ही प्रत्यय होने का लक्षण है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की स्थिति या उत्पत्ति में उपकारक या सहायक हो, तो वह उसका 'प्रत्यय' कहलाती है। इसलिये प्रत्यय-सामग्री के हेतु से ही, उसके बिना नहीं, जो धर्मों (पदार्थों) का स्थिति से आना है, वह प्रतीत्य समुत्पाद है। उत्पत्ति न स्वतः होती है और न बिना हेतुओं के ही, बल्कि वह प्रत्ययों के आश्रय से ही या उनके साथ ही होती है, यही प्रतीत्य समुत्पाद सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रस्थान-बिन्दु है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, समुदय और उद्‌भव आदि शब्द इस प्रसंग में समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं।

अनीश्वरवाद

बुद्ध मत में समस्त चराचर जगत् प्रतीत्य समुत्पन्न है। हेतु और प्रत्ययों की अपेक्षा करके ही समस्त धर्मों की धर्मता स्थित है। इसलिए इस नय में ईश्वर ब्रह्मा आदि कल्पित कारकों का प्रतिषेध है। ईश्वरवादी कहता है कि अभिमत वस्तु के साधन के लिए जो वस्तु स्थित्वा-प्रवृत्त होती है, वह किसी बुद्धिमत्कारण से अधिष्ठित होती है, जैसे—द्वैधीकरण के लिए कुठारादि। कुठारादि स्वयं प्रवृत्त नहीं होते, स्वयं प्रवृत्त हों तो कभी व्यापार-निवृत्त न हो स्थित्वा-प्रवर्तन सर्वाभिमत है, इसलिए कोई प्रवर्तक भी होना आवश्यक है। घटादि वस्तुओं की अर्थक्रियाकारिता

68. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० 374

भी चेतनावत् प्रेरित होने से ही है। सिद्धान्ती[69] कहता है—मुझे इसमें इष्ट-सिद्धि है, क्योंकि इससे ईश्वर नहीं सिद्ध होता। सिद्धान्त में चेतना रूप कर्म स्वीकृत है और उससे समस्त पदार्थ अधिष्ठित हैं। 'कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत्। इसका आशय है कि लोक वैचित्र्य केवल कर्म से नहीं प्रत्युत ईश्वर-प्रेरित धर्माधर्म से है और आप लोक का ईश्वराधिष्ठितत्व नहीं मानते, अतः आपके पक्ष में इष्ट-सिद्धि नहीं है। परन्तु सिद्धान्त में जब चेतनारूप कर्म स्वीकृत है, तब चेतनान्तर का मानना व्यर्थ है। यदि अन्य चेतनावत् का कर्तृत्व मानें भी, तो घटादि ईश्वर-कारक सिद्ध नहीं होते, क्योंकि कुलालातिरिक्त ईश्वर की कारणता मानने का कोई प्रयोजन नहीं है। अन्यथा विपक्षी को ईश्वर के लिए भी ईश्वरान्तर मानना पड़ेगा। यदि अज्ञता के कारण कुलालादि की प्रवृत्ति ईश्वर प्रेरित मानें और तज्ज ईश्वर की प्रवृत्ति स्वयम्, तो यह भी मानना पड़ेगा कि सुखदुःखोत्पाद में सर्वथा असमर्थ अज्ञ जीव को ईश्वर-प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक भोगना पड़ता है। इस प्रकार ईश्वर वैषम्य-नैर्घृण्य दोषों से ग्रस्त होगा।

यदि यह मानते कि ईश्वर तत्कार्याधिष्ठित होकर ही सम्पूर्ण कार्य स्वयं कराता है तो वह जीव पाप, अधर्म क्यों करेगा तो ईश्वर अपनी असमर्थता के कारण जीवों को पाप कर्म से हटा नहीं पाता तो वह सर्व कर्तृत्व युक्त नहीं हो सकता। तो ईश्वर के बिना भी लोग दुष्कर्म में प्रवृत्त होने का फल भोग लेते हैं तो ईश्वर की नई मान्यता क्यों ? और जैसा कतिपय विद्वान् कहते हैं वह ईश्वर क्रीड़ा मात्र के लिए सृष्टि को रचता है तो उस एक की क्षणिक तृप्ति हेतु अनेकों का जीवन क्यों ? यदि वेदादि के अनुसार सभी शास्त्र ईश्वरकृत है तो दान इत्यादि के द्वारा भी उनके उपदेशों की सत्यासत्यता का निर्णय किस प्रकार हो सक्ता है और यदि मान लें कि दान इत्यादि का अनुमोदन करने वाले शास्त्र पश्चात् कालीन हैं तो वह उसके समान अन्य की भी रचना कैसे कर सकता है और ईश्वर को भी प्राणियों के धर्माधर्म से प्रेरित होकर ही समस्त पदार्थों की उद्भावना करनी पड़े तो ईश्वर की कल्पना की कोई उपयोगिता नहीं है क्योंकि पापपुण्य की प्रेरणा से तो प्राणी स्वयं ही यह कर ही सकेगा। यदि जीव में ही इन सब पदार्थों का कर्तृत्व मान लें तो एक जीव के द्वारा यह सम्भव नहीं और अगर सर्व जीवों के द्वारा ही सर्वकर्तृत्व मान लें तो असम्भावना ही प्रतीत होती है अतः सर्वकर्तृत्व तो एक में ही मानना पड़ेगा। किन्तु यदि वह सर्वज्ञ होते हुए भी सर्व पूज्य तो हो नहीं सकता अतः पहले सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व सर्वोपकारित्व ये गुण मानने होंगे क्योंकि सर्वकर्तृत्व व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता परन्तु सब कार्यों में असर्वज्ञ का ही सर्व कर्तृत्व देखा जाता है। अतः सर्व कर्तृत्व से सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती। फिर अपने कार्य के प्रति कुलालादि में अज्ञता ही कहां,

69. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० 241

जिससे ईश्वर की आवश्कता पड़े और यदि सुविज्ञ कुलाल में भी ईश्वर की प्रेरणा बिना कोई क्षमता नहीं तो फिर ईश्वर को भी अपने कार्य में अन्य की प्रेरणा की आवश्यकता होगी।

ईश्वरवादी जागतिक विशिष्टताओं की रचना में ईश्वर को उपादानकारण मानता है तथा उसी की निर्मिति की इच्छा से; किन्तु वृक्षादि की उत्पत्ति में बीजादि कारणों को विशेष महत्व देता है क्योंकि कुलाल भी मृत्तिका को तो उत्पन्न नहीं कर सकता वह तो मृत्तिका से ही पात्र बना सकता है। यदि वटवृक्ष में स्वयं वटवृक्ष की वर्ण संस्थान रूपता नहीं है तो अन्यत्र कहाँ से वह आयेगा और यदि उसे ईश्वर उत्पन्न करता है तो वह बीजातिरिक्त से उत्पन्न क्यों नहीं करता इसलिए निश्चित है कि वृक्ष बीज में निहित वृक्ष संस्थान आविभूँत होता है। जैसे प्रदीप से अन्धकार स्थित पदार्थ। इस प्रकार कुलाल के द्वारा मृत्पिण्ड से ही संस्थान आविभूँत हो गई है। कुलाल पुरुष केवल साक्षीरूप से ही उसका उपयोक्ता बनता है जैसे पुरुषों की भोगसिद्धि के लिए प्रधान की प्रवृत्ति तथा सामाजिकों के लिए नट की रंग क्रिया की। इस प्रकार सुखाद्यर्थित्वरूपेण सकल की कारणता है। इसी से कार्यपरिसमाप्ति है। ईश्वर की आवश्यकता नहीं।

बौद्धों का अनीश्वरवाद आत्मविश्वास का उद्‌बोधक है ऐसा कथन ब्राह्मण विचारधारा की इस भावना पर आधारित है वहाँ मानव प्रत्येक क्षेत्र में कर्तव्याकर्तव्य का पूर्ण भार उस ब्रह्म पर छोड़ कर स्वयं अकर्मण्य, अतत्पर, अनेकाग्र होकर अपने में अनात्मविश्वास को मानता हुआ जीवन पथ में बढ़ता है। भगवान् बुद्ध ने इन गुणों को अच्छी प्रकार से जान कर उस ईश्वर को अव्याकृत माना है। वस्तुत:[70] वे अनीश्वरवादी थे। ईश्वर के कर्तृत्व के विषय में उन्होंने पाथिक सुत्त (दीर्घनिकाय 3/1) में उपहास किया है। उस परमेश को एक सामान्य देव के समान वर्णित करते वृए उन्होंने केवट सुत्त में विशद तथा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। वे पूर्ण देव भी इन महाभूतों के निरोध के विषय में उन्हीं सामान्य देवताओं के समान कुछ भी ज्ञान नहीं रखते हैं। इस विषय के वर्णन में एक समय भिक्षु संघ के एक भिक्षु के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि ये चार महाभूत-पृथ्वी, अप्, तेज और वायु किस चरम पर पहुँच कर विलीन या निरुद्ध हो जाते हैं। समाहित चित्त होने पर देवलोक गामी मार्ग उनके समक्ष प्रकट हुए। वह भिक्षु वहाँ गया जहाँ चातुर्महाराजिक देवता रहते हैं। वहाँ उनके उन देवताओं से महाभूतों के एकान्त निरोध के विषय में पूछने पर अज्ञानता ही मिली तथा उन्होंने भी अपने से बड़े चार महाराजा नामक देवताओं तदुपरान्त त्रायस्त्रिंश, देव शक्र, याम, सुयाम, तुषित, संतुषित, निर्माणरति तथा

70. बौद्ध धर्म मीमांसा, प्रो० बलदेव उपाध्याय, पृ० 89

ब्रह्मकायिक देवता ने भी अपने से बड़े ब्रह्मा, महाब्रह्मा, विजयी, अपराजित, वशी, ईश्वर, कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ तथा अहम्मन्यता पूर्ण महा ब्रह्म भी प्रकट हुए किन्तु उन्होंने भिक्षु से कहा—भिक्षु ! ब्रह्म लोक के देवता मुझे सर्वज्ञ समझते हैं कि इन से कुछ अज्ञात नहीं है, अदृष्ट, अविहित, साक्षात्कृत नहीं है। तुमने बड़ी भूल की कि भगवान् बुद्ध को छोड़ कर इस प्रश्न के उत्तर के लिए मेरे पास आए। देवता मुझे सर्वज्ञ बतलाते हैं किन्तु मुझ में सर्वज्ञता नहीं है। तब भगवान् बुद्ध ने उस भिक्षु को उपदेश दिया कि जहां अनिदर्शन (उत्पत्ति-स्थिति-लय से विरहित) अनन्त और अत्यन्त प्रभायुक्त निर्वाण है, वहीं चारों भूतों का बिल्कुल निरोध होता है। भगवान् बुद्ध ने दीर्घ निकाय के समन फलसुत्त में वर्णित समकालीन धर्म गुरुओं तथा पुराण-कस्सप, मक्खली गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रकुध कात्यायन, संजय बेलट्ठि पुत्र तथा निगंठ नाथ पुत्र एवं अन्य ब्राह्मण विचारधारा वालों का विरोध किया। उनके उपदेश,[71] कार्य तथा विनय अन्य धर्मगुरुओं से भिन्न थे।

भगवान् बुद्ध ने कहा—ब्राह्मणों के ऋषियों के द्वारा प्रमाणित धर्म भी अप्रामाणिक हैं क्योंकि वे भी अनभिज्ञ हैं। ब्राह्मणों में पांचनीवरण कामच्छन्द आदि बन्धन स्वभाव से प्राप्त होते हैं अतः वे धर्म से दूर हैं। इन ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि अट्टक, वामदेव आदि ने क्या कभी ईश्वर को देखा है तथा उन त्रैविद्य ब्राह्मणों के द्वारा सलोकता की प्राप्ति अन्धवेणु परम्परा ही है जैसे किसी अज्ञात कुल की सुन्दरी को बिना देखे उसकी प्राप्ति की कल्पना करें। भगवान् बुद्ध बुद्धिवादी थे। कतिपय विद्वान् उन्हें भौतिकवादी[72] मानते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है वे कर्म, पुनर्जन्म में पूर्ण आस्था रखते थे और भौतिकवाद को अपने ब्रह्मचर्य धर्म तथा समाधि के लिए बाधक मानते थे जैसा कि उन्होंने अगुत्तर निकाय में कहा है कि—'वही जीव है, वही शरीर है, दोनों एक हैं ऐसा मत होने पर ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता। जीव दूसरा है, शरीर दूसरा है ऐसा मत होने पर भी ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता। उन्होंने अपने वचनों को भी तर्क तथा बुद्धि के द्वारा ग्राह्य होने पर ही मानने का उपदेश दिया है। वे ईश्वर को न जगत् का कर्ता मानते थे और न उसकी सर्वज्ञता में ही आस्था रखते थे, वे पक्के अनीश्वरवादी थे।

(ड) श्रुति ग्रन्थों का उन पर प्रभाव

ऋग्वेद में 'द्वा सुपर्णा' मंत्र से ईश्वर और जीव का भेद स्पष्ट रूपेण प्रतिपादित

71. हिस्ट्री एण्ड डोक्ट्रिन आफ दी आजीविकाज, बी० एल० बाशम, पृ० 10
72. अंगुत्तर निकाय, पृ० 31 (बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 92)

किया गया है। उसी को यजुर्वेद में निर्गुण रूप से वर्णित किया है यथा उसकी प्रतिमा नहीं है वह अपापविद्ध, शरीर रहित कवि, मनीषी परिभूः स्वयंभू है परमसत्ता में निराकार, अकाय तथा अव्रण, दूर भी और पास भी, चलता भी है, नहीं भी, और सबके बाहर-भीतर व्याप्त है। समूचे देवों के समष्टि रूप प्रजापति और हिरण्यगर्भ को माना है 'पुरुष एवेदं सर्वं' में अद्वैतवाद की पुष्टि है जिसका पोषण अनेक बार बृहदारण्यकोपनिषद् में 'ब्रह्मैवेदंसर्वम्' में प्रतिध्वनित है। ब्रह्म शब्द का ऋग्वेद में प्रयुक्त सायण द्वारा अर्थ का उपयुक्त अर्थ उपनिषदों में लिया जाता है—वहां ब्रह्म का अर्थ भोज्यान्नया भोज्यहवि, सामोद्गाता के मंत्र, इन्द्रजाल के सिद्धान्त या पाठ, यथा विधि सम्पन्न संस्कार आदि से यह वृहत् है ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में भौतिक ब्रह्माण्ड को उसी की महिमा बताया है और अथर्व वेद में उच्छिष्ट तथा स्कम्भ को भी ब्रह्म का अभिधान दिया है। इनमें परम तत्व की व्यापकता के साथ-साथ सर्वाश्रयता का प्रबल उद्घोष है। द्यावा पृथ्वी का धारणकर्ता स्कम्भ है। स्कम्भ तथा आत्मा की एकता भी यहाँ प्रतिपादित की गई है।

संसार में दुःखमय[73] जीवन का कारण तृष्णा या काम है। काम की समुद्र के साथ उपमा देते हुए उसे ऐसा समुद्र बतलाया है जिसके अन्त का पता नहीं, जिसके अन्दर जगत् के समग्र पदार्थ लीन हो जाते हैं। अथर्ववेद[74] के काम सूक्त में काम का विशेष प्रभाव वर्णित किया गया है क्योंकि सबसे पहले काम ही उत्पन्न हुआ, इसके रहस्य को न देवों ने पाया और न पितरों ने, न मर्त्यों ने, इसी कारण काम तुम सबसे महान् हो। काम अग्नि[75] रूप है, जिस प्रकार अग्नि सकल पदार्थों को भस्मीभूत कर देता है उसी प्रकार काम भी प्राणियों के हृदय को कामाग्नि से जलाता है। बौद्ध दर्शन में काम की विजय मार विजय के नाम से प्रसिद्ध है। मार का विभिन्न प्रकार से भगवान् बुद्ध पर प्रहार वर्णित है जैसे ब्रह्म निमन्तन[76] सुत्त में ब्रह्मा के पार्षद के रूप में उन्होंने ब्रह्मा की प्रशंसा और उनका ईश्वर के रूप में वर्णन करते हुए बुद्ध को हीन दिशा प्राप्त करने का वर्णन किया है वहाँ भी भगवान् बुद्ध ने ब्रह्मा के ज्ञान को अपने ज्ञान से अल्प दर्शाते हुए ब्रह्मा के भ्रम का निराकरण किया है। अन्य ग्रन्थों में भी मार के साथ वार्तालाप तथा विरोध के उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जहां कि उन्होंने अपने ज्ञान के योग बल से अज्ञेय काम पर विजय प्राप्त की थी

---

73. समुद्र इव हि काम, नहि कामस्यान्तोऽस्ति। तै० ब्रा० 2।2।5।6
74. कामो जज्ञेप्रथमं नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
    ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महास्तस्मै ते काम—। अथर्व०
75. यो देवो (अग्निः) विश्वात् यं तु काममाहुः। अथर्व०
76. म० नि०, ब्रह्म निम्नन्तन सुत्त,

जोकि वैदिक ऋषियों के समान ही वर्णित है क्योंकि वैदिक ऋषि भी उस ब्रह्म ज्ञानके लिए ब्रह्मचर्य के महत्व को समझते हैं। इस ब्रह्मचर्य के महत्व के विषय को मेरी पुस्तक ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियों का दार्शनिक विवेचन में पढ़िए। उपनिषदों में भी उस ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य की अनिवार्यता (नैतदचीर्णव्रतोऽधीते[77]) के द्वारा प्रदर्शित की है। भगवान् बुद्ध ने उपनिषदों से ब्रह्मचर्य की महिमा के सिद्धान्त को ग्रहण कर नवीन रूप प्रसारित किया। उनकी दृष्टि में आत्मा का अस्तित्व मानना ही सब अनर्थों का मूल है। आत्मा के रहने पर अहम् भाव का उदय होता है और काम की उत्पत्ति इसी राग पर आधारित है। राग के आधाररूप आत्म तत्व के अभाव में राग किस से किया जाए, इस प्रकार बुद्ध ने काम के आधार भूत, तत्व, आत्म तत्व का निषेध किया और साथ ही उपनिषदों में प्राप्त महती विचिकित्साओं तथा वेदों में वर्णित शंकाओं और संदेहों के जाल में फंसे हुए समाज को केवल उस ब्रह्म के आधार पर अवलम्बित होकर अकर्मण्य होने से बचाने के लिए अनीश्वरवाद को स्थापित किया।

भगवान् बुद्ध ने अपनी विचारधारा के गुणों का वर्णन सुत्तनिपात[78] में अच्छी प्रकार से किया है। जैसे धर्मों की परीक्षा के बाद (मैं जैसा) मुक्त पुरुष किसी मत को नहीं अपनाता। दृष्टियों के दुष्परिणाम को देखकर उनमें आसक्त न हो मैंने आध्यात्मिक शान्ति की गवेषणा की और उसे पाया। पुनः मागन्दिय के यह पूछने पर कि विज्ञानियों ने आध्यात्मिक शान्ति को किस प्रकार प्रकट किया तो भगवान् बुद्ध ने कहा कि न तो दृष्टि से, न श्रुति से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से और न अश्रुति से, अज्ञान से, अशील से और अव्रत से ही शुद्धि कही गई है। इनका त्याग कर, इनमें आसक्त न हो, शान्त पुरुष कहीं भी लिप्त न हो पुनर्जन्म की इच्छा न करे।

उन्होंने आनन्द को समझाते हुए कहा कि आनन्द ! क्या तुम मानते हो ? कि मैंने जिन धर्मों को साक्षात्कार कर उपदेश दिया है जैसे कि (1) चार स्मृति प्रस्थान (2) चार सम्यक् प्रधान (3) चार ऋद्धिपाद (4) पांच इन्द्रियां (5) पांच बल (6) सात बोध्यंग (7) आर्य अष्टांगिक मार्ग। तो क्या इन धर्मों में दो भिक्षुओं को भी अनेक मत दीखते हैं। उन्होंने मनुष्य के आचरण पर बल देते हुए सुन्दरिक से कहा कि जाति मत[79] पूछ, आचरण पूछ और पुनः समझाया कि ब्राह्मण ! लकड़ी जला कर शुद्धि मत जानो, वह बाहरी चीज है। कुशल पण्डित लोग उसे शुद्धि नहीं बतलाते, जोकि बाहर से (भीतर की) शुद्धि है। ब्राह्मण मैं दारुदाह छोड़, भीतर ही ज्योति जलाता हूं। नित्य आग वाला हूं, नित्य एकांत चित्त वाला हो, मैं ब्रह्मचर्य का

77. मु० उ०, 3।2।11
78. सुन्दरिक भारद्वाज-सुत्त, सुत्तनिपात
79. मागन्दिय सुत्त। 3-4, सुत्तनिपात

पालन करता हूँ। ब्राह्मण ! तेरा अभिमान खरिया का भार है तो क्रोध धुआं है, मिथ्या भाषण भस्म है। जिह्वा स्रुवा है और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण शीलतीर्थ वाला, (घाट) वाला, संत जनों से प्रशंसित निर्मल धर्म ह्रद है। जिसमें वेदगू नहा कर बिना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। ब्रह्म श्रेष्ठ प्राप्त सत्य, धर्म, संयम ब्रह्मचर्य पर आश्रित है सो तू हवन समाप्त कियों, मुक्तों को नमस्कार कर उनको मैं दम्य सारथी कहता हूँ।

अस्ति नास्ति के बीच में उलझे हुए तात्कालीन समाज को विशुद्धि का मार्ग दर्शा कर भगवान् बुद्ध एक नवीन क्रान्ति लाये। इन विचारों को उन्होंने मूल वस्तु से भ्रमित होना ही बताया। यद्यपि उनके विचारों के व्याख्याकारों ने सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि सम्प्रदायों में अपने को बांट लिया। बुद्ध को उच्छेदवादी, अक्रियावादी, संदेहवादी और अविज्ञेयतावादी कहते हैं। उनके कथन का सार इस प्रकार उपस्थित कर सकते हैं—

'धर्म कुल्लूपम[80] (बेड़े के समान) तरने के लिए है, रखने के लिए नहीं।' उन्होंने विवाद को प्रश्रय नहीं दिया, वे कहते थे कि ज्ञानी किसी मत के प्रति पक्षपाती न होने से विवाद नहीं करता।

'वह किसी ज्ञान या दृष्टि या विचार के कारण अभिमान नहीं करता और न वह उसमें लिप्त होता है। वह किसी कर्म विशेष या श्रुति के भी फेर में नहीं पड़ता, क्योंकि वह मतवादों के भी अधीन नहीं है।'• उनका विश्वास था कि सम्पूर्ण धार्मिक विवाद केवल तर्क बढ़ाने के लिए हैं कोई सच्चा निष्कर्ष इनसे नहीं निकलता। उन्होंने सुत्त निपात्त[81] में कहा है कि सेल बाह्मण तीनों वेदों, निघण्टु, कैटुभ, निरुक्ति आदि में निपुण होने पर भी यह नहीं जानता कि बुद्ध हैं या नहीं, वे अपनी प्रशंसा सुनकर अपने आप को प्रकट करते हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा कि मैं बह्मभूत[82] हूँ, अतुल्य हूँ और मार सेना का मर्दन करने वाला हूँ। मैं सब शत्रुओं को वश में करके बिना भय के प्रमोद करता हूँ। इस प्रकार बह्म भूत शब्द का तथा स्वाख्यात बह्मचर्य का वर्णन उन्होने कई स्थानों पर किया और अपने को त्रैविद्य बतलाया है। जो त्रैविद्य विशेषण बाह्मणों के लिए भी है, उसी त्रैविद्य से हम ब्रह्म ज्ञान के रूप में श्रुति ग्रन्थों के प्रभाव को पाते हैं।

---

80. म० नि०, पृ० 87
81. सेल सुत्त, सुत्तनिपात्त पृ० 123
82. बह्मभूतो अतितुलो, मारसेनप्पमद्दनो।
सब्बामित्ते वसी कत्वा, मोदामि अकुतोभयो ॥ सेल-सुत्त। 14 सु० नि०

(च) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

भगवान् बुद्ध के ईश्वर सम्बन्धी विचार तथा श्रुति ग्रन्थों का उन पर प्रभाव हम संक्षेप में इससे पूर्व भाग में विवेचित कर चुके हैं। यहां निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं। उपनिषदों में ब्रह्म को साक्षात् करने की तीव्र अभिलाषा जब साधक के मन में तीव्रतम हो जाती है तो वह उस ओर उन्मुख होता है क्योंकि उसको यह आशा है कि उसके दर्शन हो जाने पर हृदय की सभी ग्रन्थियां खुल जाती हैं, अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'[83] से तथा 'छिद्यते हृदयग्रन्थि' से ये सब परिणाम ग्रहण किए जा सकते हैं जिनका स्पष्ट प्रभाव भगवान् बुद्ध के ब्रह्मचर्य ज्ञान की प्राप्ति के बाद वे सदैव ऐसा ही कहते हैं कि जो करना था वह कर लिया, क्लेश क्षीण हो गए, अब मुझे कुछ करणीय नहीं है और मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा इत्यादि। यही विचार योग सूत्र (पातंजल) में 'क्षीणाक्षेत्तव्या:' में प्राप्त होते हैं। इस प्रकार भगवान् बुद्ध की भावना में यही साम्य है। केनोपनिषद् में देवों के स्वामी इन्द्र के सामने आने से पूर्व ब्रह्म विलीन हो गए 'तस्मात् तिरोदधे'। इस उपनिषद् में ब्रह्म को आध्यात्मिक, आधिदैविक भाव से समझाया गया है। यहां भी अत्यन्त उत्कट इच्छा होने पर ब्रह्म का दर्शन बिजली चमकने की भाँति झाँकी दिखला कर छिप जाता है इसी विचार की प्रतिछाया भगवान्[84] बुद्ध को बाल्यकाल में अपने पिता के उद्यान में बैठ कर शान्त चित्त से प्राप्त अनुभूति से की जा सकती है जो कि पुनः विलीन हो जाती है और जिसे वे कठिन तप आदि करने पर भी नहीं पाते हैं और अन्त में इसी एकाग्रता तथा मनोयोग के द्वारा उस ध्यान में लग जाने पर ही ज्ञान का प्रकाश और चार आर्य सत्यों का प्रकाश प्राप्त करते हैं, यही उनका धर्म है।

इसी प्रकार के क्षणिक दर्शन का वर्णन श्रीमद् भागवत[85] में प्राप्त होता है कि जब नारद उस विजन बन में पीपल के वृक्ष के नीचे आसन लगा कर महात्माओं द्वारा वर्णित स्वरूप का ध्यान करने लगे और भक्तिभाव विभोर होने से उनके नेत्र आसुओं से छल छला गए, हृदय में धीरे-धीरे भगवान् प्रकट हो गए। उनका हृदय शान्त और शीतल हो गया, आनन्दातिरेक में 'मैं' ध्येयवस्तु का तनिक भी ध्यान नहीं रहा। पुनः दर्शन न कर वे विह्वल हुए तो उन्हें गम्भीर वाणी में कहा—खेद है

83. मु० उ० 2।2।8

84. बु० च०, पृ० 29

85. ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा
औत्कण्ठ्याश्रुकुलाक्षस्य हृयासीन्मे शनैर्हरिः।
प्रेमातिभर निर्भिन्न पुलकांगोऽतिनिर्वृतः। आनन्द संप्लवे लीनो नापश्यमुभयंमुने ॥
भाग० 1।6।17, 18-19

कि इस जन्म में तुम मेरा दर्शन नहीं कर सकते, जिनकी वासनाएं पूर्णतया शान्त नहीं हुई है उन अधकचरे योगियों को मेरा दर्शन असम्भव है। निष्पाप बालक ! तुम्हारे हृदय में मुझे प्राप्त करने की लालसा—जाग्रत करने के लिए ही मैंने एक बार तुम्हें अपने रूप की झलक दिखाई है। इस प्रकार की अन्य धारणाएं भी गौतम के मन में भगवत्साक्षात्कार हेतु दृढ़ीभूत हो गई थी जिसके परिणामस्वरूप 'न ह्यध्रुवै.[86] प्राप्यते हि ध्रुवं तत्', 'नास्त्यकृत:[87] कृतेन' की विचारधारानुमोदित हो कर विज्ञान संस्कार तथा पंच स्कन्ध मात्र आदि में व्यक्त की गई है ब्राह्मण विचार-धारा में तप[88] और श्रद्धा के अभ्यास से ही शम दमादि साधनों से युक्त हो अमृत रूपी ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्म विद्यारूपी प्रसाद के आधार हैं तप, दम और कर्म, जिनका वर्णन केनोपनिषद् में प्राप्त होता है।

मज्झिम निकाय में गौतम ने प्रवचनों में अपने धर्म को गम्भीर, दुदर्श्य, दुरअनु-बोध, शान्त, प्रणीत उत्तम, तर्क का अविषय, निपुण, सूक्ष्म पण्डित वेदनीय कहा है। कठोपनिषद् में भी 'नैषातर्केण मतिरापेनया' यह निष्ठा तर्क से कभी नहीं मिल सकती। योग सूत्र को भावना से अनुप्राणित प्राप्ति के लिए हम मज्झिम निकाय के महावच्छ गोत्त सुत्त से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

'तो वत्स[89] ! तू दो आगे के धर्मों—शमथ (समाधि) और विपश्यना (प्रज्ञा, ज्ञान) की भावना (सेवन) कर। वत्स ! इन आगे के दो धर्मों—शमथ और विपश्यना की भावना करने से, यह तेरे लिये अनेक धातुओं के प्रतिवेध (तह तक पहुँचने) में (सहायक) होंगे। तब (यदि) तू वत्स ! चाहेगा कि—'अनेक प्रकार की ऋद्धियों को अनुभव करूं—एक होकर बहुत हो जाऊं, बहुत होकर एक हो जाऊं। प्रकट होऊं, अन्तर्धान होऊं, पार हो जाऊं, पर्वत को पार कर जाऊं, आकाश में चलने (जैसे भूमि पर) बिना लगे चलूँ, जल की भांति पृथ्वी में डूबूँ उतराऊँ, पृथ्वी की तरह जल में बिना भींगे जाऊं, पक्षियों की भाँति आकाश में आसन मारकर चलूँ, इतने महाप्रतापी महर्द्धिक चंद्र-सूर्य को भी हाथ से छूऊं, भीजूं, ब्रह्मलोकपर्यन्त (अपनी) काया को वश में रखूं। तो आयतन (आश्रय) होने पर तो वहाँ-वहाँ तू साक्षीभाव को प्राप्त होगा।

'तब (यदि) तू वत्स ! जो चाहेगा—'विशुद्ध अमानुष दिव्य श्रोत्र धातु (कान

---

86. कठ० उ० 1।2।9
87. मु० उ० 1।2।12
88. केन० 1।4।8
89. महावच्छ गोत्त सुत्त, म० नि०,

इन्द्रिय) से दूर नजदीक के दिव्य-मानुष दोनों प्रकार के शब्दों को सुनूं।' तो आयत होने पर वहाँ-वहाँ तू साक्षी-भाव को प्राप्त होगा।

मेरे विचार में भगवान् बुद्ध की 'त्रैविद्यत्व' की प्राप्ति ही मृत्यु से मुक्ति, ईश्वरत्व की प्राप्ति है, जैसा कि ब्राह्मण विचारधारा में देवता[90] भी मृत्यु से बचने के लिए त्रयीविद्या में प्रविष्ट हुए। वस्तुतः त्रैविद्य दैविक गुणों का पुंजीभूत रूप है इसकी प्राप्ति ही बौद्ध विचारधारा का लक्ष्य है? इस त्रैविद्य के विषय को संहिताओं तथा त्रिपिटक साहित्य से कतिपय उद्धरण देकर चरितार्थ किया जाता है।

श्रुति ग्रन्थों तथा त्रिपिटक साहित्य में त्रैविद्य का स्वरूप—इस प्रकार प्राप्त होता है। शतपथ[91] ब्राह्मण में समस्त भूतों को उसने त्रयीविद्या में देखा। इसी त्रैविद्य के विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में ओंकार का अर्थ भी ग्रहण किया गया है। वस्तुतः त्रैविद्य से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा पश्चात् में अथर्व वेद में प्रयुक्त ब्रह्म विद्या का ही ग्रहण होता है क्योंकि देवताओं का ज्ञान भी इन्हीं के ज्ञान तक सीमित रहा है और ब्राह्मणों का ज्ञान भी इसी त्रैविद्य में समाया है। कामों[92] के समर्थयिता को यदि कोई निन्दा करे तो उसका भी विनाश होता है ऐसा कह कर इस ओंकार से ही (ऋग्वेदादि रूप) त्रयीविद्या[93] की प्रवृत्ति का आभास मिलता है। ओंकार की उपासना से सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के अन्य स्थल भी छान्दोग्य में प्राप्त होते हैं जहां कि कहा गया है कि यह त्रयीविद्या हिंकार[94] है। ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु और आदित्य—ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें—ये प्रतिहार हैं। सर्प गन्धर्व और पितृगण—ये निधन हैं। यह सामोपासना सब में अनुस्यूत है। त्रयीविद्या हिंकार है। त्रयीविद्या अग्नि आदि का कार्य है—ऐसी श्रुति होने के कारण त्रयीविद्या अग्नि आदि सामोपासना के पश्चात् कही गयी है। सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ में होने के कारण त्रयीविद्या हिंकार है। उसके कार्य होने के कारण ये तीन लोक उसके पश्चाद्वर्ती है अतः ये प्रस्ताव हैं। उत्कृष्टता के कारण अग्नि आदि का उद्गीथत्व बतलाया गया है। त्रयीविद्या आदि ही सब कुछ

---

90. देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्। छा० उ० 1।4।2

91. सत्रय्याम् एव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्। श० ब्रा० 10।4।2।21-23

92. एवं यथाश्मनमाखणमृत्वा विध्वन्सत एवं हैव स विध्वंसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषो श्माखणः ।।छा० 1।2।8

93. तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति। छा० 1।1।9

94. त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयांसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम्। छा० 2।21।1

हैं, तथा त्रयीविद्या आदि दृष्टि से ही हिंकार आदि साम भक्तियों की उपासना करनी चाहिये ।

इसी त्रयीविद्या को तप्त[95] किया । तीनों वेदों[96] को क्रमशः मूर्ति, गति और तेज कहा गया है । उनका कथन है कि समस्त मूर्तियाँ ऋक् मन्त्रों से, गति यजु० से तथा समस्त तेज साम से उत्पन्न होता है । मर्त्य तथा अमर्त्य सभी वेद (त्रयीविद्या) से उद्‌भूत हैं अर्थात् जो मर्त्य है, जैसे मानव जाति इत्यादि वह भी त्रयीविद्या है । अतः त्रयीविद्या के अन्तर्गत मर्त्य और अमर्त्य दोनों ही आ जाते हैं ।

त्रिपिटक साहित्य में भी त्रैविद्य के सम्बन्ध में वर्णन प्राप्त होते हैं जैसे दीर्घ निकाय में 'तेविज्ज सुत्त' नाम से एक पूरा सुत्त ही वर्णित है जिसमें बाह्यणों को त्रैविद्य विशेषण दिया है और मज्झिम[97] निकाय के तेविज्जवच्छ गोत्त सुत्त में स्वयं को भी जो त्रैविद्य कहते हैं, यथार्थवादी बतलाया है । वत्सगोत्रपुण्डरीक परिव्राजक ने भगवान् से कहा--'सुना है भन्ते ! 'श्रमण गौतम सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं, निखिल ज्ञान-दर्शन का दावा करते हैं । चलते, खड़े, सोते, जागते निरन्तर सदा ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है । क्या भन्ते ! भगवान् के प्रति यथार्थ कहने वाले हैं, और भगवान् को असत्य, आभूत से निन्दा तो नहीं करते ? धर्म के अनुकूल वर्णन करते हैं ? कोई सह धार्मिक वाद का अ-ग्रहण, गर्हा तो नहीं होती ।'

'वत्स !—श्रमण गौतम त्रैविद्य (तीन विद्याओं का जानने वाला) है—ऐसा कहते हुए, मेरे बारे में यथार्थवादी होगा—(1) वत्स ! मैं जब चाहता हूँ, अनेक किये पूर्वनिवासों (पूर्वजन्मों) का स्मरण कर सकता हूँ, जैसे कि—एक जाति (जन्म)—। इस प्रकार आकार (शरीर आकृति आदि), नाम (उद्‌देश्य) के सहित अनेक पूर्वजन्मों को स्मरण करता हूँ । (2) वत्स ! मैं जब चाहता हूँ. अ-मानुष

आदि भगवान् बुद्ध द्वारा की गई त्रैविद्य की व्याख्या[98] इस प्रकार की जा सकती है । ब्राह्मण ! मैंने न दबने वाला वीर्य (उद्योग) आरम्भ किया था, (उस समय) मेरी

---

95. स एतां त्रयी विद्याम् अभ्यतपत् । छा० 4।17।1-3
त्रयो वेदा एते एव । वाग् एव ऋग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः । श० ब्रा० 14।4।3।12

96. तै० ब्राह्मण 3।12।9।1 ऋग्भ्यो जातम् सर्वशो मूर्तिम् आहुः सर्वागतिर याजुषी हैव शश्वत् । सर्व तेजः सामरूप्य ह शश्वत् ।। मूल सं० 3, पृ० 19
यश्च मर्त्यम् मरणधर्मकम् मनुष्यादि तद् अप्य् एतत् त्रयी भूतम् एव ।
अतो मर्त्या मृतात्मकं सर्व जगद् अत्रान्तर्भूतम् । मू० स० 3, पृ० 19, टि० 12

97. तेविज्जवच्छ गोत्त, म० नि० ।

98. म० नि०, पृ० 15

अमुषित स्मृति जागृत थी, (मेरा) शान्त काय अव्यग्र (असारब्ध) था, समाधिनिष्ठ-चित्त एकाग्र था। (1) सो मैं ब्राह्मण ? कामों से रहित बुरी बातों (अकुशलधर्मों) से रहित, विवेक से उत्पन्न स-वितर्क और स-विचार प्रीति और सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा। (2) (फिर) वितर्क और विचार के शान्त होने पर भीतरी शान्त तथा चित्त की एकाग्रता वाले वितर्क रहित विचार रहित प्रीति सुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा। (3) (फिर) प्रीति से विरक्त हो, उपेक्षक बन स्मृति-संप्रजन्य (होश और अनुभव) से युक्त हो शरीर से सुख अनुभव करते, जिसे कि आर्य उपेक्षक, स्मृतिमान् सुख-विहारी कहते हैं, उस तृतीय ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा। (4) (फिर) सुख और दुःख के परित्याग से सौमनस्य (चित्तोल्लास) और दौर्मनस्य (चित्तसंताप) के पहले ही अन्त हो जाने से, सुख-दुःख रहित—जिसमें उपेक्षा से स्मृति की शुद्धि हो जाती है, उस चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा।

(1) 'सो इस प्रकार चित्त के एकाग्र, परिशुद्ध-पर्यवदात, अंगण-रहित-उपक्लेश (मल) रहित, मृदुभूत कार्योपयोगी, स्थिर अचलता प्राप्त (और) समाधियुक्त हो जाने पर पूर्व जन्मों की स्मृति के ज्ञान (पूर्वनिवासानुस्मृति) के लिए मैंने चित्त को झुकाया। फिर मैं अनेक पूर्व-निवासों को स्मरण करने लगा, जैसे कि एक जन्म को भी, दो जन्म को भी, तीन—, चार—, पांच—, दस—, बीस—, तीस—, चालीस—, पचास—, सौ—, हजार—, सौ हजार—, अनेक संवर्त (प्रलय) कल्पों को भी, अनेक विवर्त (सृष्टि) कल्पों को भी, अनेक संवर्त-विवर्त कल्पों को (भी) स्मरण करने लगा (तब मैं) अमुक स्थान पर इस नाम—गोत्र—वर्ण—आहार वाला अमुक प्रकार के सुख-दुःख को अनुभव करता इतनी आयु तक रहा। वहां से च्युत हो अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ। वहां भी इस नाम—गोत्र—। फिर वहाँ से च्युत हो (अब) यहाँ उत्पन्न हुआ। इस प्रकार आकार और उद्देश्य के सहित अनेक प्रकार के पूर्व-निवासों को स्मरण करने लगा। ब्राह्मण ! इस प्रकार प्रमाद रहित, तत्पर (तथा) आत्मसंयमयुक्त विहरते हुए, रात के पहले याम में मुझे यह पहली विद्या प्राप्त हुई, अविद्या नष्ट हुई, विद्या उत्पन्न हुई, तम नष्ट हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ।

(2) 'सो इस प्रकार चित्त के समाहित (एकाग्र), परिशुद्ध-पर्यवदात—होने पर प्राणियों की च्युति (मृत्यु) और उत्पत्ति के ज्ञान के लिए चित्त को झुकाया। सो मैं अ-मानुष, विशुद्धि, दिव्य चक्षु से अच्छे-बुरे, सुवर्ण-दुर्वर्ण, सुगति वाले, दुर्गति वाले प्राणियों को मरते उत्पन्न होते देखने लगा, कर्मानुसार गति को प्राप्त होते प्राणियों को पहचाने लगा—यह आप प्राणधारी (लोग) कायिक दुराचार से युक्त, वाचिक दुराचार से युक्त, मानसिक दुराचार से युक्त, आर्यों के निन्दक, मिथ्यामत रखने वाले (मिथ्या-दृष्टि), मिथ्या-दृष्टि (से प्रेरित) कर्म को करने वाले थे। वह काया

छोड़ने पर मरने के बाद अपाय दुर्गति, पतन, नरक (निरय) में प्राप्त हुए हैं। यह आप प्राणधारी (लोग) कायिक, वाचिक, मानसिक सदाचार (सुचरित) से युक्त, आर्यों के अ-निन्दक, सम्यक् दृष्टि वाले (सच्चे सिद्धान्त वाले), सम्यक्-दृष्टि-सम्बन्धी कर्म को करने वाले (थे), वह काया छोड़ने पर मरने के बाद सुगति, स्वर्ग लोक को प्राप्त हुए हैं।—ब्राह्मण !—रात के मध्यम याम में यह मुझे दूसरी विद्या प्राप्त हुई—।

(3) '—आस्रवों के क्षय के ज्ञान के लिए चित्त को झुकाया।' फिर मैंने—'यह दुःख है' इसे यथार्थ से जान लिया, 'यह दुःख-समुदय (दुख की उत्पत्ति) है—, 'यह दुःख-निरोध है'—, 'यह दुःख निरोध-गामिनी प्रतिपद् है' इसे यथार्थ से जान लिया। 'यह आस्रव है'—'यह आस्रव समुदय है'—, 'यह आस्रव-निरोध है'—, 'यह आस्रव निरोधगामिनी प्रतिपद् है'—। सो इस प्रकार देखते, इस प्रकार जानते मेरा चित्त काम (काम-वासना रूपी) आस्रवों से मुक्त हो गया,—भव (जन्म लेने के लोभ रूपी) आस्रवों से—, अ-विद्या-आस्रवों से मुक्त हो गया। छूट (विमुक्त हो) जाने पर 'छूट गया' ऐसा ज्ञान हुआ। 'जन्म खतम हो गया, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, करना था सो कर लिया, अब यहाँ करने के लिए कुछ (शेष) नहीं है'—इसे जान लिया। ब्राह्मण !—रात के अन्तिम याम में यह मुझे तीसरी विद्या प्राप्त हुई—।

इस प्रकार त्रयीविद्या के महत्व को दोनों विचारधाराओं में सर्वोच्च महत्ता दी गई है यही उस तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष है।

(छ) भगवान् बुद्ध का जीव सम्बन्धी दृष्टिकोण

बौद्धों के मत में विज्ञान के रूप में जीवात्मा को मानते हैं क्योंकि वह क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाले प्रवाह के समकक्ष स्वीकार करते हैं, इस कारण आत्मा भी क्षण-क्षण बदलने के कारण अनित्य है। पूर्व क्षण[99] में उत्पन्न विज्ञान अपने उत्तर क्षण में संस्कार के रूप में आता है। उपलब्धि के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है। सर्व क्षणिक है, सब दुःख है, सर्वस्व लक्षण है, सर्वस्व रूप प्रतीति है, सब शून्य है, ऐसा शून्यवादी बौद्ध मानते हैं। क्योंकि शून्यवादी तो आत्मा के मूल रूप को ही शून्य मानते हैं किन्तु व्यवहार की दशा में आत्मा की प्रतीति भी उन्हें माननी पड़ती है।

(ज) श्रुति ग्रन्थों के जीव सम्बन्धी दृष्टिकोणों का प्रभाव

'जीव' का शाब्दिक अर्थ जीवन (प्राण) सांस लेना अर्थ वाली धातु से बना है।

---

99. सर्व क्षणिकं क्षणिकं, सर्व दुखं दुःखम्, सर्व स्वलक्षण स्वलक्ष्यम्। ब्र० सू० 2।2।23 सत्यानन्दीदीपिका

यह जीव विज्ञानीय स्थिति जागरण, स्वप्न तथा निद्रा की दशाओं में आजीवन निश्चित रहता है। यह वह आत्मा हैं जो कर्मों का फल भोगता है और इस भौतिक शरीर के विनाश होने पर भी रहता है। यह कर्ता और भोक्ता है। यह विज्ञानमय आत्मा है, जीव में एक प्राण तत्व रहता है। प्रत्येक जीव की अचेतन क्रियाओं को भी नियन्त्रित रखता है जो चेतन क्रिया का भी नियामक है, जिसके द्वारा दर्शन, श्रवण, स्पर्श, गन्ध और स्वाद की पांच ज्ञानेन्द्रियों और वाणी, हाथ, पैर, मलोत्सर्जन तथा प्रजनन आदि इन्द्रियों को कार्य रूप देता है। ये सब विज्ञान या बुद्धि द्वारा नियमित है। अहं की सत्ता का आधार भी विज्ञान या बुद्धि ही है जो मन, जीवन और शरीर को अपने में केन्द्रित रखती है।

अहं वस्तुतः अनुभव की एक धारा है, जीवन का एक धारावाही श्रोघ है। जिसमें हमारे इन्द्रियानुभव, मानसिक अनुभव केन्द्रित होते हैं। ब्राह्मण विचारधारा में शरीर पाँच भौतिक तत्वों का सम्मिश्रण है—अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द सर्वोच्च आत्मा के आधार से यह चेतनत्व प्राप्त करता है और इस संघात के विनाश पर उसी में लीन हो जाता है। जीवन और भूत द्रव्य स्थूल शरीर में संगठित रहते हैं, मन श्रौर जीव सूक्ष्म शरीर में। बुद्धि कारण शरीर में और आत्मा, सर्वव्यापी श्रात्मा में। वस्तुतः अहं भी उसी सर्वोत्तम सत्ता की अभिव्यक्ति है। बुद्धि जड रूप में तथा पुरुष चेतना के व्यक्तित्व के रूप में प्रकाशित होती है। मानव भी सजीव शृंखलाश्रों में से एक है। श्रनेकों में से एक है जिसका एक शरीर तथा मन है किन्तु आत्मा इस समूह से पृथक् और इन सब का मूलाधार है। सभी अनुभव सिद्ध कार्य कारण सम्बन्ध और विकास की जीव विज्ञानीय प्रक्रियाएं उसकी आत्मा पर लागू न होकर उसकी बाह्य सत्ता को प्रभावित करती हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्[100] में जीव को लौकिक बुद्धि से ढकी हुई परमात्मा की निधि (कोश) के रूप में माना है।

'श्रहं शरीर,[101] जीवन, मन और बुद्धि की एकता है। वह मात्र एक प्रवाह नहीं है, जैसा कि कुछ प्रारम्भिक बौद्ध श्रौर हिन्दू सोचते थे।' ये अहं भाव निरन्तर परिवर्तनशील हैं। जीव को, एक प्रकार से, ईश्वर ने अपने रूप के अनुरूप बौर समान रचा है। परन्तु स्रष्टा के नाते उसका श्रपना रूप है। हम स्वयं श्रपनी संभावनाओं से श्रनभिज्ञ हैं। जीवात्मा की यह अनुभूति कि वह शेष जीवात्माश्रो से भिन्न है, वह श्रविद्या या श्रज्ञान के कारण होती है इसी कारण वह विश्व के साथ एकलयता स्थापित नहीं कर सकता। जो मानसिक दन्द्वों के रूप में प्रकट होता है। श्रात्माश्रों की

100. ब्रह्मण कोशोऽसि मेधया पिहितः। तै० चतुर्थ अनुवाक,
101. उपनिषदों की भूमिका, डा० राधाकृष्णन्, पृ० 94.

भिन्नता[102] का कारण भी यही है कि उनका बुद्धि के साथ अपना संयोग भिन्न प्रकार से होता है इसके है कर्म के फल अलग-अलग होते हैं। जीव के बिना न तो बन्धन हो सकता है और न मुक्ति जीव ही अज्ञान के वश में होता है और आत्म ज्ञान पर पहुंचता है। जीवों के माध्यम से उस परमेश्र की अभिव्यक्ति तब तक जारी रहेगी जब तक कि वह पूर्ण नहीं हो जायेगी। दिव्य की एकता सदैव रहती है जिसकी अभिव्यक्ति विश्व की प्रक्रिया में नाना आत्माओं के माध्यम से उस असीम एक के अनुभव से होती है।

श्रुति ग्रन्थों के जीव सम्बन्धी प्रभाव में हम कोई विशेषता नहीं प्राप्त करते हैं क्योंकि ब्राह्मण विचारधारा आत्मवादी है और बौद्ध विचारधारा अनात्मवादी। इसलिए दोनों में विपरीतता ही है। इस विषय में इतना लिखना पर्याप्त होगा कि बौद्धों ने मनुष्य जन्म के विषय में तीन की स्थिति मानी है—माता, पिता और गन्धर्व ब्राह्मण विचारधारा में गन्धर्व के स्थान में जीव में प्रवेश मानते हैं, किन्तु बौद्धों में गन्धर्व के लिए अन्तर्भाव का अभिधान दिया है कि पंच स्कन्धों के मरणाभाव कर्म जन्य संस्कार उपलब्ध करता है और कर्म जन्य संस्कारों के अनुरूप ही जीवभाव की उपलब्धि करता है। यहां इन दोनों का भेद है और तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष भी यही है, इसीलिए हमने तुलनात्मक शीर्षक देना उचित नहीं समझा है।

(झ) माया, काल, दिक् आदि अन्य विषयों का दोनों विचारधाराओं में संकेत

ब्राह्मण विचारधारा में माया शब्द से जो अर्थ है वही बौद्ध विचारधारा में अविद्या शब्द से अभिप्राय है। इन दोनों के उदात्त रूप में ही संसार का माया जाल, भ्रम समाया हुआ है और दोनों इनके बन्धनों से मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ते हैं। इस प्रकार के पोषण के लिए अनेक उद्धरण दोनों विचारधाराओं के ग्रन्थों से दिये जा सकते हैं।

काल[103] के विषय में हमें क्रमशः कोई रूप प्राप्त नहीं होता, केवल काल से ईश तत्व का ही बोध होता है वैसे उपनिषत् काल में इस प्रकार की विरोधीं विचार-धाराएँ मिलती हैं जिनमें काल, स्वभाव, नियति आदि का वर्णन मिलता है जैसे संसार के कारणों में कहीं तो काल को कारण बताया है, क्योंकि किसी-न-किसी

102. बुद्धि भेदेन भोक्तृभेदात्—ब्रह्म सू० 2।3।49।

103. काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥श्वे० 1।1।2

समय पर ही वस्तुओं की उत्पत्ति देखी जाती है, जगत् की रचना और प्रलय भी काल के ही आधीन सुने जाते हैं। कहीं स्वभाव को कारण बताया जाता है, क्योंकि बीज के अनुरूप ही वृक्ष की उत्पत्ति होती है—जिस वस्तु में जो स्वाभाविक शक्ति है, उसी से उसका कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुगत शक्तिरूप जो स्वभाव है, वह कारण है। कहीं कमं को कारण बताया है, क्यों कि कर्मानुसार ही जीव भिन्न-भिन्न योगियों में भिन्न-भिन्न स्वभाव आदि से युक्त होकर उत्पन्न होते हैं। कहीं आकस्मिक घटना को अर्थात् होनहार (भवितव्यता) को कारण बताया है। कहीं पाँचों महाभूतों को और कहीं जीवात्मा को जगत् का कारण बताया गया है। अत, हम लोगों को विचार करना चाहिये कि वास्तव में कारण कौन है ?

बौद्ध विचारधारा में काल का वर्णन भी एक विशेष अवस्था के रूप में प्राप्त होता है जो तुरीयावस्था ब्राह्मण विचारधारा में भी मानी गई है, उसी को हम पूर्ण रूप से इसमें भी चरितार्थ होता हुआ पाते हैं।

'कालचक्र' शब्द[104] समष्टि तथा व्यष्टि रूप से उसी परम तत्व का द्योतक है। इस शब्द के चारों ओर अक्षर परमार्थ सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। 'का' कारण का प्रतीक है अर्थात् परमतत्व कारणरहित है। कारण बोधिचित्त काय एक ही पदार्थ है। 'ल' लय (नाश) का द्योतक है। लय किसका ? प्राण का। काय के व्यापार के शान्त होने पर प्राण का जय अवश्यम्भावी होता है। 'च' चलचित्त का वाचक है। जगत् के व्यापार के साथ सम्बन्ध रहने से चित्त इन्हीं विषयों में सदा भ्रमण किया करता है; इसलिए वह चंचल रहता है। 'क्र' क्रम बन्धन का सूचक है। प्राण तथा चित्त का परस्पर योग नितान्त घनिष्ठ रहता है। इसलिए प्रथमत: कायबिन्दु का निरोध करना आवश्यक है। यह ललाट में सम्पन्न होता है। अत: 'का' निर्माणकाय का सूचक है। कण्ठ में वाग्-बिन्दु के निरोध होने से प्राण का लय होता है। बिना प्राण के लय किये चंचल चित्त का बन्धन हो नहीं सकता। इन तीनों के बन्धन तथा लय का अनुष्ठान तुरीय दशा में किया जाता है। अत: 'कालचक्र' (जिसमें ये चारों अक्षर क्रमश: सन्निविष्ट हैं) उसी परम सत्यभूत, अक्षर, आदि-बुद्ध को द्योतित करता है।

'काल चक्र' पदत; उसी परमार्थ उसी परमार्थ का द्योतक है। 'कालचक्र' में दो शब्द हैं—काल और चक्र। काल और चक्र का समन्वय ही परमतत्व का द्योतक है। ज्ञान तथा ज्ञेय से सम्बन्ध रखने वाला ज्ञाता, सब आवरणों के क्षय का कारण है।

---

104. ककारात् कारणे शान्ते लकाराल्लयोऽत्र वै।
चकारांचलचित्रस्य क्रकारात् क्रमबन्धनैः ॥ बौद्ध-दर्शन-मीमांसा, पृष्ठ 386।

अतः वह 'काल' कहलाता है । काल, उपाय तथा करुणा—एक ही तत्व के पर्याय है—वही तत्व, जिसे हम पुरुष या शिव के नाम से ब्राह्मण-ग्रन्थों में पुकारते हैं । यही वह तत्व है जिसे परम तत्व, ज्ञाता तथा ज्ञेय इन सभी के समन्वय होने के कारण काल चक्र अभिधान से पुकारा जाता है । इस काल चक्रयान का विवेचन संक्षेप में किया गया है । इस प्रकार आत्मा, ईश्वर विषयक विचारों को हमने इस अध्याय में विवेचित किया है ।

(ज) निष्कर्ष

इस अध्याय में हम ने आत्मवाद, अनात्मवाद का विवेचन किया है । इस के निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि बौद्धों का अनात्मवाद भी ब्राह्मण विचारधारा का ही रूपान्तर है । क्योंकि अदृष्ट, अश्रुत स्थान का चित्र मानव मन में अपनी बुद्धि के अनुसार आता है जैसे यदि हम अंकों को सोचें तो एक से सौ तक नाम लेते ही उनका एक चित्र सामने आता है, इसी को हम अंकों की सगुण उपासना कह सकते हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि रूप के बिना कोई भी नाम या शब्द नहीं है । यदि कोई नाम है तो उस नाम का रूप भी अवश्य होगा । इस प्रकार नाम रूप की स्वीकृति ब्राह्मण विचारधारा मैं भी प्राप्त होती है जैसा—कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि यह नाम रूप और कर्म तीन का समुदाय है उन नामों की वाक् यह उक्त कारण है क्योंकि सारे नाम इसी से उत्पन्न होते हैं । मनुष्य के सोने के शब्द में स्वपिति के रूप की ओर संकेत करते हुए बृ०उ० में कहा गया है कि मैं नाम रूपों को व्यक्त करू" इस वाक्य से भी नाम और रूपों से आत्मा को अन्यत्र स्वीकार किया गया है नाम और रूप ही उत्पत्ति और प्रलय रूप है । स्वपिति शब्द में स्व अर्थात् आत्मा को ही अपीति (अपिगच्छति) प्राप्त होता है इसलिए स्वपिति कहा है । इस प्रकार नाम रूप से युक्त ही जगत् है, इसका पोषण हमें प्राप्त हुआ । जिसका निष्कर्ष यह है कि ब्रह्म शब्द भी रूप रहित नहीं है, उसका उच्चारण करते ही सूक्ष्माति सूक्ष्म आकाश रूप व्यापि बुद्धि में स्फुरित हो जाता है । प्रत्येक पदार्थ रूप भी रखता है और अरूप भी । यही तो संसार व्यक्त तथा अव्यक्त की क्रीड़ा स्थली है। एक पदार्थ पूर्व में अव्यक्त तथा, अब व्यक्त हो गया, पुनः अव्यक्त हो जाता है । व्यक्त तथा अव्यक्त वास्तव में एक ही परमात्मा का रूप है । यह सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों की हम व्यक्त तथा अव्यक्त रूपों में उपासना करते हैं । परमात्म तत्व में दो शक्तियां हैं एक आकर्षण और दूसरी विकर्षण ।

आकर्षण सभी पदार्थों को परमाधिष्ठान की ओर खींचती है, विकर्षण बाह्य अभिव्यक्तियों की ओर । संसार के जितने पदार्थ नाम रूप है वे सभी उस परमात्व तत्व की आकर्षण शक्ति के अंतर्निहित होने के कारण अपनी ओर खींचते हैं ।

जैसा कठोपनिषद् में कहा है कि 'परांचि खानि इन्द्रियाणि' इस प्रकार केवल हम उस नाम रूप का भोग कर पाते हैं, उस रूप के आत्मा का उपभोग नहीं। इसी कारण हम उससे शीघ्र विकर्षित होकर अन्य पदार्थ की ओर आकृष्ट हो जाते हैं और जब हम इस आकर्षण-विकर्षण से तंग आ जाते हैं, इनको मिथ्या, विनाशी समझने लगते हैं तो हमें वैराग्य हो जाता है, फिर एक ही नाम यह 'एकोऽहम्' ही 'बहुस्याम्' होकर मानव मन को भ्रमित करता है क्योंकि यह विकर्षण शक्ति भेद बुद्धि पैदा करके 'कोऽहम्' को छिपा देती है तभी 'एकोऽहम्' 'बहुस्याम्' रूप बनता है। इस प्रकार आकर्षण शक्ति के द्वारा एकोऽहम् रूप की उपासना होती है और विकर्षण शक्ति द्वारा बहुस्याम की उपासना भी होती है। जब विकर्षण[105] शक्ति भेद बुद्धि अपना कार्य बन्द कर देती है तो यह सारा का सारा बहु स्याम् रूप आकर्षण शक्ति के द्वारा एकोऽहम् से अभिन्न हो जाता है, यही अभेदोपासना है। मानव अज्ञान जगत् से उठ कर ज्ञान जगत् में प्रवेश करता है और यह जगत् भेद ज्ञान के द्वारा अनुप्राणित है और गुरु की कृपा से इस ज्ञान का उदय होता है, ज्ञेय वस्तु बाह्य कुछ न रह कर अन्दर ही है। साकार ज्ञान ही ज्ञेय है, वही माया है, वही बाह्य है। इसी से तादात्म्य रूप होता है, इसी कारण उस अनिर्वचनीय रूप मोक्ष या निर्वाण का कोई रूप न ब्राह्मण, न बौद्ध किसी भी विचारधारा में स्पष्ट रूप से साकार हो पाया है।

वेदों के इस त्रिकाण्डात्मक विवरण को दृष्टि में न रख कर कतिपय पाश्चात्य विद्वान् उपनिषदों की चेतना को विभिन्न रूप देते हैं, यह अनुचित है। वेदों के इन तीनों काण्डों को मनुष्य के तीन शरीरों के अनुकूल ही समर्थित किया गया है। जैसे मनुष्य के भी तीन शरीर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, मनुष्य के ये तीन शरीर मनुष्य के आत्मरूप आवरण हैं अथवा तीन ग्रन्थियाँ हैं। यज्ञोपवीत सूत्र की तीन ग्रन्थियाँ मनुष्य शरीर की तीन ग्रन्थियों को बतलाती हैं। इन्हीं तीन के दूर करने के लिए वेद ने तीन मार्ग कर्म, उपासना और ज्ञान बतलाये हैं। त्रिसूत्री यज्ञोपवीत गायत्री मन्त्र द्वारा धारण किया जाता है, यह मन्त्र 24 अक्षरों का है जिनमें प्रकृति के 24 तत्व निहित हैं और यह हमारे तीनों तापों (आधिभौतिक, आधि दैविक और आध्यात्मिक) के निराकरण के लिए है। मनुष्य के तीन शरीरों में स्थूल शरीर कर्म प्रधान है, सूक्ष्म शरीर मन प्रधान है और कारण शरीर अहंकार प्रधान है। कर्म-शुद्धि के द्वारा स्थूल शरीर से उद्धार होता है और मनः शुद्धि के द्वारा सूक्ष्म शरीर से, अहं शुद्धि के द्वारा कारण शरीर से उद्धार होता है। कर्म शुद्धि द्वारा जीव निम्न योनियों में जाने से बचता है, मनः शुद्धि द्वारा काम, क्रोध, राग विकारों से मुक्ति मिलती है, अहं शुद्धि से ज्ञान प्राप्त होता है। अनात्म अहंकार आत्म अहंकार में

105. उपासना अंक कल्याण, डा० गोपीनाथ कविराज, पृ० 47

परिवर्तित होकर अहं ब्रह्मास्मि की अनुभूति से युक्त हो जाता है। उपासना का सम्बन्ध मन: शुद्धि से है। तीन गुणों सत्व, रज, तम के आधार पर ही मन में संकल्प, भाव, श्रद्धा तप, दान आदि होते हैं और उसी के अनुसार उपास्य का भी भेद होता है। एकाग्रता अथवा मनोयोग का ही नाम उपासना है, इसी मनोयोग पर भगवान् बुद्ध ने भी बल दिया है।

उपासना प्रमुख रूप से दो प्रकार की है, एक अनात्म उपासना और दूसरी आत्म उपासना। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग द्वेष आदि भाव अनात्म पदार्थों में पाये जाते हैं, इन विकारों के द्वारा अनात्मा की ही उपासना होती है आत्मा का इन विकारों से कोई सम्बन्ध नहीं। काम भाव स्त्री की उपासना, क्रोध भाव से शत्रु की उपासना, लोभ भाव से धन की उपासना, मोह भाव से स्त्री-पुत्र, मित्र की उपासना करते हैं। अर्जुन भी मोह रूपी अनात्म उपासना में लीन था। तीनों शरीरों में अहंकार रखना, अहंकार उपासना है। जिस वस्तु में राग, द्वेष है वही उपास्य है। भगवान् बुद्ध ने भी कामों को छोड़ने लोभ के त्यागने के द्वारा निर्मोह, निरंकार आदि भावों को अपनाते हुए अनात्म उपासना का जो समर्थन किया है उसका उद्गम स्थान ब्राह्मण विचारधारा ही है।

सप्तम अध्याय

भगवान् बुद्ध के वचनों में आचार तत्व

(क) भगवान् बुद्ध के वचनों में व्यष्टि नीति
(ख) श्रुति ग्रन्थों में दिये गये व्यष्टि मूलक नैतिक विचारों का उन पर प्रभाव
(ग) भगवान् बुद्ध के वचनों में सामाजिक नीति सम्बन्धी तत्व
(घ) श्रुति ग्रन्थों में प्राप्य सामाजिक नीति तत्वों का उन पर प्रभाव
(ङ) बुद्ध वचनों में विभिन्न सांस्कृतिक मान्यताएं
(च) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त सांस्कृतिक मान्यताओं का प्रभाव
(छ) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा
(ज) बुद्ध वचनों में प्रवृत्ति मार्ग से संबंधित तत्व
(झ) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त प्रवृत्ति मार्गी तत्वों का उन पर प्रभाव
(ञ) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा
(ट) बुद्ध वचनों में निवृत्ति मार्ग से संबंधित तत्व
(ठ) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त निवृत्ति मार्गी तत्वों का उन पर प्रभाव
(ड) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

भगवान् बुद्ध के वचनों में व्यष्टि नीति

भगवान् बुद्ध के जीवन के दो पक्ष[1] हैं एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। वैयक्तिक में वे ध्यानी, योगी हैं जो ध्यान में मग्न हैं तथा आन्तरिक ध्यान ही उनका लक्ष्य है यही स्थिरवादी परम्परा है जिसमें बुद्ध एक मानव है, ईश नहीं, एक उपदेष्टा हैं। दूसरा पक्ष सामाजिक है जिसमें समाज का दुःख तथा करुण-क्रन्दनों के कारण वह बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय समाज को महाकरुणा से प्रेरित होकर उनके दुःख दलन तथा उद्धार के लिए अवतार लेते हैं और निर्वाण को भी तब तक नहीं चाहते, जब तक कि सभी प्राणी मुक्ति न पा लें।

भगवान् बुद्ध ने समाज में व्यावहारिकता के लिए व्यष्टि रूप में मानव को सावधानी बरतने के लिए कतिपय निर्देश दिये हैं—"जो मद्यपान[2] में सखा होता है, सामने प्रिय बनता है, (वह मित्र नहीं)। जो काम हो जाने पर भी, मित्र रहता है, वही सखा है। अतिनिद्रा, परस्त्रीगमन, वैर उत्पन्न करना और अनर्थ करना, बुरे की मित्रता और बहुत कंजूसी, यह छह मनुष्यों को बर्बाद कर देते हैं। पापी मित्र, पापी सखा और पापाचार में अनुरक्त मनुष्य इस लोक और परलोक दोनों से ही नष्ट होता है। जुआ, स्त्री, वारुणी, नृत्यगीत, दिन की निद्रा और असमय की सेवा, बुरे मित्रों का होना, और बहुत कंजूसी, यह 6 मनुष्य को बर्बाद कर देते हैं। जो जुआ खेलते हैं, सुरा पीते हैं, परायी प्राणधारी स्त्रियों का गमन करते हैं; नीच का सेवन करते हैं, पण्डित का सेवन नहीं वह कृष्ण पक्ष की चन्द्रमा से जो वारुणीरत, निर्धन, मुहताज, पियक्कड़, प्रमादी होता है, जो पानी की तरह ऋण में अवगाहन करता है, वह शीघ्र ही अपने को व्याकुल करता है। दिन निद्राशील, रात को उठने में बुरा मानने वाला, सदा नशे में मस्त शौंड गृहस्थी (घरआवास) नहीं कर सकता। बहुत शील है, बहुत उष्ण है, अब संध्या हो गई इस तरह करते मनुष्य धनहीन हो जाते हैं।"

जो पुरुष काम करते शीत उष्ण को तृण से अधिक नहीं मानता वह सुख से वंचित होने वाला नहीं होता। उन्होंने सुहृदमित्र की परिभाषा करते हुए बताया—'पर-धन-हारी मित्र और जो वचीपरम मित्र है। प्रिय-भाणी मित्र और जो अपायों में सखा है। यह चारों अमित्र हैं, ऐसा जानकर पण्डित (पुरुष) खतरे-वाले रास्ते की भांति (उन्हें) दूर से ही छोड़ दे। जो मित्र उपकारक होता है, सुख-दुःख में जो

1. पच्चीस सौ वर्ष आफ बुद्धिजम, भूमिका, डा० राधाकृष्णन्, पृ० 7
2. सिगालोवाद सुत्त, बु० च०, पृ० 259, 60

सखा (बना) रहता है। जो मित्र अर्थ-आख्यायी होता है। और जो मित्र अनुकंपक होता है। यही चार मित्र हैं, बुद्धिमान् ऐसा जानकर सत्कार-पूर्वक माता-पिता और पुत्र की भांति उनकी सेवा करे। सदाचारी पण्डित मधुमक्खी की भांति भोगों का संचय करता है। प्रज्वलित अग्नि की भांति प्रकाशमान होता है। (उसको) भोग (संपत्ति) जैसे वल्मीक बढ़ता है; वैसे बढ़ते हैं। इस प्रकार भोगों का संचय कर अर्थ-सम्पन्न कुल वाला (जो) गृहस्थ।

चार भाग में भोगों को विभाजित करे, वही मित्रों को पावेगा।
एक भाग को स्वयं भोगे, दो भागों को काम में लगावे॥

विवाद के 6 मूलो[3] में व्यक्तिगत त्रुटि के कारण समाज का अहित करता है—भिक्षु क्रोधी, उपनाही (पाखण्डी) होता है, जो वह आवुसो! भिक्षु क्रोधी उपनाही होता है, वह शास्ता में भी अगौरव अप्रतिश्रय हो विहरता है, धर्म में भी, संघ में भी, शिक्षा (भिक्षु-नियम) को भी पूरा करने वाला नहीं होता है। आवुसो! जो वह भिक्षु शास्ता में भी अगौरव होता है, वह संघ में विवाद उत्पन्न करता है, जो विवादकि बहुत लोगों के अहित के लिये, बहुजन के असुख के लिए, देव-मनुष्यों के अनर्थ, अहित, दुःख के लिये होता है। आवुसो! यदि तुम इस प्रकार के विवाद-मूल को अपने में या बाहर देखना, (तो) वहाँ आवुसो! तुम उस दुष्ट विवाद-मूल के नाश के लिये प्रयत्न करना। यदि आवुसो! तुम इस प्रकार के विवाद-मूल को अपने में या बाहर न देखना, जो तुम उस दुष्ट विवाद-मूल के भविष्य में न उत्पन्न होने देने के लिये उपाय करना। इस प्रकार से इस दुष्ट (पापक) विवाद-मूल का प्रहाण होता है, इस प्रकार इस दुष्ट विबाद-मूल की भविष्य में उत्पत्ति नहीं होती।

छः निस्सरणीय[4] धातुओं के विषय में उन्होंने इस प्रकार समझाया कि आवुसो! भिक्षु ऐसा बोले—'मैंने मैत्री चित्त-विमुक्ति को, भावित, बहुलीकृत (बढ़ाई), यानीकृत, वस्तु-कृत, अनुष्ठित, परिचित, सु-समारब्ध किया, किन्तु व्यापाद (द्रोह) मेरे चित्त को पकड़ कर ठहरा हुआ है' उसको ऐसा कहना चाहिये—आयुष्मान् ऐसा मत कहें, भगवान् की निन्दा (अभ्याख्यान) मत करें, भगवान् का अभ्याख्यान करना अच्छा नहीं है। भगवान् ऐसा नहीं कहते। आवुसो! यह मुमकिन नहीं, इसका अवकाश नहीं कि मैत्री चित्त-विमुक्ति सुसमारब्ध की गई हो, और तो भी व्यापाद उसके चित्त को पकड़ कर ठहरा रहे। यह संभव नहीं। आवुसो! मैत्री चित्त-विमुक्ति व्यापाद का निस्सरण है। यदि आवुसो! भिक्षु ऐसा बोले—'मैंने करुणा चित्त विमुक्ति को भावित किया, तो भी विहिंसा मेरे चित्त को पकड़ कर ठहरी

3. संगीति-परियाय-सुत्त, बु० च०, पृ० 467
4. संगीति-परियाय-सुत्त, बु० च०, पृ० 468।

हुई है।' आवुसो ! यदि भिक्षु ऐसा बोले—'मैंने मुदिता चित्त-विमुक्ति को भावित किया, तो भी अ-रति (चित्त न लगना) मेरे चित्त को पकड़ कर ठहरी हुई है। उपेक्षा चित्त-विमुक्ति को भावित किया, तो भी राग मेरे चित्त को पकड़े हुये है। अनिमित्तता चित्त-विमुक्ति को भावित किया, तो भी यह निमित्तानुसारी विज्ञान मुझे होता है।' 'अस्मि (मैं हूं) मेरा चला गया, 'यह मैं हूँ' नहीं देखता, तो भी विचिकित्सा (संदेह) वाद-विवाद-रूपी शल्य चित्त को पकड़े ही हुए हैं।' सभी एषणाओं तथा क्लेशों के कारणों को दूर करके मिताहारी, संचयी होना ही व्यक्तिगत जीवन के लक्ष्य हैं। इन्होंने व्यक्तिगत जीवन में यह भी बतलाया है कि यम नियम तथा पूर्णमासी आदि को उपोसथ रखना मानव जीवन के लिए परम आवश्यक है और यही सच्चा मार्ग है।

(ख) श्रुति ग्रन्थों में दिये गये व्यष्टि मूलक नैतिक विचारों का उन पर प्रभाव

श्रुति ग्रन्थों में व्यष्टि और समष्टि का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। समाज में कभी व्यक्ति का प्रभाव रहा करता है तो कभी समाज का, संघ का अर्थात् कभी एक तंत्रात्मक शासन और कभी प्रजातन्त्रात्मक। मानव जीवन के ये दो पक्ष अपना पृथक्-पृथक् महत्व रखते हैं। वेदों में व्यक्तिगत जीवन के विकास के लिए आश्रमों की व्यवस्था है। मनुष्य इस व्यवस्था के द्वारा अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। ब्रह्मचर्य पालन, विद्या अध्ययन तदुपरान्त गृहस्थ जिसमें सामाजिक उत्तरदायित्व तदनन्तर दारैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा के परित्याग से भौतिक बन्धनों को छोड़ आत्म निग्रह द्वारा आध्यात्मिकता के मार्ग में वानप्रस्थ और सन्यास को ग्रहण करता है और ससार में सब सम्बन्ध त्याग कर अपना जीवन लोक सेवा में लगा देता है इस प्रकार व्यष्टि में अन्त में समष्टि के कल्याण की भावना से तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

यद्यपि ब्राह्मण विचारधारा में ऐहिक सुखों की उपलब्धि पर बल दिया है किन्तु आत्म साक्षात्कार की प्रवृत्ति यहां सभी दर्शनों का केन्द्र रही है। ब्रह्मचारी को तीनों ऋणों के परिज्ञान हेतु उपनयन संस्कार में तीन धागे वाला यज्ञोपवीत पहना दिया जाता था। उसकी शुद्धि, स्नान, संध्या, बन्दन आदि कार्य तो अंगीभूत होते हैं। प्रधानतया वे तीनों ऋणों की स्मृति एवं उनके सतत सचेष्ट रखने के लिए ही पहनाये जाते थे।

तैत्तिरीय[5]संहिता में कहा है कि ब्राह्मण उत्पन्न होते ही तीन ऋणों से ऋणी होता है।

5. जायमानो वै ब्राह्मण स्त्रिभिर्ऋणै ऋण वान् जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजयापितृभ्यः एष वा अनृणी—। तै० सं० 6।3।10।5

मनु स्मृति में भी तीनों ऋणों का ही विवेचन किया गया है। वस्तुतः इन ऋणों की भावनाओं को तो पूर्व काल में ही समाज का अभिन्न अंग माना जाने लगा था।

ब्रह्मचर्य[6], यज्ञ, व प्रजा द्वारा क्रमशः तीनों ऋणों से अनृणी होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति पर माता-पिता का ऋण अत्यधिक होता है जोकि सन्तानोत्पत्ति द्वारा चुकाया जा सकता है। सन्तानोपत्ति के उपरान्त उसे सुशिक्षित कर एक सभ्य नागरिक बनाने से पितृ ऋण से मुक्ति मिल जाती थी। समाज के विकास के लिए परिवार का अभ्युदय आवश्यक था, इस कारण परिवार के लिए पितृ ऋण का बहुत महत्व है, इससे समाज का वातावरण पवित्र होता था। प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को समझता था। उत्तरदायित्व पूर्ण जीवन ही अनुशासित जीवन होता है। आज भी समाज में युवावृन्द में उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होने से उच्छृंखलता का वातावरण व्याप्त है, इस कारण ऋणों का बोध ही वर्तमान काल में अपेक्षित है।

ऋषि ऋण

प्राचीन काल में विद्यार्थी ही नहीं, बल्कि ब्रह्मचारी भी था, वह गुरु के (कुल) परिवार का सदस्य बन जाता था। 'ऋषियो मंत्रद्रष्टाचारः' मंत्र द्रष्टा गूढ़ तत्वार्थ वेत्ता ऋषि कहलाने के कारण वह वयो वृद्ध होने के साथ-साथ ज्ञानवृद्ध भी होता था। वह ब्रह्मचारी को राष्ट्र की सम्पत्ति समझ कर उसे सम्पूर्ण ज्ञानराशि देकर एक कल्याणकारी अंग बनाने का प्रयत्न करता था। उनका जीवन अनुशासित रहता था और वे अपने शिष्यों को भी अपने आदर्शमय चरित्र द्वारा प्रभावित करते थे। बाद में यही स्वाध्याय के रूप में चुकाना आवश्यक समझा जाता था। इसके कारण समाज में व्यस्त रहते हुए भी आध्यात्मिक ज्ञान प्रदान करने वाले ग्रन्थों का अध्ययन मनुष्यों के नैतिक स्तर को उन्नत बनाता था। इस प्रकार पितृ ऋण तथा ऋषि ऋण व्यक्तिगत विकास के प्रधान अंग के रूप में व्यक्ति नीति में व्याप्त थे।

देव ऋण

व्यक्ति के विकास के लिए पंच महायज्ञों का कर्तव्य के रूप में पालन अनिवार्य था। देव यज्ञ में प्रातः, सायं अग्निहोत्र, देवताओं का पूजन, भूत यज्ञ में पाकशाला की अग्नि में भोजन का कुछ अंश डाला जाना, नृयज्ञ में अतिथि का सम्मान आदि ब्राह्मण विचारधारा में व्यष्टि नीति के पोषक अंग कहे जा सकते हैं। संस्कारों का भी व्यक्तिगत जीवन में बड़ा महत्व था। शिशु के जन्म लेते ही उसका जीवन

---

6. ऋणानि त्रीन्यपाकृत्य मनोमोक्षे निवेशयेत्। मनु० 6।35।

विभिन्न संस्कारों द्वारा, विभिन्न शक्तियों के विकास के लिए अनुशासित किया जाता था। विद्या अध्ययन के लिए उपनयन गृहस्थ आश्रम में पाणिग्रहण संस्कार जिसमें नव विवाहित वर-वधु को जीवन के कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों से परिचित कराया जाता था और धर्म अर्थ तथा काम के लिए आजीवन एक धार्मिक बन्धन के रूप में बांधा जाता था।

यम नियम—व्यक्तिगत जीवन के नियंत्रित करने के लिए तथा नैतिकना के विकास के लिए इनका बड़ा महत्व था। इस प्रकार हम देखते है कि व्यक्तिगत विकास के लिए पूर्ण अवसर दिये गये थे। बौद्ध विचारधारा में भी ब्राह्मण जीवन की व्यक्तिगत सीमाओं को कठिनता के साथ उतारने का प्रयत्न किया गया है, उन्होंने व्यक्ति के जीवन को भौतिक सुखों से बिल्कुल हटा कर विराग की ओर उन्मुख किया क्योंकि उनके विचार में संसार दुखी है और भगवान् बुद्ध ने स्वयं भी इस सांसारिक आकर्षणों में उसके विनाशी और दुखदायी स्वरूप को ही देखा जैसे कि सुन्दरियों द्वारा नृत्य ज्ञान में रत रहने पर भी सोते हुए उनकी वही सुन्दरता एक भयानक रूप में बदल गई और उन्हें वैराग्य हो गया। इस कारण से इन्होंने व्यक्ति को सदैव विरक्ति रहने का उपदेश दिया। उन्होंने सुत्त निपात में खड्गविसाण-सुत[7] में कहा है कि मनुष्य अनपेक्ष्य-भाव और स्वच्छन्दता की कामना करते हुए अकेला विचरे, खड्गविषाण की तरह। उन्होंने आगे कहा कि काम विचित्र, मधुर और मनोरम है। वे अनेक प्रकार से मन को विचलित करते हैं। कामगुणों के दुष्परिणाम को देखते हुए अकेला विचरे, खड्गविसारण की तरह। संसार में क्रीड़ा, रति और कामसुख में आसक्त न हो, उनकी अपेक्षा न कर, श्रृंगार से विरत हो, सत्यवादी बन अकेला विचरे, खड्गविषाण की तरह। स्त्री, पुत्र माता, पिता, धन, धान्य और बान्धव, इन सबका पूर्णतः त्याग कर अकेला विचरे, खड्गविषाण की तरह। आँखों को नीचे कर, घुमक्कड़ न हो, इन्द्रियों को काबू में रख, मन को संयत कर और तृष्णा तथा काम-दाह से रहित हो अकेला विचरे, खड्गविषाण की तरह। परमार्थ की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील हो, जागरूक हो, आलस्यरहित हो, दृढ़ संकल्प, स्थैर्य और बल से युक्त हो अकेला विचरे, खड्गविषाण की तरह। ध्येय में तल्लीन हो, ध्यान में रत हो, धर्म के अनुकूल नित्य आचरण करते तथा भव के कुपरिणाम पर मनन करते अकेला विचरे, खड्गविषाण की तरह। मैत्री, उपेक्षा, करुणा, विमुक्ति और मुदिता का समय-समय पर आसेवन करते हुए, सारे संसार में कहीं भी विरोधभाव न रख अकेला विचरे, खड्गविषाण की तरह।

---

7. खड्गविसाण सुत्त-6, 15

धम्मपद[8] में अप्रमाद (आलस्य न करने को ही) अमृतपद कहा है और प्रमाद (करना) मृत्युपद। अप्रमादी (वैसे) नहीं मरते, जैसे कि प्रमादी मरते हैं। पंडित लोग अप्रमाद के विषय में इस प्रकार विशेषत: जान, आर्यों के आचरण में रत हो, अप्रमाद में प्रमुदित होते हैं। (जो) वह निरन्तर ध्यानरत नित्य दृढ़ पराक्रमी हैं, वह धीर अनुपम योग क्षेम (आनन्द मंगल) वाले निर्वाण को प्राप्त करते हैं। मत प्रमाद में फंसो, मत कामों में रत होओ, मत काम रति में लिप्त हो। प्रमाद रहित (पुरुष) ध्यान करते महान् सुख को प्राप्त होता है। अप्रमाद के कारण इन्द्र देवाओं में श्रेष्ठ बना। अप्रमाद की सब प्रशंसा करते हैं और प्रमाद की सर्वत्र निन्दा होती है।

भगवान् बुद्ध ने कहा कि मनुष्य को संसार की वस्तुओं में विराग की भावना को लाना चाहिए तथा 'पुत्र[9] मेरा है', 'धन मेरा है' ऐसा (करके) अज्ञ (नर) उत्पीड़ित होता है, जब आत्मा (शरीर) ही अपना नहीं, तो वहाँ से पुत्र और धन (अपना होगा)। उन्होंने अच्छे कर्म और बुरे कर्म के भेद को बतलाते हुए समझाया कि उस काम का करना ठीक नहीं, जिसे करके (पीछे) अनुताप[10] करना पड़े और जिसके फल को अश्रुमुख रोते भोगना पड़े। उन्होंने सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति में भी तृष्णा की हेयता को समझाते हुए कहा कि भिक्षुओं चीवर, भिक्षा तथा निवासस्थान इन वस्तुओं में तृष्णा न करो। इस संसार में फिर न आओ। उन्होंने अभिमान[11] की प्रवृत्ति को रोकने का और शान्ति से विचरण करने का उपदेश दिया।

उन्होंने सत्य बोलने पर बल देते हुए कहा कि जो उपहास में भी झूठ बोलता है उसके लिए कोई भी पाप अकरणीय नहीं है। श्रावकों के लिए विनय के नियमों में उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के लिए किये गये अनुचित कार्य को सबके सामने प्रायश्चित करके मन की शुद्धि का उपदेश दिया और भिक्षुओं में मिताहार अर्थात् भोजन में संयम पर बड़ा बल दिया। व्यक्तिगत रूप में उन्होंने जन्म से जाति का कभी भी आदर नहीं किया। उन्होंने कहा 'जाति मत पूछ, आचरण[12] पूछ' इस प्रकार आच-

---

8. अप्पमादवग्ग 1-3, 7।
 अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।
 अप्पमादं पसंसन्ति पमादो गरहितो सदा॥
9. बालवग्गो-8
10. वही-8
11. सु० नि०,
12. वंगीस-सुत्त, 8

रण, का महत्व सदैव प्रदर्शित किया है। मिथ्यावादी और अविद्या के विषयों को बड़े विस्तार से लोक भाषा में समझा कर उन्होंने ब्राह्मण विचारधारा में व्याप्त उदात्त विचारों का ही अनुकरण किया है।

(ग) भगवान् बुद्ध के वचनों में सामाजिक नीति सम्बन्धी तत्व

समष्टि के रूप में भगवान् बुद्ध को हम प्राणि मात्र के दुःखों से दुःखी, उनके जीवन की समस्याओं के ज्ञान से ओतप्रोत, दुःखों के निराकरण हेतु प्रयत्नशील तथा बहुजनहिताय ही सहम्पति ब्रह्मा के आग्रह पर उपदेश के लिए बाध्य हुआ पाते हैं। मानवतावादी दृष्टिकोण है जिसमें सामाजिक अभ्युत्थान की भावना प्राप्त होती है। आगे चल कर महायान में उनका रूप महा करुण करुणागार के रूप में प्रशस्त हुआ। भगवान्[13] बुद्ध को महा प्रजापति गौतमी ने यों कहा—भन्ते ! यह अपना ही काता अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा-जोड़ा भगवान् को अर्पण है। भन्ते ! भगवान् अनुकम्पा कर, इसे स्वीकार करें। भगवान् ने गौतमी को कहा—'गौतमी (इसे) संघ को दे दे। संघ को देने से मैं पूजित हूंगा, और संघ भी।' भगवान्[14] ने आनन्द से कहा—मैं संघ विषयक दक्षिणा को असंख्येय, अपरिमित फलवाली कहता हूं। आनन्द ! किसी तरह भी संघ विषयक दक्षिणा से प्रातिपुद्गलिक व्यक्तिगत, दक्षिणा को अधिक फलदायक मैं नहीं मानता।

किसी को दहर[15] (छोटा) समझ अपमान नहीं करना चाहिए। विशेष कर भुजंग, अग्नि, क्षत्रिय और भिक्षु के अपमान का परिणाम अच्छा नहीं बतलाया है ! इच्छितों[16] में मुख पुण्य है, यजन (पूजा) करने में मुख संघ है। जो विद्या[17] और आचरण युक्त है वह देव मनुष्यों में श्रेष्ठ है। जो कोई जातिवाद में बंधे हैं गोत्रवाद में बंधे हैं, अभिमान वाद में बंधे हैं, आवाह-विवाह में बंधे हैं, वह अनुपम विद्याचरण सम्पदा से दूर है, अम्बष्ठ ! तू जातिवाद बंधन, गोत्रवाद बन्धन, मानववाद बंधन, आवाह-विवाह बंधन छोड़ कर अनुपम विद्याचरण सम्पदा को प्रत्यक्ष कर भगवान्[18] गौतम ने कूट दंत सुत्त में सोलह परिष्कार त्रिविध यज्ञ से भी अधिक फलदायी, इस नित्यदान अनुकूल यज्ञ से भी अल्प सामग्री वाला, अल्प समारम्भ वाला

13. दक्षिण विभंग सुत्त, म० नि० 3।4।12 बु० च० 71
14. वही बु० च० 73
15. जटिल सुत्त सं० निकाय 3।1।1, बु० च० 85
16. सेलसुत्त म० नि० 2।5।3 बु० च० 154
17. अम्बद्ध सुत्त बु० च० 201
18. कू० द० सुत्त

और महाफलदायी, महामाहात्म्यवाला कहा है। ब्राह्मण यह जो चारों दिशाओं के संघ के लिए बिहार बनवाना है, यह भी समाज में कल्याण की भावना को प्रसारित करने के लिए है। उन्होंने आगे कहा—समाज[19] के प्रति मनुष्य का दृष्टिकोण तथा उसके उचितानुचित कर्तव्य का विवेचन किया है—जो नर निद्रालु, बहुतों से सम्पर्क रखने वाला, अनुद्योगी आलसी और क्रोधी है वह अवनति पाता है तथा जो समर्थ होने पर भी दुबले और बूढ़े माता-पिता का पोषण नहीं करता वह अवनति पाता है। जो श्रमण ब्राह्मण तथा याचक को मिथ्या भाषण से धोखा देता है वह अवनति पाता है। भगवान् बुद्ध ने सामान्य हेय तथा निंद्य बातों को त्यागने के लिए कहा कि जिन के कारण मनुष्य अवनति पाता है। यथा अकेला स्वादिष्ट भोजन करने वाला, नर, जाति तथा गोत्र का गर्व करने वाला, स्त्रियों के पीछे पड़ने वाला, शराबी, जुआरी, वेश्या सेवी आदि। उन्होंने वृषल[20] सुत्त में समाज में हिंसा, चोरी, पाप, मिथ्यायत धारी और क्रोधी, वैरी, ईर्ष्यालु जो भोजन के समय आने पर ब्राह्मण या श्रमण को अन्न नहीं देता तथा जो आत्मार्थ या परार्थ झूठी गवाही देता है उसे वृषल कहा है।

कर्म का महत्व—जाति का नहीं—कोई जाति से वृषल नहीं होता और न जाति से ब्राह्मण। कर्म से वृषल होता है और कर्म से ब्राह्मण। सोपाक नामक चाण्डाल पुत्र मातंग नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिसने दुर्लभ परम यश को प्राप्त किया उसकी सेवा में अनेक क्षत्रिय तथा ब्राह्मण लगे रहते थे। वह कामराग का दमन कर शुद्ध महापथ में, दिव्य यान पर सवार होकर ब्रह्मलोक को गया। जाति ने ब्रह्म लोक में जन्म लेने से उसे नहीं रोका। वैदिक कुल में जन्म लेने वाले मन्त्र बन्धु ब्राह्मण जो पापी होते हैं वे इस लोक में गर्हित दूसरे जन्म में उनकी दुर्गति होती है। जाति न तो उन्हें दुर्गति से बचाती है और न निन्दा से।

मछलीमांस[21] के वर्जन मात्र से आमगन्ध का वर्जन नहीं अपितु इसके लिए सभी पापों को त्यागना चाहिए। उन्होंने जीव हिंसा, क्रोध, मद ढिढाई, विरोध, माया, ईर्ष्या, आत्म प्रशंसा, मानातिमान, बुरों की संगति, दुराचारी, क्रूर कठोर अदानशील है व आमगन्ध सेवी ही है। यज्ञों[22] में अग्निहोत्र मुख्य है। छन्दों में सावित्री मुख्य है, मनुष्यों में राजा, नदियों में सागर, नक्षत्रों में चन्द्र, तेजस्वियों में सर्प मुख्य है, पुण्य की आकांक्षा में देने वाली वस्तुओं में संघ ही मुख्य है। हम

19. परामवसुत्त, सु० नि०, 6,8,10
20. वृषल सुत्त, सुत्तनिपात्त, 1-7
21. आमगन्ध सुत्त—सुत्तनिपात
22. पुंज आकंखमानानं, संघो वे यजतं मुखं ति। सेल-सुत्त, सुत्तनिपात्त, 22

शाक्य[23] अभिमानी होते हैं यह उपाली नाई चिरकाल तक हमारा सेवक रहा है। इसे भगवान् पहले प्रव्रजित कराएं जिससे हम इसका अभिवादन, प्रत्युत्थान करें, झिझक न करें, हम शाक्यों का शाक्य होने का अभिमान क्षीण हो।

भगवान् बुद्ध ने राजा महाविजित ने पूर्व जन्म में पुरोहित के रूप में रहकर किस प्रकार यज्ञ की रूपरेखा में पूर्ण परिवर्तन किया था, इसका वर्णन कूटदन्त सुत्त दीर्घ निकाय में विशद रूपेण वर्णित किया है यथा श्रमण गौतम सोलह परिष्कारों सहित त्रिविध यज्ञ सम्पदा को जानते हैं। यह पूछने पर कि इस महायज्ञ से भी फलदायी यज्ञ कौन है तो उन्होंने शीलवान् सदाचारी प्रव्रजितों को दान देना, विहारों का निर्माण, तथा बुद्ध धर्म तथा संघ की शरण में जाना बतलाया। उन्होंने यज्ञ में व्यय होने वाले महाद्रव्य की उपयोगिता से लिए राजा को उचित निर्देश दिए यथा—'ब्राह्मण ! उस यज्ञ में गायें नहीं मारी गई, भेड़ें नहीं मारी गई, न यूप के लिए वृक्ष काटे गए, न पर हिंसा के लिए दर्भ काटे गए। जो उसके दासप्रेष्य थे उन्हें भी तंग नहीं किया गया। जिन्होंने जो चाहा उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा उन्होंने नहीं किया। घी, तेल, गुड़, मक्खन, दही, मधु से ही यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ।

राजन् ![24] आपके राज्य में जनपद मे कृषि गो पालन करने में उत्साह रखते हैं। उनको आप बीज और भोजन सम्पादित करें, वाणिज्य करने का उत्साह रखते हैं, उनका आप पूँजी प्राभृत देकर अपने राज पुरुषों का वेतन भत्ता बढ़ायें जिससे आपको महान् धन-धान्य की राशि प्राप्त होगी और जनपद भी बीज सहित, कंटक-रहित और क्षेमयुक्त होगा। मनुष्य भी गोद में पुत्रों को नचाते हुए खुले घर विहार करेंगे।

चातुर्वर्णी शुद्धि— जाति कर्मणा है जन्मना नहीं। चातुर्वर्णी शुद्धि के विषय में ने आस्सलायण[25] सुत्त में मज्झिम निकाय में आश्वलायन माणवक ने भगवान् से कहा—हे गौतम ! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं, ब्राह्मण ही श्रेष्ठ हैं, दूसरे वर्ण छोटे हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, दूसरे कृष्ण वर्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न, ब्रह्मभुज, ब्रह्म-निर्मित, ब्रह्मा के दायाद हैं। आश्वलायन को भगवान् ने समझाया कि चरित्र ही, आचरण ही इस श्रेष्ठता की कसौटी है। जन्म से ब्राह्मण होना कोई श्रेष्ठत्व का मापदण्ड नहीं है। यथा—'तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्षत्रिय, प्राणहिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, बकवादी, लोभी, द्वेषी, मिथ्या दृष्टि (झूठी

23. अनुरुद्धादिकी प्रव्रज्या चुल्लवाग—बु० च० 57
24. कूट दत्त सुत्त—बु० च० 218
25. बु० च०, पृ० 167

धारणा वाला हो) तो क्या; काया छोड़, मरने के बाद अपाय, विनिपात, नरक से उत्पन्न होगा या नहीं ? ब्राह्मण प्राणि हिंसक है । नरक से उत्पन्न होगा या नहीं, वैश्य, शूद्र नरक से उत्पन्न होगा या नहीं । हे गौतम ! क्षत्रिय भी प्राणि हिंसक हो. नरक में उत्पन्न होगा, ब्राह्मण भी वैश्य, शूद्र भी, आगे चल कर भगवान् ने यह समझाया कि क्या ब्रह्मण ही पाप हिंसा से विरत होता है, चोरी से विरत होता है, दुराचार, झूठ, चुगली, कटु वचन बकवाद से विरत होता है । अलोभी, अवेषीसम्यक् दृष्टि हो शरीर छोड़ मरने के बाद सुगति, स्वर्गलोक में उत्पन्न होता है अथवा नहीं ।

तो क्या मानते हो, ब्राह्मण ही बैर रहित, द्वेष रहित, मैत्री चित्त की भावना कर सकता है अन्य नहीं, क्या ब्राह्मण ही मंगल (स्वस्ति) स्नानचूर्ण लेकर ही जा सकता । जो यह क्षत्रिय ब्राह्मण वैश्य शूद्र कुलों से उत्पन्नों द्वारा शाल सरल चन्दन पद्म की उत्तरारणी को लेकर अग्नि उत्पन्न की गई है, तेज प्रादुर्भूत किया गया है, क्या वही अर्चिमान्, वर्णवान्, प्रभास्वर अग्नि होगा ? उसी आग से अग्नि का काम लिया जा सकता है और जो वह चांडाल नीच कुल वाले रथकार पुक्कस, आदि के द्वारा पान, रेंड आदि सामान्य लकड़ियों से उत्तरारणी को लेकर जो उत्पन्न आग है, प्रादुर्भूत तेज है वह अर्चिमान्, वर्णवान् प्रभास्वर न होगा ? उस आग से अग्नि का काम नहीं लिया जा सकता । इस प्रकार के उदाहरणों द्वारा उन्होंने जाति बन्धन को तोड़ डाला और समाज में क्रान्ति ला दी ।

उन्होंने संघ[26] को व्यक्ति से ऊपर और विशेष महत्व देते महा प्रजापति गौतमी के नये धुस्से के जोड़े को देते हुए कहा—'भन्ते । यह अपना ही काता, अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा जोड़ा भगवान् को अर्पण है । भन्ते कृपा कर इसे स्वीकार करें । भगवान् ने कहा—'गौतमी ! इसे संघ को दे दे । संघ को देने से मैं भी पूजित हूँगा, और संघ भी । आनन्द ! मैं संध विषयक दक्षिणा को असंख्येय, अपरिमित फलवाली कहता हूँ । आनन्द ! किसी तरह भी संघ विषयक दक्षिणा से प्राप्ति पुद्गलिक (व्यक्तिगत) दक्षिणा को अधिक फलदायक में नहीं मानता ।'

इस प्रकार त्रिपिटक साहित्य में से कतिपय उद्धरणों द्वारा भगवान् बुद्ध का सामाजिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया।

(घ) श्रुति ग्रन्थों में प्राप्य सामाजिक नीति तत्वों का उन पर प्रभाव

श्रुति ग्रन्थों में सामाजिक क्षेत्र का भी उतना ही प्राधान्य रहा है जितना

26. दक्षिणा विभंगसुत्त म० नि०, पृ० 81-82

कि व्यक्तिगत क्षेत्र का। सामाजिक भावना को व्यक्त करने के जिए ऋग्वेद[27] में सभी विरोधों को छोड़ कर एक साथ रहने, बोलने और पक्षपात रहित वृद्धि करने के संकेत मिलते हैं। उसी में मनुष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा है कि जो तुम्हारा मन्त्र है वह समान हो और जो तुम लोग मिल कर विचार करो वह हितकारी, धर्मयुक्त हो और मन भी विरोध रहित हो अथर्व वेद में भी इसी प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं, इसमें हृदय की एकता, मन की एकता, घृणा से मुक्ति, एक दूसरे की प्रसन्नता आदि का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद की यह वाणी 'मित्रस्य चक्षुषा' सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे' में सभी प्राणियों के प्रति मित्रभावना का विचार प्राप्त होता है।

सामाजिक जीवन में आश्रमों का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। बौद्धों में सन्यास का ही प्राधान्य है और उनका सम्पूर्ण झुकाव इसी की ओर है, वे संसार के सुखों से उदासीन होने का उपदेश प्रारम्भ से ही देते हैं। अतः यह सन्यास प्रधान विचारधारा है। दुखितों को दुखी देखकर पीड़ित अनुभव करना अथर्व वेद में सुन्दर प्रकार से वर्णित किया गया है। जो तेजस्वी[28] लोग बद्ध मनुष्य को अपने मन और चक्षु से अनुकम्पापूर्ण दृष्टि से देखते हैं, उन्हें ही प्रजा जन के साथ रमण करने वाले विश्वकर्ता तेजस्वी देव प्रथमतः विशेष रीति से मुक्त करता है। दीनदुःखियों पर जो दया करते हैं, उनकी दीनता को दूर करने के लिए अविश्रांत परिश्रम करते हैं, उन्हें ही सबसे प्रथम मुक्त करता है क्योंकि विश्व निर्माता देव (प्रजया (संरराणः) जनता में रहता हुआ उनके आनन्द से आनन्दित होने वाला है। दुःखों को देख कर खिन्न होता है और जनता को कष्ट देने वाले उन दुष्टों के विनाश के लिए प्रेरणा करते हैं। बुद्ध से पूर्व ब्राह्मण विचारधारा में यज्ञों के नियमों के पालन में कठोरता थी और सहिष्णुता का अभाव था। कृषक, कलाकार, पण्डित, शासक तथा पुरोहित प्रत्येक का विशिष्ट स्थान था। उनके अभ्युदय का मार्ग निश्चित था जिसकी उपलब्धि हेतु धैर्य, सन्तोष शान्तिपूर्वक जीवन बिताने के लिए उत्साह था किन्तु व्यक्तिगत उद्योग का अभाव था। प्रत्येक व्यक्ति नियमित यज्ञों के पालन द्वारा उचित अभ्युदय को पा सकता था। इसमें कष्टों को अनिच्छापूर्वक सहन करने को बाध्य

27. संगच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जानताम्
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋ० 10।191।2,3
28. ये वाध्यमानमनुदीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्रमुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः अथर्व० 2।34।3

होना पड़ता था, जिसमें मानव के मन में क्षोभ था। भगवान् बुद्ध ने समाज में व्याप्त इस व्यक्तिगत बाधा को एक स्वतंत्र चिन्तन के रूप में बदला और ऐसे मार्ग की खोज निकाली जिससे सामान्य समाज को लाभ हो सके। जैसे ब्राह्मण विचारधारा में भी अहंकार आदि का निराकरण करके सर्वस्व त्याग के उदाहरण मिलते हैं वैसे ही बौद्ध विचारधारा में अहंकार और त्वं के त्याग की भावना का उदय हुआ और उन्होंने इस 'मैं और तू' को समाप्त करने के लिए अनात्मवाद, अनीश्वरवाद का उपदेश दिया क्योंकि जब तक इन का निराकरण नहीं होता समाज में अकर्मण्यता का निराकरण नहीं होता। पहले अपनत्व के भाव से छुटकारा मिले जोकि दुःख और दोष का उत्पादक है।

बुद्ध की दृष्टि में सामाजिकता के भाव निम्न पंक्तियों में स्पष्टतया रखे जा सकते हैं जोकि उन्होंने श्रुति ग्रन्थों के वर्णन के अनुकूल कहे हैं !

> चरथभिक्खवे चारिकाम् बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय
> लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देव मनुष्याणाम्[29]

उन्होंने भिक्षुकों को लोकहित की भावना से चारिका भ्रमण करने का आदेश उपदेश दिया !

बौद्ध भिक्षु स्वयं अपने पाप तथा दुःख की मुक्ति के लिए प्रयासशील हुए। बोधि सत्व का सिद्धान्त भिक्षुओं ने सच्ची आध्यात्मिक वृत्ति के निरोध में सार्वजनीन रूप देने के लिए चलाया। भगवान् बुद्ध की महाकरुणा का भाव सार्वजनीन रूप की आधारशिला है। थेर गाथा के रचयिता भी अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार यद्यपि बौद्ध विचारधारा में भी कहीं कहीं संकीर्णताएं मिलती हैं किन्तु परिणाम सामाजिक उत्थान में ही है। मिलिन्द प्रश्न का रचयिता भी यह घोषणा करता है कि अर्हत् को अपने दुःख तथा पीड़ा के विनाश के लिए प्रयत्न करना चाहिए। सभी प्राणियों[30] के प्रति दण्ड का त्याग कर, उनमें किसी को भी न सतावे। पुत्र की इच्छा न करो, साथी की बात तो दूर अकेला विचरे, खड्ग विषाण की तरह। मित्र लाभ की प्रशंसा के कारण श्रेष्ठ और समान मित्रों की संगति करनी चाहिए।

---

29 विनय 1-21, दी बौद्ध सत्य डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० 29

30. सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं, अविहेठयं अंज्जतरं पि तेसं।
न पुत्तमिच्छेय्य कुतो सहायं, एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥
खग्गविसाण-सुत्तं 1 सुत्त निपात

बौद्ध विचारधारा में बोधि सत्व के लिए प्राणिमात्र के प्रति प्रेम तथा उपदेश देना उन्हें एक कर्तव्य के रूप में करने का उपदेश दिया गया था। यह भी एक साधना ही मानी गई थी और उन्होंने कहा था कि अपना सर्वस्व विक्रय करके भी मेरा अनुगमन करो। इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध विचारधारा में जिन सार्वभौम तत्वों को सामाजिक उत्थान का आधार माना गया है वे सभी ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त होते हैं।

(ड) बुद्ध वचनों में विभिन्न सांस्कृतिक मान्यताएं

संस्कृति शब्द को, इससे पूर्व कि हम बुद्ध वचनों में इसकी मान्यता को प्रदर्शित करें, पूर्ण रूप से देखना उचित होगा, इस शब्द से क्या अर्थ है ? संस्कृति आचार-विचार का ही दूसरा नाम है। यह आचार-विचार बुद्धि तथा अनुभव ज्ञान पर आधारित रहती है। बुद्धि जन्य ज्ञान में आचार आ जाते हैं, जिन्हें सभ्यता कहते हैं। यह आचारवान् सभ्यता परिवर्तनशील रहती है किन्तु संस्कृति इन आचार-विचारों को प्रभावित करने वाली होती है, यही कारण है कि संस्कृति को मानव बुद्धि जन्य न कह कर खोज कहना युक्तिसंगत होगा। इसी संस्कृति के विषय में हम बौद्ध विचारधारा में कुछ स्थलों को उपस्थित करते हैं। बौद्ध विचारधारा की सांस्कृतिक मान्यताओं के प्रभाव को भारत ही नहीं विदेशों में भी पाते हैं। बौद्ध संस्कृति श्रामणिक है। श्रामणिक का यह अर्थ कदापि नहीं कि भारतीय सांस्कृतिक विकास के इतिहास में श्रमण संस्कृति किसी सर्वथा नवीन संदेश के साथ अवतरित हुई है अपितु इसकी परम्परा का मूल स्रोत प्राचीन वैदिक युग की ब्राह्मणिक संस्कृति की प्रतिक्रिया तथा उसके प्रभाव को स्पष्ट दर्शाती है।

सिंधु सभ्यता सम्बन्धी अवशिष्ट चिह्नों द्वारा इस पर यथेष्ट प्रकाश डाला जा सकता है। वैदिक साहित्य में अनादि काल से ही तपश्चर्या द्वारा ऋभुओं[31] ने देवत्व प्राप्त कर लिया था। तपश्चर्या की साधनाओं द्वारा मृत्यु पर विजय पा लेने का प्रयत्न सतत रहा है तथा ब्रह्म लोक की कामना करते हुए, व्यक्ति अपना घरबार छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण करते एवं भिक्षा चरण में प्रवृत्त हो जाया करते थे। भगवान् बुद्ध के युग में भी इनका प्रचार बाहुल्येन था। तदनुकूल आचरण करने वालों के विविध सम्प्रदाय उन्हीं के समय में समाज में विद्यमान थे। दीर्घ-निकाय के ब्रह्म जाल सुत्त में इनका स्पष्ट वर्णन मिलता है।

इस श्रमण विचारधारा की तपश्चर्या या प्रव्रज्या का प्रभाव वृद्धिगत था तथा इस श्रमण व्यवस्था में आकर्षण विशेष हो चुका था। उसके प्राबल्य के उदाहरण मिलते हैं कि पति-पत्नी भी सामान्य विरोध पर भिक्षु संघों में प्रवेश कर लेते थे।

31. ऋ० 4।33।1

राजा का दास[32] भी यदि वह भिक्षु बनकर काषाय चीवर पहन ले और थोड़े से भोजन, आवास और एकांत जीवन से सन्तुष्ट रहे तो राजा उसके लिए सम्मानित स्वागत, चीवर, पात्र, आवरण, भेषज, एवं रक्षा की व्यवस्था करेगा। इसी कारण सन्यास आश्रम का ब्राह्मण विचारधारा में स्वभावतः सम्मानार्ह स्थान रहा है। यद्यपि बौद्ध विचारधारा में भी ऐसे उदाहरण थेर तथा थेरी गाथाओं तथा उदान में लभ्य है जहाँ समस्त भौतिक सुखों को त्याग देने पर भी सन्यस्त होने पर भी मानसिक एवं नैतिक दुर्बलताओं के साधारण उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं।

भगवान् बुद्ध ने अपने समय में प्रचलित दार्शनिक मतों से पर्याप्त प्रेरणा ली है, ऐसा मेरा विश्वास है क्योंकि उस समय पौरोहित्य कर्मकाण्ड तथा वितण्डावाद की प्रतिक्रिया का समारम्भ मुण्डक आदि उपनिषदों में लभ्य होता है। बुद्ध के समय तक दुःखवाद, क्षणिकवाद, कर्मवाद आदि संकेत सुलभ हैं। उनके युग में केवल औपनिषदिक विचारधारा ही प्रचलित न थी अपितु यति विचारधारा भी श्रमणप्रवाहित हो रही थी। न्याय, साँख्य तथा योग दर्शनों की अनेक बातें वातावरण में व्याप्त थी। इस प्रकार इन से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। कतिपय देशीय तथा विदेशीय विद्वानों ने साँख्य एवं योग दर्शन की शिक्षा ग्रहण की थी। अश्व घोष ने अपनी रचना बुद्धचरित के बारहवें सर्ग में अराडदर्शन का उल्लेख किया है। यदि मानें तो भी आधुनिक साँख्य का विकसित रूप तो बुद्ध के पश्चात्‌कालीन है अतः कतिपय अपक्व विचार अवश्व बुद्ध के काल में रहे होंगे।

पश्चात्‌कालीन वर्णनों में ब्राह्मण विचारधारा को मंत्र-तंत्र, टोना-टोटका, भूत विद्या, स्वप्न विचार, शकुन शास्त्र आदि विषयों के लिए ही महत्वपूर्ण बतलाया जाने लगा था। यह प्रभाव अथर्ववेदीय विभिन्न वर्णनों तथा उपचारों का ही है। वैदिक मंत्रों के ज्ञाता ब्राह्मण याजक तथा पुरोहित इन मंत्रों से जनकल्याण के करने के लिए पूर्णतः जनता के लिए विश्वसनीय बन जाते थे। उन्हीं के अनुकरण में बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रचारकों ने भी इसे अपना लिया जो उनके सुधारपरक विचारों के प्रतिकूल प्रतीत होती है।

त्रिपिटिक साहित्य से साँस्कृतिक मान्यताओं के वर्णन के कतिपय स्थलों को उद्धृत करते हुए हम विषय को समाप्त करते हैं। भगवान् ने सत्यवादन[33] को व्यवहार में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महती आवश्यकता समझाते हुए राहुल से कहा. 'राहुल, ! जिसे जान बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उसके लिए कोई भी पाप कर्म अकरणीय नहीं ऐसा मैं मानता हूँ, इसलिए राहुल ! हंसी में भी झूठ नहीं बोलूंगा' यह सीख लेना चाहिए। काय कर्म, वचन कर्म, मन कर्म से करने वाले

32. 'डायलाग्स' (1-77) हिन्दू सभ्यता, पृ० 220, डा० राधा कुमुद मुकर्जी।
33. राहोलवाद सुत्त म० नि० बु० च० पृ० 62-63

सभी कर्मों का प्रत्यवेक्षण करना चाहिए कि यह मेरा काय, वचन, मन, कर्म मेरे लिए दूसरे के लिए अथवा दोनों के लिए पीड़ादायक तो नहीं है, अकुशल कर्म तो नहीं है, अच्छा काय, वचन, मन कर्म है सुखदायक है, सुख के हेतु है ऐसा प्रत्यवेक्षण परीक्षण करके कार्य करना चाहिए। अकुशल कर्म को अपने शास्ता के पास या विज्ञ गुरु भाई (सब्रह्मचारी) के पास खोलना चाहिए। राहुल ! जिन किन्हीं श्रमणों या ब्राह्मणों ने अतीतकाल से कार्यकर्म वचनकर्म, मन कर्म परिशोधित किए, उन सभी ने प्रत्यवेक्षण कर, परिशोधित किए। इस प्रकार कुशल कर्म बौद्ध संस्कृति का प्राणभूत तत्व है।

उन्होंने अपने से अग्रज को सम्मान[34] देने पर बड़ा बल दिया, उन्होंने कहा कि आयु में जो बड़ा हो, उसे सम्मान देना अनिवार्य है। इसी का वर्णन अनाथपिंडक की दीक्षा में अग्रपिंड के योग्य आदि अभिधान से विस्तार से वर्णित है।

'धर्म को जान कर जो मनुष्य वृद्ध का सत्कार करते हैं।' (उनके लिए) इसी जन्म में प्रशंसा है और परलोक में सुगति।

समाज[35] में प्रजातांत्रिक पद्धति में आस्थाबहुलतया सन्निपात में ही बल, अजातशत्रु के वज्जियों पर आक्रमण करने की इच्छा के विषय में भगवान् ने कहा 'वज्जी इकट्ठा होने वाले रहेंगे, सन्निपात बहुल रहेंगे तब तक आनन्द वज्जियों की वृद्धि समझना हानि नहीं। चरित्र पर बल देते हुए उन्होंने समझाया कि वज्जियों[36] के जो महल्लक वृद्ध है, उनका गुरुकार सत्कार करते हैं। पूजते हैं उनकी बात सुनने योग्य समझते हैं। कुल स्त्रियों[37], कुल कुमारियों, उन्हें छीन कर जबर्दस्ती नहीं बसाते। नगर के भीतर बाहर जो चैत्य (चौरा देवस्थान) है, उनका सत्कार करते हैं, पूजते हैं, उनके लिए पहिले किए गए दान को, पहिले की गई धर्मानुसार बलि (वृत्ति) का लोप नहीं करते। वज्जी लोग अर्हतों (पूज्यों) की अच्छी तरह धार्मिक रक्षा, आवरण, गुप्ति करते हैं। भविष्य में अर्हत् राज्य में आवें, आए हुए अर्हत् राज्य में सुख से विहरे। जब तक वज्जी प्रज्ञप्त को प्रज्ञप्त, प्रज्ञप्त का उच्छेद नहीं करते जैसे प्रज्ञप्त है वैसे ही पुराने वज्जि-धर्म (वज्जि नियम) को ग्रहण कर बर्ताव करते हैं। सन्निपात बहुल, एक बैठक, गुरु सत्कार, कुल स्त्रियां, अर्हतों, चैत्यों, तथा अप्रज्ञप्त को प्रज्ञप्त आदि सात अपरिहरणीय धर्मों का सेवन करेंगे तब तक वृद्धि को प्राप्त होने का वर्णन सन्देश दिया है जो कि किसी भी सामाजिक संगठन राज्य के विकास के लिए है।

34. बु० च०, पृ० 69
35. महापरिनिब्बाण सुत्त, बु० च०, 485
36. महापरिनिब्बाण सुत्त
37. —वही—

भगवान् ने मागन्दिय[38] को समझाया कि तू सत्पुरुषों का सेवन कर जब तू सत्पुरुषों का सेवन करेगा तो सद्धर्म को सुनेगा तो सद्धर्म के अनुसार आचरण करेगा, तो स्वयं ही जानेगा, स्वयं ही देखेगा, यह रोग, गंड, शल्य है। सारे रोग शल्य निरुद्ध होते हैं। तब तेरे उपादान निरोध से भव निरोध, भव निरोध से जाति निरोध, जाति निरोध से जरामरण शोक परिदेव, दुःख दौर्मनस्य उपायासों का निरोध होता है, इस प्रकार दुःख स्कन्ध का निरोध होता है। इच्छितों में मुख पुण्य है, पूजन करने में मुख संघ है, इस प्रकार यज्ञ से भी बढ़ कर संघ हेतु किए गए कार्यों का प्राधान्य है।

प्रमाद न करने का उपदेश धम्मपद में अप्रमाद वग्ग में आया है। डाकू का मन परिवर्तन करने का वर्णन इस प्रकार है कि अंगुलिमाल[39] डाकू भी, भगवान् के ऋद्धिप्रातिहार्य से प्रभावित होकर एकाकी अप्रमत्त, संयमी हो विहार करते न चिरमे ही, जिसके लिए कुलपुत्र प्रव्रजित होते हैं, उस सर्वोत्तम ब्रह्मचर्य फल को इसी जन्म में स्वयं जानकर साक्षात्कार कर विहार कर जन्म क्षीण हो गया, ब्रह्मचर्य पालन हो चुका, अर्हतों में एक हुए। अंगुलिमाल ने अपने पहले प्रमाद को स्वीकार करते हुए पश्चात् में प्रमाद न करने तथा पूर्व में किया गया पाप कर्म पश्चात् के पुण्य कर्म से आच्छादित कर अपने को दमन किया। भगवान् बिना शस्त्र बिना दण्ड के दमन करते हैं। मैं पहले अहिंसक था किन्तु वह नाम अब सार्थक हुआ, लोहित-पाणि था, मेरी तृष्णा नष्ट हो गई है। मत प्रमाद में फंसो, मत कामरति में लिप्त हो। तथागत द्वारा बतलाए गए धर्मों में जो श्रेष्ठ है, उस (निर्वाण) को मैंने पा लिया है। स्वागत है, अपगत नहीं है, तीनों विद्याओं को पा लिया, बुद्ध के शासन को करा लिया है।

जो कायिक[40] आचरण अपनी पीड़ा के लिए है, परपीड़ा के लिए होता है, दोनों की पीड़ा के लिए होता है उससे अकुशल धर्म बढ़ते हैं, कुशल धर्म नष्ट होते हैं। अन्य तीर्थकों को प्रभावित करने के उपरान्त उन्होंने अपने अज्ञान को स्वीकार करते हुए कहा कि हम नष्ट थे, हम प्रनष्ट थे, हम पहले अ-श्रमण होते ही 'श्रमण हैं' का दावा करते थे, अ-ब्राह्मण होते 'ब्राह्मण हैं' का दावा करते थे। अर्हत् न होते 'अर्हत् हैं' का दावा करते थे। अब हैं हम श्रमण,—ब्राह्मण—अर्हत्। यह भी—। इस प्रकार हमने कतिपय स्थलों को यहां उद्धृत किया है कि जिनसे त्रिपिटक साहित्य में सांस्कृतिक दृष्टिकोण की रूपरेखा प्रस्थापित की जा सकी है जिनमें विभिन्न गुणों की प्राप्ति पर बल दिया गया है।

38. मागन्दिय सुत्त, पृ० 300
39. अंगुलिमाल सुत्त म० नि०, पृ० 359-60
40. धम्मचेतिय-सुत्त, म० नि०, पृ० 369

(च) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त सांस्कृतिक मान्यताओं का प्रभाव

ब्राह्मण सांस्कृति में ऐसी प्रेरक शक्तियां हैं जो आत्मा को आध्यात्मिक क्षेत्र में ऊपर उठा कर मानव मात्र का कल्याण करती है। इस प्रकार श्रेयस्कर आन्तरिक गुणों से ओतप्रोत होने के कारण यह संस्कृति है। आदि काल से आंतरिक गुणों का ही दूसरा नाम संस्कृति होकर संस्कारों के रूप में एकत्र होकर संस्कृति नाम से कही जाती हैं। यह संस्कृति हमारे सामाजिक व्यवहारों को निश्चित करती है। ब्राह्मण संस्कृति में त्याग, तपस्या, लोक सेवा, लोक संग्रह, उदारता आदि आदर्श गुण मिलते हैं।

ऐहिकता तथा पारलौकिकता—ऐहिकता तथा पारलौकिकता का सुन्दर समन्वय इस विचारधारा की विशेषता थी। इसमें न केवल भौतिकवाद को ही महत्व दिया जाता था बल्कि अध्यात्मवाद को भी। श्रुति ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर भौतिक समृद्धि की आकांक्षा दर्शाई गई है। इन्द्र[41] से अच्छे धन, बुद्धि, आत्मिक गरिमा, धन की वृद्धि, स्वास्थ्य, वाणी का माधुर्य, और शुभ दिनों की कामना की गई है। अंगों की बलिष्ठता के लिए प्रार्थना करते हुए तेज, बल, बुद्धि, ज्ञान वर्चस्व ख्यात आदि के लिए अनेकशः प्रार्थनाएं ऐहिकता को द्योतित करते हैं। साथ ही निद्रा,[42] व्यर्थ का आलाप, जुआ आदि बुरी आदतों से बचने की भी प्रार्थना है।

पारलौकिकता—अच्छे मार्ग से जाने के लिए अग्नि से अनेकशः प्रार्थना की गई है जिससे परलोक ठीक रहे, उस परम तत्व की ओर जिज्ञासा, जिससे मोक्ष भी मिले, 'तन्मै मनः शिव संकल्पमस्तु', ऋत तथा सत्य का अनुशीलन, व्रती, संयमी होकर अनुशासित जीवन के द्वारा परलोक को सुधारा जा सकता था। श्रुति ग्रन्थों में सुखों की प्रार्थना में भौतिकवादी दृष्टि को ही नहीं अपनाया था अपितु आध्यात्मिक जीवन में सांस्कृतिक दृष्टिकोण के द्वारा जन-जीवन के हित की भावनाएं भी अनेकशः प्रतिपादित है। अध्यात्मवाद का निरूपण, असुर्या नाम तथा अनन्दा नाम के लोकों के वर्णनों द्वारा पुनर्जन्म तथा कर्म के सिद्धान्त की सर्वमान्यता इस विचारधारा के नैतिक तथा सांस्कृतिक पक्ष का समर्थन करती है। इन उपर्युक्त

---

41. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि, चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वम् अस्मे।
पौषंरयीणाम् अरिष्टिंतनूनां, स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वम् अह्नाम्।
ऋ० 2।21।6

बलं धेहि तनूषु नौ बलम्; त्वं हि बलदा असि। ऋ० 3।53।18
सामान् नु राये निधिमन्नवन्नं करामहे। ऋ० 10।59।3
वयं स्याम पतयो रयीणाम्। ऋ० 10।121।10

42. मानो निद्रा ईशत मोत जल्पिः। ऋ० 8।48।14

चारों विषयों—ऐहिकता, पारलौकिकता, भौतिकता तथा आध्यात्मिकता का सुन्दर सामंजस्य हमें वर्ग चतुष्टय के सिद्धान्त के रूप में मिलता है। ये वर्ग धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति में विकसित होता है।

यह ब्राह्मण विचारधारा की संस्कृति का रूप था। जिसमें धर्म व मोक्ष का सम्बन्ध आध्यात्मिक उन्नति से, अर्थ व काम का भौतिकाभ्युदय से था। अर्थ से भौतिक सम्पदाओं का अर्जन कर ऐश्वर्योपभोग होता था, काम से उच्च कोटि की इच्छाएं आकांक्षाएं महत्वाकांक्षाएं जानी जा सकती हैं। धर्म से ज्ञानोपार्जन द्वारा आध्यात्मिक समुदाय के साधनों का अर्जन तथा मोक्ष के अन्तर्गत उन साधनों द्वारा आध्यात्मिकता को मूर्त स्वरूप दिया जाता था। इस प्रकार भौतिकता तथा आध्यात्मिक के मंजुल सामंजस्य की स्थापना के हेतु पुरुषार्थ चतुष्टय, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि के सिद्धान्तों की महती अपेक्षा अनुभूत की गई। आश्रम व्यवस्था के विकास का भी यही आधार रहा है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण वेदों से उद्धृत किये जा सकते हैं कि जिनमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष विषयिणी इच्छाओं का दिग्दर्शन प्राप्त हो जाता है किन्तु इन ग्रन्थों में कहीं भी स्पष्टतया चतुर्वर्ग जैसा संकेत लभ्य नहीं होता। यह वर्गीकरण के रूप में पश्चात्कालीन हुआ है। जो मानव के समग्र जीवन के सानुपातिक विकास का शोभन आधार है। आश्रम व्यवस्था व वर्ग चतुष्टय की सहायता से मानव की अपनी विभिन्न नैसर्गिक शक्तियों के सहज विकास का सुअवसर मिलता है इसी से युवा वर्ग का शारीरिक, मानसिक आत्मिक विकास सुचारूपेण अनुशासित ढंग से हो जाता है। आज के समाज में विशृंखलता इसी अव्यवस्था का परिणाम है। इसीलिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि से सम्बन्धित ज्ञानोपार्जन की व्यवस्था ब्राह्मण विचारधारा में ब्राह्मण स्मृति का प्रधान अंग थी। इसी परम्परा में शिक्षित, दीक्षित, मानव, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, काम शास्त्र तथा मोक्ष शास्त्र वेदान्त आदि दर्शनों के अध्ययन से पारलौकिक ज्ञान का भी श्रीगणेश हो जाता था, उनकी रुचि और जिज्ञासा की तृप्ति होकर समाज सुव्यवस्थित होता था जो वैषम्य, अशान्ति आज शिक्षा में है इस प्रकार के ज्ञान का अभाव से ही है।

किसी से भी घृणा[43] न करो चाहे विदेशी हो या पड़ौसी भी, जिससे हमने घृणा की हो उस पाप से हमें मुक्त कर। सभी साथ चलें, खायें, बोले हमारे सभी के मन एक से हों। बृहदारण्यकोपनिषद् के निम्नांकित वर्णन से किसी भी अध्यात्मवादी मनस्वी तपस्वी को प्रेरणा मिलना स्वाभाविक है। इसमें 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान हुआ—पहले यह ब्रह्म ही था, उसने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूं अतः वह सर्व हो गया। उसे देवों में से जिस जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसी

43. अर्यम्यं वरुणमित्र्यं वा, सखायं—सीमागश् चकृमा। ऋ० 5।85।7

प्रकार ऋषियों और मनुष्यों में से भी जिसने उसे जाना वह तद्रूप हो गया। उसे आत्मारूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने जाना में मनु हुआ, मैं सूर्य भी। इस ब्रह्म को जो इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूं, वह सर्व हो जाता है उसके पराभव में देवता भी समर्थ नहीं होते क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।

इसी प्रसंग में जो देवों को अन्य और अपने को अन्य समझ कर उपासना करता है वह देवों का पशु है। इस स्थल पर पशुओं के स्वामी ने मनुष्य का अच्छा उदाहरण दिया है कि जैसे अनेक पशु मनुष्यों के लाभ हित सेवा का कार्य करते हैं इसी प्रकार मनुष्य भी देवों के पशु के समान सेवक हैं जैसे एक भी पशु का अपने संरक्षण से हटना मनुष्य को प्रिय नहीं है उसी प्रकार देवों को एक भी मनुष्य का ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति की ओर अग्रसरित होना प्रिय नहीं है। इसीलिए वे पूजा में बाधक होते हैं।

इस वर्णन से निम्नांकित निष्कर्ष निकलते हैं कि सर्वप्रथम तो उस ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है। यह ऋषियों, मनुष्यों सभी के लिए सुलभ है तथा वामदेव ऋषि ने स्पष्टतया यह घोषित किया कि मैं ही मनु सृष्टि की आदि रचना तथा सूर्य भी हुआ। अतः मनुष्य के तद्रूप होकर सभी कुछ सर्व शक्तिमत्ता सम्पन्न होने का विश्वास हुआ क्योंकि अभी तक यह मानवों के लिए साध्य न था वे पहले देवों की उपासना करते तथा देवत्व प्राप्त करते थे।

ऋग्वेद में भी ऋभुओं के वर्णन में पहले उन्हें अर्द्ध देवत्व प्राप्त हुआ, पुनः देवत्व तो यह निश्चय हुआ कि देवत्व की प्राप्ति सुलभ है और उनके पास मनुष्यों से अधिक उपलब्धियां मात्र हैं, वे भी ब्रह्म ज्ञान के विषय में मानव के सदृश ही है। दूसरा निष्कर्ष यह निकला कि जिसे 'अहं ब्रह्मा स्मीति' ऐसा ज्ञान हो जाता है। उसका पराभव देव भी नहीं कर सकते। तीसरा निष्कर्ष यह है कि देव ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति में बाधक[44] है, साधक नहीं। वे कदापि मानव को इस ओर बढ़ने देना नहीं चाहते और उसे भौतिक सुखों में ही लीन रखना चाहते हैं। इसी कारण अनेक आख्यान देवराज इन्द्र द्वारा तपस्वियों की तपस्या में विघ्न करने के लक्ष्य होते हैं। देवों का, मनुष्यों का उन्नत होना उन्हें अप्रिय है। गीता में भी देवों की इस प्रकार की भावना का वर्णन प्राप्त होता है कि है कौन्तेय ! देव लोक कर्म परायण पुरुषों से भरा है, देवताओं को यह इष्ट नहीं

44. तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति —अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवंस देवानाम्—प्रियं भवतिकिमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः बृ० उ० 1।4।10

है कि मनुष्य उनसे ऊपर (ब्रह्मलोकादि में रहें)। पश्चात्कालीन वर्णनों में ब्राह्मण विचारधारा को मंत्र-तंत्र, टोना-टोटका, भूत विद्या, स्वप्न विचार, शकुन शास्त्र आदि विषयों के लिए ही महत्वपूर्ण बतलाया जाने लगा था। यह प्रभाव अथर्ववेदीय विभिन्न वर्णनों तथा उपचारों का ही है। वैदिक मंत्रों के ज्ञाता ब्राह्मण याजक तथा पुरोहित इन मंत्रों से जनकल्याण करने के लिए पूर्णतः जनता के विश्वसनीय बन जाते थे। उन्हीं का अनुकरण में बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रचारकों ने भी अपना लिया जो उनके सुधारपरक विचारों के प्रतिकूल प्रतीत होता है।

जनसाधारण की विचारधारा में दो प्रकार की भावधारा के संकेत हम प्रमुखतया पाते हैं। यथा एकधारा वाले व्यक्ति पूर्व प्रचलित परम्पराओं के अनुसार देवोपासना में विश्वास करते थे और वे देव धम्मिक अथवा देववतिक कहे जाते थे। दूसरा वर्ग विभिन्न प्रचलित पंथों का अनुसरण करते हुए गुरु विशेष के अनुयायी बन जाते थे। देव धम्मिकों की उपासना में भक्ति एवं श्रद्धा का अंश अधिक रहा करता था और वे किसी न किसी प्रकार की विधियों के अनुष्ठान भी करते थे। वे वे व्रतोपवासादि रखते हुए अपनी प्रार्थनाओं के बल पर इष्ट देवों की प्रसन्नता से अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करते थे। उनके इष्ट देव वस्तुतः विभिन्न दैवी गुणों के मूर्तरूप ही होते थे और वे उनके साथ सदैव सानिध्य का अनुभव करते थे। उपासक अपने अनुकूल इष्ट का चयन करके तदनुकूल व्यक्तित्व ही उसे प्रदान करता था। इसी प्रकार इष्ट देव के गुण तथा नामानुसार ही भक्त की भी ख्याति बढ़ती थी। इसका यह नियम दृढ़ीभूत सा ही प्रतीत होता है यथा चुल्ल[45] निदेश में 'ये येसां दक्खिणेय्यो ते तेसां देवता' अर्थात् जो जिसकी उपासना के योग्य जान पड़े, वे ही उनके देवता ठहराए जा सके। इस प्रकार के उपासकों में भी पुरोहित का महत्व था।

चुल्लनिदेश तथा अन्य पालि ग्रन्थों के आधार पर जनसाधारण में प्रचलित विचारधारा के तीन वर्ग प्राप्त होते हैं। 'सम्मतिदेव' सर्व सम्मति से स्वीकृत देव 'उपपत्ति' देव, उत्पत्ति से माने गए देव तथा 'विशुद्धि देव' की संज्ञा दी जाती थी जिससे अभिप्राय उन देवताओं से है जो विशेषतः शुद्धता या निर्मलता के कारण प्रसिद्ध थे। प्रथम वर्ग में राजाओं, रानियों, राजकुमारों की गणना तथा दूसरे वर्ग में जनता द्वारा पूजित अन्य देव आ जाते हैं और तीसरे वर्ग में विभिन्न प्रचलित मतों के प्रचारक, उनके शिष्य तथा अन्य सन्तों को गिना जा सकता है। 'देवधम्म जातक' तथा चुल्लनिदेस में इस प्रकार के देवों के अन्तर्गत सूर्य, चन्द्र, नाग, गरुड़, पक्ष, गन्धर्व, असुर आदि नामों का निर्देश है तथा वासुदेव, बलदेव, पुण्य भद्द,

45. चुल्ल निदेश, पृ० 39

भविभद्द तथा आजीवकों, निर्ग्रन्थों, जटिलो, परिब्बाजकों एवं अविरुद्ध का ही वर्णन नहीं अपितु चुल्लनिदेस में हाथी, घोड़ा, कुत्तों को भी पूज्य ठहराया गया दीख पड़ता है।

जादू-टोने तथा भयभीतियों के निराकरण हेतु यद्यपि इन सुधारवादी मतों में कोई स्थान नहीं होना चाहिए था, किन्तु ऐसी बात नहीं है कारण कि ये जन सम्पर्क के प्रमुख साधन थे. अतः इसका प्रभाव बौद्ध तथा जैन मत में भी लम्य होता है। 'जातक' में राजा 'पसेनदि' की महारानी ने अपने स्वप्न विचार के लिए ब्राह्मणों की अपेक्षा स्वयं गौतम बुद्ध को ही अधिक योग्य माना है। वस्तुतः प्राचीन पालि ग्रन्थों में भयों की संख्या का भी उल्लेख है और 'जातक' में तो इनकी संख्या 15 तक पहुंच गई है। मिलिन्द प्रश्न में 'सत्रह'। ऐसे भयों में शासकों का भय, चोर, डाकू और भूतों, अकाल, रोग भय आदि गिने गए हैं। बौद्ध धर्मानुयायिओं ने इनसे बचने के लिए विभिन्न 'परित्तों' के उच्चारण का महत्व दिया और जैनियों ने इसी विचार से उन अष्ट मंगलों[46] की व्यवस्था की जिनमें 'सोवत्थिय' (स्वस्तिक), 'सिरिवच्च' (श्रीवत्स), 'नन्दियावत्त' (नन्द्यावर्त्त), 'वद्धमाणाग' (वर्द्धमान), 'भद्दासण' (भद्रासन), 'कलश, मच्छ' (मत्स्य), और 'दप्पण' (दर्पण) के नाम गिने जाते है। वस्तुतः आदर्शवादो उदात्ततम विचार ही सांस्कृतिक दृष्टिकोण में उद्धृत किये गए हैं। इस प्रकार अन्य स्थलों के उद्धरण से कलेवर वृद्धि का ही भय है।

(छ) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

दोनों विचारधाराओं की सांस्कृतिक मान्यताओं में आदान-प्रदान की भावना का पूर्णतया पोषण प्राप्त होता है। यथा बौद्ध विचारधारा का दो प्रकार[47] से प्रभाव हुआ, एक तो इसने ब्राह्मण विचारधारा के सभी धार्मिक तथा दार्शनिक पक्षों को प्रभावित किया जो इसके विरोधी थे और दूसरा इसने केवल बौद्ध विचार-धारा के धार्मिक या दार्शनिक रूप मात्र को ही नहीं फैलाया अपितु भारतीय कला तथा साहित्य का भी प्रचार तथा प्रसार किया, इस प्रकार भारतीय संस्कृति के विकास में इसका बड़ा महत्व है।

निष्कर्ष के रूप में बौद्ध विचारधारा में कुछ बातों की अपेक्षा, कतिपय पर विशेष बल तथा सामान्य का अनुशीलन प्राप्त होता है।

देवों की निर्भरता से मुक्ति

इन्होंने देवों की पूजा का विरोध नहीं किया, किन्तु उन्हें भी निर्देशों की

46. औपपातिक सूत्र, भाग 49
47. हिन्दुइज्म तथा बुद्धिज्म, प्रथम भाग, सी इलियट, पृ० 20

अपेक्षा।[48] है अतः वे भी धर्म के मार्ग को पूर्णतया प्रदर्शित करने में असमर्थ हैं इसलिए उनकी उपेक्षा की। इसके द्वारा मानव में आत्मनिर्भरता आई और देवों की आशा में अकर्मण्यता का विनाश हुआ, उसे आत्म बल मिला और उसे अपनी आन्तरिक असीम शक्ति का आभास हुआ, जिसे वह ज्ञान की उपलब्धि और आत्म साक्षात्कार में तो उपयोग कर ही सका साथ ही उसका दैनिक जीवन भी बाह्य आडम्बरों, मिथ्या दृष्टियों से मुक्त हो, सम्यक् दृष्टि की ओर उन्मुख हुआ। व्रतों की हीनता बताते हुए कि, 'कुक्कर व्रत अचेल सेनिय के व्रत के विषय में भगवान् ने कहा, 'मैं इस (कुक्कुर के) शील, व्रत, तप, ब्रह्मचर्य से देवों में से कोई देवता होऊंगा, तो उसकी यह मिथ्या दृष्टि है। मिथ्या दृष्टि पुरुष को मैं दो गतियों में से एक ही गति कहता हूं, नरक या तिर्यक् पशु योनि।

सभी एषणाओं के त्याग से युक्त कर्म

दोनों विचारधाराओं में कर्म के सिद्धान्त पर बल दिया गया है। मनुष्य के लिए सत्य वचन तथा सद्गुणों के द्वारा सत्कर्मों के अर्जन पर बल दिया है। इस सिद्धान्त के स्थिर रूप को हम उपनिषदों में पाते हैं और वही युग बुद्ध विचारधारा के समीप है, किन्तु उस समय तक कर्म का सिद्धान्त,[49] कि मनुष्य के कर्म ही भावी जीवन का निर्माण करते हैं तथा उसका रूप भी निर्धारण करते हैं। निश्चित हो रहा था। इस प्रकार का विचार ब्राह्मण युग में नहीं था क्योंकि पुरोहित अपने यज्ञों के द्वारा स्वर्गीय सुखों को अपने यजमानों को प्राप्त करा सकते थे।

दुर्वचनों[50] का विरोध करते समय उन्होंने समझाया है कि क्रोध के हेतु उपनाह (ढोंग) तथा अभिषंग (डाह), प्रतिस्फुरण(प्रतिहिंसा)का त्याग करके संदृष्टि परामर्षी (शीघ्र फलदायी) धर्म को अपनाना चाहिए और आधानग्राही (हठी) और दुष्प्रति निस्सर्गी(न त्यागने वाला)को त्यागने पर बल दिया है। बुद्ध धर्म में सफलता पाने के लिए ग्यारह बातों का ध्यान करना आवश्यक है—रूप का जानने वाला, लक्षण कुशल होना, आसाटिका हटाने वाला, व्रण का ढांकने वाला,धुआं करने वाला, तीर्थ कोजानने वाला, पीत(पान)को जानने वाला, वीथी को जानने वाला, गोचर कुशल, सशेष दूध दुहनेवाला, तथा जो वृषभ उन्हें अतिरिक्त पूजा से पूजित करता है। इन ग्यारह बातों से मार्ग में सफलता मिलती है।

---

48. कुक्कुर वतिक सुत्त, म० नि० पृ० 233
49. हिन्दुइज्म, एण्ड बुद्धइज्म प्रथम भाग, सी इलियट, पृ० 94
50. महागोपालक सुत्त, म० नि०, पृ० 136

व्रतों का विरोध करते हुए भी हम उपोसथ का अनुशीलन तथा पूर्णमासी और अमावस्या आदि में दीक्षा देने का वर्णन हमें बुद्ध वचनों में प्राप्त होता है।

पाप-पुण्य, दान-दक्षिणा आदि प्रसंगों को भी हम दोनों के तुलनात्मक अध्ययन में विचार कर सकते हैं। इन सभी में दोनों दृष्टिकोण समान ही हैं, अन्तर इतना ही है कि बुद्ध वचनों में दान देकर उसके फलस्वरूप भौतिक उपलब्धियों की आकांक्षा न होकर मात्र पूर्णत्व (पारमिता) की प्राप्ति में योगदान है। व्यावहारिक रूप में उन्होने अरण्यवास को व्यर्थ घोषित किया है, यदि उपासक में संयम नहीं है। उन्होंने प्राणातिपात[51] (हिंसा), अदत्तादान (चोरी), मिथ्याचार, मृषावाद, पिशुनवचन, पुरुष वचन संप्रलाप, अभिध्या, (लोभ), व्यापाद, मिथ्या दृष्टि आदि को अकुशल धर्म बतलाते हुए सम्यक् दृष्टि को कुशल धर्म कहा है। ये ही प्रधान रूप से बौद्ध संस्कृति के तथा ब्राह्मण संस्कृति के प्रधान भूत एवं प्राणभूत तत्व हैं जो दोनों में समान रूप से मिलते हैं।

उन्होंने (भौतिक) आकर्षणों को हेय बतलाते हुए कहा है, कि महावर[52] लगे पैर, चूर्णक (पौडर) पोता मुंह, बालक (मूर्ख) को मोहने में समर्थ हैं, पारगवेषी को नहीं। उन्होंने अपने शिष्यों को धर्म दायाद बनने का उपदेश दिया क्योंकि दायाद उसके धन को हरते हैं, प्राणी तो जहां कर्म है (वहां) जाता है। मरते हुए के पीछे, पुत्र, दारा, धन और राज्य नहीं जाता। अल्प-प्रज्ञावान् इन पर विश्वास करके गर्भ और परलोक को पाता रहता है। दोनों संस्कृतियों का संदेश सार्वजनीन कल्याण में निहित है क्योंकि जहा 'सर्वेच सुखिन: सन्तु' मिलता है वहां 'चरथभिक्खवे चारिकाम् बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय[53]' भी प्राप्त होता है। इस प्रकार यह तुलनात्मक दृष्टिकोण संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है।

(ज) बुद्ध वचनों में प्रवृत्ति मार्ग से संबंधित तत्व

ब्राह्मण विचरधारा में प्रवृत्ति मार्गी तत्वों का प्राचुर्य रहा है क्योंकि उसमें सभी यज्ञ यज्ञादि कृत्य भौतिक सुखोपलब्धि हेतु तथा ब्रह्मलोक प्राप्ति हेतु ही किए जाते हैं। अर्द्ध देवत्व तथा देवत्वोपलब्धि उनका महान् लक्ष्य रहा है। इसी प्रकार देवत्वोपलब्धिअथवा देवनिकाय देवलोक में जन्म प्राप्त करने की इच्छा बौद्ध विचारधारा में सुलभ है यथा पांच[54]चित्त विनिबन्धों की विशद व्याख्या करते हुए कहा है कि

51. महावच्छ गौत सुत्त, म० नि०, पृ० 287
52. रट्ठापाल सुत्त; म० नि० पृ० 337
53. विनय 1-21
54. संगीति परियाय सुत्त, बु० च० पृ० 465

आवुसो ! भिक्षुकायों (कामवासनाओं) में अवीतराग, अवीतछन्द, अविगत प्रेम, अविगतपिपासा, अविगत परिदाह, अविगत तृष्णा होता, उसका चित्त प्रधान के लिए नहीं झुकता। जो उसका चित्त चित्त नहीं झुकता यह प्रथम विनिबन्ध है। (2) और आवुसो। काया में अविगत-तृष्णा होता है। (3) रूप में अवीत राग होता है। (4) और फिर आवुसो ! भिक्षु यथेच्छ पेट भर खाकर, शय्या-सुख, स्पर्श-सुख, मृद्ध (आलस्य) सुख लेते विहरता है। (5) और फ़िर आवुसो ! भिक्षु किसी एक देव-निकाय (देवलोक) की इच्छा से ब्रह्मचर्य पालन करता है—कि शील, व्रत, तप, ब्रह्मचर्य से मैं (अमुक) देव होऊंगा। जो आवुसो ! वह भिक्षु किसी एक देव निकाय की इच्छा से ब्रह्मचर्य पालन करता है, उसका चित्त प्रधान के लिए नहीं झुकता, यह पांचवां चित्त-विनिबंध है।

आठ[55] (कुसीत) आलस्य वस्तु-यहां आवुसो ! भिक्षु को (जब) कर्म करना होता हैं, उसके (मन में) ऐसा होता है—कर्म मुझे करना है, किन्तु कर्म करते हुए मेरा शरीर तकलीफ पायेगा, क्यों न में लेट (चुप) रहूं। वह लेटता है, अप्राप्त की प्राप्ति के लिये अनधिगत के अधिगत के लिये, अ-साक्षात्कृत के साक्षात्कार के लिये उद्योग नहीं करता। यह प्रथम कुसीत-वस्तु है (2) और फिर आवुसो ! भिक्षु, कर्म किये होता है, उसको ऐसा होता है, मैंने काम कर लिया काम करते मेरा शरीर थक गया, क्यों न मैं पड़ रहूँ। वह पड़ रहता है, उद्योग नहीं करता। उन्होंने आगे दान में भी आसक्ति रखने वाले को भी महत्व नहीं दिया है बल्कि दान में निरीहभाव का ही महत्व बतलाया है।

आठ दान वस्तु[56]—(1) आसक्त हो दान देता है। (2) भय से। (3)मुझको उसने दिया है (सोच) दान (भोजन) देता है। (4) देगा (सोच)। (5) दान करना अच्छा है (सोच)। (6) मैं पकाता हूँ, यह नहीं पकाते, पकाते हुये का न पकाने वालों को न देना अच्छा नहीं (सोच) देता है। (7) यह दान दे, मेरा मंगलकीर्ति शब्द फैलेगा (सोच) देता है। (8) चित्त के अलंकार, चित्त के परिष्कार के लिए दान देता है।

आठ दान उपपत्ति (उत्पत्ति)—(1) आबुसो ! कोई कोई पुरुष, श्रमण या ब्राह्मण को अन्न, पान, वस्त्र, यान, माला, गंध, विलेपन, शय्या, आवसथ (निवास), प्रदीप दान देता है। वह, जो देता है, उसकी भी तारीफ करता है। वह क्षत्रिय महाशाल (महाधनी), ब्राह्मण-महाशाल, गृहपति-महाशाल को पांच काम-गुणों से समर्पित संयुक्त हो विचरते देखता है। उसको ऐसा होता है—अहोवत !

---

55. —वही—पृ० 470, 71
56. संगीति परियाय सुत्त, बु० च० पृ० 471-472

मै भी काया छोड़ मरने के बाद क्षत्रिय-महाशालों की स्थिति (सहव्यता) में उत्पन्न होऊं। वह इसको चित्त में धारण करता है, इसको चित्त में अधिष्ठान (दृढ़ संकल्प) करता है, इसे चित्त में भावना करता है। उसका वह चित्त, हीन (उत्पत्ति) छोड़ उत्तम की भावनाकर, वहीं उत्पन्न होता है। यह मैं शीलवान् (सदाचारी) का कहता हूँ, दुःशील का नहीं। आवुसो ! विशुद्ध होने से शीलवान् की मानसिक प्रणिधि (अभिलाषा) पूरी होती हैं। (2) और फिर अवुसो ! दान देता है। वह जो देता है, उसकी प्रशंसा करता है। वह सुने होता है—चातुर्महाराजिक देव लोग दीर्घायु, सुरूप बहुत सुखी (होते हैं)। उसको ऐसा होता है—अहोवत ! में शरीर छोड़ मरने के बाद चातुर्महाराजिक देवों में उत्पन्न होऊं। (3) वह सुने होता (त्रार्यास्त्रिश) देव लोग। (4) याम देव। (5) तुषित। (6) निर्माण रति देव। (7) परनिर्मित-वशवर्ती देव। (8) ब्रह्मकायिक देव। इस प्रकार दान से विभिन्न लोकों तथा देव स्वरूपों की प्राप्ति में हम बौद्ध विचारधारा में प्रवृत्ति मार्गी प्रवृत्तियों को प्राप्त करते हैं।

(झ) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त प्रवृत्ति मार्गी तत्वों का उन पर प्रभाव

ब्राह्मण विचारधारा के विषय में कतिपय विद्वान् प्रवृत्ति प्रधान होने का विचार प्रस्तुत करते हैं। उनका यह कहना पूर्णतया ठीक नहीं है। इस कथन में उन्होंने यज्ञों द्वारा भौतिक उपलब्धियों को ही प्रधानरूपेण देखा है, इसी कारण वे इसे प्रवृत्ति प्रधान मानते हैं। देवों की सहायता से संसार के असीम सुखों की प्राप्ति और देवों की सहायता का अवलम्बन मनुष्यों में अकर्मण्यता का द्योतक नहीं है। उनके लिए जीवन दुःखों का भण्डार नहीं अपितु सुख भोगने का अवसर है, ऐसा कतिपय विद्वान् अपनां विचार रखते हैं।

प्रवृत्ति-निवृत्ति धाराएं विरोधी नहीं, परस्पर में एक दूसरे की पूरक है। मानव जीवन में यज्ञ, दान, सदाचार, परोपकार, वर्णाश्रम कर्मानुशील आदि कर्तव्यों के दृढ़ता से पालन में लौकिक विचार वाले व्यक्ति सामाजिक सुव्यवस्था एवं सन्तुलन का ही लक्ष्य निश्चित करते हैं किन्तु शास्त्रीय दृष्टि का क्षेत्र विस्तृत है। इनकी दृष्टि में कर्त्तव्य बुद्धि के अनुशीलनकर्त्ता के लिए लोकान्तरों तथा जन्मान्तरों में होने वाला प्रभाव ही मुख्य रूपेण होता है। लौकिक सम्पत्ति तथा सुव्यवस्था का महत्व भी कम नहीं, इनके अभाव में जीवन क्रिया सुचारुरूपेण नहीं चल सकती किन्तु इनके द्वारा पारलौकिक एवं पुरुषार्थ (मोक्षरूपी साध्य) की सिद्धि कठिन है। साध्यतथा साधन भेद से गौण तथा मुख्य रूपेण ही इन दोनों की स्थिति स्वीकार की जाती है।

भौतिक भोगलिप्सा की हर एक क्षेत्र में लीनता ही प्रवृत्ति मार्ग का प्रधान रूप है और इसकी न्यूनता हेतु श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा वासनाओं का

मूल शोषित किया जाता है। इनके अनुष्ठान निष्काम भाव से यदि गृहस्थ में रहते हुए भी किए जायं तो यही शुद्ध, उत्तम सेवा तथा परोपकार के ही रूप हैं। अनेक जन्मों के प्रयत्नों से सकाम तथा निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से प्राचीन भोगों के कल्मष विनष्ट होने पर निवृत्ति का उदय होता है। इस नैरन्तर्य सेवा का लाभ यह होता है कि मानव ब्रह्म-विद्या के साधनों में निरन्तर यज्ञ आदि कर्तव्य की किसी बाधा के बिना, प्रवृत्ति मार्ग का भी अनुगमन कर सकता है।

सर्वाधार सर्वनियन्ता ईश ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति रूपी उभय विध मार्गों को विश्वहित की दृष्टि से किया है। शास्त्रनुमोदित विषयोपरति ही मानव मात्र के लिए उपादेय है। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों एक ही परम लक्ष्य के साधन हैं। अतएव सहकारी है विरोधी नहीं, प्रवृत्ति मार्ग लोक हितकारक है। निवृत्तिमार्ग ब्रह्मविद्या परायण व्यक्तियों का उपकारक है क्योंकि भौतिक आवश्यकताओं यथा राज्य, अन्नादि सुविधाओं के अभाव में निवृत्ति मार्ग का अनुसरण कठिन होगा। निवृत्ति मार्गानुयायी महान् पुरुष अपने तप, शुद्धाचरण, आत्मचिन्तन के द्वारा आध्यात्मिक वायुमण्डल की सामान्यतया अप्रत्यक्ष शुद्धि करते हैं और दूसरे वे प्रवृत्तिमार्गियों के लिए परम लक्ष्य की ओर सदा निर्देश करने का कार्य करते हैं। जिसमें प्रवृत्तिमार्ग मात्र भोग लिप्सा का ही साधन बनकर संसार का संहारक ही न बन जाय। उच्छृंखल प्रवृत्तियों के सामने निवृत्ति का मूल्य ही न रह जाय। गृहस्थी मानव भी ब्रह्म साक्षात्कार के चरम लक्ष्य को लेकर शास्त्रीय विधि विधान द्वारा जीवन में प्रवृत्ति निष्ठ होते हुए भी अपने सकाम तथा निष्काम कर्मों का आचरण करते हुए पाप तथा भोग के संस्कारों को क्षीण करते हैं और शनैः शनैः निवृत्ति मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं। कतिपय अपने पूर्व जन्म कृत पुरुषार्थ तथा परम शुद्ध संस्कारों के फलस्वरूप गृहस्थी भी परम लक्ष्य की प्राप्ति करने में समर्थ होते हैं निवृत्ति मार्गी पुरुष तीनों एषणाओं के त्याग द्वारा भिक्षाचरण में आस्थावान् होकर आत्म साक्षात्कार के लिए पात्रता प्राप्त करता है।

प्रवृत्ति मार्गी भावनाओं में काम्य कर्मों द्वारा देवताओं की समानता, ऋद्धि और समृद्धि, सन्तान धन ऐश्वर्य की प्राप्ति आदि का ग्रहण होता है।

वेद में स्थूल जीवन और प्रगतिशीलता के लिए अनेकशः प्रार्थनाएं की गई हैं। यथा हमारे शरीर[57] की वृद्धि करो और हम सौ वर्ष[58] तक जीते रहें, हमारे शरीर[59] को सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न करो। जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के

57. स्वयं वर्धस्व तन्वं। ऋ० 7।8।15

58. शतं जीव शरदो वर्धमान यजु० 36।24

59. अश्मानं तत्वं कृधि। अ० 1।2।2

लिए तेज[60], साहस, ओज, बल की वृद्धि करें। हम धनों के स्वामी हो तथा इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहा है कि हे इन्द्र[61] हमें धन, बुद्धि, आत्म सुखकारी गरिमा, स्वास्थ्य वाणी का माधुर्य और सुखपूर्वक अच्छे दिनों को प्रदान करो। हमें शत्रुओं से, रोगों से और राक्षसों से बचाओ। इन भौतिक सुखो की याचना के साथ-साथ मेरा मन अद्वितीय प्रकाश रूप अच्छे संकल्पों[62] वाला होवे और हम अच्छे[63] मार्ग पर चलें।

प्रवृत्ति मार्गी भावनाओं में भी दान, दक्षिणा और सत्कर्मों का महत्व बराबर रहा है। यथा सोना देने वाला स्वर्ग को पाता है। वस्त्र देने वाले सोम के पास गमन करते और सुवर्ण देने वाले अमृतत्व को प्राप्त होते हैं। दक्षिणा पुण्य कार्यों को सम्पूर्ण करने वाली है। देवताओं के अनुष्ठान का यह प्रमुख अंग हैं। मिथ्याचरण वाले पुरुषों के कार्यों को देवगण पूर्ण नहीं करते। निन्दा से भयभीत होने वाले और दक्षिणा-दाता यजमानों का कर्म ही पूर्णता को प्राप्त होता है। दानशील व्यक्ति ही गाँव में प्रमुख व्यक्ति होता है। उसे प्रत्येक शुभ कर्म में प्रथम आमंत्रित किया जाता है। जो लोग सर्वप्रथम दक्षिणा आदि प्रदान करते हैं उन्हें मैं राजा के समान श्रद्धा के योग्य समझता हूँ।

(ज) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

भगवान् बुद्ध की विचारधारा निवृत्तिपरक है, इसमें प्रवृत्ति मार्गी तत्वों का अन्वेषण कठिन है। सामान्यतया जन-जीवन में तथा भगवान् बुद्ध के उपासकों में उनके शिष्यत्व को प्राप्त कर लेने पर भी जिनमें हम प्रवृत्ति मार्गी भावनाओं को पाते हैं, उन स्थलो का संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं।

भोगों के संचय तथा उपभोगों के लिए मार्ग निर्देश करते हुए भगवान् ने कहा कि सदाचारी[64] पंडित मधुमक्खी की भाँति भोगों का संचय करते हैं। प्रज्वलित अग्नि की भांति प्रकाशमान होता है। (उसको) भोग (संपत्ति) जैसे वल्मीक बढ़ता है, वैसे बढ़ते हैं। इस प्रकार भोगों का संचय कर अर्थ-संपन्न कुलवाला (जो)

60. वर्च आ धेहि मे तन्वाँसह ओजोबयोबलम्। अ० 19।37।2
61. इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि, चित्तिं दक्षस्य सुभगत्वम् अस्मै।
पोषरयीणाम् अरिष्टिं तनूनाँ, स्वाद्मानँ वाचः सुदिनत्व मह्नाम्।ऋ० 2।21।6
62. तन्मे मनः शिवसंकल्प मस्तु। य० 34।6
63. स्वस्ति पन्यामनुचरेम। ऋ० 5।15।15
हिरण्यवा अमृतत्वं भजन्ते। ऋ० 107।1
64. सिगालोवाद सुत्त, बु० च० 261।

गृहस्थ चार भाग में भोगों की विभाजित करे, वही मित्रों को पावेगा। एक भाग को स्वयं भोगे, दो भागी को काम में लगावे। चौथे भाग को अपत्काल में काम आने के लिये रख छोड़े।

भगवान् बुद्ध के भिक्षु निवृत्तिपरक होते हुए भी प्रवृत्ति को बिल्कुल छोड़ नहीं पाये हैं यथा भगबान् के परिनिर्माण का समाचार सुन वहाँ जो अवीतरागी भिक्षु थे, उनमें कोई-कोई बाँह पकड़कर[65] रोते। इस प्रकार उनमें बौद्ध जीवन दर्शन के प्रति बोध नहीं प्राप्त हुआ था वे माया मोह में तपे। अवीतरागी बांह पकड़कर क्रन्दन करते कटे पेड के सदृश गिरते थे, धरती पर लौटते थे भगवान् बहुत जल्दी परिनिवृत हो गए। इस प्रकार उनके निर्वाण पर उनके शिष्यों का रुदन करना प्रवृत्ति मार्गी भावना है।

चैत्यों के निर्माण करने वाले महा प्रशंसित होते हैं और मुझे ही प्रसन्न करते हैं तथा दाव दक्षिणा वाले और सद्गुणों का आश्रय वाले व्यक्ति देवताओं के लोक में अथवा अपनी इच्छानुसार जन्म को ग्रहण करते हैं, इन भावनाओ में भी प्रवृत्ति की झलक मिलती हैं। इस प्रकार दान-दक्षिणा को कुशल धर्म बतलाते हुए भगवान् ने ब्राह्मण विचारधारा के प्रभाव को ही प्रदर्शित किया है।

(ट) बुद्ध वचनों में निवृत्ति मार्ग से संबंधित तत्व

जागतिक आकर्षण से आवृत्त चक्षु होकर ही मानव अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुखीं करने में सफल होता है क्योंकि इन्द्रियाँ स्वभावतः ही 'पराँचि खानि इन्द्रियाणि' वहिर्मुखी है। अतः कोई भी विचारधारा हो जिसे उस प्रकाश एवं ज्ञान की ओर अग्रसर होना है अपने को संयमी बनाना होगा। ब्राह्मण बिचारधारा में सांसारिक सुखों के परित्याग के लिए 'वानप्रस्थ' आश्रम का नियम प्रचलित है। संभवतः इसी प्रकार के नियम को बौद्ध धर्म में इसिपब्बज्जा (ऋषि प्रव्रज्या) कहा गया है। इनमें प्रमुख रूपेण ब्राह्मण तथा क्षत्रिय ही होते हैं, यदाकदा गृहपति 'वैश्य' का भी उल्लेख है। इनके यहाँ जाति पाति का बिशेष बन्धन नहीं था यथा मातंग[66] नामक चाण्डाल ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी। ब्राह्मण विचारधारा में भी वानप्रस्थी अथवा 'तापस' संसार के त्याग के अनन्तर अरण्यवास के लिए उपयुक्त निर्जन स्थान को चुनकर कुटी बनाकर रहते थे।

बौद्धों के जातकों तथा जैनों के 'उत्तराध्यन सूत्र' में राजाओं के तापस जीवन के संकेत मिलते हैं यथा गान्धार के नाग जी, पंचोल के दुःमुख, विदेह के निमि,

65. महापरिनिब्बास सुत्त, बु० च० पृ० 505
66. मातंग जातक, सं० 497

संदर्भ के भीम तथा कलिंग वाले करकंड के नाम उल्लेखनीय हैं। मज्झिम निकाय के मखदेव सुत्त में विदेह वंश के राजा महादेव ने अपने सिर के एक पके बाल को देखकर अपने पुत्र निमि को राज्य देकर अरण्य गमन किया। इसी प्रकार काशी के शरभंग[67] नामक ब्राह्मण सेनापति ने विरत होकर विंध्य क्षेत्र में गोदावरी तट पर प्रव्रज्या की थी। ऐसे ही आश्रमों के पास नूतन प्रसिद्ध नगर कपिलवत्थु, सावत्थीं आदि बनाए। सरभंग जातक में बनारस से पंचवटी के मार्ग को एकपदिकमग्ग के मार्ग से बनचर से सहायता लेनी पड़ती थी। बुद्ध के युग में भी परिब्बाजकों के अनेक सम्प्रदाय थे जो वर्ष में वर्षा ऋतु के अतिरिक्त भ्रमण कर धर्मोपदेश किया करते थे। इनमें कतिपय मुंडी, कतिपय अचेलक (नग्न)अग्गपब्बजित अथवा मृगचर्म चम्म साटक आदि मुख्य है। दीर्घनिकाय के ब्रह्म जाल सुत्त में 62 मिथ्या दृष्टियों का उल्लेख है। बौद्धों ने उनके महापुरुषों को तित्थियों की संज्ञा दी है और उनमें प्रमुख पूरणकस्सप, मक्खलि गोसाल, पकुध कच्चायन, अजित केस कम्बलि, संजय बेलट्ठि पुत्त और निगण्ठ नाथ पुत्त आदि के नाम है। इनके अतिरिक्त एक विशिष्ट वर्ग अन्य भी था जो योग साधना में रत था। अरिय[68] परियेसन सुत्त नामक पालि-ग्रन्थ के भाग में बुद्ध के समय में आलार कालाम तथा उद्दक रामपुत्र दो प्रसिद्ध योगियों का वर्णन मिलता है। जिनसे महात्मा बुद्ध ने राजगृह से उस बेला की ओर जाते समय योग साधना सीखी थी तथा अचेलक अथवा आजीवक वर्ग के योगियों द्वारा 'अप्पाणक' झाण' अर्थात् हठयोग वाले क्रमेक का अभ्यास किया था। जन साधारण में योग साधना से उपलब्ध सिद्धियों में आस्था प्राप्त होती है इनके चमत्कारों में मानव मन की आस्था थी। सावत्थी में महात्मा बुद्ध ने भी अपने दिव्य चमत्कारों द्वारा जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। महात्मा बुद्ध एक उत्कृष्ट कोटि के विचारक तथा सिद्ध योगी भी थे। इसी कारण पालि ग्रन्थों के कतिपय अंश धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, बुद्ध वचन के रूप में संगृहीत हैं और इनका अत्यधिक सम्मान है।

निवृत्ति का अर्थ निर्वाण है, इस निर्वाण के विवेचन में विभिन्न प्रकारके विचार प्रस्तुत किए गये हैं जैसे निर्माण को केवल अविद्या का निरोध ही नहीं कह सकते किन्तु मूर्त रूप में यह सर्वोत्तम प्रकाश सम्बोधि प्रज्ञा है। क्योंकि प्रत्येक कारण के अन्त में उस कारण की समाप्ति का बोध होता है तथा प्रयत्न करने पर सभी कारणों के विनाश पर सम्बोधि की स्थिति प्राप्त की जाती है यही प्रतीत्य समुत्पाद का लक्ष्य है।

---

67. सरभंग जातक, म० नि०, सं० 5
68. अरिय परियेसन, म० नि०
69. इंडिया एज डिसक्राइब्ड, बाई बी० सी० ला, पृ० 233

इसी कारण रायज[70] डेविड्स ने भी सभी कारणों के निरोध को ही सम्बोधित माना है। जीवन के विषय में विवेचन का सार[71] यह है कि जीवन जन्म लेने पर ही प्रारम्भ नहीं होता और मृत्यु होने पर ही समाप्त नहीं होता अपितु यह असीमित आवागमन के बन्धनों में जुड़ा है, जिसका प्रत्येक जीवन पूर्व जन्म के कर्मों से बँधा है। पशु का, मनुष्य का अथवा देवता का कोई भी जीवन हो वे सभी इसी शृंखला की कड़ी है। एक व्यक्ति के अच्छे कर्म उसे स्वर्ग में तथा बुरे कर्म पशु योनि में ले जाते हैं क्योंकि सभी जन्मों का क्षय होना है अतः स्वर्ग में भी पूर्ण सुख नहीं है इस कारण भारतीय धर्म की यह सामान्य प्रवृत्ति मोक्ष प्राप्ति की रही है जिसे ब्रह्म में लीन होना या निर्वाण कहा गया है।

योग को ही कर्म साधना या करण साधना अथवा अधिकरण साधना माना जायेगा। समाधि का अर्थ स्वयं में अपने विचारों को केन्द्रित करना है, समापत्ति शब्द से ध्यानी को ध्यान की अवस्था से पूर्व जन्म के विषयों का ज्ञान होता है, वैसे पुद्गल का कोई वैयक्तिक अस्तित्व नहीं है। ध्यान[72] को एक ही स्थान पर लगाने का प्रचार सभी दर्शनों में है अतः यह कोई बुद्ध की पृथक् देन नहीं है। हीनयानी निर्वाण के स्वरूप को इस प्रकार कहा जा सकता है कि यह शून्य की वह स्थिति है जिसका निर्वचन नहीं किया जा सकता। नागार्जुन[73] के शब्दों में जब संसार की प्रत्येक वस्तु शून्य है तो वह निर्वाण किस की मुक्ति के द्वारा? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि वे व्यक्ति जिन्होंने पावन जीवन बिताया है और बुद्ध विचारधारा में दीक्षित है और उन्होंने ज्ञानदर्शन को पाया है वे दो प्रकार के निर्वाण को पाते हैं—जीवन में सोपाधिक निर्वाण की प्राप्ति अथवा जीवन में सोपाधि[74]शेष निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है और अन्तिम निर्वाण निरुपाधि शेष होता है जिसमें सभी अविद्याओं, क्लेश समूहों तथा रागादि का विनाश हो जाता है। पहला निर्वाण पूर्णतया विरक्ति से प्राप्त होता है जिसमें इच्छाओं का त्याग आवश्यक है। वैयक्तिक देवत्व के कारण ही सोपाधि निर्वाण की मान्यता है। निर्वाण की स्थिति ऐसी नगरी के समान है जहां सभी दुष्ट नष्ट हो चुके हैं, आश्रव क्षीण हो गये हैं, स्वयं ही मुक्त हो गया। बस निर्वाण के विषय में यही कथन है। उन्होंने आगे कहा सन्त देह रहते कुछ विचारों का सुख का अनुभव करता है किन्तु निर्वाण में विज्ञान स्कन्ध का विमोक्ष होता है जैसे कि दीपक शान्त हो जाता है। यह जीवन रहित निर्वाण सभी तत्वों के विनाश

70. ए सर्वे आफ बुद्धिज्म, पृ० 112
71. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, प्रथम भाग, पृ० 18
72. दी सेण्ट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेर वात्स्की, पृ० 15
73. —वही—पृ० 183
74. दी कंस्पेसन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण, प्रो० शेर वात्स्की, पृ० 182-185

के बाद प्राप्त होता है। हीनयानियों का निर्वाण क्लेशों के नाश, स्कन्धों के विनाश, प्रत्येक वस्तु शून्य है, कुछ भी जन्मता नहीं; कुछ भी अस्त नहीं होता, जहां क्लेश हैं, इच्छाएं हैं, जहां तृष्णा हैं वहां कुछ भी नष्ट नहीं होता। सभी तत्वों के विनाश पर निर्वाण प्राप्ति होती है, इस का आशय यह है कि कोई भाव, सद्वस्तु अवश्य है जिसका नाश होता है। निर्वाण प्रत्यक्ष सत्ता में विरोध है, यह सभी सृजन विचारों की सीमा है। निर्वाण में विज्ञान स्कन्ध तथा चेतस् भी नहीं रहता, ठीक जैसे प्रकाश या दीपक शान्त हो जाता है।

निर्वाण सर्वोत्तम असंस्कृत स्थिति है, अन्य कतिपय मतों में इसी स्थिति से भी परे कहा है यह ध्यान की ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्थिति है जिसे दर्शाया गया है। इस प्रकार के विचार प्रो० शेर वात्स्की ने अपने ग्रन्थ में उपस्थित किये हैं कि निर्वाण शब्द बुद्ध से पूर्व का है क्योंकि ब्राह्मण विचारधारा में ब्रह्म निर्वाण शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। ब्राह्मणों की तपस्या का परिणाम स्वर्गिक सुख की प्राप्ति था और उसका चरम लक्ष्य ब्रह्म में लीन होना था। बुद्धों के लिए जीवन का निरोध ही अन्तिम लक्ष्य है। अनात्मवाद के आधार पर ये किसी वस्तु का अन्य वस्तु में विलीन होना नहीं मानते। वस्तुतः बौद्ध निर्वाण योग का ही चरम लक्ष्य है और प्राचीन बौद्ध विचारधारा हीनयान ही है। जो महावग्ग से लेकर बुद्ध घोष तक रहा है, यह बिना किसी संकोच के स्वीकार किया जा सकता है। पुनः पुनः चेतोनिवेशन को समाधि ही कहते हैं। बौद्धों के यहां यही ध्यान और समापत्ति के सदृश है। भगवान् बुद्ध ने यौगिक क्रिया द्वारा स्मृतियों का अवबोध किया था जैसा कि उन्होंने अपने परिनिर्वाण से पूर्व उपदेश में कहा तथा आनन्द[75] भी इसे स्वीकार करते प्रतीत होते हैं। आधुनिक बौद्ध भगवान् बुद्ध के प्रवेदित निर्वाण के स्वरूप को ठीक नहीं समझते वे निर्वाण की उपेक्षा करते हैं और भिक्षु होने की इच्छा करते हैं, वे उचित विचार का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते। भगवान्[76] बुद्ध ने निर्वाण मृत्यु के उपरान्त की वस्तु नहीं बतलाई किन्तु कहा कि प्रयत्न द्वारा आनन्द की वह स्थिति इसी जन्म में लभ्य है।

निर्वाण प्राप्ति के लिए ही श्रोतापन,[77] सकृदागामिन्, अनागामिन्, अर्हत् ये चार अवस्थाएं वर्णित की हैं, इनमें श्रोतापन वह है जो तीन संयोजनों को दूर कर चुका है। सकृदागामिन् वह है जिसे एक बार जन्म अवश्य लेना है इतना अवश्य है कि उसने राग, द्वेष, घृणा, मोह को जीत लिया है। अनागामिन् यह स्वतन्त्र है इसका अवरभागीय पुनर्जन्म नहीं होता अपितु ब्रह्म लोक में जन्म लेता है। अर्हत् नैतिक

75. इण्डियन माइथालोजी, वैरोनिका आयोन्स, पृ० 134
76. हिन्दुइज्म और बुद्धिज्म, प्रथम भाग, पृ० 95
77. सेक्रेड बुक फर्स्ट, ए मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म, एच० करन, पृ० 53

गुणों की सीमा है, उसके क्लेश दूर हो गये, उसे जो करना था वह उसने कर लिया है। निर्वाण के दो प्रकार करते हुए इसके दोनों भेदों को स्पष्ट करते हुए प्रो० एच० कार्न महोदय ने लिखा है कि प्रथम प्रकार का निर्वाण अर्हतों द्वारा इसी जन्म में प्राप्त किया जाता है, वह ठीक वेदान्तियों के जीवन मुक्त की भांति है। यह उपाधि शेष या सोपाधि शेष है। नूतन बौद्ध धर्म में यह उपाधि शेष हे।

दूसरा और अंतिम निर्वाणनिरुपाधि शेष अनुपाधिशेष भगवान् बुद्ध के लिए है। यह परिनिर्वाण है जोकि मृत्यु के बाद ही प्राप्त होता है इससे दुःखों का अन्त सदैव के लिए हो जाता है इस आनन्दमय स्थिति को अमरत्व कहा जाता है। वास्तव[78] में निर्वाण पुनर्जन्म के भय रहित एक सुखी मृत्यु है इसी निर्वाण को राग, द्वेष तथा मोह के क्षीण होने के रूप में स्वीकार किया है धम्मपद तथा खुद्दक निकाय में निर्वाण को अमरता[79] बताया है जिसका मरण से विरोध है।

इस प्रकार बुद्ध वचनों में निवृत्ति के स्वरूप का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत किया गया और अब इसकी पुष्टि में कतिपय स्थलों को उद्धृत किया जाता है। भगवान् बुद्ध के वितृष्ण होकर निर्वाण प्राप्त करने के मार्ग का दर्शन सुत्त-निपात के अत्तदंड सुत्त में दिया गया है। यथा आत्मदोष[80] से भय उत्पन्न होता है। कलहकारी मनुष्यों को देखो। जैसाकि मैंने जाना है। वैसा ही सविग्नता का वर्णन करूंगा। अल्प जल में रहने वाली मछलियों की तरह व्याकुल एक दूसरे के विरुद्ध लोगों को देख कर मुझे भय लगा। सारा संसार असार है, सभी दिशाएं विचलित हैं। अपने लिए क्षेत्र स्थान की इच्छा करते हुए मैंने कहीं आपत्तियों से खाली नहीं पाया। अन्त में सर्वत्र विरोधभाव को देख कर मुझे वैराग्य हुआ। तब मैंने यहाँ देखने में दुष्कर हृदय में लगे और को देखा। जिस तृष्णा रूपी उस तीर के लगने से प्राणी सभी दिशाओं में दौड़ता है उसके निकालने से वह न तो दौड़ता है न बैठता है।

स्वयं भगवान् बुद्ध की विरक्ति के कारण—जरा, रोग, मरण। इन तीन से छुटकारा पाने की इच्छा से नर पुंगव ने अपना मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने कहा कि मैं एक श्रमण तपस्वी हूँ जिसने आवागमन (जन्म मृत्यु) से छुटकारा पाने के लिए घर बार छोड़ा। उपायों में उन्होंने राजसी वेष का त्याग तथा एक सामान्य जीवन धारण कर विशिष्ट खाद्य पदार्थों का त्याग कर भिक्षु वृत्ति की। धार्मिक गुरुओं के द्वारा धर्म की शिक्षा की निःसारता के साथ ही 6 वर्ष की कठोर तपस्या में अस्थि-कंकाल अवशेष रहने पर भी ज्ञानोपलब्धि के अभाव को पाया। पुनः नवजीवन के

78. सेक्रेड बुक फर्स्ट, ए मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिइज्म, एच० कार्न, पृ० 54
79. दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, प्रथम भाग, पृ० 547
80. अत्तदण्डसुत्त 1-5

रूप में 'युक्ताहार विहार' से नव बल, नवस्फूर्ति पाकर कल्मषों से विमुक्त शारीरिक मानसिक शक्ति को सुदृढ़ कर सात सप्ताह तक गम्भीर ध्यान मग्न हो, समाधि में बैठे तो एक दिन प्रातिभ ज्योति का उदय हुआ तब उन्होंने अपने को तथागत (अन्य पुरुष) में सम्बोधित किया। व्यक्तिगत रूप में, उन्होंने ध्यान मग्न योगी अन्तिम समाधि में लीन गुरु उपदेष्टा के रूप में आत्म कल्याण में प्राप्त किया। सामाजिक रूप में बहुजनहिताय बहुजनसुखाय साधारणजन के लिए भी निर्वाण का मार्ग, अनुशासन, भक्ति तथा लोक संग्रह आदि गुण गणों की महिमा से गुरु भगवान् बुद्ध में निवृत्ति का उदय एवं विकास लोकरक्षण रूप को लेकर आगे वृद्धिगत हुआ। परिव्राजक को देख कर बुद्ध ने उसकी आकृति पर शान्ति देखी, पूछने पर परिव्राजक ने कहा—मैं श्रमण हूँ, तपस्वी हूँ जिसने जन्म-मृत्यु के भय के कारण मोक्ष हेतु घर छोड़ दिया है। बुद्ध ने तपोबल के 6 वर्ष के कठोर अनुशीलन से कृश होकर यह जाना कि इस क्षीण शरीर से वह ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' के अनुसार पुनः आहार का आश्रय लिया, गम्भीर ध्यान में बोधि वृक्ष की शरण ली।

भगवान् बुद्ध के जीवन में विरक्ति का समारम्भ—गृह त्याग[81] शीर्षक में बुद्ध-चर्या में राहुल सांकृत्यायन ने स्पष्टतया वर्णित किया है कि बोधि सत्व गौतम अपने सुन्दर महल में सुभगश्री से शोभित पलंग पर विश्रामयुत थे। उनके लिए सभी अलंकारों से अलंकृत नृत्य गीत में दक्ष देवकन्या समान अतीव सुन्दरियों ने वाद्य नृत्य का समारम्भ किया। बोधिसत्व मलों से विरक्त होने के कारण नृत्य आदि से विरक्त हो थोड़ी देर में ही सो गए। स्त्रियों ने सोचा—जिसके लिए हम नाच रही थीं वह सो गया अब क्यों तकलीफ करें इसलिए वाद्यों के लिए ही सो गई। सुगन्धित तैलदीप के प्रकाश में बोधि सत्व ने पलंग पर आसन मारकर उन स्त्रियों को देखा। किसी के मुँह से कफ निकल रहा है, कोई लार से भीगी है, कोई दांत कटकटा रही है, कोई बर्रा रही हैं, किन्हीं के मुँह खुले हुए थे, किन्हीं के वस्त्र हटे होने से अति घृणोत्पादक गुह्य स्थान दिखाई दे रहे थे। उन स्त्रियों के इन विकारों को देख और भी दृढ़ हो कामनाओं से विरक्त हुए। उन्हें वह सुअलंकृत इन्द्र भवन सदृश महाभवन सड़ती हुई नाना प्रकार की लाशों से पूर्ण कच्चे श्मशान की भांति मालूम होता था। तीनों ही संसार जलते हुए घर की तरह दिखाई पड़ रहे थे। हा कष्ट, हा शोक, आह निकल रही थी। प्रव्रज्या के लिए उनका चित्त अत्यन्त आतुर हो उठा। आज ही महाभिनिष्क्रमण करना है।'

इसी प्रकार वाराणसी के श्रेष्ठी कुमार यश ने निद्रा खोली तो अपने परिजन को देखा, किसी की बगल में बीणा है, किसी के गले में मृदंग है, किसी के फैले केश,

81. बु० च० पृ० 9

किसी की लार गिराते, किसी को बर्राते, साक्षात् श्मशान सा देखकर घृणा उत्पन्न हुई, वैराग्य चित्त में आया, यह उदान कहा हा संतप्त ! हा पीडित।

बौद्ध विचारधारा में सुत्तनिपात के खड्गविषाण[82] सुत्त में विशेष रूप से एकांत-वास तथा निवृत्ति मूलक विचारों का वर्णन किया गया है। वस्तुतः इस विचारधारा में साक्षात्कार की प्रधानता होने के कारण यह वैराग्यमूलक है। चुल्लवग्ग में वर्णन आया है कि नमक का ही स्वाद समुद्र है ऐसी ही इस धर्म में मुक्ति है वैराग्य है, मनुष्य को किसी के भी संसर्ग में रहने का घोर विरोध करते हुए कहा है कि 'संसर्ग में रहने से स्नेह उत्पन्न होता है और स्नेह से उत्पन्न होता है यह दुःख है। मेल जोल में इस भय को देखते हुए अकेला विचरे। कहीं रहते, टिकते, चलते या चारिका करते मित्रों के बीच तरह-तरह की बातें उठती है। इसलिए अनपेक्ष्य भाव और स्वच्छन्दता की कामना करते हुए अकेला विचरे।

काम विचित्र,[83] मधुर और मनोरम हैं। वे अनेक प्रकार से मन को विचलित करते हैं। काम गुणों के दुष्परिणाम को देखते हुए अकेला विचरे। संसार में क्रीड़ा रति और कामसुख में आसक्त न हो, उनकी अपेक्षा न कर, श्रृंगार से विरत हो, सत्यवादी बन अकेला विचरे। स्त्री, पुत्र, माता, पिता, धन धान्य और बान्धव इन सब का पूर्णतः त्याग कर अकेला विचरे। मैत्री, उपेक्षा, करुणा, विमुक्ति और मुदिता का समय-समय पर आसेवन करते हुए, सारे संसार में कहीं भी विरोध भाव न रख अकेला विचरे। भिक्षु बहुश्रुत,[84] श्रुतधर, और श्रुतसंचयवान् होता है। वह आदि कल्याण, मध्य कल्याण, पर्यवसान कल्याण, परिपूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्य हैं। भिक्षु सुवच, सौवचस्य, (मधुर वाचिता) वाले धर्मों से युक्त होता है। भिक्षु वर्ग के लिए इनका पालन आवश्यक था।

विशुद्धिमग्ग[85] ग्रन्थ में निर्वाण प्राप्ति के उपायों में विपश्यना द्वारा कहीं ध्यान द्वारा, प्रज्ञा द्वारा, कहीं शुभ तर्कों द्वारा, कहीं कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम आजीविका द्वारा, कहीं शील, प्रज्ञा और समाधि द्वारा निर्वाण प्राप्ति बताई है। विपश्यना उस विशिष्ट ज्ञान और दर्शन को कहते हैं जिनके द्वारा धर्मों की अनित्यता, दुःखता और अनात्मता प्रकट होती है।

'भिक्षुओ ! तीन शरण गमन से श्रामणेर प्रवृज्या की अनुज्ञा देता हूं। इस प्रकार प्रव्रजित करना चाहिए। पहले शिर दाढ़ी मुण्डवा, काषाय वस्त्र पहना, एक कंधे पर उत्तरना करवा, भिक्षुओं की पादवन्दना करवा, उकड़ूं बैठवा, हाथ जोड़वा, 'ऐसा

82. खड्गविषाण सुत्त 2, 6, सुत्तनिपात
83. खड्गविषाण सुत्त, 16, 25, 26, सुत्तनिपात।
84. संगीति परियाय-सुत्त, बु० च०, पृ० 475
85. विशुद्धिमग्ग (हिन्दी अनुवाद), पृ० 705

कहो' बोलना चाहिए—बुद्ध की शरण जाता हू, धम की शरण जाता हूं, संघ की शरण जाता हूं, दूसरी बार भी, तीसरी बार भी बुद्ध की शरण जाता हूँ। इस प्रकार प्रव्रज्या में निवृत्ति का प्राधान्य हमने उपस्थित किया।

(ट) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त निवृत्ति मार्गी तत्त्वों का उनपर प्रभाव

भारत में निवृत्ति[86] मूलक विचारों के वर्णन का समारम्भ कतिपय विद्वान् निषाद संस्कृति में ढूंढने का प्रयास करते हैं। यह धारणा ऐतिहासिकों के तथ्यों के आधार पर है। निवृत्ति मूलक परम्पराओं को प्राय: मुनियों और श्रमणों की अवैदिक धारा से सम्बद्ध किया है। निवृत्तिमार्गीय[87] मुनियों का उल्लेख ऋक् संहिता के केशि-सूक्त में हुआ। इस प्रसंग में केशधारी, मैले, गेरूए, मुनियों का विलक्षण चित्रण है। पूर्व वैदिक कालीन ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्तिवादी और देववादी दृष्टि मुनि—श्रमण दृष्टि के प्रतिकूल थी, जहां मुनियों के लिए प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक और हेय था तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या, योग आदि निवृत्तिपरक क्रियाएं ही उपादेय थी। ब्राह्मण धर्म में ऐहिक और आमुष्मिक[88] सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म प्रधान साधन पूर्व वैदिक कालीन ब्राह्मण धर्म केवल प्रवृत्त लक्षण था। निवृत्ति लक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनि—श्रमण थे। किन्तु आर्य लोग ज्यों-ज्यों पूर्व की और बढ़े मुनि श्रमण विचारधारा का प्रभाव भी बढ़ता गया।

मैं इस उपर्युक्त विचारधारा से सहमत नहीं हूँ क्योंकि मैंने श्रमण विचारधारा को ब्राह्मण विचारधारा के ही अंगरूप में अपनी पुस्तक ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियों का दार्शनिक विवेचन प्रथम अध्याय में माना है। श्रमण के दो भेद हैं वैदिक तथा अवैदिक। श्रमण शब्द का विरल ही प्रयोग हुआ है बृहदारण्यक उपनिषद तथा तैत्तिरीय आरण्यक में ही श्रमण शब्द लभ्य होता है।

ब्राह्मण विचारधारा में साधक के लिए सब कुछ त्याग कर अरण्यवासी होकर घोर तपश्चरण का उपदेश किया हैं। उनका निवृत्ति मार्ग आश्रम धर्मानुकूल था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तदुपरान्त वानप्रस्थ तथा सन्यास का नियम था। बुद्ध ने गृहस्थियों को ही श्रमण होने का उपदेश दिया अथवा बिना गृहस्थी हुए भी किन्तु माता-पिता की आज्ञा को उन्होंने शिरोधार्य माना था। बिना सम्यक् प्रकार से आज्ञप्त हुए धर्म में बुद्ध स्वीकार नहीं करते थे।

86. उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, डा० विजय बहादुर राव, पृ० 15

87. ऋ० 101136 केशी० सूक्त

88. उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, डा० विजय बहादुर राव, पृ० 16

भारत में प्रधान दार्शनिक विचारधाराओं को हम दो भागों[86] में विभक्त कर सकते हैं—एक ज्ञान द्वारा मुक्ति को बतलाते हैं, दूसरे विश्वास द्वारा। इसी का समर्थन[90] करते हुए विस्तार से लिखा गया है कि एक वह वर्ग था जो यज्ञों[91] के द्वारा धन, ऐश्वर्य ही नहीं अपितु मुक्ति भी पा लेगा। दूसरा वर्ग इसका विरोधी था जिनकी आस्था यज्ञों में नहीं थी और वे इस विषय में सन्देह करते थे, इसी कारण उन्होंने यज्ञों के रूप में प्रतीकवाद का सहारा लिया जैसा बृ० उ० में अश्वमेघ यज्ञ के वर्णन में मिलता है। उस यज्ञ का धीरे-धीरे महत्व कम हो गया क्योंकि ये यज्ञ दुःखों के निवारण में असमर्थ हो गए। अन्त में ये यज्ञ ज्ञान यज्ञ के रूप में होने लगे और द्रव्य याग का विरोध हो गया। इसी अन्तर्ज्ञान के मार्ग के अनुयायी बुद्ध थे।

किन्तु बौद्ध इस प्रकार निवृत्ति के पोषक न थे, वे जगत् से दूर एकान्तारण्य में जाकर शरीर को कष्ट देने में विश्वास नहीं रखते थे अपितु उनका सिद्धान्त था कि ज्ञानोदय होना चाहिए, चाहे वह घर में रह कर हो अथवा बन में रह कर और उसके लिए वे मन की निवृत्ति करने के पक्ष में थे न कि शरीर को तपाने के पक्ष में। मन अथवा इन्द्रिय निग्रह पर उन्होंने विशेष बल दिया। पांच नीवरणों का निवारण आर्य आष्टांगिक मार्ग में सम्यक् आजीव कर्मान्त आदि सम्यक् दृष्टि व्यायाम के द्वारा इन्द्रियों को ही कठोर अनुशासन में करने का विधान है। (अभिध्या) लोभ, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा तथा चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा आदि के विषयों से कायिक, वाचिक तथा मानसिक उपक्लेशों का निराकरण करते हुए प्रज्ञा शील और समाधि के अनुरोध से ज्ञानोदय ही उनका लक्ष्य था। चित्त की शुद्धि पर यद्यपि ब्राह्मण विचारधारा में भी बल दिया गया है किन्तु यहां वह साधन न होकर साध्य के रूप में उभर आया है।

निवृत्ति परक विचारों में बौद्ध धर्म में विभिन्न प्रकार की धारणाएं प्राप्त होती हैं। निर्वाण भाव रूप है या अभावरूप इस विषय के माध्यम से विशेष चर्चा का विषय रहा है। हीनयान मतानुयायी मुख्यरूपेण तीन प्रकार की पीड़ाओं से पीड़ित अपने को दर्शाता है—(1) संस्कार दुःखता—उत्पत्ति विनाशशाली जगत् की वस्तुओं से उत्पन्न होने वाला क्लेश। (2) दुःख दुःखता—भौतिक और मानसिक कारणों से उत्पन्न होने वाला क्लेश। (3) विपरिणामी दुःखता—सबको दुःख रूप में परिणत होने से उत्पन्न क्लेश। काम रूप तथा अरूप धातुओं में भी जीवन व्यतीत करने वाले को भी इन क्लेशों से छुटकारा नहीं है। इनसे छुटकारे का उपाय भगवान् बुद्ध ने—आर्य सत्य, सांसारिक पदार्थों की अनित्यता तथा अनात्म तत्व ज्ञान, अष्टांगिक मार्ग

89. इनसाइक्लोपीडिया आफरिलीजन एण्ड एथिक्स, भाग 11, पृ० 133
90. दी कल्चरल हैरिटेज आफ इण्डिया, प्रथम भाग, पृ० 559
91. —वही—पृ० 560

के अनुशीलन से साधक क्लेशों से मुक्ति पा लेता है। अतः आर्य सत्य ज्ञान से, सदाचार अनुष्ठान से इस हीनयान विचारधारा में साधक निर्वाणोपलब्धि कर लेता है। निकायों में वर्णित निर्वाण का रूप क्लेशाभावरूप है।

निरोध-क्लेश के आवरण के सर्वथा निरोध हो जाने पर ही निर्वाण प्राप्ति सम्भव है। मिलिन्द प्रश्न में निरोध को ही निर्वाण कहा है। संसार के सभी अज्ञानी जीव इन्द्रियोपभोग में लीन रहते हैं और दुःख उठाते हैं। परन्तु ज्ञानी आर्य श्रावक इन्द्रियोपभोग में लीन नहीं रहता। तृष्णा के निरोध के साथ उपादन का तथा भव का निरोध उत्पन्न हो जाता है। नागसेन के मत में निर्वाण के बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है। जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखलाई नहीं पड़ती उसी प्रकार निर्वाण हो जाने पर यह व्यक्ति दिखलाया नहीं जा सकता क्योंकि उसके व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता इसलिए निर्वाण के अनन्तर व्यक्तित्व की सत्ता किसी प्रकार सिद्ध नहीं होती। निर्वाण के साक्षात्कार की विधि का वर्णन है उत्पत्ति को कोई नहीं बता सकता। अर्हत् को प्राप्त भिक्षु विशुद्ध, ऋजु तथा आवरणों और सांसारिक कर्मों से रहित मन द्वारा निर्वाण को देखता है।

निर्वाण का स्वरूप—मिलिन्द की सम्मति में दुःख का कुछ न कुछ भाग निर्वाण में अवश्य रहता है क्योंकि इसकी प्राप्ति में नाना प्रकार के तप, संयम के द्वारा इन्द्रियों को तप्त करना आवश्यक है। आहार, निद्रा मैथुन से विरति वासनाओं का विनाश है किन्तु नागसेन ने मिलिन्द को इस दुःख की लेशमात्र स्थिति के अभाव को निर्वाण बतलाया है। वे तो सुख ही सुख रूप मानते हैं। उन्होंने राज्य प्राप्ति के लिए अनेक क्लेश सहे किन्तु प्राप्ति क्लेश रूप नहीं है। निर्वाण कमल के समान क्लेशों में अलिप्त, वहां तो काम, भय, विभव, तृष्णाओं की समाप्ति हो जाती है। यह दुर्ज्ञेय अनन्त तथा कठिन है किन्तु सच्चे मार्ग के द्वारा संस्कारों को अनित्य दुःख अनात्म रूप से देखते हुए कोई भी व्यक्ति प्रज्ञा से निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। महाकवि[92] अश्वघोष ने कहा है कि जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में प्रत्युत् स्नेह के क्षय होने से वह केवल शान्ति को प्राप्त होता है उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष न तो कहीं जाता है अपितु क्लेश के क्षय हो जाने पर शान्ति प्राप्त कर लेता है। निर्वाण[93] का अर्थ सर्वचेतनादि का विनाश है किन्तु इसे मान लेने पर इससे पूर्व आत्मा की स्थिति

92. दीपो यथा निवृ॑त्ति मभ्युपैति नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥

93. दीपनिर्वाणगन्धं च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न श्रृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः॥ सौन्दरनन्द, अ०घोष 16।28,29

माननी पड़ेगी जो बौद्धों को अमान्य है अतः दुःखों का नाश ही निर्वाण का उचित अर्थ प्रतीत होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि क्षयों का विनाश अथवा अविद्या-क्लेश आदि का विनाश जिसे श्रुति ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है उसी का प्रभाव बुद्ध वचनों में भी पाते हैं ।

(ड) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

ब्राह्मण विचारधारा में भी भौतिकता के प्रति पूर्व में तो आकर्षण था किन्तु पश्चात् में वह रूप बदलता गया और ब्राह्मणों में भी ज्ञान मार्ग की ओर विशेष परिवर्तन आया किन्तु उनमें भी नियम विशेष का पालन आवश्यक था भिक्षा ग्रहण करके ही वे अपना जीवन बिताते थे । इन नियमों का पालन बुद्ध वचनों में भी सम्यक् प्रकार से मिलता हैं कि जहां भगवान् बुद्ध ने भिक्षुकों को संयम बरतने पर बल दिया है चाहे कोई भिक्षा दे अथवा न दे, उसके प्रति सद्भावना ही रखना है । तृष्णा मूलक कर्म बन्धनों के विनाश के लिए भगवान् बुद्ध ने मोक्ष तथा विवेक को ही महत्व दिया है क्योंकि ब्राह्मण तथा बौद्ध दोनों धाराएं विवेक को पूर्ण महत्व देती हैं । मोक्ष[94] के विषय में पूछने पर भगवान् ने कहा—तृष्णा मूलक कर्म बन्धन के नष्ट हो जाने से, संज्ञा और विज्ञान के मिट जाने से वेदनाओं का जो निरुद्ध तथा शान्त हो जाना है । आवुस ! मैं ऐसा जानता हूँ, जीवों का निर्मोक्ष, प्रमोक्ष, और विवेक । सभी संस्कार अनित्य हैं । उत्पन्न होना और लय होना जाना उनका स्वभाव है, पैदा होकर वे गुजर जाते हैं । उनका बिल्कुल शान्त हो जाना ही परमपद है । कछुआ जैसे अंगों को अपनी खोपड़ी में सकोड़ लेता है, उसी प्रकार इच्छाओं को अपने आधीन कर ले। संसार में स्वाद लेना, यही लोक का बन्धन है । वितर्क इसका विचरना है, तृष्णा के प्रहाण होने से, 'निर्वाण' ऐसा कहा जाता है ।

इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त भगवान् बुद्ध के प्रवचनों में सुलभ हैं जहाँ कि मनुष्य की सत्कर्म प्रवणता पर बल दिया गया है । म० निकाय के धानंजानि[95] सुत्त में, धानंजानि ब्राह्मण जो राजा का सहारा लेकर ब्राह्मण गृहस्थियों को लूटता है ब्राह्मण गृह पतियों का सहारा लेकर राजा भी लूटता है । वह दुःश्रुत है ।

सारिपुत्र ने कहा—'धानंजानि । अप्रमत्त (दुष्कर्म में प्रमादी सुकर्म में रत) तो हो ?' भो सारिपुत्र ! कहां से हम जैसों को अप्रमाद होगा, जिन्हें कि माता पिता का पोषण करना हो, पुत्र दारा का पोषण करना हो, दास कर्म करों का पोषण करना हो, मित्र, अमात्यों का काम करना हो, जाति भाइयों का काम करना हो, अतिथियों

94, संयुत्त निकाय, प्रथम भाग, हिन्दी, निमोक्ख सुत्त, 1।1।2, 1।2।1, 1।2।7
95. म० निकाय, धानंजानि सुत्त, हिन्दी अनुवाद, पृ० 409, 410

का, पूर्व प्रेतों का, देवताओं राजा का राजकार्य करना हो और इस अपने शरीर को भी तर्पित वर्द्धित करना हो तो क्या धानंजानि यहां कोई पुरुष माता पिता, स्त्री, पुत्र, राजा के लिए अधर्मचारी हुआ हो तो उसे नरकपाल नरक में न ले जायेंगे, बल्कि उसे चिल्लाते को ही नरक में ले जायेंगे।

धानंजानि ! दूसरे भी स-हेतुक (फलदायक) धार्मिक कर्मान्त (पेशे) हैं, जिससे माता पिता का पोषण किया जा सकता है किन्तु पाप कर्म को न करना और पुण्य मार्ग को ग्रहण करना चाहिए, इत्यादि वचनों से उसे उपदेश देते हैं, बाद में वह बीमार पड़ कर उदर में वायु की भयंकर पीड़ा, शरीर का अत्यधिक दाह से दग्ध होना अनुभव करता है। तब सारिपुत्र उसे ब्रह्म लोक ब्रह्मों की सहव्यता के मार्ग का उपदेश करते हैं कि धानंजानि भिक्षु मैत्री पूर्ण चित्त से सारे लोक को पूर्ण कर विहार करता है यह भी धानंजानि ब्रह्मों की सहव्यता का मार्ग है। फिर धानंजानि करुणापूर्ण चित्त से, मुदितापूर्ण चित्त से उपेक्षापूर्ण चित्त से विहार करता हुआ ब्रह्म-लोक को प्राप्त करता है। इस प्रकार धानंजनि ब्राह्मण भी मर कर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ।

बौद्ध विचारधारा में भिक्षुओं के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं—श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और सम्यक् सम्बुद्ध पूर्व की अपेक्षा पर श्रेष्ठ।

श्रावक—सामान्य मानव जो कि धर्म, अर्थ कर्म में व्यापृत होते थे, श्रावक मोक्ष की खोज में लगता है। श्रावक दुःख निवृत्ति के मार्ग से परिचित थे। चार आर्य सत्यों में यह मार्ग सत्य है। उन्हें बोधि ज्ञान स्वतः प्राप्त नहीं था, उनके लिए गुरु बुद्धादि शास्ताओं की देशना आवश्यक थी। यहां भी गुरु के बिना ज्ञान नहीं।

श्रावकों[96] का दुःखनिरोध का साधन या तो पुद्गल नैरात्म्य का ज्ञान अथवा प्रतीत्य समुत्पाद का ज्ञान। धर्म नैरात्म्य इनके लिए दुर्लभ था इसीलिए श्रेष्ठ निर्वाण का लाभ नहीं किन्तु ये लोग गीतोक्ति 'न कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' के अनुसार अधः पतन की शंका से विमुक्त हो जाते थे क्योंकि ज्ञानाग्नि के द्वारा वासनाएं दग्ध हो जाती हैं और जन्म-मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है।

प्रत्येक बुद्ध—श्रावक की अपेक्षा उच्चतर जीवन में वैयक्तिक स्वार्थ किन्तु भावनाएं अधिक परिमार्जित। आचार शुद्धि के कारण उपदेष्टा की अपेक्षा न थी। ये स्वयं ही दुःख निवृत्ति करते हुए बुद्धत्व प्राप्त कर सकते थे। जिसे योग शास्त्र में अनौप-देशिक या प्रातिभ ज्ञान कहा गया है इन्हें भी ऐसा ही ज्ञान होता था। किसी अंश में ऐसे ही विवेक से उत्पन्न प्रातिभ ज्ञान का ही यह रूप है। यह लौकिक शाब्दिक ज्ञान

96. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० 24

नहीं अपितु प्रत्येक बुद्ध सर्व जन कल्याण में क्षीण होकर बुद्धत्वापेक्षी होता हैं। इन दोनों के ज्ञान में भिन्नता है श्रावकों का ज्ञान पुद्गल नैरात्म्य का अवबोध रूप है। अतः पुद्गलवादियों के लिए अगोचर है। श्रावकों को भी क्लेशावरण नहीं होता है अतः वह भी सूक्ष्म है। प्रत्येक बुद्ध में ज्ञेयावरण नहीं होता अतः गम्भीर है। श्रावक का ज्ञान परोपदेश हेतुक है किन्तु प्रत्येक बुद्ध का ज्ञान स्वयं तन्मयता मात्र से उदभूत है अतः गम्भीर है।

तीसरा सम्यक् सम्बुद्ध है। यह श्रेष्ठ है और बुद्ध का स्वरूप है। अनेक जन्मों की उदारता और विश्व कल्याण की भावना इसका मूल आधार है। क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होने से ही बुद्धत्व का लाभ नहीं हो जाता। श्रावक का द्वैत-बोध नहीं छूटता, और प्रत्येक बोध का पूरा द्वैतबोध नहीं छूटता, केवल सम्यक्-संबुद्ध ही अद्वय-भूमि में प्रतिष्ठित होते हैं और द्वैत-भाव से निवृत्त होते हैं। इसी प्रकार की अद्वैत की स्थिति श्रुति ग्रन्थों में प्रतिपादित मोक्ष के वर्णन में प्राप्त होती है। अतः ब्राह्मण विचारधारा ही मौलिक स्रोत है।

बुद्ध[97] धर्म की दोनों धाराओं में एक की उत्तरोत्तर पुष्टि ही दूसरे मत में हुई है। हीनयान मत में ही महायान के बीज निहित हैं। वस्तुतः हीनयान में मलिन वासना के क्षय का सिद्धान्त है, इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निर्वाण है और महायान में वासना का शोधन शुद्धवासना से देह शुद्धि होती है और देह शुद्धि से लोक कल्याण की भावनाओं का उदय होता है अन्तःकरण में शुद्धवासना के क्षय से पूर्ण बुद्धत्व लाभ हो जाता है। यही बुद्धत्वोपलब्धि है इसे ही परा-मुक्ति कह सकते हैं। इनमें भेद भी पर्याप्त हैं क्योंकि श्रावक गण अपने व्यक्तिगत दुःख के निर्वाण को चाहते थे। प्रत्येक बुद्ध का लक्ष्य दुःख नाश या व्यक्तिगत बुद्धत्व ही था। इस का अर्थ यह है कि स्वयं बुद्धत्व प्राप्त कर विश्व कल्याण के लिए कार्य करना। प्राचीन विचारधारा में दश संयोजनों के नाश से अर्हत् की प्राप्ति यथा वेदान्तिक दृष्टि से जीवन्मुक्त की स्थिति। बौद्ध मत में भी वह सोपाधि शेष निर्वाण है। इसके बाद स्कन्ध निवृत्ति या देह मुक्ति होने पर सोपाधि शेष निर्वाण होता है। जैसे पातंजल योगदर्शन में क्लेश निवृत्ति ही मानव जीवन का चरमलक्ष्य है और इसकी निवृत्ति हो जाने पर ही शुद्धवासना का उदय होता है किन्तु यहाँ शुद्धवासना का लक्ष्य क्लेश निवृत्ति ही नहीं अपितु पूर्ण बुद्धत्व प्राप्ति है। शुद्धवासना वस्तुतः परार्थवासना है। बोधिसत्व इस वासना के बल पर ही बुद्धत्व लाभ करते हैं। बोधिसत्व की अवस्था भी अज्ञान की ही अवस्था है, किन्तु वह अक्लिष्ट है।

पुद्गल नैरात्म्य होने पर क्लेश मुक्ति हो जाती है किन्तु द्वैत का मान नहीं

---

97. डा० गोपीनाथ कविराज, बौद्ध धर्म दर्शन, भूमिका पृ० 15

छूटता। शुद्धवासना के निवृत्त होने पर धर्म नैरात्म्य की निवृत्ति हो जाती है और ज्ञाता तथा ज्ञेय में समरसता हो जाती है। प्राचीन बुद्ध मत हीनयान में बुद्धत्व तो इष्ट था किन्तु अर्हत्व पद के पश्चात् निर्वाण प्राप्त किया जा सकता था। किन्तु बोधि सत्व अवस्था में अनेक जन्मों में उच्चतर भूमियों का अतिक्रमण करना अनिवार्य होता है। मैत्री, करुणा, मुदिता आदि चित्त के परिकर्मों को ही प्राचीन पालि साहित्य में ब्रह्म विहार कहा गया है। यही तुलनात्मक विवेचन है। बुद्ध ने भी स्वयं को ब्रह्म भूत ही कहा है।

अष्टम अध्याय

बुद्ध वचनों में विविध साधनाओं के स्वरूप

(क) ज्ञान साधना, धर्म साधना, भक्ति साधना तथा तप और योग साधना

(ख) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त साधनाओं का उन पर प्रभाव

(ग) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

बुद्ध वचनों में विविध साधनाओं के स्वरूप

बौद्ध विचारधारा में ज्ञान साधना ही इनका दर्शन है। इन्होंने ज्ञान का अर्थ विवेक सदसद् विवेक ही ग्रहण किया है। इसी विवेक पर सम्पूर्ण बौद्ध विचारधारा आश्रित है क्योंकि भगवान् बुद्ध ने अपने वचन के लिए भी यही कहा है कि मेरी बात भी विवेक बुद्धि के बल पर ही ग्रहण करनी चाहिए। अतः तर्क पर आधारित तथ्य ही इनका विवेक है। ब्राह्मणिक विचारधारा में आत्मा द्वैत ही ज्ञान है। 'तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्' वह आत्मवादी है। इनकी ज्ञान साधना में योग साधनों का ही रूप मिलता है। मूल बौद्ध विचारधारा में हठयोग नहीं हैं ब्राह्मणिक विचारधारा में हठयोग का प्राधान्य है। ब्राह्मणों की धर्म साधना में सदाचार तथा कर्म-काण्ड का प्राधान्य है वहाँ सदाचार साधन ही प्रमुख लक्ष्य है। इन्होंने ध्यान योग को भक्ति के रूप में लिया है। ब्राह्मणिक विचारधारा में तप की जो परिभाषा है, उसका यहाँ परिवर्तित रूप मिलता है वहाँ कठोरतप से कृश शरीर तथा भयंकर यातनाओं पर बल है ये ही ज्ञानोपलब्धि में सहायक है जब कि बौद्धों में कृशता होने पर भी यदि इच्छाएं, स्थूल आकर्षण आश्रव बने हैं तो कोई लाभ नहीं।

निर्वाण[1] की प्राप्ति के तीन यान हैं। श्रावक यान, प्रत्येक बुद्धयान तथा बोधि सत्वयान, श्रावक यान, हीनयान का ही दूसरा नाम है। निर्वाणेच्छुक व्यक्ति गुरु के पास जाता है वह श्रावक कहलाता है। प्रत्येक बुद्ध को गुरुपदेश के बिना प्रातिभ चक्षु का प्रकाश नहीं मिलता है वह साधक अपना ही उद्धार कर सकता है अन्य का नहीं। बोधि सत्व अपने ही क्लेश का नाश नहीं चाहता प्रत्युत समस्त प्राणियों के क्लेश का नाश चाहता है। श्रावक के निर्वाण की भी चार अवस्थाएं हैं यथा स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत्। इनमें से सर्वतः प्रथम तीन संयोजनों, बन्धनों यथा—सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श से मुक्ति पाना है। सत्काय दृष्टि में आत्मा की नित्यता के कारण हिंसोत्पादक कर्मों में प्रवृत्ति, तथा सन्देह, व्रत, उपवास आदि सभी से ऊपर उठना अनिवार्य है।

हीनयान का अन्तिम लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है परन्तु महायान का उद्देश्य बुद्धत्वोपलब्धि है अर्हत् का लक्ष्य अपने ही क्लेशों से मुक्ति पा कर सफलता समझता है। अर्हत् केवल शुष्क ज्ञानी है जिसने अपनी प्रज्ञा के बल पर रोगों का विनाश कर लिया। महायान का लक्ष्य महाकरुणा का स्थान है। हीनयान[2] का लक्ष्य अर्हत्

---

1. बौद्ध दर्शन मीमांसा—प्रो० बलदेव उपाध्याय, पृ० 116
2. अष्ट साहस्रिका प्रज्ञा पारमिता एकादशपरिवर्त—बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० 121

है तथा बोधि सत्व का लक्ष्य है, 'मैं एक आत्मा का दमन करूं', एक आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊं, एक आत्मा का निर्वाण करूं ।' उसकी सम्पूर्ण क्रियाएं इसी लक्ष्य की ओर होती हैं। बोधि सत्व[3] अपने को परमार्थ सत्य में स्थापित करता है।

दीर्घ निकाय में भगवान् बुद्ध को अर्हत्, सम्यक् सम्बुद्ध, ज्ञान सम्पन्न, विद्या और आचरण से युक्त ही दर्शाया है। कल्चरल हेरिटेज[4] में भी श्रद्धानुसारी धम्मानुसारी, समाधि तथा प्रज्ञा को ही मुख्यता दी गई है। श्रद्धा ही समाधि तथा प्रज्ञा के लिए साधन है। इनका विवरण आगे इसी अध्याय में किया गया है।

बौद्ध साधना में विशेष बल ज्ञान साधना पर दिया है जिसका प्रमुख भाग योग साधना है तदुपरांत धर्म साधना को यहां ग्रहण किया गया है। भक्ति साधना जिसका कि ब्राह्मण विचारधारा में बोलबाला था उसे भगवान् बुद्ध ने अन्धवेणु परम्परा कहा है। इस विचारधारा का प्रभाव महायान में मिलता हैं जहाँ भक्ति को महत्व दिया गया है। हीनयान में पारमिताओं के वर्णन मिलते हैं क्योंकि इसमें ज्ञान को ही महत्व दिया है।

बौद्ध विचारधारा में ज्ञान का ही महत्व है क्योंकि बौद्ध विचारधारा में निर्वाण ही परम लक्ष्य है। भगवान् बुद्ध ने ध्यान पर ही विशेष बल दिया है। ब्राह्मणिक विचारधारा के योग मार्ग से बौद्ध विचारधारा पूर्णतया प्रभावित है किन्तु इन्होंने इस पद्धति में अपने मौलिक अनुसन्धान भी किए जिनका फल स्वयं भगवान् की बुद्धत्व प्राप्ति ही है। बुद्ध भगवान् ने दोनों अतियों[5] का त्याग करके मध्यम प्रतिपद् मार्ग का अन्वेषण किया और तपश्चरण, निराहारता आदि कठोर यातनाओं से शरीर को कंकाल मात्र अवशेष करने की पद्धति का विरोध किया अपितु आहार में संयम पर बल दिया। स्वयं छः वर्ष की घोर तपस्या के फलस्वरूप जब उनमें उठने चलने की असमर्थता हो गई और पेट भी कमर की रीढ़ की हड्डी से लग गया कि यदि कोई उदर को स्पर्श भी करता तो बाल उखड़ आते किन्तु इस प्रकार की भयंकर असंभव यातनाओं के फलस्वरूप भी जब कुछ उपलब्धि न हुई तो वे सुजाता की

3. भगवा अर्ह सम्मा सम्बुद्ध विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविद् ।
अनुत्तरो पुरिषधम्मसारथी सत्ता देवमनुस्सानं सत्था बुद्धो भावा। दी० नि० 1।87

4. मोक्ष प्राप्ति के चार मार्ग—श्रद्धानुसारी—सामान्य विश्वास पर, धम्मानुसारी नैतिकता तथा दयालुता पर, श्रद्धा विमुक्त धार्मिक अपराधों पर, दिट्ठि पथ वैचारिक विश्वास पर, पूर्व के तीन श्रद्धा के रूप हैं चतुर्थ प्रज्ञाविमुक्ति का सोपान है।

दी कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया प्रथम-भाग, पृ० 445

5. मज्झिम-निकाय—हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन, पृ० 12

प्रदत्त क्षीर को खाकर दृढ़ विचार से समाधिस्थ हुए कि मानव शरीर से जो कुछ भी लभ्य है वह जब तक मैं प्राप्त न कर लूंगा तब तक नहीं उठूंगा इस प्रकार का दृढ़ संकल्प लेकर बैठना ही प्रथम यान में बुद्धत्व की उपलब्धि का साधन बना।

ध्यान के द्वारा चरम ज्ञान की प्राप्ति ही निर्वाण[6] का स्वरूप है। भौतिक सुखोपलब्धि का मार्ग भिन्न है निर्वाण का अन्य है ऐसा कहते हुए भगवान् बुद्ध ने बौद्ध श्रावकों के लिए सत्कार को भी स्वीकार न करके 'विवेक' एकान्तचर्या ज्ञान के ही अनुशीलन पर बल दिया है। ज्ञान को प्रकाश का रूप दर्शाते हुए कहा है जब नित्य ही आग जल रही हो तो क्या हँसी है, क्या आनन्द[7] है? अन्धकार से घिरे तुम दीपक को क्यों नहीं ढूंढ़ते। भगवान् ने धर्म चक्र[8] परिवर्तन सुत्त कहा है भिक्षुओ! यह मुझे अश्रुत धर्मों में ज्ञान उत्पन्न हुआ, आलोक उत्पन्न हुआ।

हेमवत यक्ष[9] ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि संसार रूपी बाढ़ को कौन पार करता है उसके उत्तर में भगवान् ने कहा—'सदाशील से युक्त, ज्ञानी, सुसमाहित, अध्यात्म चिन्तन में रत स्मृतिमान् बाढ़ को पार करता है'। ज्ञानी के लिए उचित गुणों की अपने में वृद्धि करनी चाहिए यथा बड़ों का आदर करे, ईर्ष्यालु न हो, उचित समय पर गुरु के दर्शन करे, धर्माचरण में धृष्टता दूर कर, विनम्र होकर, अर्थ, धर्म, संयत तथा ब्रह्मचर्य का स्मरण कर उनका आचरण करे तथा बिलाप, मद, द्वेष,कपट, ढोंग, लोलुपता, अभिमान, स्पर्धा, मल मोह को त्याग कर स्थिर चित हो विचरण करे। ज्ञान सदुपदेशों का सार है। समाधि विद्या और ज्ञान का सार है जो मनुष्य असावधान और प्रमत्त है उसके ज्ञान और श्रुति की वृद्धि नहीं होती। भगवान्[11] ने ज्ञान को छुरे की धार की तरह तीक्ष्ण बताया है (यथा क्षुरस्यधारानिशिता दुरत्यया) भगवान्[12] को ज्ञान दर्शन हुआ कि आराड कालाम को मरे एक सप्ताह हो गया।

सुत्त निपात के मांगदिए संवाद में-मागन्दिय ब्राह्मण के स्त्री सहित अर्हत्पद की प्राप्ति के वर्णन प्रसंग में ऐसा कहने पर अपने ज्ञान बल को दिखलाती हुई वह

---

6. अञ्जा हि लाभूपनिसा अञ्जा निब्बान-गामिनी।
एवमेतं अभिञ्जाय भिक्खु बुद्धस्स सावको। धम्मपद बाल० व० 16
7. अन्धकारेणावनद्धाः प्रदीपं न गवेषयथ। जरावग्गो 1
8. बु० च० पृष्ठ 23
9. सब्बदा सीलसम्पन्नो (इति भगवा) पज्जवा सुसमाहितो।
अज्झत्तचिन्ती सतिमा, ओघं तरित दुत्तरं। हेमवत्तसुत 22 सु० नि०
10. किसी त०, सुत्त० नि० 3।5।6
11. वस्तुगाथा सुत्त-32
12. बु० च० 20

ब्राह्मण स्त्री बोली'—'रागयुक्त[13] का पद उकड़ूं होता है, द्वेष युक्त का पद निकला हुआ होता है। मोह युक्त का पद दबा होता है, मलरहित का पद ऐसा होता है' भगवान् बुद्ध के पदचिह्न को देखकर कहा—'देखो। ब्राह्मण। पदचिह्न; यह सत्व (जीव) काम में लिप्त नहीं है।' ब्राह्मण[14] विवेकी हो तृष्णा दृष्टि में नहीं पड़ता। वह दृष्टि का अनुसरण नहीं करता और न ज्ञानबन्धु ही। वह साधारण जनों की धारणाओं, जिन्हें और लोग ग्रहण करते हैं, जानकर उनकी उपेक्षा करता है। यह विचार उपेक्षा पारमिता के अन्तर्गत आता है कि क्या ग्राह्य है क्या उपेक्ष्य है?

इन्होंने निर्वाण की उपलब्धि के मार्गों के लिए यान शब्द को प्रयुक्त किया है उनमें प्रमुख तीन साधना (मार्ग) परिगणित किए है यथा श्रावकयान, प्रत्येक बुद्धयान तथा बोधिसत्व यान। इन तीनों में बोधि के स्वरूप का विवेचन अपनी अपनी रीति से किया गया है और सम्प्राप्त बोधि का भी भिन्न भिन्न अभिधान यथा श्रावक यान की बोधि श्रावक बोधि, प्रत्येक यान की बोधि प्रत्येक बुद्ध तथा बोधिसत्व यान की बोधि को सम्यक् सम्बोधि, इसीलिए भगवान् बुद्ध को सम्यक् सम्बुद्ध कहा गया है।

श्रावक यान का प्रयोग हीनयानी के लिए किया जाता है। धर्म जिज्ञासु को बौद्ध धर्म में श्रावक अभिधान दिया जाता है। हीनयान में प्राणियों को आर्य तथा आर्येतर दो वर्गों में विभक्त किया गया। आर्य वह व्यक्ति कहलाता है जो ज्ञान की रश्मियों से देदीप्यमान निर्वाण मार्ग का पथिक है, जिसका लक्ष्य अर्हत्पद की प्राप्ति होता है।

जो प्राणी जागतिक प्रपंचों में लीन रहकर अज्ञानवश अपना जीवन यापन करता है उसे पृथग्जन कहते हैं। अर्हत्पद की उपलब्धि में उसे साधना की चार भूमियां (श्रोतापन्न भूमि[15], सकृदागामी भूमि, अनागामी भूमि तथा अर्हत् भूमि) को पार करना होता है।

प्रत्येक बुद्धयान[16]—जिन साधकों को किसी गुरु की अपेक्षा नहीं रहती है उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं। ऐसे साधक स्वयं बुद्ध होते हैं। यह स्थिति अर्हत् और बोधिसत्व के मध्य की है। प्रत्येक बुद्ध अर्हत् से कुछ दृष्टियों में हेय होता है। उसे किसी निश्चित साधना क्रम का अनुसरण नहीं करना पड़ता।

---

13. सुत्त निपात मागन्देय सुत्त बु० च० पृ० 108
14. न ब्राह्मणो कप्पमुपेति संखं, न हि दिट्ठिसारी नपि जाणबन्धु।
    जत्वा च सो सम्मुतियो पुथुज्जा, उपेक्खति उग्गहणन्तमज्जे॥
    महाविमूह-सुत्तं 17
15. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 140
16. (वही), पृ० 142

बोधिसत्व यान[17]—यह यान ही महायान के नाम से प्रसिद्ध है। बोधिचर्यावतार में बोधिसत्व की परिभाषा देते हुए (बोधे ज्ञाने सत्वे अभिप्राया यस्येति बोधि सत्वः) अर्थात् ज्ञान में जिसका सत्व प्रतिष्ठित रहता है उसे बोधिसत्व कहते हैं। इस यान की एक विस्तृत साधना पद्धति है इसका प्रमुख लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति स्वीकार किया गया है। बुद्धत्व प्राप्त मानव में प्रजा के साथ साथ महाकरुणा का भी उदय होता है। महायानियों[18] के बुद्धत्व प्राप्त व्यक्ति से हीनयानियों के अर्हत् में कुछ भिन्नता होती है हीनयानियों के अर्हत् में प्रज्ञा होती है किन्तु उसमें महाकरुणा का अभाव ही रहता है किन्तु बोधिसत्व यान या महायान में बुद्धत्व प्राप्त व्यक्ति में प्रज्ञा के साथ महाकरुणा का होना परमावश्यक माना गया है। महायान तथा हीनयान के लक्ष्य में यही भेद है। इसी कारण हीनयानी शुद्ध बुद्धिवादी और ऐकान्तिक पद्धति है। महायान के आधार पर लोक संग्रहात्मक साधना मार्ग है।

अर्हत् पदोपलब्धि हेतु चार भूमियों को पार करना होता है।

(1) स्रोतापन्न भूमि (2) सकृदागामी भूमि (3) अनागामी भूमि तथा (4) अर्हत् भूमि। प्रत्येक भूमि में दो दशाएं होती हैं (1) मार्गावस्था (2) फलावस्था।

हीनयान[19] के श्रावक की निर्वाण (यान) की प्राप्ति के हेतु चार अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

(1) स्रोतापन्न—स्रोत आपन्न—स्रोत का अर्थ है धारा, आपन्न का अर्थ है पड़ा हुआ—धारा या मार्ग में पड़ने या चलने वाला। जब साधक का चित्त प्रपंच से एकदम हटकर निर्वाण मार्गारूढ़ हो जाता है और उस मार्ग से च्युत होने का भय नहीं रहता उस मार्ग में दृढ़ होकर अग्रसर होने वाले व्यक्ति को स्रोतापन्न कहते हैं। आधुनिक भाषा में उसे हम कह सकते हैं कि वह क्यू में लग जाता है। क्यू से बाहर आने का अवसर नहीं और कभी न कभी लक्ष्य प्राप्ति भी हो ही जाएगी इस प्रकार श्रावक या साधक सिद्धि के हेतु साधना के मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है।

इस स्रोतापन्न[20] स्थिति की प्राप्ति इसी प्रकार नहीं हो जाती अपितु तीन सँयोजनों (बन्धनों) के विनाश होने पर ही यह स्थिति प्राप्त होती है—

(1) सत्काय दृष्टि[21] (2) विचिकित्सा (3) शीलव्रत परामर्श।

ब्राह्मण विचारधारा के अटूट प्रवाह के कारण आत्मवाद का प्रभाव भारतीय

17. बोधिचर्यावतार—पृ० 1।29-33
18. आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म—एन दत्त पृ०46-48
19. बौद्ध दर्शन मीमाँसा, बलदेव उपाध्याय, पृ० 117
20. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 118
21. महालिसुत्त, दी० नि० पृ० 57-58

जिज्ञासु के मन की स्वाभाविक वस्तु बन गई है जिसके कारण वह नाना प्रकार के हिंसोत्पादक कार्य भी करता है। अतः सर्वप्रथम इस आत्मवादिता (सत्काय दृष्टि) को हटाना अपेक्षित है। विचिकित्सा का आशय है सन्देह तथा शीलव्रत परामर्श का अभिप्राय व्रतोपवास आदि के फलों में आसक्ति, इन बन्धनों का अनुयायी साधक निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकता। इन विचारों से ऊपर उठकर साधक सम्बोधि मार्ग पर अग्रसर होता है जिस सम्बोधि[22] के चार अंग हैं। बुद्धानुस्मृति, कर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, अखण्ड समाधि गामी।

(1) बुद्धानुस्मृति में साधक भगवान् बुद्ध में अत्यन्त श्रद्धा युक्त होता है।

(2) धर्मानुस्मृति—भगवान् बुद्ध का प्रतिपादित स्वाख्यात है। इसी शरीर के रहते फल देने वाला है (सांदृष्टिक सद्य फलप्रद) अकालिक है। अतः उसमें श्रद्धा रखता है।

(3) संघानुस्मृति—बुद्ध के संघ में उसके न्याय परायण तथा सुमार्गारूढ़ होने में विश्वास रखता है।

(4) अखण्ड, अनिन्दित, समाधिगामी कमनीयशीलों से युक्त होता है। स्रोतापन्न भूमि की प्रथम अवस्था को गोत्र भू कहते हैं। इस अवस्था में साधक कामक्षय होने के कारण कामधातु (वासनामय जगत्) से सम्बन्ध विच्छेद कर रूप धातु की ओर अग्रसर होता है उस समय उसका नवीन जन्म होता है। सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा-शील व्रत परामर्श तीनों संयोजनों के क्षय हो जाने के कारण निर्वाण प्राप्ति हेतु उसे सात जन्म से अधिक जन्म नहीं लेने पड़ते हैं।

(2) सकृदागामी—का अर्थ एक बार आने वाला। स्रोतापन्न भिक्षु काम राग (इन्द्रिय लिप्सा) तथा प्रतिघ (दूसरों के अनिष्ट की भावना) नामक बन्धनों को क्षीण करके मुक्ति मार्ग पर अग्रसरित होता है इस भूमि में आस्रवों के क्षय का प्रधान कार्य है। सकृदागामी साधक संसार में एक बार ही आता है।

(3) अनागामी—का स्पष्ट अर्थ है जो पुनः जन्म लेने वाला न हो। उपर्युक्त दोनों बन्धनों के क्षय हो जाने पर साधक न इस संसार में जन्म लेता है और न दिव्य लोक में।

(4) अर्हत्—इस पद की प्राप्ति के लिए पांच नीवरणों का क्षय अपेक्षित है।

(1) रूपराग (2) अरूपराग (3) मान (4) औद्धत्य (5) अविद्या।

इन बन्धनों के क्षय होते ही समस्त क्लेशों का निराकरण हो जाता है। समस्त दुःख स्कन्ध का विनाश हो जाता है। साधक को संसार में रहते हुए निर्वाण की उपलब्धि हो जाती है। साधक जगत् में रहते हुए भी कमल पत्र की भांति संसार

22. दी० नि० पृ० 288

में अलिप्त रहकर (पद्म पत्रमिवाम्भसा) चरम शान्ति लाभ करता है। व्यक्तिगत निर्वाण पद की प्राप्ति अर्हत् का प्रधान ध्येय और श्रावक यान अर्थात् हीनयान विचार-धारा का प्रधान लक्ष्य अर्हत् पद की प्राप्ति है। इसमें व्यक्ति निजी उत्थान, मोक्ष के लिए ही प्रयत्नशील रहता है जबकि महायान इससे बढ़कर है। वह बोधिसत्व यान की व्याख्या में वर्णित किया जायगा। अर्हत् केवल शुष्क ज्ञानी होता है। जिसने अपनी प्रज्ञा के बलपर रागादि कलेशों का प्रहरण कर लिया है। बोधिसत्वयान की एकयानता—महायानीलोग विविध साधना मार्गों में विश्वास नहीं करते थे। बोधिसत्वयान को ही एकमात्र साधना का मार्ग समझते थे। अन्य सभी साधन उनकी दृष्टि में इसके अंग ही थे। सद्धर्म पुण्डरीक के अनुसार बौद्ध धर्म में केवल एक ही मार्ग है दूसरा मार्ग है ही नहीं।

भगवान् बुद्ध[23] ने भी एकायन मार्ग का ही उपदेश किया और वह बोधिसत्व यान ही है। उनका लक्ष्य मानव जाति को बुद्धत्व का संदेश देना था। इस लक्ष्य के लिए उनकी दृष्टि में बोधिसत्वयान ही सर्वोत्कृष्ट था।

सद्धर्म पुण्डरीक में ही जिस महापुरुष ने धर्मकाय को अपनी अनेकता में देख लिया है, उसके लिए तीन यान न होकर एक ही यान होना है वह यान बोधिसत्व यान ही है। प्रज्ञापारमिता में भी निर्वाण की उपलब्धि कराने वाला एक ही मार्ग कहा गया है प्रत्येक बुद्ध उसी मार्ग का अनुसरण करता है। बोधिसत्व यान को ही महायान ग्रन्थों में महत्व दिया गया है। अनेकता में एकता स्थापित करने की यह बौद्ध प्रवृत्ति भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता है।

महायानियों की बोधिचित् सम्बन्धी धारणा—महायान धर्म में बोधिचित् की धारणा का महत्व। बोधिचर्यावतार[24] में लिखा है कि भवसागर से मुक्ति पाने का प्रमुख साधन बोधिचित् की उपलब्धि है। बोधिचित् से आशय है कि सम्यक् सम्बोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना। जब साधक के हृदय में यह भावना उदित होती है कि मै सब मानवों के परित्राण के लिए बुद्धत्व प्राप्त करूं तो उस धारणा को बोधि प्रणिधि चित्त का पारिभाषिक नाम दिया जाता है। बोधिचित् की एक दूसरी अवस्था भी होती है उसे बोधि प्रस्थान चित्त कहते हैं। यह वह अवस्था है जब साधक सम्बोधि[25] की प्राप्ति का निश्चय करके साधना में संलग्न होने लगता है।

---

23. एकं पि यानं द्वितीयं न विद्यते।
तृतीयोऽपि नैवास्ति कदाचित् लोके ।।
सपश्यति महाप्राज्ञो कर्मकाय मशेषतः।
नास्ति यानत्रयम् किंचिद् एकयानम् इहास्तितु ।। सद्धर्म पुण्डरीक पृ० 46
24. बोधिचर्यावतार 1।8
25. बौद्ध दर्शन मीमांसा—पृ० 146

इस प्रकार महायान में दो प्रकार की बोधिचित् की अवस्था का उल्लेख लभ्य है।

धर्म साधना—धर्म शब्द के अर्थ में यहां सामान्य धार्मिक क्रियाओं का अर्थ न होकर सदाचार का ही प्राधान्य है जबकि ब्राह्मणिक विचारधारा में सदाचार तथा आचार (कर्मकाण्ड) का भी महत्व है। यहां मानसिक पावनता, कलेशों का क्षय, षडायतनों के प्रभाव से मुक्ति आदि सदाचरण के अन्तर्गत धर्म साधना में अभीष्ट है। इसमें चित्त की स्थिति में मलों का शोधन वासनाओं का क्षय ही अभीष्ट होता है।

हीनयान—प्रारम्भिक बौद्ध विचारधारा को हीनयान अभिधान दिया गया है उसका कारण स्पष्ट ही है उसका अनुगामी मात्र अपने दुःख का आत्यन्तिक निरोध चाहता है। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता के एकादश परिवर्त में हीनयान तथा महायान की परस्पर तुलना करते हुए कहा है कि हीनयान के अनुगामी की धारणा होती है "कि मैं एक आत्मा का दमन करूं, एक आत्मा को शम की प्राप्ति कराऊं और एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊं" उसके सभी प्रयास इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु होते हैं किन्तु महायान में साधक बुद्ध के समान अपने लिए नहीं, किन्तु प्राणी मात्र के जन्म मरणादि दु:खों के निराकरण का इच्छुक होता है बोधिचर्या (बुद्धत्व की प्राप्ति जो पारमिता की साधना) का ग्रहण इसी अभिप्राय से करता है जिसमे साधक सभी का उद्धार कर सके। महायानी निर्वाण का अधिकारी किन्तु भूतदया से आप्लावित संसार के उपकार की भावना से संभावित है। अपने इस निर्वाण के अधिकार की भी छोड़ देता है और वह पारमिताओं के अनुपालन तथा महायान ग्रन्थों में वर्णित सप्तविध अनुत्तर पूजा का एक अंग बुद्ध याचना कहा है जिसमें निर्वाण के इच्छुक कृतकृत्यजनों से प्रार्थना की जाती है कि वे अनन्त कल्प तक निवास करें जिससे यह लोक अंधकार से आवृत न हो, में अपना जीवन लगाएं।

महायान में बोधिसत्व की प्राप्ति में वह उदार उत्कृष्ट तथा स्वयं को परमार्थ सत्य में स्थापित करते हुए सभी प्राणियों को भी परमार्थ सत्य में स्थापित करना चाहता है वह अप्रमेय तत्वों को परिनिर्वाण की प्राप्ति का समुद्योग करता है इसी कारण बोधिसत्वों को हीनयान की शिक्षा का ग्रहण वर्जित है। सर्व ज्ञान के मूल-स्वरूप प्रज्ञा पारमिता को छोड़कर जो शाखा पत्र स्वरूप है हीनयान में सार बुद्धि देखते हैं वह भूल करते हैं।

बोधिसत्व[26] की चर्या का आलम्बन महा करुणा ही है। जिस ओर महा करुणा

26. भगवन् ! येन बोधिसत्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वबुद्धधर्मा: गच्छन्ति।
तद्यथा भगवन् जीवितेन्द्रिये सति शेषाणाम् इन्द्रियाणाम् प्रवृत्तिर्भवति
एवमेव भगवन् महाकरुणायां सत्याम् बोधिकारकाणाम् धर्माणाम्
प्रवृत्तिर्भवति। बोधि० च० पृ० 486-487

की प्रवृत्ति होती है, उसी ओर सभी बुद्ध धर्मों की प्रवृत्ति होती है जिस प्रकार जीवितेन्द्रिय के रहते अन्य इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार महाकरुणा के रहने से बोधिकारक अथवा बोधि पाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति होती है।

महायान धर्म सर्व भूत दया पर आश्रित है, इसमें महाकरुणा को सम्बोधि स्वर का साधन माना गया है। महाबग्ग में वर्णित है कि जब भगवान् को बोधि वृक्ष के नीचे सम्बोधि प्राप्त हुई तब धर्म देशना में उनकी प्रवृत्ति न थी उन्होंने सोचा कि मानव अन्धकार से आच्छन्न है राग द्वेष से संयुक्त है अतः धर्म का प्रकाश नहीं देख सकते। यदि मैं उपदेश भी करूं तब भी सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कठिन है तब ब्रह्म सहम्पति बुद्ध की इस भावना को समझ कर चिन्तित हुए यदि बुद्ध धर्मोपदेश न करोगे तो आर्तजन को दुःख सागर के पार कौन ले जाएगा, धर्म नदी का प्रवर्तन कैसे होगा कौन जीव लोक की तृष्णा का उपशमन करेगा? यह विचार कर वे बुद्ध के समक्ष प्रकट हुए और धर्मोपदेश का निवेदन किया—कि भगवान् उपदेश करें अन्यथा दोषपूर्ण धर्म का त्याग न करेंगे। भगवान् बुद्ध ने कहा "मैंने गम्भीर दुरनुबोध धर्म पाया है पर धर्मदेशना में मेरा चित्त नहीं रमता पुनः बुद्ध चक्षु से लोक को देखा और जाना कि जीव दुःख से पीड़ित है तब वे सर्व भूत दया से प्रेरित हो उपदेश हेतु निकल पड़े।

ज्ञान, भक्ति और योगधाराओं का उदय और विकास

बौद्ध धर्म में बोधि चित् उत्पाद को ही परम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया जाने लगा। शेष सभी यानों का अन्तर्भाव इसी में हो गया। और इस बोधिचित् उत्पाद की लक्ष्य प्राप्ति हेतु बौद्ध विचारधारा में एक प्रखर परिवर्तन आया जो ब्राह्मणिक विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव कहा जा सकता है। आत्म समर्पण तथा यौगिक क्रियाओं का समावेश इनके कृत्यों में हो गया और इसी कारण भक्ति मार्ग तथा योग मार्ग का प्रवर्तन हुआ। बौद्ध विचारधारा में तो ध्यान का ही विशेष महत्व रहा है वह ज्ञान मार्ग चार आर्य सत्य और आर्य अष्टांगिक मार्ग के रूप में ही विकसित हुआ जो पूर्व में स्पष्टतया विवेचित किया जा चुका है।

बौद्ध विचारधारा ब्राह्मणिक विचारधारा से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती थी? इस विचारधारा में भक्ति तथा योग की प्रवृत्ति के विवेचन से पूर्व हम तात्कालीन विभिन्न धाराओं पर यदि संक्षिप्त विचार कर लें तो अनौचित्य न होगा।

महात्मा बुद्ध ने देखा कि समाज में जो भी धार्मिक गुरु हैं वे वास्तविक आध्यात्मिक गुरु न होकर भौतिक सुखों में ही जन मानस को उलझाए हुए हैं। इनमें से आलार कालाम, प्रकुध कात्यायन आदि सांसारिक रहस्य की ओर न जाकर

जनमानस को बाह्याडम्बरों में ही व्यर्थ जीवन तथा शक्ति का उपयोग कर रहे हैं। इन्हें यह ज्ञान नहीं है कि संसार के आधारभूत तथ्य कि दुःख, समुदय, निरोध, निरोधगामिनी प्रतिपद् का मार्ग ही सच्चा मार्ग है। प्रत्येक प्राणी दुःख से दुःखित है और पुनः उसी में येन केन प्रकारेण ग्रथित है। यदि मानव पांच नीवरणों का त्याग नहीं करता, रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार आदि के वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं करता तो उसे आन्तरिक प्रकाश तथा मुक्ति, निर्वाण कदापि लभ्य नहीं हो सकता। अतः श्रौत विचारधारा या वैदिक या ब्राह्मणिक कोई भी अभिधान देवें उसका प्रभाव तो स्वीकार करना ही होगा।

त्रिकायवाद (धर्म साधना) पालि निकाय में त्रिकायवाद नहीं है, किन्तु इसमें बुद्ध के तीन कार्यों का वर्णन प्राप्त होता है—चातुर्महा भौतिक काय, मनोमयकाय और धर्मकाय। प्रथमकाय चातुर्महा भौतिक, ये चार महा भूतों से निर्मित काय हैं। बौद्ध विचारधारा में पंच तत्वों के स्थान पर चार ही महाभूत स्वीकृत हैं आकाश को वे महाभूत नहीं गिनते यह काया पूतिकाय है, जरायुज है। भगवान् बुद्ध ने माता की कुक्षि में इसी काय को धारण किया था। पालि में बुद्ध के निर्माण-काय का उल्लेख नहीं है। किन्तु चातुर्महाभौतिक-काय के विषय में एक मनोमय-काय का भी उल्लेख है। सर्वास्ति-वाद[27] की परिभाषा में बुद्ध में नैर्माणिकी और पारिणामिकी ऋद्धि थी। वह अपने सदृश अन्य-रूप निर्मित कर सकते थे और अपने काय का पारिदापत्र भी कर सकते थे। यथा ब्रह्मा का काय अधर देवों के असदृश[28] है, वह अभिनिर्मित शरीर से उनको दर्शन देते हैं। इसलिए अवतंसक में बुद्ध की तुलना ब्रह्मा से करते हैं। पालि-निकाय में रूपी देव को मनोमय कहा है। मज्झिम[29] तथा विनय[30] में कहा है कि कोलियपुत्त कालकर मनोमय-काय में उत्पन्न हुआ है।

बाह्य-प्रत्यय के बिना मनस् से निष्पन्न निर्वृत-काय मनोमय-काय है। विशुद्धि-मार्ग के अनुसार यह अधिष्ठान मन से निर्मित है। यह अरूपी का संज्ञामय-काय नहीं है। सर्वास्ति-वादी भी मनोमय-काय के देवों का रूपावचर मानता है। सौत्रान्तिक के मत से यह रूप और आरूप्य दोनों के हैं। अन्तराभाव भी मनोमय कहलाता है, क्योंकि यह केवल मन से निर्मित है।

योगाचार के मत में आठवीं भूमि में काय मनोमय होता है, इसमें मन का वेग होता है, यह मन की तरह शीघ्रगमन करता है और इसकी गति अप्रतिहत होती है।

---

27. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० 107
28. दीर्घ नि० 2, पृ० 212
29. मज्झिम 1, 410
30. विनय 2, 185

सब श्रावक मनोमय-काय धारण कर सकते हैं—योगशास्त्र 80 के अनुसार मनोमय काय के 10 प्रकार हैं।

बुद्ध का यथार्थ-काय रूप-काय नहीं है, जिसके धातु-गर्भ की पूजा उपासना करते हैं, किन्तु धर्म विनय यथार्थ-काय है। धर्म-काय[31] प्रवचन-काय है। शाक्य-पुत्रीय-भिक्षु इसी धर्म-काय से उत्पन्न हुए हैं। 'मैं भगवत् का औरस पुत्र हूं, धर्म से उत्पन्न हूँ, धर्म का दायाद हूँ।' दूसरा कारण यह है कि भगवान् धर्मभूत हैं, ब्रह्मभूत हैं, धर्मकाय भी हैं, प्रज्ञा-पारमिता धर्मकाय है, तथागत काय है। जो प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करता है वह धर्मकाय का दर्शन करता है।

वस्तुत: हीनयान स्थविरवादियों की विचारधारा में त्रिकाय के सिद्धान्त के विषय में कुछ नहीं लिखा क्योंकि उनकी दृष्टि में बुद्ध शरीर धारण करने वाले साधारण व्यक्ति थे तथा जन सामान्य के समान वे समस्त मानवीय दुर्बलताओं के भाजन थे। स्थविरवादियों ने बुद्ध को धार्मिक नियमों का समुच्चय बतलाया है। किन्तु यह केवल संकेत मात्र था। इससे कोई गूढ़ रहस्य की दृष्टि उनमें न थी इन संकेतों को सर्वास्तिवादियों तथा महायानियों ने ग्रहण कर अपनी मौलिक उद्भावना की। महासांघिकों ने इसी के आधार पर तीनों कायों—निर्माण काय, संभोग काय और धर्म काय की विशद व्याख्या की।

स्थविरवादियों के अनुसार भगवान् बुद्ध लोकोत्तर थे। बुद्ध ने स्वयं कहा था कि मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ और सब सत्वों में अनुत्तर हूँ। एक बार द्रोण ब्राह्मण बुद्ध के पादों में 32 महापुरुषों के लक्षण देख स्तब्ध रह गया और उसने भगवान् बुद्ध से पूछा—

कि आप देव हैं, यक्ष हैं, गन्धर्व हैं, क्या हैं? भगवान् ने कहा मैं इनमें से कोई नहीं हूँ। द्रोण बोला—फिर क्या आप मनुष्य हैं? बुद्ध ने उत्तर दिया मैं मनुष्य भी नहीं हूँ, मैं बुद्ध हूँ जिससे देवोत्पत्ति[32] होती है जिससे यक्षत्व या गन्धर्वत्व की प्राप्ति होती है। सब आस्रवों का मैंने नाश किया है। हे ब्राह्मण! जिस प्रकार पुण्डरीक जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार मैं लोक से उपलिप्त नहीं होता।

दीर्घ निकाय के अनुसार बोधिसत्व की यह धर्मता है कि जब वह तुषितकाय से च्युत हो माता की कुक्षि में अवक्रान्त होते हैं, तब सब लोकों में अप्रमाण अवभास का प्रादुर्भाव होता है। यह अवभास देवताओं के तेज को भी अभिभूत कर देता है। लोकों के बीच जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य ऐसे महा-नुभावों की भी आभा नहीं पहुंचती, वहाँ भी अप्रमाण अवभास का प्रादुर्भाव होता

31. दीर्घ निकाय पृ० 84
32. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 133

है। बोधिसत्व महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से और अस्सी अनुव्यंजनों से समन्वागत होते हैं।[33]

दीर्घ निकाय[34] में एक स्थल पर भगवान् आनन्द से कहते हैं कि दो काल में तथागत का छविवर्ण परिशुद्ध होता है :—

(1) जिस रात्रि को भगवान् सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं।

(2) जिस रात्रि को भगवान् अनुपाधि-शेष-निर्वाण में प्रवेश करते हैं।

पालिनिकायों में इस प्रकार का भी वर्णन है कि जब बोधिसत्व ने अवक्रान्ति की तब मानुष और अमानुष परस्पर हिंसा का भाव नहीं रखते थे और सब तत्व हृष्ट और तुष्ट थे। इन सब अद्भुत धर्मों का त्रिपिटक में वर्णन है। इन अद्भुत धर्मों से समन्वागत होने पर भी स्थविरवादियों की धारणा थी कि बुद्ध लोकोत्तर हैं और लोक को अभिभूत कर लोक में अनुपलिप्त होकर विहार करते हैं। उनको मार्ग का अन्वेषण नहीं करना पड़ता वे स्वयं नूतन मार्ग का उद्घाटन करते हैं।

स्थविरवादी बुद्ध की मानवीय स्थिति तथा उनकी दैनिक घटनाओं को सत्य मानते थे तथा उनका पूर्ण दृढ़ विश्वास था कि बुद्ध ने लोक में ही जन्म लिया और यहीं सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की और उसका उपदेश भी किया। स्थविरवादी बुद्ध के व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए उनकी शिक्षा पर विशेष बल देते थे। परिनिर्वाण से पूर्व स्वयं बुद्ध ने आनन्द से कहा। हे आनन्द[35]! तुम में से किसी का विचार यह हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत हो गया अब हमारा कोई शास्ता नहीं है पर ऐसा विचार उचित नहीं है। जिस धर्म या विनय का मैंने तुम्हें उपदेश किया है मेरे पीछे वह तुम्हारा शास्ता हो और यह भी कहा कि जो धर्म को देखता[36] है वह मुझको देखता है। वह धर्म को देखता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिन्होंने धर्म तत्व को जान लिया उन्होंने बुद्ध दर्शन भी किए। बुद्ध का बुद्धत्व इसी में है और इसी के द्वारा उन्होंने दुःख की अत्यन्त-निवृत्ति का उपदेश दिया।

उन्होंने स्पष्ट कहा था आनन्द—तुम अपने लिए स्वयं दीपक हो, धर्म की शरण जाओ, किसी दूसरे का आश्रय मत खोजो। स्थविरवादी धर्म की प्रधानता को स्वीकार करते हुए भी बुद्ध के व्यक्तित्व को मानते थे।

निर्वाण के उपरान्त श्रद्धालुश्रावकों ने बुद्ध को देवाधि देव, अनन्त कल्प आयु प्रमाण, पिता, स्वयंभू सदा गृध्रकूट पर्वत वाणी और विशेषण लगाकर महायान विचारधारा में पूर्णतः ब्राह्मणिक विचारधारा के अनुकूल अवतारवादिता का समावेश किया है।

---

33. दीर्घनिकाय 2, पृ० 16
34. दीर्घनिकाय 3, पृ० 134
35. दीर्घनिकाय, भाग 2; पृष्ठ 154, महापरिनिब्बान-सुत्त।
36. बौद्ध दर्शन, पृ० 105

स्थविरवादी कहते हैं भगवान्[37] अर्हत् सम्यक् ज्ञान सम्पन्न, विद्या आचरण से युक्त सद्गति को प्राप्त करने वाले लोकज्ञाता, श्रेष्ठ मनुष्यों के नायक, देवता और मनुष्यों के उपदेष्टा ज्ञान सम्पन्न भगवान् थे। इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि बुद्ध मानव थे किन्तु मानवों में विशिष्ट गुण वाले ज्ञानी उपदेष्टा थे।

विचार करने पर यह धारणा दृढ़ हो जाती है कि हीनयानी और महायानी दोनों ही दो प्रकार की बुद्ध देशना को मानते हुए दृष्टिगत होते हैं। (1) संवृति (सम्प्रति—व्यावहारिक) और (2) परमार्थ किन्तु दोनों की स्वीकृति में भेद है। हीनयानियों को भगवान् बुद्ध की देशना उपाय कौशल्य से होती है। वे धर्मोपदेश में लोक व्यवहार के लिए जो देशना होती है उसे व्यावहारिक सम्प्रति और वस्तु के स्वभाव एवं लक्षण को प्रकट करने वाली देशना को पारमार्थिक कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं लोक संवृति और परमार्थ। स्थविरवादियों की मान्यता है कि पारमिताओं को पूर्ण कर बुद्ध संसार में जन्म लेते हैं, उपदेश करते हैं, और महापरिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं वे सदा जीवित रहने वाले नहीं हैं। महापरिनिर्वाणोपरान्त उन्हें कोई नहीं देख सकता कि वे कहां गए। उन्होंने कहा है कि भिक्षुओं भव तृष्णा के अविच्छिन्न होने पर भी तथागत का शरीर रहता है। जब तक उनका शरीर रहता है, तभी तक उन्हें मनुष्य और देवता देख सकते हैं। शरीर पात हो जाने के बाद उनमें जीवन प्रवाह के निरुद्ध हो जाने से उन्हें देव और मनुष्य नहीं देख सकते। भिक्षुओं जैसे किसी आम के गुच्छे की ढेंप से लगे सभी आम नीचे आ गिरते हैं, उसी तरह भव तृष्णा के छिन्न हो जाने पर तथागत का शरीर होता है। किन्तु महायानी[38] बुद्ध को लोकोत्तर मानता है। वे इस लोक में न आए और न उन्होंने देशना की, जिस बुद्ध ने उपदेश किया वह वास्तविक बुद्ध द्वारा निर्मित रूप था। वास्तव में बुद्ध न तो जन्म लेते थे न परिनिर्वाण बुद्ध का संसार में उपदेश एक माया थी वे लोक के पिता स्वयंभू गृध्रकूट पर्वत पर निवास करते हैं। वे सत्वों को उपाय कौशल्य से उपदेश देते थे उनका उपदेश निरन्तर होता था।

महायान ने इसी आधार पर त्रिकाय को अपनाया। उन्होंने बुद्धकाया को तीन रूपों में माना है—रूपकाय, धर्मकाय और सम्भोग काय। भौतिक काय को ही रूप काय है जिसमें जन्म लेकर भगवान् बुद्ध उपदेष्टा रहे। निर्माणकाय संसार की दृष्टि से शाक्य मुनि ने इसी निर्माणकाय में जन्म लिया। परार्थ की सिद्धि जिन जिन शरीरों के द्वारा सम्पन्न की जा सकती है उन सब शरीरों को बुद्ध ने इसी निर्माणकाय के द्वारा सम्पन्न किया।

---

37. भगवा अहं सम्मासम्बुद्ध विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविद् अनुत्तरो पुरिष धम्म सारथी सत्ता देवमनुस्सानं सत्था बुद्धो भगवा। दी० निं० 1, 87
38. बौद्ध दर्शन मीमांसा, प्रो० बलदेव उपाध्याय, पृ० 110

धर्मकाय—धर्म और वास्तविक बुद्ध धर्मकाय है। भगवान बुद्ध के उपदेशों को ही धर्म का रूप दिया गया है। दीर्घनिकाय तथागत का यह धर्मकाय श्रेष्ठ अधि-वचन है। धर्मकाय ब्रह्मकाय है, यह धर्मभूत, ब्रह्म भूत भी है। भगवान् से फलसंपत् का लक्षण धर्मकाय है। दीर्घ निकाय[39] में इन्हें धम्मक्खन्ध कहा है।

शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन। बुद्ध की शरण में जाने का अर्थ है धर्मकाय की शरण में जाना, यह उनके रूपकाय की शरण में जाना नहीं है। भिक्षु की भिक्षुता उसका संवरशील उसका धर्मकाय है। माध्यमिक वृत्ति में बुद्ध की धर्मता के रूप में अनुभव करने का विचार व्यक्त किया गया है क्योंकि वे मनुष्यों के नायक ठहरे, उनका वास्तविक शरीर धर्मकाय है।

बुद्धों की धर्मता यह है कि उनके चलने पर निम्न स्थल समतल हो जाता है, जो ऊंचा है, वह नीचा हो जाता है, जो नीचा है वह ऊंचा हो जाता है। अन्धे दृष्टि का, बहरे श्रोता का, उन्मत्त स्मृति का प्रतिलाभ करते हैं। बोधिचर्यावतार पंजिका में कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध के मध्यम मार्ग का सार है। इसको गम्भीर वय कहा है। तत्व ज्ञान, अधिगम धर्म के कारण ही बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। तत्व ज्ञान को धर्म और प्रज्ञा दोनों कहा है।

सम्भोगकाय[40]—भगवान् बुद्ध का आनन्दमय स्वरूप सम्भोगकाय है। श्रावक आदि निर्माण को धारण करते हैं। यह दो प्रकार का है। परसंभोगकाय तथा स्वसंभोगकाय। स्वसंभोगकाय केवल बुद्ध का अपना शरीर है परसंभोगकाय बोधिधिसत्वों का काय है इसी काय के द्वारा बुद्ध के महायान सूत्रों को उपदेश देने का सुखावती व्यूह में वर्णन है। संभोगकाय बोधिसत्वों का सूक्ष्म शरीर है जिसके द्वारा धर्मोपदेश दिया जाता है। सम्भोगकाय धर्मकाय का सत्, चित्, आनन्द या करुणा के रूप में विकास मात्र है और यही जब दूषित हो तो पृथक् जन के रूप में विकसित हो तो निर्माणकाय कहा जाता है।

जैसे हीनयान के अनुसार अर्हत्पद की प्राप्ति के लिए विविध साधनों के रूप में चार भूमियों का अतिक्रमण आवश्यक है यथा स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्। इसी प्रकार महायानियों को भी 10 भूमियों को पार करना आवश्यक है। इन दश भूमियों के नाम—मुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभि-मुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधमती, धर्ममेघ हैं। इनका विवेचन असंग ने दशभूमि शास्त्र में किया है।

भक्तिसाधना—बौद्ध धर्म के विकास काल में 350 ई० पू० से लेकर 100 ई० पू० तक बौद्ध संघ अनेक भागों में विभक्त था और उस समय युग की परिवर्तित

---

39. दीर्घनिकाय भाग 3; पृ० 229
40. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० *121*

परिस्थितियों के अनुकूल बौद्ध शिक्षाओं की व्यवस्था का प्रमुख प्रश्न था। जिससे विदेशों में इसका प्रचार तथा प्रसार हो। हीनयान विचारधारा को आत्मसात् न करते हुए देख महायान की प्रवृत्तियों का उदय हुआ और यह महायान विचारधारा समयानुकूल रही इसमें 100 ई० पू० से 300 ई० तक महायान का रूप स्पष्ट हुआ था और सातवीं शदी तक विकसित हो गया था। महायानियों ने एक विस्तृत तथा महत्वपूर्ण साधना मार्ग के रूप में विकसित किया। इनमें त्रिकायवाद के सिद्धान्त का ही विशेष परिणाम भक्ति भावना के रूप में महापरिनिर्वाण के समय शास्ता ने शिष्यों को उपदेश दिया—

'आनन्द। जिस धर्म और विजय का मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जिसे मैंने तुम्हें बताया है वही मेरे बाद तुम्हारा शास्ता होगा।' इसी प्रकार एक अन्य भिक्षु बक्कली ने मरणासन्न समय में भगवान् के दर्शनों की इच्छा व्यक्त की भगवान् बुद्ध ने जाकर उसकी इच्छा पूर्ति की, किन्तु उसे उपदेश दिया—

'बक्कली[41] ! मेरी इस गन्दी काया के देखने से तुझे क्या लाभ होगा? जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है। इस उद्धहरण से स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध ने निर्माणकाय की अपेक्षा धर्मकाय को अधिक महत्व प्रदान करते थे। इसी धर्मकाय के सिद्धान्त के अनुशीलन में शनैः शनैः धर्म के प्रति समर्पण, श्रद्धा, अटूट सम्पर्क आदि आन्तरिक भावों के उद्भूत होने से भक्ति भाव का उदय हुआ यह ब्राह्मणिक विचारधारा की तन्मयता थी जनता जनार्दन ने भगवत्स्वरूप के प्रति अपनी शक्तियों की हीनता के कारण समर्पण किया था अभी प्रेम का वह उद्रेक उद्भूत न हो पाया था जो बाद में वैष्णव भक्तों में सुलभ है किन्तु बौद्धों के महायान में भी शनैः शनैः यह भक्ति भावना विकसित हुई।

वस्तुतः धर्मकाय में निर्गुण रूप तथा निर्माण काय में सगुण उपासना का ही भेद प्राप्त होता है। श्रद्धा के अतिरिक्त आदिम बौद्ध-धर्म के त्रिशरण के सिद्धान्त ने भी भक्ति भावना के विकास में योग दिया क्योंकि आदिम बौद्ध-धर्म हीनयान में कर्मवाद का ही प्राबल्य था मनुष्य जब अच्छे कर्म करेगा तो सुफल होगा पुनः भक्ति तथा समर्पण होगा। उस समय तक इस प्रकार की भावनाओं का बीज तो था किन्तु विकसित होने के लिए पृष्ठभूमि को भावभूमि नहीं मिल पाई थी। उस समय हीनयान में कर्मवाद के नाम पर ईश्वर वाद नाम की कोई प्रतिष्ठा न थी। इस भक्ति भावना का रूप इस प्रकार समझे कि महायान ने महात्मा बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया और उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा भावना समर्पित की गई। यही श्रद्धा भावना भक्ति भावना का आधार स्तम्भ है।

41. महापरिनिर्वाण सुत्त—बु० च०, पृ० 487

महायान[42] धर्म की भक्ति भावना वैदिक धर्म की देन है मैं इसी विचार को प्रस्तुत करता हूँ—डा० हरदयाल का कथन है कि पूर्वतम काल से भक्ति बौद्ध आदर्श का एक आन्तरिक अविभाज्य अंग थी यहां मैं अपना विरोध ही अनुभव करता हूँ। उनका यह निष्कर्ष भी प्रायः सारहीन ही है कि भक्ति का उदय सबसे पहले बौद्धों में ही हुआ था ब्राह्मणिक विचारधारा में नहीं।

भक्ति भावना ब्राह्मणिक विचारधारा की ही देन है। श्रद्धापूर्ण समर्पण की भावना अनेकशः ऋग्वेद में ही प्राप्त होती है जहाँ याचना एवं संरक्षण की कामना आई वहाँ किसी-न-किसी रूप में भक्ति भावना का अंकुर विद्यमान है। वस्तुतः आदिम अनीश्वरवादी हीनयान विचारधारा में भक्ति को स्थान नहीं है। ज्यों-ज्यों महायान सम्प्रदाय में भगवान् बुद्ध की ईश्वर तथा अवतार के रूप में स्वीकृति मानी जाने लगी त्यों-त्यों बौद्ध विचारधारा भक्ति भावना से अनुप्राणित हो गई।

हीनयान विचारधारा में युगानुकूल परिवर्तन तथा चरितार्थता को ही हम महायान में परिष्कृत रूप में पाते हैं। महायान ने मौलिक बौद्ध विचारों, उपदेशों का विरोध कहीं पर भी नहीं किया उसमें बुद्धवचनों की एक मौलिक उपयोगी श्रेष्टता अर्थवत्ता की ही जनता जनार्दन के अनुकूल नई व्याख्या की। यह मौलिक बौद्ध विचारधारा का ही विकसित रूप है।

मूर्ति पूजा भी महायान की अनेक देन में से एक है जिसका ब्राह्मण विचारधारा में प्राबल्य था क्योंकि बुद्ध-वचनों में कहीं भी मूर्ति-पूजा का विधान नहीं है अपितु उन्होंने अपने वचनों को भी नापतोल कर ही, अनुभव करके ही अपनाने पर बल दिया है इसी कारण उन्हें नास्तिक कहा जाने लगा क्योंकि उन्होंने वेदों के लिए भी ऐसा ही कहा। मज्झिम निकाय में भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को सम्बोधित करते हुए धर्मदायाद बनने का उपदेश दिया अर्थदायाद नहीं। कर्मदायाद होना और बुद्धदायाद होना या बुद्ध की शरण जाना ये दोनों समानार्थवाची हैं। परन्तु महायान में शरणागति को विशेष महत्व देते हुए भगवान् बुद्ध की प्रतिमा पूजा का भी आश्रय लिया जाने लगा। भगवान् बुद्ध ने अपने शरीर की पूजा[43] की कभी भी अनुमति नहीं दी। वे सदैव बोधिपक्षीय धर्मों के पालन की ही अनुमति देते थे और तथागत की शरीर पूजा को एक निम्नतर कोटि का पुण्य कार्य मानते थे। बुद्ध स्वयं भी जानते थे कि वे अपने शिष्यों को मार्ग प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकते। वे कर्म सिद्धान्त को जानते थे और इसीलिए कर्म, कर्म कहते थे।

---

42. दी बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर पृ० 30-49
43. बु० च० पृ० 501

महायान में आशातीत परिवर्तन आया यथा सद्धर्मपुण्डरीक[44] पर गीता[45] का स्पष्ट प्रभाव बुद्ध को पिता, संतारक आदि विशेषणों में मिलता है। यहाँ धर्म के साधनों[46] में गुरु के समीप जाकर सत्संग और पूजा विधान करना, धर्म शास्त्रों का स्वाध्याय और आचरण, मन से 'नमु अमिदा बुत्सु' मंत्र का जाप. चित्त शुद्धि के उपाय आदि का महत्व समझा जाने लगा।

ब्राह्मण विचारधारा की प्रधान भक्ति परम्परा वैष्णवी भक्ति में भागवती भक्ति का ऐकान्तिक रूप ही थी जबकि महायानी भक्ति में लोकसेवा की प्रमुखता थी जिसका प्रभाव वैष्णवी भक्ति पर भी पड़ा और शनैः शनैः ऐकान्तिक रूप परिवर्तित होते-होते लोक संग्रहात्मक हो गया। दूसरी विशेषता महायानी भक्ति की यह रही कि वैष्णवी भक्ति स्वयं साध्य का स्थान लेने लगी जबकि महायानी भक्ति साधना ही रही साध्य का रूप नहीं ले पाई। बौद्ध भक्ति में थोथी भक्ति का कोई स्थान नहीं है। इसमें बाहरी आचार तथा विधि विधानों का भी कोई महत्व नहीं। सर्वत्र पवित्र मन से किए गए आचरण ही सदाचरण की कोटि में रखे गए हैं दिखावटी आचरण यहाँ कोई स्थान नहीं रखते।

योगसाधना—इसमें योग शब्द से आशय प्रत्येक क्षेत्र में बोधिचित्त होना ही बौद्ध परम्परा का प्राणभूत तत्व है। इसमें मन के सन्तुलन को हम 'योगः कर्मसु कौशलम्' कह सकते हैं। योग साधना के बौद्ध परम्परा में यत्र तत्र संकेत प्राप्त होते हैं। यहाँ मूल रूप में हठ योग का परित्याग है यद्यपि यह पूर्णतया क्रमिक विकसित रूप में पश्चात् काल में ही प्रकाश में आया। विद्वानों में इस मत में पूर्णआस्था नहीं है कि महात्मा बुद्ध पातंजल योग दर्शन से ही प्रभावित थे क्योंकि पतंजलि को बुद्ध के पश्चात् कालीन ही माना गया है तथापि इतना सभी स्वीकार करते हैं कि बुद्ध के समय से पूर्व भी योग साधना का विकास हो चुका था भले ही वह पातंजल योग दर्शन के रूप में उपलब्ध न हो क्योंकि बुद्ध वचनों में अनेक स्थलों पर हमें विचार साम्य, विधि साम्य, वर्णन साम्य प्राप्त होते हैं इसलिए भगवान् बुद्ध योग प्रधान थे।

भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम धर्म चक्र[47] परिवर्तन के समय योगबल का प्रयोग किया और अपने अमानुष दिव्य विशुद्ध नेत्रों से देखा कि उनके पांच शिष्य भिक्षु वाराणसी के ऋषिपत्तन मृगदाव में विहार कर रहे हैं इस कारण उन्होंने अपने ऋद्धि

---

44. 2।11

45. पितामहमस्य जगतः। गीता 9।17

46. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-2, भरतसिंह उपाध्याय पृ० 598

47. बुद्धचर्या हिन्दी पृ० 25-26

प्रातिहार्य[48] का प्रयोग करके अपने शिष्यों को प्रभावित किया।

भगवान् बुद्ध ने यद्यपि ऋद्धि प्रातिहार्य का गृहस्थों को दिखाने का निषेध ही किया है और दिखाने वाले को दुष्कृत की प्राप्ति कही है। किन्तु दिव्य[49] शक्ति प्रदर्शन में तो उन्होंने अपने श्रावकों के लिए योग बल प्रातिहार्य न करने का शिक्षाप्रद नियम बनाया तथापि यमक प्रातिहार्य के ज्ञान में अपूर्व योगबल ही प्राप्त होता है—ऊपर के शरीर से अग्नि पुंज निकलता है, निचले शरीर से पानी की धार निकलती है, नीचे वाले शरीर से अग्नि पुंज, ऊपर के शरीर से जल धारा एक-एक रोम से अग्नि पुंज एक-एक रोम से जल धारा, नील, पीत, लोहित, अवदात, प्रभास्वर रंगों के रूप को देख तथागत के यमक प्रातिहार्य के ज्ञान का ही बोध होता है।

भगवान् बुद्ध ने एक अन्य स्थल पर कहा कि 'आवुसो' ![50] कहीं पृथ्वी में डूब परिषद् मुझे सुमेरु पर्वत पर चढ़ते हुए देखे यह अधिष्ठान (योग सम्बन्धी संकल्प(—सुमेरु के बीच में चढ़े।

सम्यक् समाधि[51] का रूप—चार प्रकार के ध्यान प्राप्त करके विहार करना ही सम्यक् समाधि है। भगवान् ने ध्यान पर बल देते हुए समाधि से पूर्व की स्थिति पर भिक्षु को विचार करके ही तीनों ध्यानों की प्राप्ति का मार्ग दिखलाया है। भिक्षुओं! सम्यक् समाधि ? भिक्षुओ। भिक्षु काम से अलग हो और अकुशल धर्मों से अलग हो, सवितर्क, सविचार, विवेक से उत्पन्न प्रीति वाले सुख से युक्त प्रथम ध्यान को विहरता है। वितर्क और विचार से शान्त हो जाने पर भीतरी शान्ति, चित्त की एकाग्रता, वितर्क, अविचार समाधि से उत्पन्न प्रीति सुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त हो विहरता है। प्रीति से भी विरक्त और उपेक्षक हो, स्मृतिमान् संप्रजन्य अनुभववान् हो, काया से सुख को भी अनुभव करता हुआ जिसको कि आर्य लोग उपेक्षक, स्मृतिमान्, सुख बिहारी कहते हैं, वैसे तृतीय ध्यान को प्राप्त हो विहरता है। सुख और दुःख के प्रहाण से सौमनस्य और दौर्मनस्य के पहिले से ही अस्त हो जाने से, अदुःख, असुख, उपेक्षा स्मृति की परिशुद्धता रूपी चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हो विहरता है। यह है सम्यक् समाधि।

भगवान् बुद्ध ने मध्यम प्रतिपद् मार्ग को समझाते हुए कहा कि 'भिक्षुओ! यह कही जाती है दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद् आर्य सत्य।' जो कोई भिक्षुओ! इन चार स्मृति प्रस्थानों की इस प्रकार सात वर्ष भावना करे, उसके दो फलों में एक

48. चारिकासुत्त संयुक्त निकाय 4।1।4
49. बु० च० पृ० 77, 78
50. बु० च० 83
51. महासतिपट्ठानसुत्त—दी० नि० 2।22 बु० च० पृ० 119

फल अवश्य होना चाहिए इसी जन्म में अर्हत्व का साक्षात्कार या उपाधि (दुःख का कारण तृष्णा आदि) शेष होने पर अनागामि-भाव। रहने दो भिक्षु। सात वर्ष, छः, पाँच, चार, तीन, एक वर्ष, सात मास, छः मास, पांच मास, अर्द्धमास-सप्ताह।'

'भिक्षुओ! यह जो चार स्मृति प्रस्थान[52] है, वह सत्वों के शोक की विशुद्धि के लिए, दुःख दौर्मनस्य के अतिक्रमण के लिए, न्याय (सत्य) की प्राप्ति के लिए निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात् करने के लिए, एकायन मार्ग है।'

श्रद्धा ही समाधि तथा प्रज्ञा के साधन के रूप में—धम्म पद के अप्रमाद वर्ग में प्रमाद की निन्दा तथा अप्रमाद की प्रशंसा की गई है। अप्रमाद[53] को अमृत पद और प्रमाद को मृत्यु का स्थान कहा गया है। इस मार्ग को भी आर्यों[54] द्वारा अनुसृत तथा अनुमोदित दर्शाया है जो निरन्तर ध्यान रत नित्य दृढ़ पराक्रमी हैं वे वीर अनुपम योग क्षेम[55] वाले निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

इन्द्रियों[56] में संयम भोजन में मात्रज्ञ, श्रद्धावान् तथा उद्योगी ही मार पर विजय पा सकता है। इसी प्रकार अभावित चित्त वाले व्यक्ति के मन में राग उसी प्रकार प्रविष्ट हो जाते हैं जैसे ठीक न छाये घर में वृष्टि। तो चित्त के सुभावित, यम नियमों से तापित होना योग पद्धति के पूर्ण प्रभाव को ही दर्शाता है। क्योंकि चित्त शुद्धि के साथ-साथ प्रज्ञाप्रासाद[57] पर सुविचारित होकर यदि कार्यशील हो तो शीघ्र ही साफल्य प्राप्त करता है।

तप और वैराग्य का स्वरूप—बौद्ध विचारधारा[58] में तप और वैराग्य का विशेष वर्णन है। दुःखवाद बौद्ध-धर्म की मूल भित्ति है। दुःख निराकरण के लिए इस विचारधारा में तप की अपेक्षा वैराग्य को विशेष महत्व दिया गया था स्वयं भगवान् बुद्ध को भौतिक सुखों से ओत-प्रोत होने पर पहले उन भोगों की नश्वरता से उन्हें वैराग्य ही हुआ। यह विचारधारा मध्यम मार्गी है। जहां एक ओर भौतिक सुखों की उपेक्षा है वही कठोर तप का भी महत्व नहीं है। तप भी एक प्रकार का कष्ट ही है। जिसे

52. सतिपट्ठान सुत्त बु० च० पृ० 119
53. अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम्॥ धम्मपद पृ० 11
54. अप्रमादं प्रमोदन्ति आर्याणां गोचरे रताः॥
55. ते झायिनो साततिका निच्चं दह्‌ण-परक्कमा।
    फुसन्ति धीरा निब्बाणं योगक्खमं अनुत्तर॥
56. मा प्रमादमनुयुंजीत मा कामरतिसंस्तवम्।
57. पञ्जापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं, ॥ ध० प० अप्पमादव० 2, 3, 7, 8
58. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—2, पृ० 70

बौद्ध लोग नहीं मानते उन्होंने तीन[59] प्रकार के पुरुष बताए जो एक तो दूसरों को कष्ट देते हैं दूसरे जो दूसरों को कष्ट नहीं देते हैं, तीसरे वे जो न अपने को न दूसरे को कष्ट देते हैं। बौद्ध इसी तीसरी कोटि में आते हैं।

संयुत्त निकाय[60] में भगवान् बुद्ध के घोर तपस्या के उपरान्त भी सम्बोधि न पाकर केवल शान्त भाव से ही सम्बोधि प्राप्ति प्रसन्नता का वर्णन है जिन्होंने जहाँ कि कठोर तप की निन्दा की, और इसी प्रकार महावग्ग में काया-क्लेश की निन्दा की गई है। बौद्ध विहारों तथा मठों की व्यवस्था में भी बौद्ध भिक्षुओं को शारीरिक कष्ट न देने की व्यवस्था है। महावग्ग[61] में बौद्ध भिक्षुओं को नग्न रहना, अकारण शरीर को कष्ट देना बहुत बड़ा अपराध माना है।

कठोर तपस्या के प्रति उपेक्षा का भाव करते हुए भी सन्यास तथा वैराग्य का प्राधान्य है। धम्मिक सुत्त[62] में बुद्ध भगवान् ने स्पष्ट लिखा है कि गृहस्थ को उत्तम स्वभाव से स्वप्रकाशादि उत्तम लोकों की प्राप्ति है किन्तु निर्वाण की प्राप्ति सन्यास लेने पर ही होगी। सुत्त निपात[63] के खड्ग विसाण सुत्त में 41 वें श्लोक में भिक्षुओं को एकाकी वन में विचरण करने का उपदेश दिया है। बौद्ध विचारधारा मूलतः सन्यास प्रधान ही है। वैदिक ब्राह्मणों से तर्क करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा कि जब ब्रह्मा के बाल[64] बच्चे नहीं तो तुम बच्चों के चक्कर में क्यों पड़ते हो।

बोधिचित्त का महत्व

'बोधिचित्तं हि कुल पुत्र बीजभूतं सर्व बुद्ध धर्माणाम्' बोधिचित्त होना ही बौद्ध परम्परा का प्राणभूत तत्व है। बोधिचित्त ही सब पापों को निर्मूल करने का महान् उपाय है अतः बोधिचित्तोत्पाद के बिना बुद्ध के मार्ग का अनुयायी हो ही नहीं सकता। सभी जीवों के उद्धार[65] के अभिप्राय से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् सम्बोधि में चित्त का प्रतिष्ठित होना बोधिचित्त का ग्रहण करना है। एक बोधिचित्त व्यक्ति में प्राणिमात्र की मंगल कामना की क्षमता है इसी के द्वारा स्वयं को तथा अन्य अनेक लोकों को भव सागर से पार किया जा सकता है। दुर्लभ नर तन में ही यह सब

---

59. मज्झिम निकाय हिन्दी, पृ० 1।141
60. महावग्ग 5।1।16
61. संयुत्त निकाय 5।1।16
62. सुत्त निपात हिन्दी पृ० 75
63. सुत्त निपात हिन्दी पृ० 9
64. तेविज्ज सुत्त 1।35
65. बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ० 187

सुलभ है जो अपने लिए ही नहीं अपितु सत्व समूहों के दुःखापनयन के इच्छुक हैं उन्हें बोधिचित्त का ग्रहण परमावश्यक है। इसका परित्याग किसी अवस्था में नहीं होना चाहिये। जो श्रावक की तरह दु:ख का अत्यन्त-निरोध चाहते हैं, जो बोधिसत्वों की तरह केवल अपने ही नहीं, किन्तु सत्व समूह के दु:खों का अपनयन चाहते हैं, और जिनको दु:खापनयनमात्र नहीं, वरंच संसार सुख की भी अभिलाषा है, उन सबको सदा बोधिचित्त का ग्रहण करना चाहिये। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार[66] में कहते हैं।

वह बोधिचित्त दो प्रकार का है—बोधि प्रणिधि चित्त और बोधि प्रस्थान चित्त। प्रणिधि का अर्थ है—ध्यान अथवा कर्मफल का परित्याग। शिक्षा समुच्चय में कहा है—मया बुद्धेन भवितव्यमिति चित्तं प्रणिधानादुत्पन्नं भवति। अर्थात् मैं सर्व जगत् के परित्राण के लिये बुद्ध होऊं—ऐसी भावना के साथ ही बोधि प्रणिधि चित्त का उत्पाद होता है, यह पूर्वावस्था है। पर जब व्रत का ग्रहण कर मार्ग पर चलता है और कार्य में लीन हो जाता है तब बोधि प्रस्थान चित्त का उत्पाद होता है। प्रस्थान चित्त निरन्तर पुण्य का देने वाला है।

बोधिसत्व के रूप में भगवान् बुद्ध द्वारा—
विभिन्न पारमिताओं का अनुशीलन तथा अर्जन

बुद्ध विचारधारा में पिटक ग्रन्थों में व्याख्यात्मक शैली का प्रचुर प्रयोग हुआ है, पर वहाँ अर्थ उद्धार या व्याख्या को अट्ट कथा नहीं कहा गया है। अट्ट कथा शब्द बुद्ध वचनों की व्याख्या के रूप में चतुर्थ शताब्दी में प्रयुक्त होने लगा था। इसी कारण बुद्ध वचनों से ऐसे वचनों का पार्थक्य दिखाने के लिए क्रमशः पालि तथा अट्ट कथा ऐसे शब्दों का प्रयोग होने लगा था जिनके दर्शन—'इमानि ताव पालियं, अट्ट कथायं पन—नेव पालियं न अट्ट कथायं दिस्सति' पिट्टकत्तयपालि च तस्सां अट्टकथं पि च 'आदि वाक्यों से स्पष्ट अन्तर प्राप्त होता है—जातक अट्ट कथा जातक—खुद्दक निकाय का दसवाँ ग्रन्थ है। इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएं हैं जबकि उन्होंने बोधि सत्व के रूप में बुद्धत्व की अभीप्सा में दान, शील, मैत्री आदि दश पारमिताओं का अभ्यास किया था। ये कथाए मूलत: पद्य में हैं। चुल्ल निदेस[67] के अनुसार इनकी संख्या पाँच सौ है। चीनी यात्री फाह्यान[68] ने

---

66. 1|8

67. भग्वा पंच जातकसतानि मासन्तो अच्चनो च परेसं च चित्तं आदीसति।
चुल्लनिदेस पृ० 80

68. निदान कथा पृ० 21

इनके पाँच सौ होने की चर्चा की है। विंटर नित्स जातकट्ट कथा को मूलतः पालि में ही मानते हैं जो मौखिक परम्परा द्वारा त्रिपिटक के साथ ही लेकर पहुंचायी गयी थी तथा वहीं लिपिबद्ध हुई। श्री राइस डेविड्स ने जातकट्ट कथा को प्राचीन सिंहली एलु में विद्यमान अट्ट कथा मात्र कहा है। डा० वी० सी० ला० ने भी वस्तु साम्य की समानता दर्शाई है।

इन कथाओं में बुद्ध के अतीत जीवन के पात्रों का वर्तमान जीवन के पात्रों के साथ सम्बन्ध दर्शाया गया है। बोधि सत्व ऐसा बताते हैं कि 'उस समय बाल सत्थवाहपुत्त देवदत्त था तथा पण्डित सत्थवाहपुत्त मैं था।' इस जात कट्ट कथा के लेखक भी आचार्य बुद्ध घोष ही माने गए हैं। वैसे डा० विण्टर नित्स इसे किसी सिंहली की रचना तथा श्री गायगर महोदय आचार्य बुद्ध घोष की कृति होने में सन्देह करते हैं।

श्री बरलिंगम तथा राइस डेविड्स भी इसमें सन्देह करते हैं, किन्तु श्री भरत सिंह उपाध्याय[69] बुद्ध घोष की कृति होने में अनेकांशग्राही मति युक्त देखे गए हैं। 'स्वयं जातकट्ट कथा के उपोद्घात में कहा है—शान्तचित्त पण्डित महिशासक वंश में उत्पन्न भिक्षु बुद्ध देव के कहने से व्याख्या करूंगा।'

जातकट्ट कथाओं के समान ही निदान कथा का वर्णन मिलता है। रचना का काल वह कहा जा सकता है जब कि हीनयान परम्परा धराशायी हो रही थी तथा महायान का उदय हो रहा था। गौतम बुद्ध को देवत्व के रूप में माना जाने लगा था और उनके जीवन की चरम उपलब्धि जो अर्हत्व तक सीमित थी, उसका लोप हो रहा था और उसके स्थान पर बोधिसत्व की कल्पना स्पष्टतर हो चली थी। निदान कथा[70] में गौतम बुद्ध के पूर्वजन्मों का विवरण है। इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि चार असंखेय्य[71] एक लाख वर्ष पूर्व उन्होंने सुमेध ब्राह्मण के रूप में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए अभिनीहार किया था। तदुपरान्त उन्होंने विभिन्न रूपों में चौबीस बुद्धों से व्याकरण प्राप्त कर बुद्ध कारक धर्म पारमिताओं का परिपाचन करते हुए सम्यक् सम्बोधि का साक्षात्कार किया है। इस प्रकार यह पुस्तक सुमेध तापस के अभिनीहार तथा सिद्धार्थ गौतम द्वारा बोधि लाभ नामक दो बिन्दुओं के मध्य विवृत है। धर्म चक्र परिवर्तन तथा अनाथ पिण्डक द्वारा जेतवन के दान नायक अन्य घटनाओं का वर्णन बुद्ध के साथ धर्म एवं संघ का अभिन्न योग दर्शाने के लिए प्रसंगवश है। बुद्ध निदान कथा गौतम बुद्ध एवं अन्य बुद्धों की पूर्व कथा ही है। इस

69. पालि साहित्य का इतिहास भरतसिंह उपाध्याय, पृ० 307-8
70. निदान कथा भूमिका पृ० 4
71. निदान कथा डा० महेश तिवारी पृ० 33

ग्रन्थ में गत विवरण को सप्रमाण करने के लिए बुद्ध वंश तथा चरिया पिटक से काफी सहायता ली गई है अत: पिटक साहित्य से पूर्णतया सहमति यहाँ प्राप्त होती है।

निदान कथा में आगत सुमेध का जीवन वृत्त बुद्ध वंस के द्वितीय अध्याय में वर्णित सुमेध पत्था कथा से प्रचुरतया उद्भूत है। पुन: चौबीस बुद्धों की कथा तथा गौतम बुद्ध के जीवन के विस्तृत वर्णनों की पृष्ठभूमि बुद्ध वंश में प्राप्त होती है। इसी प्रकार दीर्घ निकाय के महापदान सुत्त, मज्झिम निकाय के बोधिराज कुमार सुत्त, सुत्त निपात के पधान सुत्त, परायन वग्ग की वत्थुगाथा, संयुत्त निकाय का धम्म चक्कप्पवत्तनसुत्त, विनय पिटक के महावग्ग में वर्णित बोधि कथा, सारि पुत्त मोग्गल्लान पब्बज्जा में राहुल वत्थु तथा चुल्लवग्ग की अनाथ पिण्डक कथा से पर्याप्त संकलन किया गया है।

इस ग्रन्थ में ब्राह्मण विचारधारा के अनुयायी मानव कथा के आदि बिन्दु के रूप में समस्त जागतिक उपलब्धियों से प्रभासित हैं। अन्तिम बिन्दु में भौतिक सम्पदाओं से विरत, शुद्ध, बुद्ध लोकोत्तर चरित्र सम्पन्न मानव बुद्ध हैं।

एक सामान्य मानव का बुद्ध के रूप में परिणति में साधनाओं का क्या रूप रहा किन-किन साधनाओं के आधार पर बुद्ध बुद्धत्व लाभ कर सके इसका विवेचन पारमिताओं के वर्णन में आगे किया जाएगा। साधनाओं के पुष्ट स्वरूप में बौद्ध परम्परा में अनुपम एवं अपूर्व व्यक्तित्व 'बोधिसत्व' की कल्पना की है। जो ब्राह्मणिक विचारधारा के जीवन मुक्ति के मार्ग के सफल साधक के लक्षणों के समान है यथा बोधिसत्व पूर्ण अनासक्ति के साथ अपना सर्वस्व त्याग कर जनहित भावों में लीन रहता है वह स्व विषयक चिन्ता से मुक्त रहता है। मात्र बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय ही उसका जीवन रहता है। स्व शरीर से सम्बद्ध दारुण वेदनाएं भी उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर पाती हैं, किन्तु क्षण भर के लिए भी उसे पर दु:ख असह्य रहता है। ऐसे अलौकिक व्यक्ति को बोधिसत्व अभिधान दिया गया है। बोधि शब्द का अर्थ लोकोत्तर ज्ञान, लोकोत्तर प्रज्ञा, सर्वज्ञता, सम्यक् सम्बोधि से युक्त सत्व प्राणी विशेष स्पष्ट शब्दों में सम्बोधि लाभ के अनन्तर बुद्ध या सम्यक् सम्बुद्ध नाम से अभिज्ञात पुरुष विशेष के पद बुद्धत्व के लाभ की इच्छा से सम्यक् मार्ग प्रतिपन्न सत्व को बोधिसत्व कहा जाता है इसे बुद्धत्व का अभ्यर्थी भी कहा जा सकता है।

बोधि सत्व की चर्या प्राणिमात्र को सन्तप्त करने वाले दु:ख, जरा मरण के अशेष प्रहाण से आरम्भ होती है इस साधक की चरम विश्रांति बुद्धत्वोपलब्धि में है। यह भी गीतोपदिष्ट मार्ग (अनेक जन्म संसिद्धि:) के अनुसार है।

अभिनीहार के उपरान्त बोधि सत्व चिन्तन करते हैं कि 'बुद्धों के वचन अमोघ होते हैं, वे कभी अन्यथा नहीं हो सकते हैं यथा आकाश में फेंके गए ढेले का पृथ्वी

पर गिरना, इत्यादि अवश्यंभावी हैं उसी प्रकार बुद्धों का वचन अवश्यंभावी होता है। ऐसा चिन्तन करते हुए बोधिचित्त बुद्ध होने का दृढ़ निश्चय करता है। बोधिसत्व की यह अवस्था प्राचीन परम्परा के अनुकूल ही है क्योंकि बोधिसत्व पारमिताओं की पूर्ति में लीन हो जाते हैं और वे क्रमशः दान, शील, नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा अपेक्षा नामक दश पारमिताओं को पूर्ण कर अपने धर्म तेज से पृथ्वी को प्रकाशित करते हैं इन पारमिताओं की एक जन्म में नहीं अनेक जन्मों में पूर्ति करते हैं। अन्य जन्मों में भी वे निम्न योनियों में जन्म नहीं लेते अपितु विभिन्न उन्नत योनियों में जन्म लेकर इन पारमिताओं को पूर्ण करते हैं।

पारमिता[72]—(पारम् इता) पार चले जाना, पूर्णत्व को प्राप्त करना, पराकाष्ठा की परमोपलब्धि आदि शब्दों में पारमिता उस अवस्था विशेष को साकार उपस्थित करती है, जहां एक-एक धर्म का परिपालन पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। बोधि सत्व की चर्याओं में यह पूर्णतया मान्य है कि उन्होंने दान, शील आदि धर्मों की पूर्ति की है। फलतः ये पारमी परम भाव को प्राप्त कहे जाते हैं। वस्तुतः ये पारमिताएं ही बुद्ध कारक धर्मों का स्वरूप है। पारमिताएं ही पालि के पारमी शब्द से बनी हैं जिसका अर्थ है पूर्णत्व। पारमिताओं का आशय सदाचार तत्व से ही है। महायानी भक्ति में पारमिताओं का अपना मौलिक महत्व है। इनकी आस्था है कि मानव अनुत्तर पूजा के विधान से बोधिचित्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब उसके लिए पारमिताओं के आचरण की उपेक्षा हो जाती है। इनकी आवश्यकता बोधिचित्त अवस्था की प्राप्ति के पूर्व ही होती है।

ये दश पारमिताएं ही धर्म हैं जो पौराणिक बोधिसत्वों द्वारा आसेवित तथा निसेवित की जाती हैं। दान पारमिता, शील पारमिता, नैष्कर्म्य पारमिता आदि का वर्णन खुद्दक निकाय के बुद्धवंस[73] में सारिपुत्र के प्रश्न के रूप में प्राप्त होता है। भगवान् बुद्ध को प्रसन्न जान सारि पुत्र ने पारमी पूरण वृतान्त को उनसे जानने के उद्देश्य से पूछा था—

दानं शीलं च नेक्खम्मं पज्जाविरियं च कीदिसं।
खन्ति सच्चमधिट्ठानं, पेत्तु पेक्खा च कीदिसा॥
दस पारमी तया धीर, कीदिसी लोकनायक।
कथं उपपारमी पुरणा, परमत्थपारमी कथं॥

अर्थात्—हे भगवन्, आपके द्वारा दान, शील नैष्कर्म्य, प्रज्ञा, वीर्य, शान्ति, सत्य,

---

72. आस्पेक्टस आफ महायान बुद्धिज्म, एन० दत्त, पृ० 306
73. बु० वंस पृ० 304

अधिष्ठान, मैत्री, तथा उपेक्षा नामक दस पारमिताओं, दस उप पारमिताओं तथा दस परमार्थ पारमिताओं का परिपूरण किस प्रकार किया गया था इसी प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने अतीत बुद्धों की तथा अपनी पूर्व जन्म की कथा कही उसी क्रम में पारमिताओं का आख्यान किया। इन पारमिताओं का कथन त्रिपिटक में इस रूप में प्राप्त नहीं होता वस्तुतः इनका बुद्धकारक धर्मों के रूप में सुव्यवस्थित ढंग से कथन बाद में हुआ परन्तु यह धर्म पिटक में अज्ञात नहीं है इनका समावेश अष्टांगिक मार्ग में पूर्णतया देखा जा सकता है जो तथागत की आदि देशना का प्रतिपाद्य विषय है तथा पिटक में जिसका वर्णन अनेक बार किया गया है। इन पारमिताओं का रूप इस प्रकार[74] है—

शील	सम्यक् वचन	सत्य पारमिता
	सम्यक् कर्म	दान पारमिता
	सम्यक् आजीव	शील पारमिता
		शान्ति पारमिता
समाधि	सम्यक् व्यायाम	वीर्य पारमिता
	सम्यक् स्मृति	मैत्री पारमिता
	सम्यक् समाधि	उपेक्षा पारमिता
		अधिष्ठान पारमिता
प्रज्ञा	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञा पारमिता
	सम्यक् संकल्प	नैष्कर्म्य पारमिता

आधुनिक विद्वानों के अनुसार पारमिताओं की कल्पना उत्तरकालीन है।[75] निदानकथा में आगत बोधिसत्व के ऐसे वचन कि—'अज्ञात वेष से सभी चित्तमलों को नष्ट कर निर्वाण प्राप्त करना मेरा ध्येय नहीं है, मेरे लिए उचित यह है कि दीपंकर बुद्ध के समान परम सम्बोधि की प्राप्ति कर धर्मनौका बना जन समूह को संसार सागर से पार उतारने के उपरान्त स्वयं निर्वाण प्राप्त करूं'—वे महायान की ओर झुके दीखते हैं। पारमिताएं भी इसी विचार की परिपोषक हैं।

डा० नलिनाक्ष दत्त ने इस प्रसंग को बढ़ाते हुए इनके कथन-क्रम के पीछे एक निश्चित उद्देश्य को बतलाया है। उनका कथन है कि पारमिताओं की चर्चा अनेक सरस कथाओं, उपमाओं, दृष्टान्तों तथा उदाहरणों के वेष्ठन में हुई है। इसका

74. निदान कथा पृ० 50; 51
75. सम एसपेक्टस आफ हीनयान इन रिलेशन टू महायान, एन० दत्त, पृ० 11-13

एकमात्र उद्देश्य था—बौद्धधर्म को जनप्रिय बनाना। कथाओं के पात्र में केवल बोधिसत्व ही आदर्श पुरुष के रूप में चित्रित नहीं हैं, वरन् उन सत्पुरुषों का चित्रण भी उसी पूत भावना से है, जिन्होंने बौद्ध साधना में विशेषता प्राप्त की थी। इससे इस तथ्य का स्फुरण हो चला था कि बौद्ध धर्म केवल कुछ विरक्तों के कल्याण के लिए नहीं है, वरन् गृहीजनों के लिए भी उसी प्रकार उपादेय है। दान, शील आदि को पारमिता के रूप में सुव्यवस्थित कर गृही-प्रव्रजित-भेद-विरहित प्राणिमात्र में दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न कर दान, शील, आदि सत्कर्मों में उत्साह अभिजनन ही इनका इष्ट था। यह भावना बौद्ध धर्म के आदि काल में अव्यक्त सी थी, जो अब परिस्थिति एवं समय की गति के साथ निखरे रूप में सम्मुख आने लगी थी।

हीनयान तथा महायान के संस्कृत ग्रन्थों में मुख्यतया छः पारमिताओं का उल्लेख है।[76] असंग ने इनके आनृशंस का चित्रण उपस्थित करते हुए दानपारमिता से दारिद्रय-निवारण, शीलपारमिता से विषय निमित्तक क्लेश-अग्नि का निर्वापन, शान्ति पारमिता से क्रोध का अपचयन, वीर्यपारमिता से कुशल धर्मों का संचयन, ध्यान पारमिता से चित्त का सन्धारण तथा प्रज्ञा पारमिता से परमार्थ का प्रजनन बतलाया है।

प्राचीन बौद्ध विचारधारा में यद्यपि पारमिताओं का पूर्व में वर्णन क्रमशः नहीं मिलता जैसाकि महायान में एक सुव्यवस्थित रूप में प्राप्त होता है किन्तु प्रकीर्ण विवरणिका भी इस विषय में सबल सहायिका है अतः इस प्रकार के कतिपय स्थलों को उद्धृत किया जाता है। भगवान् बुद्ध ने ही एक समय—

उद्दक राम पुत्र[77] के पास पहुँच समाधि (समापत्ति) सीखी। यह ज्ञान (बोध) का रास्ता नहीं है। ऐसा सोच उस समाधि भावना को अपर्याप्त समझ, देवताओं सहित सभी लोकों को अपना बल वीर्य दिखाने के लिए, परम तत्व की प्राप्ति के लिए उरुबेला पहुँच महान् तप आरम्भ किया। यह दुष्कर तपस्या बुद्धत्व प्राप्ति का मार्ग नहीं है। मार देव, पुत्र, सिद्धार्थ कुमार मेरे अधिकार से बाहर निकलना चाहता है, इसे नहीं निकलने दूंगा—अपनी सेना ले निकल पड़े—महापुरुष अकेले ही बैठे रहे—तात ! शुद्धोदन पुत्र सिद्धार्थ के समान दूसरा पुरुष नहीं है। हम लोग सामने से युद्ध नहीं कर सकते अतः पीछे से करें—महापुरुष मार सेना को देख 'इह इतने लोग मेरे अकेले के लिए बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं। इस स्थान पर मेरी माता, पिता, भाई या दूसरा कोई सम्बन्धी नहीं है। यह मेरी दस पारमितायें ही मेरे चिरकाल से पोसे हुए परिजन के समान है। इसलिए इन पारमिताओं को ही ढाल बनाकर,

76. हीनयान महायान, पृ० 11

77. बु० च० पृ० 13,14,16

(इस) पारमिता शस्त्र को ही चलाकर, मुझे इस सेना समूह का विध्वंस करना होगा।' यह सोच, दश पारमिताओं का स्मरण करते हुए बैठे रहे। उपोसथ[78] ग्रहण कर सुबह अन्न और पान से अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धापूर्वक प्रसन्नता से भिक्षुओं को दान दे।

भगवान् बुद्ध तथा भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य सारि पुत्र द्वारा पारमिताओं की स्वीकृति—'भन्ते![79] इन चरणों की वन्दना के लिए सौ हज़ार कल्पों से अधिक काल तक मैंने असंख्य पारमितायें पूर्ण कीं। वह मेरा मनोरथ सिर तक पहुँच गया। शास्ता ने हाथ फैला धातु-परिस्रावण को ले हथेली पर रख, भिक्षुओं को आमंत्रित किया—'भिक्षुओं! जिस भिक्षु ने पहिले (एक दिन) अनेक सौ प्रातिहार्य करके निर्वाण होने के लिए अनुज्ञा मांगी, उसकी ही यह आज शंख वर्ण समान धातु में (हड्डियां) दिखाई पड़ रही हैं। भिक्षुओं! सौ हज़ार कल्प से अधिक समय तक पारमिता (दान आदि) पूर्ण किया हुआ यह भिक्षु था। मेरे प्रवर्तित धर्म चक्र को अनुवर्तन करने वाला, महा प्रज्ञावान्, अल्पेच्छु, संतुष्ट प्रविविक्त, उद्योगी, पाप निन्दक था। प्राप्त महान् संपत्तियों को पांच सौ जन्मों तक छोड़कर यह भिक्षु प्रव्रजित होता रहा। जो पांच सौ जन्मों तक मनोरम भोगों को छोड़ प्रव्रजित होता रहा। उस वीत राग जितेन्द्रिय, निर्वाण प्राप्त सारि पुत्र की वन्दना करो। शान्ति बल में पृथ्वी के समान कुपित नहीं होता था, न इच्छाओं के वशवर्ती था, वह कारुणिक निर्वाण को गया, निर्वाण प्राप्त सारि पुत्र की वन्दना करो।'

भगवान् ने ऋषि पत्तन में पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश करने के उपरान्त ही यश कुल पुत्र को-हा सन्तप्त! हा पीडित! ऐसा कहते देख धर्मोपदेशना की ओर आनुपूर्वी कथा कही, जैसे—दान कथा, शील कथा, स्वर्ग कथा, काम वासनाओं का दुष्परिणाम अपकार दोष, निष्कामना का माहात्म्य प्रकाशित किया। विमल, सुबाहु, गवाम्पति को भी धर्म देशना देते समय भगवान् ने कहा। उस दुष्कर[80] क्रिया से मैं छूट गया। बड़ा अच्छा हुआ कि में अनर्थ करने वाली उस दुष्कर क्रिया से छट कर स्थिर और समृतिमान् रहकर बुद्धत्व को पा सका।

मुक्ति लाभ के लिए सभी कठोर तपश्चरण को बेकार जान, उससे कुछ मतलब नहीं निकलता है, जैसे जमीन पर पड़ी बिना ढाल पतवार के नख। शील, समाधि और प्रज्ञा वाले बुद्धत्व के मार्ग का अभ्यास करते, परम शुद्धि को मैंने पा लिया है,

78. धम्मिक सुत्त सुत्त नि० 29
79. बु० च० पृ० 477
80. वही, पृ० 25,27

हे अन्तक ! तुम जीत लिए गए हो । अन्यत्र संयुत्त निकाय[81] के ब्रह्म सुत्त में भगवान् ने आनन्द से कहा कि यही इसी आर्य अष्टांगिक मार्ग को ब्रह्मयान कहते हैं, धर्मयान की ओर अनुत्तर संग्राम विजय भी । तदुपरान्त प्रज्ञा, शील, उपेक्षा, तितिक्षा सभी की आवश्यकता को दर्शाया ।

पारमिताओं का संकेत देते हुए यदि हम इन सभी पारमिताओं के कतिपय उद्धरण संक्षेप में प्रस्तुत कर दें तो साधनाओं का विषय पूर्णता को प्राप्त हो जाता है ।

दानपारमिता-त्रिपिटक में कुशल एवं अकुशल कर्मों का विवेचन है । कुशल कर्मों के उद्देश्य क्रम में सर्वत्र दान का नाम आता है । अधिकतर 'दान, शील, भावना' या 'दान, शील, भावना, वेय्यावच्च, अपचायन' आदि ढंग से कुशल कर्मों की गणना देखी जाती है । ऐसी सूचियों से प्रकट होता है कि दान एक कुशल कर्म है । बौद्ध परम्परा में कर्म वस्तुतः चेतना का नाम है । फलतः दान को परित्याग चेतना कहा जा सकता है । इसे कायद्वार से उत्पन्न होने पर कुशल कार्यक्रम, वचीद्वार से उत्पन्न होने पर कुशल वचीकर्म तथा मनोद्वार से उत्पन्न होने पर कुशल मनोकर्म कहा जा सकता है । कायकर्म तथा वचीकर्म में मन का योग आवश्यक है । प्रवृत्ति-द्वार के कारण उनका वैसा नाम पड़ता है ।

उत्तम कोटि का दान वह है, जिसके सम्पादन-क्षण में चित्त सौमनस्य, ज्ञान तथा तीन कुशल हेतु-अलोभ, अद्वेष तथा अमोह से युक्त रहता है तथा उसकी ऐसी प्रवृत्ति स्वयं उत्पन्न रहती है । अभिधर्म में इसकी चर्चा प्रथम कामावचर कुशल चित्त के शीर्षक में की जाती है । इसी का विवेचन हम इस प्रकार पाते हैं कि बोधिचित्त प्रणिधि होने पर प्रतिज्ञा करके दान के मार्ग पर अग्रसर होता उसके चित्त में सदैव सर्वस्व त्याग की भावना उमड़ी रहती है । वह अपने शरीर को भी अपना नहीं समझता उसकी भावना इस प्रकार रहती है कि 'मेरे शरीर से चाहे खेलें, हंसे, विलास करें, फूल डालें, मुझे इसकी क्या चिन्ता है, मैंने शरीर उन्हें दे ही डाला है, चाहे वे दण्ड से तोड़े, फूल डालें, वह दोषियों, अपकारकों को भी बुद्धत्व

---

81. जिनकी धुरी में श्रद्धा, प्रज्ञा और धर्म सदा जुते रहते है,
ह्रीं ईषा, मन लगाम, और स्मृति सावधान सारथी है ।
शील के साजवाला रथ, ध्यान अक्ष, वीर्य चक्र,
उपेक्षा समाधि धुरी, अनित्य-बुद्धि ढक्कन ।
अव्यापाद, अहिंसा, और विवेक जिसके आयुध हैं,
तितिक्षा सन्नद्ध धर्म है, जो रक्षा के निमित्त लगा है ।
इस ब्रह्म-यान को अपनाकर, धीर पुरुष इस संसार से निकल जाते हैं,
यह उनकी परम विजय है ।। ब्रह्म सुत्त, संयुत्त निकाय-2, 43:1:4

लाभ की कामना करता है। उसका किसी वस्तु में ममत्व नहीं होता वह अपने को सब के पुत्र तुल्य समझता है। याचना करने पर वह तुरन्त उस वस्तु को याचक को दे देता है। परिस्थिति के अनुसार दान कृत्य में भी भेद लभ्य होता है।

बोधिसत्व द्वारा सम्पादित दान कृत्यों का परिचय कई जातकों से प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप अकीर्ति ब्राह्मण, संख ब्राह्मण, धनंजय राजा, महासुदर्श, महागोबिन्द, निमि महाराजा, चन्द्र कुमार, विसह्य सेष्ठि राजा शिवि आदि के रूप में दिये गये दान के प्रसंगों को इस पारमिता के अन्दर रखा जा सकता है। इनका उत्कृष्ट रूप शशजातक[82] में प्राप्त होता है जहां बोधिसत्व ने याचक को अपने पास और कोई वस्तु न होती देख अपने शश-शरीर को ही दान कर दिया। इस प्रकार आत्मोत्सर्ग पूर्वक दान पारमिता कहा जाता है।

शील पारमिता—शील बौद्ध साधना का आधार है। शील की ही भित्ति पर स्थिति हो ब्रह्मचर्य जीवन का परिफलन होता है। जिस प्रकार सभी प्रकार के बीज पृथ्वी को आश्रय से वृद्धि वैपुल्य को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार श्रद्धा, स्मृति, बल, बोध्यंग आदि कुशल धर्मशील में ही स्थित हो विकसित होते हैं। इस दृष्टि से जातक में शील का पालन एक पारमिता के रूप में देखा जाता है। सील व नागराज, चम्पय नागराज, भूरिदत्त नागराज, छद्दन्त नागराज तथा जयद्दिस्स राजा के पुत्र अलीन कुमार की कथा इस तथ्य पर प्रभूत प्रकाश डालती है कि बोधिसत्व ने किस अपूर्व मनोबल से शील का परिपालन किया है। संखपाल जातक की घटनायें उसके परमोत्कर्ष का परिदीपन करती हैं, जिनके कारण यह परमार्थ पारमिता के नाम से आख्यात है।

नैष्कर्म्य पारमिता—'नेक्खम्म' शब्द नैष्कर्म्य तथा निष्काम्य दोनों अर्थों का द्योतक है। भगवान् बुद्ध की देशना विशेषतः वैराग्यपरक है। उन्होंने संसार के प्राणिमात्र को दुःख की ज्वाला से तड़फड़ाते देखा तथा इस तथ्य को स्पष्टतः जान लिया कि 'जन्म लेना, वृद्ध होना, जीर्ण होना, प्रिय जनों से विलग होना, अप्रिय जनों का सम्पर्क होना, अभीप्सित वस्तु को न पाना' आदि मनुष्य जीवन के साथ अवश्यम्भावी घटनायें हैं। जन्म धारण करने पर इनसे छुटकारा पाना कठिन है। इसलिए उन्होंने दर्शाया कि 'पंच उपदान स्कन्ध' ही दुःख है। जब संसार[83] का ऐसा रूप है, तो यह वास योग्य भूमि कैसे समझा जा सकता है ? यहां का 'जीवन

---

82. न ससस्स तिला अत्थि, न मुग्गा नापि तण्डुला।
 इमिना अग्गिना पक्कं, ममं भुत्वा वने वसा ति ॥ ससजातक।
83. दी० नि० 1, 52

विविध बाधाओं से युक्त रजोपथ है।' स्त्री,[84] पुत्र, बन्धु, दास, दासी, खेत, हिरण्य आदि सर्वदा मनुष्य को व्याकुल बनाये रहते हैं तथा तज्जन्य बाधायें उसे अबलावत् मर्दित करती हैं। सागर मध्य भग्न नाव में बैठे मनुष्य की भांति सभी प्राणी निराश हो केवल दुःख में डूबे हुए हैं।

जातक कथाओं से प्रकट है कि बोधिसत्व ने सोमनस्स कुमार,[85] हत्थिपाल कुमार, अयोधर पण्डित, चूलसुत सोम जातक[86] में विशाल राज्य को थूक केसमान अनासक्त भाव से छोड़ दिया। यह नैष्कर्म्य पारमिता है।

प्रज्ञा पारमिता—बौद्ध साधना के तीन पाद हैं, जिन्हें शील, समाधि तथा प्रज्ञा कहा जाता है। इनमें प्रज्ञा उस ज्ञान विशेष का नाम है, जिसके सहारे संसार की वस्तुओं के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान तथा निर्वाण का साक्षात्कार होता है। प्रज्ञा के उदय होने से मनुष्य इस सत्य को स्पष्टतः जान लेता है कि सभी पदार्थ अनित्य, अनात्मक तथा दुःख स्वरूप हैं। ऐसा जानने में उसे संसार से निर्वेद होता है तथा वह समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है। इस पारमिता के उदाहरण में विधुर पण्डित, अरक पण्डित, बोधि परिब्बाजक तथा सेनक पण्डित के उदाहरण जातक कथाओं[87] में मिलते हैं।

वीर्य पारमिता—समस्त सत्कर्मों के सम्यक् सम्पादन के लिए पांच गुण अपेक्षित हैं। वे हैं श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा। इनमें श्रद्धा द्वारा विश्वास, वीर्य द्वारा उत्साह, समाधि द्वारा एकाग्रता तथा प्रज्ञा द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है। स्मृति व्यंजन में लवण की भांति सब में जागरूकता के रूप में विद्यमान रहती है। इन पांच गुणों के समभाव-अवस्थान के फलस्वरूप कार्यों में सफलता इष्ट है। यद्यपि इन सभी गुणों का अपना-अपना महत्व है, पर वीर्य का विशिष्ट स्थान है। वीर्य के कारण ही कार्यों में प्रवृत्ति होती है। अतः अन्य गुणों के साथ वीर्य का सम्यक् अभिवर्द्धन ही वीर्य पारमिता है। महाजनक जातक[88] में यह पारमिता अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हो जाती है।

---

84. खेतं वत्थुं हिरज्जं वा, गवस्व दासपोरिसं।
थियो बन्धू पुथु कामे, यो नरो अनुगिज्झति॥
अबला नं बलीयन्ति, मद्दन्तेनं परिस्सया।
ततो नं दुक्खमन्वेति, नावं भिन्नामिवोदकं॥ निदान कथा, डा० महेश तिवारी, पृ० 112

85. जा० 5।31-41

86. जा० 5।260-74

87. जातक कथा 6।293-369, 2।210-18, 5।312-30, 4।1-5

88. जा० 6।34-77

क्षान्ति पारमिता—शान्ति का अर्थ होता है—सहनशीलता। सम्मान तथा अपमान की उपस्थिति क्षण में समस्थिति को बनाये रखना सहनशीलता है। इस पारमिता का विशद रूप क्षान्तिवाद जातक[89] में देखने को मिलता है, जब अचेतन वस्तु के समान तेज परशु द्वारा बोधिसत्व के काटे जाने पर भी इस निमर्म कृत्य के सम्पादक के प्रति तनिक भी क्रोध नहीं देखा गया।

सत्य पारमिता—जो घटना जिस रूप में घटित हो, उसे उसी रूप में कथन करना ही सत्य कथन है। 'अयथार्थ' को 'यथार्थ' रूप में, 'अतथ' को 'तथ' रूप में व्यक्त करने से विरति ही इसका अभिप्राय है। बौद्ध शासन में ऐसे सत्य कथन की प्रशंसा सर्वत्र की गई। सुतसोम जातक[90] से प्रकट है कि बोधिसत्व ने अपने प्राण का उत्सर्ग करना सुकर समझा, पर सत्य कथन का परित्याग उनके लिए असम्भव कृत्य रहा।

अधिष्ठान पारमिता—अधिष्ठान का अर्थ दृढ़ निश्चय होता है। सत्कर्म प्रतिपादन में दृढ़ निश्चय का होना परमावश्यक है। लक्ष्य एवं उसके प्रति निश्चय के प्रबल होने से ही उसकी प्राप्ति के लिए किये गये यत्न सफल होते हैं। इसलिए निश्चय के प्रति अचल रहना एक महान् गुण बतलाया गया है। बोधिसत्व का ऐसा अधिष्ठान बोधिमरडाभिरोहण के क्षण में देखा जाता है, जब वे कह उठते हैं कि भले ही मेरा चमड़ा,[91] नसें, हड्डियाँ सूख जाय, शरीर का मांस, रक्त भी सूख जाये, पर सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति बिना इस आसन को न छोड़ूंगा। इस प्रकार के दृढ़ निश्चय के साथ वे सौ वज्रों के पात से भी नहीं टूटने वाला अपराजित आसन लगा बैठ गये।

मैत्री पारमिता—अद्वेषचित्त का नाम मैत्री है। इसे परहित चिन्ता भी कहा जा सकता है। 'अनुद्दया, हितेसिता, अनुकम्पा, अब्यापाद' आदि इसके अनेक पर्याय हैं। पर यह हित की भावना कैसे रखी जाय? इसका उत्तर यह है कि हम ऐसे उदात्त विचार का संवर्द्धन करें कि—'सुखिनो व खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु सुखितता।' मेत्तसुत में भगवान् ने इस प्रकार कहा है 'संसार के समस्त प्राणी··· सुखपूर्वक विहार करें और कोई किसी का अपमान, विरोध, दूसरे के दुःख की इच्छा न करे जिस प्रकार माता अपने प्रिय एवं एकलौते पुत्र की रक्षा करती है, उसी प्रकार मनुष्य समस्त प्राणियों के प्रति असीम प्रेम बढ़ावे।' मैत्री भावना का ऐसा

89. जा० 3।208-11
90. जा० 5।535-89
91. नि० क० पृ० 178

प्रामाण्य रूप ही ब्रह्म विहार कहा गया है। कुरंगमिग जातक[92] में बोधिसत्व ने आदर्श मित्र का परिचय दिया है। एकराज जातक में अभय विहार का द्योतन करने वाले भाव इस प्रकार हैं कि 'न मुझे कोई डराता है, न मैं किसी से डरता हूं। मैं मैत्रीबल में वितरण करता हूँ। इसका विशेष विवरण विशुद्धि मार्ग में प्राप्त होता है।

उपेक्षा पारमिता—अदुःख असुख-भाव का नाम उपेक्षा है। अभिधर्म दर्शन के अनुसार सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य तथा उपेक्षा नामक पांच वेदनायें होती हैं। कायिक आनन्द को सुख, कायिक पीड़ा को दुःख, मानसिक सुख को सौमनस्य, मानसिक दुःख को दौर्मनस्य तथा मानसिक न दुःख न सुखभाव को उपेक्षा कहते हैं। विशुद्धि-मार्ग[93] में उपेक्षा एक 'कम्मट्ठान' के रूप में वर्णित है। वहाँ इसकी भावना का सविस्तार वर्णन है। लोमहंस जातक से प्रकट है कि बोधिसत्व में सर्वत्र सुख-दुःख के प्रति उपेक्षा दर्शायी है। उनके इन वचनों से कि 'मैं श्मशान में शवों तथा हड्डियों को नीचे रख कर सोता हूँ। गोप मण्डली मेरे निकट आ अनेक रूप दर्शा व्यंग करती है। उनके द्वारा थूक फेंक कर पीड़ा देने तथा माला गन्ध आदि के उपाहारादि से सुख पहुँचाने से मैंने कभी समभाव का उल्लंघन नहीं किया। उपेक्षा का ऐसा कोटि निष्ठ रूप होने के कारण यह परमार्थ पारमिता कहलायी।

इस प्रकार ये दश पारमितायें ही दश बुद्ध कारक धर्म हैं। जैसा कि हमने पहले लिखा है कि बोधिसत्व ने चार असंखेय्य एक लाख वर्षों तक विविध गति एवं योनियों में इन पारमिताओं का परिपाचन किया। उनकी यह चर्या सुमेघ ब्राह्मण के रूप में प्रारम्भ हुई तथा वेस्सन्तर राजा के रूप में समाप्त हुई। इस भव के अनन्तर तुषित लोक में कुछ दिन तक निवास कर पुनः सिद्धार्थ गौतम के रूप में जन्म लेकर उन्होंने बुद्धत्व की प्राप्ति की। वस्तुतः यह ब्राह्मण विचारधारा में वर्णित सद्‌गुणों, सदाचारों तथा त्याग पूर्वक कार्यों और एषणाओं के त्याग का ही एक परिष्कृत रूप है जो इन पारमिताओं में विभिन्न नामों से वर्णित किया गया है। इस प्रकार हम ने बुद्ध वचनों में विविध साधनाओं के स्वरूप को विभिन्न रूपों से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है।वस्तुतः इसके विवेचन में विभिन्न शीर्षकों का अनुशीलन कठिन रहा है तथापि इनकी पुष्टि में उद्धरण अधिक न हों यह ध्यान रखा गया है।

(ख) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त साधनाओं का उन पर प्रभाव

ब्राह्मण विचारधारा में त्रिकायवाद जैसी कोई कल्पना नहीं है। किन्तु यदि हम

---

92. जा० । 225-26
93. विशुद्धि मार्ग, नवम परिच्छेद

सूक्ष्मता से विचार करें तो समानता प्राप्त हो सकती है यथा—वेदान्त का परब्रह्म, विष्णु, विष्णु के मानुषी अवतार, राम कृष्ण को हम धर्मकाय का रूप दे सकते हैं। धर्मकाय वेदान्त के ब्रह्म का प्रतिनिधि है तथा संभोगकाय ईश्वर तत्व का निदर्शक है इस प्रकार जगत् को ज्ञानोपदेश करने के लिए प्रपंचातीत ब्रह्म ईश्वर की मूर्ति धारण करता है उसी प्रकार धर्मकाय धर्म का उपदेश देने के लिए सम्भोगकाय का रूप धारण करता है। धर्मकाय वस्तुतः एक ही रूप है। प्रत्येक बुद्ध का सम्भोग-काय भिन्न होता है किन्तु धर्मकाय समान, एक और अभिन्न ही माना गया है। निर्माणकाय की तुलना भगवान् के श्री विग्रहों से भी की जा सकती है जैसे कि वे भक्तों के उद्धार हेतु अवतरित होते हैं उसी प्रकार बुद्ध भी सत्वहित निर्माणकाय को धारण करते हैं।

यह निश्चित है कि इस प्रकार के त्रिकाय सिद्धान्त में ब्राह्मण विचारधारा के निर्गुण तथा सगुण रूप का ही प्रभाव रहा होगा क्योंकि कल्पना महायानियों के ग्रन्थ अष्ट साहस्त्रिका प्रज्ञा पारमिता में दो ही रूपों में प्राप्त होती है। रूपकाय (निर्माणकाय) जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों का अन्तर्भाव होता है। दूसरा धर्मकाय बुद्ध के निर्माण करने वाले समस्त कर्मों से निमित शरीर तथा पर-मार्थ (तथता) जगत् के मूल सिद्धान्त का आधार जिस निर्गुण परमार्थता को हम ब्रह्म विद्या ज्ञान, प्रकाश आदि रूपों में अभिव्यक्त कर सकते हैं। इस प्रकार जन मन को अनुरंजन, आकर्षण तथा सौविध्य की दृष्टि में लोक मंगलेप्सु विज्ञ पुरुषों ने इस हीनयान विचारधारा में ब्राह्मण विचारधारा के लोकप्रिय तत्वों का समावेश करके इसे और भी प्रिय रूप दे दिया। जिस प्रकार उपनिषदों[94] में ब्रह्म को अग्राह्य, अलक्षण, अचिंत्य शान्त, शिव, प्रपंचोपशमं, निर्गुण, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निरंजन कहा है। दोनों मन और वाणी के विषय नहीं हैं। जिस प्रकार भगवान् विष्णु करुणा की मूर्ति हैं उसी प्रकार बुद्ध भी करुणा रूप हैं।

यद्यपि बौद्ध विचारधारा की हीनयान शाखा में कोई क्रमबद्ध भक्ति का विकास प्राप्त नहीं होता। महायान पर तो भागवत धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। किन्तु सेनार्ट महोदय ने कृष्ण भक्ति धारा का बौद्ध धर्म पर प्रभाव प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। वस्तुतः उनकी इस प्रकार की धारणा में सामान्य ही विचार मिलते हैं कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। यथा वैष्णव विचारधारा में विभिन्न अवतारों की स्वीकृति के समान बुद्ध के पूर्व जीवन की भी गाथाओं का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें भगवान् बुद्ध का अवतरण मनुष्यों के लिए धर्मोपदेश हेतु हुआ है। सेनार्ट की धारणा है कि जैसे वैष्णव भक्ति धारा में पत्र पुष्प आदि को पूर्ण भक्ति

94. माण्डूक्य० 7

भाव[95] से भगवदर्पण करने से शीघ्र ही मुक्ति मिलती है। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के लिए भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का समर्पण किया गया है। बुद्ध ने भी ज्ञान, योग, समाधि और निर्वाण का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है तथा[96] बुद्ध धर्म ने यहां से पर्याप्त सामग्री ली है। भागवत शब्द अथवा भगवान् शब्द के प्रयोग को भी उन्होंने इसी प्रभाव को दर्शाने के लिए माना है किन्तु इस प्रकार का 'भगवां' शब्द उपनिषदों में बहुशः प्रयुक्त है भृगुवल्ली—'अधीहि भगवो ब्रह्मेति'[97]।

जिस साधक[98] को परम देव परमेश्वर में परम भक्ति होती है तथा जिस प्रकार परमेश्वर में होती है, उसी प्रकार अपने गुरु में भी होती है, उस महात्मा मनस्वी पुरुष के हृदय में ही ये बताए हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः जिज्ञासु को पूर्ण श्रद्धालु और भक्त बनना चाहिए जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उस महात्मा के हृदय में ये गूढ़ अर्थ प्रकाशित होते हैं। पालिनिकायों में इन्द्र तथा सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा सहम्पति ब्रह्मा का वर्णन तो मिलता है किन्तु कृष्ण का या बकब्रह्मा का इस रूप में वर्णन नहीं है। दीर्घ निकाय में एक सामान्य मुनि के रूप में कृष्ण का वर्णन है जो कि प्रत्येक बुद्ध के रूप में है किन्तु वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ एवं पालि-निकायों में कृष्ण को देवाधि देव के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। विष्णु का वर्णन मज्झिम निकाय में आया है।

भगवान् बुद्ध[99] ने श्रद्धा को विशेष महत्व दिया है क्योंकि श्रद्धा ही भक्ति का आधार है। आलवक यक्ष के द्वारा पूछने पर कि मनुष्य का श्रेष्ठ धन क्या है, तथा वह पुनर्जन्म रूपी बाढ़ को किस प्रकार पार करता है, उन्होंने उत्तर दिया कि संसार में मनुष्य का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है और श्रद्धा से बाढ़ को पार करता है। ब्राह्मण को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—मैं बुद्ध हूँ। मेरे विषय में शंका दूर करो, श्रद्धा लाओ, सम्यक् सम्बुद्धों का दर्शन दुर्लभ है।

---

95. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त् युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। गीता 9।26
96. अर्ली बुद्धिज्जम एण्ड दी भगवद् गीता, के० एन० उपाध्याय, पृ० 95
97. तै० उ० 3।5।1
98. यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः। श्वे० उ० 6।23
99. किं सूध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं, सद्धीध वित्तं पुरिसस्स सेट्ठं,
कथं सु तरती ओघं, सद्धाय तरती ओघं—परिसुज्झति। आलवक सुत्त 1-4
सु० नि०

पालि निकायों[100] में भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने गुरु आराडकालाम तथा उद्दक राम पुत्र तथा अन्य समसामयिक गुरुओं से योग की शिक्षा का अध्ययन किया। पालि निकायों में 'अरूप सम्पत्ति' की उपलब्धि का वर्णन भगवान् बुद्ध के द्वारा किया गया है। पूर्ण बुद्धत्व की प्राप्ति से पूर्व इन्होंने (अप्पानकं ध्यानं) का अभ्यास किया था। श्वास प्रश्वास के नियंत्रण का अभ्यास भी किया गया था। यह निश्चित है कि अरूप सम्पत्ति तथा अनापान सति इसी प्रकार के प्राणायाम ही यौगिक क्रियाओं का रूप है।

उपनिषदों में प्राप्त यौगिक प्रक्रियाओं का भी यहाँ उल्लेख कर देना अनुचित न होगा—यथा कठोपनिषद् साधक को समझाते हुए कहता है कि 'बुद्धिमान्[101] को चाहिए कि वह पहले तो वाक् आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर मन में विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मन में विषयों की स्फुरणा न रहे। तदनन्तर मन को बुद्धि में विलीन कर दे अर्थात् एकमात्र विज्ञान स्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धि की वृत्ति के अतिरिक्त मन की भिन्न सत्ता न रहे, किसी प्रकार का अन्य कोई भी चिन्तन न रहे। तदनन्तर उस ज्ञान स्वरूपा बुद्धि को भी जीवात्मा के शुद्ध स्वरूप में विलीन कर दे अर्थात् ऐसी स्थिति हो जाय कि अपने से भिन्न किसी भी वस्तु की सत्ता या स्मृति नहीं रहे जाय। तदनन्तर अपने पूर्व निश्चयानुसार शान्त आत्मा रूप परब्रह्म पुरुषोत्तम में विलीन कर दे।

योग विधि पर अन्यत्र भी प्रकाश लभ्य है यथा—इन्द्रियों[102] में मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि उत्तम है, बुद्धि से इनका स्वामी जीवात्मा उन्नत है, क्योंकि इन सब पर इसका अधिकार है। यह उन सब से विलक्षण तथा उत्तम है। जीवात्मा से भी इसका अव्यक्त (कारण) शरीर प्रबल है—जोकि भगवान् की उस प्रकृति का अंश है, जिसने इसको बन्धन में डाल रखा है। इन्द्रिय[103], मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का ही नाम योग है ऐसा अनुभवी योगी महानुभाव मानते हैं, क्योंकि उस समय साधक विषय दर्शन रूप सब प्रकार के प्रमाद से सर्वथा रहित हो जाता है। परन्तु यह योग उदय और अस्त होने वाला है। अतः परमात्मा की प्राप्ति का इच्छुक साधक सदैव योग में दृढ़ आचरण करता रहे। यमराज से नचिकेता[104] इस

100. आर्य पर्यसन सुत्त—म० निकाय
101. कठ० 1।3।13
102. कठ० 2।3।7
103. कठ० 2।3।11
104. मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतांयोगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव। कठ० 2।3।18

योग विद्या को प्राप्त करके मृत्यु से रहित, विरज, विकारों से शून्य होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया। अन्य भी जो इसे जानेगें मृत्यु तथा विकार से रहित वे ब्रह्म को प्राप्त होंगे।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म की गूढ़ता को समझाते हुए कहा है इसका ऊं के जप द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है यथा—'अपनी योनि[105] अर्थात् प्रकट होने के स्थान में काष्ठ आदि में स्थित अग्नि का रूप दिखाई नहीं देता। परन्तु इस कारण यह नहीं समझा जाता कि अग्नि नहीं है—उसका होना अवश्य माना जाता है, क्योंकि उसकी सत्ता स्वीकार करके अरणि मंथन करने पर ईंधन रूप अपने स्थान से वह फिर भी ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा हृदय रूप अपने स्थान में छिपे रहकर प्रत्यक्ष नहीं होते, परन्तु उनके जप द्वारा साधन करने पर इस शरीर में ही इनका साक्षात्कार किया जा सकता है। इसकी विधि को और स्पष्ट करते हुए समझाया है—

अग्नि को प्रकट[106] करने के लिए जैसे दो अरणियों का मंथन किया जाता है उसी प्रकार अपने शरीर में परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करने के लिए शरीर को तो नीचे की अरणि बनानी चाहिए और ओंकार को ऊपर की अरणि अर्थात् शरीर को नीचे की अरणि की भांति समभाव से स्थित निश्चल करके ऊपर की अरणि की भांति ओंकार का वाणी द्वारा जप और मन से उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार इस ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से साधक को काष्ठ में छिपी हुई अग्नि की भांति अपने हृदय में छिपे हुए परमात्म तत्व का प्रत्यक्ष हो जाता है। उस अग्नि रूप[107] परमात्मा को प्राप्त करने के लिए ओंकार के जप द्वारा उसके अर्थ रूप परमात्मा का निरन्तर चिन्तन और प्रमन्थन किया जाता है, जहाँ प्राण युक्त वायु का विधिपूर्वक निरोध किया जाता है जहां आनन्द रूप सोम अधिकता से प्रकट होता है उस ध्यानावस्था में मनुष्य का मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है। ध्यान की विधि में बतलाया गया है कि साधक सिर[108], गला और छाती को ऊंचा उठाए रखे, इधर उधर न झुकने दे, जिससे आलस्य, निद्रा और विक्षेप विघ्न न आए। तदुपरान्त समस्त इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर उनका मन के द्वारा हृदय में निरोध कर लेना चाहिए फिर

105. वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति र्नदृश्यते नैव च लिंगनाशः। श्वेतः॰ 1।1।13

106. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्। श्वे॰ 1।2
1।4

107. अग्निर्यत्राभिनथ्यते वायुर्यत्राभिरुध्यते······मनः।

108. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
श्वे॰ 2।2।6, 8

ओंकार का जप और उसके वाच्य पर ब्रह्म परमात्मा का ध्यान करके सभी प्रवाहों को पार कर लेना चाहिए—

बुद्धिमान् साधकों को चाहिए कि वह इस योग साधन के लिए आहार विद्या आदि समस्त चेष्टाओं[109] को यथा योग्य करता रहे, उन्हें ध्यान योग के योग्य बना ले। तथा योगशास्त्र की विधि के अनुसार प्राणायाम करते करते जब प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, तब नासिका द्वारा उसे बाहर निकाल दे। उसके उपरान्त जैसे दुष्ट घोड़ों से जुते हुए रथ को अच्छा सारथी बड़ी सावधानी से चला कर गन्तव्य स्थान पर ले जाता है उसी प्रकार साधक को चाहिए कि अपने मन को वश में रखे जिससे योग साधना में किसी प्रकार का विघ्न न आए और वह लक्ष्य प्राप्ति कर लेवे। इन्हीं गुणों की स्वीकृति[110] के विषय में कहा गया है कि बौद्ध भिक्षु उदात्त आकाक्षाओं के मानव हैं। वे अपने उदार, उदात्त तथा प्रातिभ गुणों के द्वारा महामानव बनने का प्रयत्न करते हैं न कि अपने कटु, तीक्ष्ण एवं दबाने वाले स्वभाव के कारण।

निम्नांकित उद्धरणों में भगवान् बुद्ध द्वारा अपने शिष्यों को विभिन्न सिद्धान्तों, दृष्टियों, वादों को विचार करके ही ग्रहण करने का उपदेश दिया है यथा 'भगवान्-भागन्दिय[111]! धर्मों के अन्वेषण करके मुझे, मैं यह कहता हूँ यह धारणा नहीं हुई। मैंने दृष्टियों (वादों) को देख उन्हें न ग्रहण कर, चुनते हुए आत्म शान्ति को ही देखा।' भागन्दिय ने भगवान् से पूछा 'जितने सिद्धान्त कल्पित किए गए हैं, हे मुनि! तुम उनको न ग्रहण करने को कहते हो—तो अध्यात्म शान्ति (नायक) इस पदार्थ को धीर ने कैसे जाना? भगवान्—भागन्दिय न दृष्टि से, न श्रुति (श्रवण वेद) से, न ज्ञान से, न शील से, न व्रत से शुद्धि कहता हूँ। अदृष्टि, अश्रुति अज्ञान, अशील, अव्रत से भी नहीं—उन्होंने मुनि या आत्म शान्ति के इच्छुक का मार्ग स्पष्ट करते हुए कहा—'जैसे जल से उत्पन्न कंटक और कमल, जल और पंक से लिप्त नहीं होते' इसी प्रकार शान्तिवादी लोभ रहित मुनि, काम और लोक में अलिप्त होता है। दृष्टि और मति से वेद पारग नहीं होता, तृष्णादि परायण जन शान्तिवादी के समान नहीं होता। कर्म और श्रुति से भी नहीं (मुक्ति पद को) ले जाया जा सकता, वह तो तृष्णा अदि निवेशनों में अप्राप्त है। संज्ञा से विरक्त को ग्रन्थि नहीं होती, प्रज्ञा द्वारा विमुक्त हुए को मोह नहीं। संज्ञा और दृष्टि को जिन्होंने ग्रहण किया है, वह लोक में धक्का पाते चलते हैं।

---

109. श्वे० उ० 2.2।9

110. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, प्रथम भाग सी इलियट पृ० 93

111. मागन्दिय सुत्त सु० नि० बु० च० तृ० 109, 110

(ग) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

ब्राह्मण[112] विचार धारानुमोदित यौगिक प्रक्रियाओं में भी प्रज्ञा को सर्वोच्च सत्ता स्वीकार किया गया है और यही बौद्ध विचारधारा में भी। साथ ही पंचेन्द्रियों के संयम को भी समान महत्व दिया गया है। श्रद्धा[113], वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा आदि की उपस्थिति योगी में अनिवार्य है यथा श्रद्धा, उत्साह, तत्व ज्ञान की स्मृति और समाधि उस समाधि से उत्पन्न हुआ ज्ञान इतने उपायों वाले दूसरे ज्ञानी योगी ही कहे जाते हैं। योग सूत्र[114] में वर्णित चार प्रकार की समाधियों में प्रथम तीन बौद्ध धर्म के अनुकूल हैं जो कि अभिधम्म में लभ्य है और अन्तिम असम्प्रज्ञात समाधि अष्टम समाधि के अनुकूल है जबकि मन संस्कार शेष रह जाता है जबकि कोई आलम्बन नहीं रहता—सर्व वृत्ति निरोध के कारण परम वैराग्य के अभ्यास पूर्वक संस्कार शेष रूप से चित्त का ठहराव हो जिसमें वह दूसरी सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। योग सूत्र[115] में वर्णित सिद्धियों की प्राप्ति के समान ही ऋद्धि प्रातिहार्य का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में लभ्य है—यथा योग सूत्र में—जब उन भूतो का जप करने से अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और शरीर सम्पत्ति और उन भूतों के धर्मों से योगी का बाध न होना सिद्ध होता है अर्थात् सर्वभूत योगी के अनुकूल हो जाते हैं। सिद्धियों में अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व, यत्र-कामा, वशायित्व है।

अविद्या की परिभाषा भी दोनों विचारधाराओं में समान है यथा समान अनित्य,[116] अपवित्र दुःखरूप, अनात्म अर्थात् जड़ पदार्थों के क्रम से नित्य, पवित्र, सुखरूप, आत्मा अर्थात् चेतन जानना अविद्या है, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना परम ही अविद्या है, तीन प्रकार के दुःखों की स्वीकृति भी समान ही है। परिणाम ताप-संस्कार[117] रूपी दुःखों के विचार से और गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने से ज्ञानी पुरुष को तो सर्व संसार दुःख रूप ही प्रतीत होता है।

---

112. श्रद्धावीर्यस्मृति समाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। पा० यो० 1।20
113. वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सं प्रज्ञातः॥ या० यो० 1।17
114. विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः॥ पा० यो० 1।18
115. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च। पा० यो० 3।45
116. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। पा० यो० 2।5
117. परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्व विवेकिनः। पा० यो० 2।15

कर्मों के भेद—कृष्ण शुक्ल

योगी के कर्म अशुक्लाकृष्ण[118]—पुण्य पाप रहित होते हैं और अन्य अयोगी पुरुषों के कर्म शुक्ल-पुण्य रूप और कृष्ण-पाप रूप और शुक्ल कृष्ण पुण्य पाप मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं। यह कर्म जाति चार प्रकार की है। कृष्णाशुक्ल-कृष्णा, शुक्लाऽशुक्लाकृष्णा चेति)।[119]

आत्म-भाव—आत्म विषयक भाव में भी पर्याप्त साम्य लभ्य है यथा विशेषदर्शी पुरुष ने चित्त से भिन्न आत्मा को विशेष रूप से देखा है, उसकी आत्म स्वरूप विषयक भावना अर्थात् इच्छा निवृत्त हो जाती है कि मैं कौन हूँ, किस प्रकार हुआ हूँ, कैसा पहले था? यह जन्म क्या है? किस प्रकार हुआ? क्या आगे होऊंगा? यह सब भावनाएं उस योगी की निवृत्त हो जाती हैं। पालि के अत्त भाव के समान हैं।

भगवान्[120] बुद्ध के जीवन के दो पक्ष हैं वैयक्तिक तथा सामाजिक। वैयक्तिक में वह ध्यानी, योगी है जो ध्यान में मग्न हैं तथा आन्तरिक ध्यान ही उनका लक्ष्य है। यही स्थिरवादी परम्परा है जिसमें बुद्ध एक मानव है ईश नहीं, एक उपदेष्टा है। दूसरा पक्ष सामाजिक है जिसमें समाज का दुःख, करुण क्रन्दनों के कारण वह बहुजन हिताय महाकरुणा से प्रेरित हो सामाजिक जीवन में अवतरित होते हैं और निर्वाण को भी तभी चाहते हैं जब सभी प्राणी निवृत्ति को पा लें। भगवान्[121] बुद्ध ने दश पारमिताओं पर बल देते हुए कहा है कि बुद्धत्व ज्ञान, प्रकाश पाने के लिए इन पारमिताओं का सेवन आवश्यक है। इन पारमिताओं के विषय में हम पूर्व में विस्तार से वर्णन कर चुके हैं किन्तु इनके साथ ही जैसा कि हमने पहले माना है कि इन पारमिताओं का विकसित रूप बाद में आया और वह बोधिचित्त दशा के प्राप्त करने के लिए विशेष योगदान देता है वहां बोधिपक्षीय[122] धर्मों का अनुशीलन साधनाओं के लिए त्रिपिटक साहित्य में स्वयं भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रयुक्त हुआ है।

बोधि शब्द उतना ही स्थिरवाद बौद्ध धर्म का है जितना महायान का, जिसका प्रयोग एक नैतिक दर्शन के रूप में हुआ है। ये चार स्मृति प्रस्थान हैं। (1) काया में कायानुपश्यना, (2) वेदना में वेदनानुपश्यना, (3) चित्त में चित्तानु-

---

118. कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। पा० यो० 4।7
119. विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः। पा० यो० 4।25
120. पच्चीस सौ वर्ष आफ बुद्धिज्म, भूमिका—डा० राधाकृष्णन्, पृ० 7
121. (वही) लाइफ एण्ड टीचिंग्स, सी० वी० जोशी, पृ० 27
122. दी बोधिसत्व डाक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० 81

पश्यना और (4) धर्मों में धर्मानुपश्यना। स्मृति शब्द पालि में सति का अर्थ स्मरण है। अर्थात् ज्ञान पूर्वक कार्य को करना स्मृति है, यही स्मृति मानसिक सावधानी का दूसरा नाम है। स्मृति के प्रयोग में भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा था कि स्मृति का सतत अभ्यास करते हुए ज्ञान प्राप्ति की थी। उन्होंने कहा कि मैंने[123] न दबने वाला वीर्य आरम्भ किया था। उस समय मेरी स्मृति अमानुषित[124] और जागृत थी। महासतिपट्ठान सुत्त में भी भिक्षु आसन मार कर शरीर को सीधा रख, स्मृति को सामने उपस्थित कर ध्यान करता है। भिक्षु[125] भोजन की मात्रा का ध्यान करके उसके बाद स्मृति का ध्यान करे। ये आनापान सति (प्राणायाम के साथ स्मृति) चार स्मृति प्रस्थान हैं। स्मृति सप्रजन्य के साथ दोनों शब्द त्रिपिटक में साथ-साथ प्रयुक्त हुए हैं। चार स्मृति प्रस्थानों का महासतिपट्ठान सुत्त में विस्तार से वर्णन है। श्मशान योग का भी वर्णन इस सुत्त में कायानुपश्या के रूप में किया गया है। काया में कायानुपश्यना वास्तव में अनात्मवाद का ही एक व्यावहारिक और साधनामय स्वरूप है। पालि निकायों में कायानुपश्यना के उदाहरणों में भिक्षु लम्बी सांस लेते उसे छोड़ते हुए यह अनुभव करता है कि मैं लम्बी साँस ले रहा हूँ, छोड़ रहा हूँ। इस प्रकार अपनी काया में कायानुपश्यी होकर विहरता है, काया में उत्पत्ति, बिनाश को देखता है, किसी भी वस्तु को मैं, और मेरा नहीं समझता तथा नित्य दोषानुदर्शन भी कायानुपश्यना ही है। इस प्रकार के कायानुपश्यना साधक के शरीर का कोई भाग विवेकज[126] प्रीति सुख से अव्याप्त नहीं रहता, जैसे पाताल तोड़ कुए से अजस्र जल धार बहती है वैसे ही साधक आनन्द मग्न रहता है। वेदनानुपश्यी होने पर वेदनाओं के समुदय विनाश धर्म को देखता है। भिक्षु सराग चित्त, सद्वेष चित्त नहीं होता। चित्तानुपश्यी हो बाहर भीतर चित्त में चित्तानुपश्यी हो विहरता है। चित्त में उत्पत्ति तथा विनाश दोनों धर्म देखता है।

धर्मानुपश्यी--पांच नीवरणों को देखता हुआ धर्मों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है। पुनः पांच उपादान स्कन्धों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है। इसी प्रकार छः (आन्तरिक तथा बाह्य) आयतनों में, सात बोध्यंगों और चार आर्य सत्यों में धर्मानुपश्यी हो विहरता है।

भिक्षुओं को इनके विषय में पूर्ण आस्था दर्शाने के लिए भगवान् ने यह कहा

---

123. बोधिराज कुमार सुत्त, म० नि०, महासच्चक सुत्त, म० नि०, वेरंजक ब्राह्मण सुत्त, अंगुत्तर निकाय

124. महासति पट्ठान सुत्त दीर्घ निकाय

125. गणक मोग्गल्लान सुत्तन्त म० नि०

126. कायगता सति सुत्तन्त, महासुकुलदायि सुत्तन्त, म० नि०

कि जो कोई भिक्षु इन चार स्मृति प्रस्थानों की सात वर्ष तक भावना करे, उसे दो फलों में से एक फल की प्राप्ति अवश्य होगी। इसी जन्म में अर्हत्व या उपादान अवशिष्ट रहने पर अनागामी भाव सात वर्ष-छ वर्ष, सप्ताह भर उन्हीं दो में से एक फल अवश्य, इसी जन्म में अर्हत्व या उपादान अवशिष्ट रहने पर अनागामी फल। इस प्रकार कायाचित्त, वेदना और धर्मों पर विचार करने का जो मार्ग बौद्ध विचार धारा में स्मृति प्रस्थानों में प्रख्यापित है वही बौद्ध साधना का प्राणभूत तत्व है।

आध्यात्मिक विकास के लिए बौद्ध विचारधारा में पांच मुख्य साधन श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा माने हैं। यही पांच इन्द्रियां अथवा जीवनी शक्तियां कहलाती हैं। बौद्ध विचारधारा की नैतिक नींव के लिए इनका महत्व विशेष है। श्रद्धा का अर्थ चित्त की प्रसादमयी अवस्था है। चित्त के सम्प्रसादन का नाम ही श्रद्धा है, श्रद्धा से ही वीर्य की उत्पत्ति और वीर्यवान् की ही स्मृति स्थायी होती है और जिसकी स्मृति ठहरी हुई है उसी का चित्त समाधि में मग्न हो जाता है और चित्त की समाधि से ही मनुष्य प्रज्ञा को प्राप्त करता है। इनमें क्रमिक विकास है। भगवान् बुद्ध बुद्धिवादी थे। वे किसी बात को श्रुत, तर्क, नय के आधार पर न मान कर स्वयं ही उसे अच्छा, बुरा जानकर ही ग्रहण करने का उपदेश देते थे। उन्होंने अपने सम्यक् सम्बुद्ध रूप में भी श्रद्धा को अन्धविश्वास के आधार पर न कर बुद्धि सम्मत अनुभव के आधार पर करने का उपदेश दिया है क्योंकि भगवान् बुद्ध ने कहा कि मैं ज्ञानी हूं इसके लिए भिक्षु को समन्वेषण करना चाहिए, मीमांसा और परीक्षा करनी चाहिए। अपना देखा हुआ कहने पर श्रद्धा से बुद्धि की प्रतिष्ठा इसी प्रज्ञा अन्तिम रूप प्रज्ञा में हृदय तथा बुद्धि का सुन्दर समन्वय किया गया है। समाधि और प्रज्ञा का सम्बन्ध आर्य अष्टांगिक मार्ग में भी विवेचित किया गया है।

सात बोध्यंग जो पालि निकायों में अनेक बार वर्णित है। स्मृति, धर्म-विनय, वीर्य, प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा। सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने में ये परम सहायक हैं इसीलिए इन्हें बोध्यंग कहा गया है। भगवान् ने इन सातों को मिलाकर 'भावना प्रयत्न' कहा है एक भिक्षु प्रयत्न करता है, जोर लगाता है, मन को काबू में करता है कि जो कुशल कल्याणमय वाले उसमें नहीं हैं वे उसमें आ जायं। वह स्मृति, धर्म विचार, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा इन सात बोध्यगों का अभ्यास करता है इन भावनाओं के द्वारा आस्रवों के क्षय से युक्त होकर चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा की विमुक्ति को साक्षात्कार कर विहरता है। आर्य-अष्टांगिक[127] मार्ग ही दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है। जोकि इस प्रकार है:

127. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ०363

(1) सम्यक् दृष्टि (2) सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा-स्कन्ध
(3) सम्यक् वाणी (4) सम्यक् कमन्ति (5) सम्यक् आजीव	शील-स्कन्ध
(6) सम्यक् व्यायाम (7) सम्यक् स्मृति (8) सम्यक् समाधि	समाधि-स्कन्ध

यह आर्य अष्टांगिक मार्ग तीन स्कन्धों में अन्तर्भावित है यथा सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प प्रज्ञा स्कन्ध में, सम्यक् वाणी, कमन्ति, ,आजीव शील में, सम्यक् व्यायाम, स्मृति और समाधि समाधि स्कन्ध में। सम्यक् दृष्टि मुक्ति मार्ग की पहली सीढ़ी है जिसके बिना न शील की प्राप्ति और न समाधि की, इसके परिणाम से हमें शील मिलता है, नैष्कर्म्य सम्यक् संकल्प है, विचार का सम्यक् अभ्यास ही सम्यक् वाणी[128]सम्यक् कमन्ति का सम्बन्ध बाह्य जीवन से है यथा जीव हिंसा को छोड़ जीव हिंसा से दूर रहना, सम्यक् आजीव[129] व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन के लिए। सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) ज्ञानमय अभ्यास के लिए यथा भगवान् बुद्ध ने स्वयं-चाहे मेरे मांस रक्त सूख जायं[130]—मनुष्य प्रयत्न से जो भी प्राप्तव्य है, प्राप्त किए बिना चैन न लूंगा और चारों स्मृतियां काया, वेदना, चित्त तथा धर्म की अनुपश्यना की स्मृति ही सम्यक् स्मृति है, आत्मदीप[131], अनन्य शरण, आत्म शरण हो विहरता है यही साधनाओं का संक्षेप में विवेचन है।

प्रतीत्य समुत्पाद, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद तथा अभौतिकवाद ये चार बौद्ध विचारधारा के प्रतिष्ठा पीठ है। भगवान् बुद्ध भौतिकवाद के विरोधी थे और आस्तिकवाद के कट्टर समर्थक थे क्योंकि अच्छे कर्मों के द्वारा वे परलोक में अच्छे जन्म को मानते थे इस प्रकार बुद्ध ने प्रत्यक्ष रूपेण ईश्वर का विवेचन न करते हुए भी उन दैविक गुणों के अर्जन के माध्यम से उन्हीं को व्याकृत किया है। भगवान् बुद्ध ने अनेक सुत्तों, इतिवुत्तकों, उदानों और वेय्याकरणों में प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश

128. अरिय परियेसन सुत्त, म० नि० 1।3।6
129. महासति पट्ठान सुत्त, दी० नि० 2।9
130. जातकट्ट कथा (निदान कथा) तथा बुद्धवचन; पृ०27
131. चन्द सुत्त संयुत्त निकाय, पृ० 45।2

दिया है जिसका आधार उनकी महाकरुणा ही है। आचार्य बुद्धघोष[132] ने कहा है कि नाना प्रकार से भगवान् ने इसीलिए प्रतीत्य समुत्पाद का उपदेश दिया है कि एक तो यह सिद्धान्त ही सर्वत: कल्याणकारी है और फिर स्वयं तथागत को उपदेश देने में परिपूर्णता (पारमिता)[133] प्राप्त है। फिर यहाँ अपूर्व विस्तार क्यों न हों? प्रतीत्य समुत्पाद को हम आसानी से भगवान् तथागत की करुणा का ज्ञानमय परिणाम कह सकते हैं।

पातंजल योग दर्शन में आए हुए मैत्री करुणा मुदिता आदि विधियों का त्रिपिटक साहित्य में बहुलता से वर्णन मिलता है जिससे यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण विचारधारा में इस प्रकार की यौगिक विधियों का एक स्थायी रूप से प्रचलन था जिसका संकलन योग दर्शन में मिलता है। अत: भगवान् बुद्ध साधनाओं के प्रयोग में ब्राह्मण विचारधारा के अत्यधिक ऋणी हैं किन्तु इतना अवश्य कह सकते है कि उन्होंने इन सिद्धान्तों का जन-जीवन में प्रयोग करने का श्रेय प्राप्त किया है। हम यहां त्रिपिटक साहित्य में से कतिपय उद्धरण मैत्री, करुणा आदि के प्रस्तुत करके विषय को समाप्त करते हैं।

गौतम बुद्ध के प्रवचनों में चित्त की विशुद्धि के लिए मज्झिम निकाय[134] में भिक्षुकों शील वाले, धर्म को स्वभाव का होने के लिए विभिन्न दिशाओं में मैत्री, करुणा, मुदितोपेक्षा युक्त होना चाहिये।

"वह मैत्री युक्त चित्त से एक दिशा को परिपूर्ण कर विहरता है। वैसे ही दूसरी दिशा को, तीसरी, चौथी। इस प्रकार ऊपर-नीचे, आड़े-बेड़े, सबका विचार रखने वाला, सबके अर्थ, विपुल, महान् प्रमाण रहित, वैर रहित, व्यापार रहित, मैत्री युक्त चित्त से सारे लोक को पूर्ण कर विहार करता है। वह करुणायुक्त चित्त से एक दिशा को, मुदिता युक्त चित्त से दूसरी दिशा को, उपेक्षा युक्त चित्त से अन्य दिशा को विहरे। भगवान् ने ब्राह्मण से गाथाओं में कहा कि पापकर्मी दुष्ट नर को प्रयाग सरस्वती, बाहुमती, फल्गु नदी का स्नान शुद्धि नहीं कर सकते, शुद्धि के लिये सदा ही उपोसथ हैं, शुद्ध और शुचिकर्मा के व्रत सदा ही पूरे होते रहते हैं। सभी प्राणियों का

132. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० 381

133. कस्मा पनेवं देसेतीति? पटिच्च समुप्पादस्स समन्त भद्दकत्ता, सयं च देसनाविलसप्पतत्ता। समन्त भद्दको हि पटिच्च—समुप्पादो ततो ततो...सो देसनाविलासप्पतत्ता नानानयेहेव धम्मं देसेति। वि० म० 17।22-23

134. वत्थ सुत्त—मज्झिम निकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० 26

का क्षेम कर, यदि तू झूठ नहीं बोलता, यदि प्राण नहीं मारता, यदि बिना दिये नहीं लेता, श्रद्धावान् मत्सर रहित है। इस प्रकार करुणा, मुदिता, उपेक्षा युक्त चित्त होकर अनुपम ब्रह्मचर्य को इसी जन्म में स्वयं जानकर साक्षात्कर विहरने लगेगा। इसी जन्म में साक्षात् करने में भी (वेदाहमेतम्) ब्राह्मण विचारधारा का ही प्रभाव है।

नवम अध्याय

(क) बौद्ध विचारधारा में प्राप्त पौराणिक आख्यान
(ख) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त पौराणिक आख्यानों का उन पर प्रभाव
(ग) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा
(घ) बुद्ध वचनों में परलोक सम्बन्धी धारणाएं
(ङ) ब्राह्मण विचारधारा की परलोक सम्बन्धी विचारधाराओं का उन पर प्रभाव

(क) बौद्ध विचारधारा में प्राप्त पौराणिक आख्यान

जिस प्रकार बौद्ध विचारधारा[1] औपनिषदिक विचारधारा के विकसित रूप की ही प्रतिक्रिया है उसी प्रकार बौद्ध विचारधारा में पौराणिक आख्यानों में ब्राह्मण विचारधारानुकूल प्रभाव स्पष्ट है। इसका प्रमुख आधार यही है कि ब्राह्मण विचारधारा में अवतारवाद के प्रभाव के फलस्वरूप विभिन्न प्रकार की चामत्कारिक तथा दिव्य शक्तियों, दिव्य जन्मों, पूर्व जन्मों, दिव्य कार्यों के आख्यानों से ही अवतारों की कथाएं ओतप्रोत है इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों, इस जन्म से पूर्व में जन्म लेने के स्थान, मातृ पितृ चयन, यशोधरा से विवाह, पीपल वृक्ष जिसके नीचे बोधि उपलब्धि हुई तथा अश्व विशेष आदि के जन्म को भी यथाविधि पूर्व से ही निर्धारित करना तथा माता का सातवें दिन अवसान, खड़े ही जन्म देना देवों की तत्काल उपस्थिति तथा बुद्ध के जीवन काल में देवों द्वारा, जराजीर्ण, मृत, प्रवृद्ध पुरुषों को दिखलाकर उन्हें पूर्व बोध कराना, ऋद्धिप्रातिहार्यों का वर्णन 'मार' कामदेव का प्रकोप तथा उसकी विभिन्न पात्रों के रूप में भगवान् बुद्ध द्वारा पहचान कर उसकी भर्त्सना करना इत्यादि आख्यान पौराणिक आख्यानों में ही है जो कि जातक कथाओं के रूप में एक विस्तृत साहित्य प्राप्त होता है।

जातक के प्रथम भाग में दूसरे निदान में दीपंकर का दर्शन, दीपंकर की भविष्य वाणी सुमेध का दृढ़ संकल्प, दश पारमिताएं और दश पारमिताओं के अभ्यास का सुन्दर तथा विशद वर्णन प्राप्त होता है। दीपंकर की भविष्यवाणी में कहा, 'इस उग्र तपस्या करने वाले जटिल तपस्वी को देखती हो ? यह अब से चार असंखेय्य एक लाख कल्प के बीतने पर बुद्ध होगा। तथागत कपिल (वस्तु) नामक नगर से निकल तपस्या करेंगे, नेरन्जा नदी के किनारे खीर खा बोधि वृक्ष के नीचे जायेंगे वहां अनुपम

---

1. Just as the teaching of Budhism is a development of Upanishadic philosophy, so the mythology which grew up about Budhism drew upon the traditions of the land in which the doctrine was first taught. It sought both to prove the historic Budha's divine origin and to set him in the pattern of previous incarnations familiar to Indian believers and interesting enough to compete with the existing pantheon. As we have seen, Budhism in turn provoked in early Hinduism a clarification of doctrine and further complication of the mythology.
   इण्डियन माइथालोजी, वैरोनिका आओन्स, पृ० 126

महायशस्वी अश्वत्थ पीपल वृक्ष के नीचे बुद्ध होगा। इसकी जननी माता माया पिता शुद्धोदन[2] और यह गौतम होगा' तथा सुमेध के दृढ़ संकल्प के समय होने वाली सभी घटनाएं दिव्य शक्तियों के प्रादुर्भाव कालीन वर्णन के तुल्य ही है। दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री तथा उपेक्षा पारमिताओं का ग्रहण बुद्धत्वोपलब्धि हेतु वर्णित करना भी भगवान् बुद्ध के गुणों के आतिशय्य का दैविक रूप वर्णित है। 24 बुद्धों में दीपंकर बुद्ध, मंगल, सुमन, रेवत, सोभित, अनोमदर्शी, पद्म बुद्ध, नारद बुद्ध, पद्मोत्तर, सुमेघ, सुजात, प्रियदर्शी, अर्थदर्शी, धर्मदर्शी, सिद्धार्थ बुद्ध, तिष्य बुद्ध, पुष्य बुद्ध, विपश्यी, शिखी, विश्वभू, ककुसन्ध, कोण गमन तथा काश्यप आदि के वर्णन में पौराणिक आख्यानों को सुगमतया प्राप्त कर सकते हैं। अविदूरे निदान में भगवान् गौतम के बाल्यकाल चरित, देवलोक से मनुष्य लोक की ओर, सिद्धार्थ का जन्म, भालदेवल की भविष्यवाणी, मार पराजय के अवसर पर गरुड़ ने भी प्रसन्न हो, यह श्रीमान् बुद्ध की जय हुई और पापी मार पराजित हुआ' कहा।

ब्राह्मणों ने भी कहा बुद्धपद लाभ में प्रथम याम में पूर्व जन्मों का ज्ञान, दूसरे याम में दिव्य चक्षु विशुद्ध हुआ, और अन्तिम याम में उन्होंने प्रतीत्य रूप समुत्पाद[3] का साक्षात्कार किया। शकुन्तला नाटक के आख्यान का संकेत भी प्राप्त होता है यथा कट्ठहारि[4] जातक में राजा ब्रह्म दत्त वन में गा-गा कर लकड़ी चुनने वाली एक लड़की पर आसक्त हो जाता है। उसे गर्भ रहता है। राजा लड़की को अंगूठी दे जाता है। जब लड़की पुत्र सहित राजा के पास जाती है, तो राजा पहचान नहीं सकता। पीछे उसे पुत्र को अपनाना पड़ता है।

सन्थव[5] वर्ग में पापी की मित्रता के दुष्परिणाम बताये हैं। सत्तधम्म जातक में ब्राह्मण के उच्च कुलाभिमान के कारण चाण्डाल का भात न खाने से उसका फल भोगना और बाद में खाना। केलिसील सुत्त में इन्द्र द्वारा राजा को बूढ़ा होने का भय दिशाकर माता पिता तथा वृद्धों की सेवा का उपदेश दिलाया। भद्रघट[6] जातक में शक ने पुत्र प्रेम के वशीभूत हो उसे कामनाओं की पूर्तिकारक घट लाकर दिया। जातक चतुर्थ भाग में मातंग जातक में दिट्ठ मांगलिक के पुत्र को दान के उचित प्रकार का उपदेश करते हुए वेदमतानुयायी कहा है किन्तु वेद पढ़कर अर्थ न जानने

2, जातक प्रथम भाग—हिन्दी अनुवाद पृ० 75, 77, 114, 143. 147
3. महानिदान सुत्त—दीर्घनिकाय
4. जातक प्रथम भाग पृ० 220. 463
5. जातक-2, पृ० 213, 331
6. जातक-3, पृ० 151

के कारण उसका ह्रास हुआ तथा जाति मद[7], अभिमान, लोभ, द्वेष, मद तथा मूढ़ता ये सब अवगुण हैं ये इस लोक में अच्छे नहीं है, हेय हैं वह किस प्रकार चन्द्र मण्डल को भेदन करते हुए आया और उसी में विलीन हो गया।

जातक कथाओं में हम भगवान् बुद्ध को पूर्व जन्म में एक मेघ ब्राह्मण के रूप में पाते हैं जिन्होंने दीपावती नारी एक युवती को सात कमलों को ले जाते हुए देखकर उससे पूछा कि वह उन फूलों का क्या करेगी ? तब उस युवती ने उत्तर दिया कि इन सात कमलों से वह महात्मा दीपंकर का सम्मान करेगी . उसने यह कहा कि इन सातों में से दो मेरे मित्र द्वारा दिए गए हैं और शेष पांच को मैं पाँच सौ सिक्कों में खरीद कर लाई हूं। मेघ भी दीपंकर के सम्मान से आकृष्ट हुए क्योंकि वे भी ज्ञान के प्रकाश बुद्धत्व को चाहते थे और उन्होंने उन पांच कमलों के लिए पांच सौ सिक्के दे दिए। किन्तु उस युवती ने इस शर्त पर देना स्वीकार किया कि वह उससे विवाह कर लेगा। बुद्धत्व प्राप्ति के जन्म से पूर्व भगवान् बुद्ध ने दीपंकर के प्रवचनों तथा उसके तेज से प्रभावित होकर बोधिसत्व होने का दृढ़ निश्चय किया तथा दीपंकर ने अग्रिम जन्म में बुद्धत्व प्राप्ति की भविष्यवाणी की।

बोधिसत्व के जन्म में भगवान् बुद्ध एक पावन चतुर मृग के रूप में थे। एक दिन व्रत करते विचारने लगे कि यदि कोई भूखा आज मेरे से भोजन की याचना करे तो उसे मैं आज अपना मांस ही खाने को दे दूं। ज्योंही मृग ऐसा विचार कर रहा था कि शक्र का सिंहासन गर्म हो गया और वह पृथ्वी पर अभूतपूर्व घटना को जानने का इच्छुक हुआ। उसने मृग को खोजा और उसके दृढ़ निश्चय की परीक्षा करनी चाही। शक्र ने एक भिखारी का रूप बदल कर उससे याचना की। मृग ने बिना हिचकिचाहट के भिक्षुक भेष में इन्द्र से अग्नि प्रज्वलित कर देने को कहा और अग्नि जलने पर अपने आप को उस अग्नि में डाल दिया। भिक्षुक इन्द्र ने अग्नि को शीतल कर दिया और कहा कि मैं केवल तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। उसकी स्मृति को अमर बनाने के लिए देव ने पर्वत का रस निकाला और उस रस से चन्द्रमा पर मृग का चिह्न अंकित कर दिया।

एक अन्य जन्म में बोधिसत्व की स्थिति में ही एक छः दांतों से युक्त छदन्त नाम के हाथी के रूप में दो पत्नियों से युक्त थे। दोनों पत्नियां परस्पर में ईर्ष्यापूर्ण थी। उनमें से एक ने अग्रिम जन्म में एक राजकुमारी होने की प्रार्थना की। जन्म लेने पर जब वह बड़ी हुई तो बनारस के राजकुमार के साथ विवाहित हो गई। तबउसने अपने राज्य के समस्त बहेलियों को बुलाया और एक छ दान्त वाले छदन्त हाथी को मार कर उसकेदांत लाने का आदेश दिया। सोनुत्र नामक बधिक ने छदन्त हाथी को तीरों से घायल कर एक गड्ढ़े में पकड़ लिया, तब छदन्त

7. जातक-4, पृ० 593

ने उससे अपने मारने का कारण पूछा तो उसने बनारस की रानी की इच्छा को बतलाया। तब वह अपने भाग्य को समझ गया और उसने अपने आपको समर्पित कर दिया तथा छदन्त ने आरी लेकर स्वयं अपने दांत काट दिए और अपने बहे हुए रक्त में ही प्राण त्याग दिए। रानी ने भी इस समाचार को सुनकर प्राण त्याग दिए।

अन्य जन्म में बोधिसत्व बनारस के राजा यशपनी के गृहीय सदस्य के रूप में थे। उन्होंने दुष्ट कल्की के विरोध को और भी उत्तेजित किया क्योंकि एक अभियोग में कल्क ने पक्षपातपूर्ण निर्णय दिया जबकि राजा यशपनी ने न्याय युक्त निर्णय दिया था। इस प्रकार कल्क जोकि पूर्व जन्म में शत्रु था, बुद्ध से बदला लेना चाहता था। राजा यशपनी से बुद्ध के द्वारा किसी असम्भव कार्य को करवाने के लिए कहा। उसने बुद्ध से कहा कि तुम प्रातः एक सुन्दर उद्यान का निर्माण करो। भगवान् बुद्ध उस जन्म में रात्रि भर बड़े चिन्तित रहे किन्तु शक्र उनके सम्मुख आया। उसने प्रातः सभी शोभाओं से सुसज्जित उद्यान का निर्माण कर दिया। अन्त में यशपनी ने बुद्ध के दैविक गुणों को जान कर इन्हें मित्र बना लिया और कल्क को प्राण दण्ड दिया।

ये अन्य जन्म में एक धनी महारथ के पुत्र महासत्व के नाम से थे। एक बार वह अपने दो भाइयों के साथ जंगल में घूमते हुए, एक शेरनी जो कि अपने बच्चे के साथ थी, पास आए। वह शेरनी अत्यन्त दुर्बल, खड़े होने में अशक्त थी। वह भूख से मर रही थी तो बोधिसत्व ने महासत्व के रूप में उसे अपना शरीर दान करने का निश्चय किया। वह शेरनी महासत्व को मारने में भी अशक्त थी इस पर महासत्व ने अपनी गर्दन काट कर शेरनी के सामने कर दी और वह खून चाटने लगी।

इसी प्रकार एक जन्म में वे तपस्वी के रूप में थे जबकि उन्होंने अपने को बलिदान कर दिया था। एक दिन पूर्व जन्म का एक शत्रु राजा अपनी पत्नियों सहित बोधिसत्व की कुटी पर आया। जब राजा सो गया तो वे रानियां बोधिसत्व की कुटी में घूमने लगी जहां कि अनेकों देव तथा मनुष्य उनके प्रवचन सुनने आते थे। वे भी उसके प्रवचन से प्रभावित हुई और जब राजा ने अपनी रानियों को ढूंढते हुए आवाज दी तो उन्होंने नहीं सुना। तब राजा उन पर क्रोधित हुआ किन्तु बोधिसत्व ने उन्हें अपने उपदेश पर अभ्यास करने तथा धैर्य रखने को कहा—इस पर राजा ने तलवार निकाली तथा बोधिसत्व के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। बुद्ध ने बिना किसी शिकायत के यह कष्ट सहन किया।

महात्मा बुद्ध की ख्याति से देवदत्त को ईर्ष्या हुई और उन्होंने इनके विरुद्ध इनकी विचारधारा के प्रमुख अनुयायी राजा अजात शत्रु के द्वारा उसके पिता बिम्बसार की मृत्यु कराई जोकि बौद्ध धर्म का संरक्षक राजा था। पश्चात् में उसने भगवान् बुद्ध की हत्या की योजना बनाई तथा राजा अजात शत्रु के इन अनुचरों

को भेजा किन्तु वे भगवान् के उपदेशों को सुनकर उनके शिष्य बन गए। तब उसने एक बड़ी शिला को पर्वत शिखर से बुद्ध के ऊपर गिराया किन्तु वह बीच में ही टुकड़े टुकड़े होकर इधर उधर बिखर गई। अन्त में उसने एक उन्मत्त हाथी माला गिरि को बुद्ध के मारने के लिए छोड़ा किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से वह उनके चरणों में शिर नवा कर बैठ गया यह देखकर देवदत्त के अनुयायी भगवान् के शिष्य हो गए। वह अकेला बीमार पड़ गया। कुछ स्वस्थ होने पर वह विहार में भगवान् से मिलने गया किन्तु जैसे वह द्वार पर पहुंचा पृथ्वी से आग की लपटें निकली और वह जलकर राख हो गया।

जातक[8] के छठे भाग में भूरिदत्त जातक में लिखा है कि वेदाध्ययन तथा यज्ञ कर्म करने वाला भी यदि सत्यासत्य का विवेक नहीं करता तो यह उसका दुर्भाग्य ही है। उन्होंने अग्नि को अग्नि देवता तथा पानी को पानी देवता नहीं कहा। उन्होंने कहा कि इन ब्राह्मणों ने पहले ब्रह्मा को सबको अभिभूत करने वाला कहा तथा सारे लोकों का निर्माता कहा और बाद में उसे भी 'अग्नि' का पूजक कहा। प्रारम्भ में ब्राह्मणों ने सत्कार पाने की इच्छा से इन बातों का प्रचार किया। जब उन्हें पर्याप्त लाभ न मिला तो पशुओं को भी सम्मिलित कर लिया, पशु बलि का प्रतिपादन किया तथा ब्राह्मणों के लिए अध्ययन, क्षत्रियों को राज्य, वैश्यों के लिए कृषि तथा शूद्रों के लिए सेवा का विधान बनाया। इस प्रकार के कार्यों के द्वारा ब्रह्मा ने अधर्म ही किया।

कलिं हिधीरानं कटमगानं, भवन्ति वेदज्भगता नरिट्ठ।
वेदा न ताणाय भवन्तिरस्य, मित्तद्दुन्नो यून हुनो नरस्य।
दहं न तप्पे असमत्थतेजो क्रो तं सुभिवखं दिरसज्ज कुरिया।

वेदाध्ययन धैर्यवान् पुरुषों का दुर्भाग्य है, मूर्खों का सौभाग्य है, वेदत्रय मृग-मरीचिका के समान है। मित्र द्रोही, जीवनाशक को वेद नहीं बचा सकते, द्वेषी अनार्य कर्मी आदमी को अग्नि परिचर्या नहीं बचा सकती, यदि वह अपने सारे धन और सारे भोग लकड़ी मांस को भी जला डालें तो भी इस भाग की तृप्ति नहीं होती।

काम का महत्व दोनों ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधाराओं में मिलता है यथा बौद्ध विचारधारा में 'इच्छा' के अधिकारी कामदेव का मार पाप्मा या मृत्यु का देव कहकर बड़ा विरोध किया गया है। मार शब्द का विशेष रूपेण वर्णन बौद्ध विचारधारा में प्राप्त होता है। त्रिपिटक में मृत्यु और इच्छा में भेद स्पष्ट है। संसार की सभी वस्तुएं नाशवान् हैं, और प्रत्येक वस्तु की सत्ता इच्छा पर निर्भर है। संसार का

---

8. जातक मग्ग 6, पृ० 243

शासक देव भी इच्छा तथा मृत्यु का देव ही कहा गया है। बौद्ध विचारधारा में भगवान् बुद्ध तथा उनके अनुयायी महात्मा पाप से संघर्ष करते हैं और इसे इच्छाओं के दमन द्वारा जीतते हैं और यह दमन मार मे युद्ध का रूप लेता है जोकि अन्त में पराजित करके भगा दिया जाता है और बुद्ध भगवान् उस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

पौराणिक आख्यानों में प्रमुखतया मार नरक का देव नहीं है। वह इच्छा तथा आकर्षण का देव है न कि न्याय और दण्ड का। यह यमराज का कार्य है। यह ब्राह्मण विचारधारा के प्रमुख देव यमराज वरुण के ही प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसी यमराज को ही बौद्ध विचारधारा में भी अपनाया गया है। सन्थक जातक में ब्राह्मण ने घी मिश्रित खीर अग्नि भगवान् को पिलाई। अग्नि भगवान् ने उसकी पर्ण कुटी जला दी तथा इस वर्ग में बुरे आदमी की मैत्री से बढ़कर बुरा कुछ भी नहीं है इस प्रकार के उदाहरण भी दिए गए हैं।

बौद्ध विचारधारा में विभिन्न नाम के नरकों का वर्णन है। अवीचि आदि का वर्णन विस्तार से दिया गया है। यह ब्राह्मण विचारधारा के समान ही है। भगवान् बुद्ध की आत्म तत्व के विषय में निश्चित धारणा है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर कुछ भी वस्तु शेष नहीं रहती। किन्तु ब्राह्मण विचारधारा में आत्म तत्व की स्वीकृति मुख्यरूपेण की गई है। क्योंकि उनमें दिवंगत आत्मा और पितरों, मृतों के लिए श्राद्ध करने तथा उनको सब प्रकार की वस्तुओं का समर्पण करना अनिवार्य है। किन्तु बौद्ध विचारधारा में इस विचारधारा के अनुरूप ही (प्रेत संसार) की स्वीकृति है जिसमें इस प्रकार की प्रेतात्माओं का वास है। इनमें दुष्कर्म करने वाले व्यक्ति ही जन्म लेते हैं, इनको महान् कष्ट होता है, ये किसी भी वस्तु को खा नहीं सकते, इनका मुख अतीव बारीक होता है तर्पण में कुशाग्र भाग से दिया गया जल ही इन्हें प्राप्त होता है। वे भोजन आदि वस्तुएं खाकर प्रसन्न होते हैं और इसकी प्रतीक्षा में दीवारों तथा देहलियों पर प्रतीक्षा करते हैं। किन्तु ये विचार बौद्ध विचारधारा के अनुकूल नहीं है।

कथा वत्थु[9] में स्पष्ट रूप से लिखा है कि इस जीवन का संसार में दी गई वस्तु से मृत व्यक्ति का कोई लाभ या कल्याण नहीं होता। पिटकों में भगवान् बुद्ध को सर्वद्रष्टा तथा पाप रहित अंकित किया है किन्तु ईश्वर होने का वर्णन कहीं नहीं है। पश्चात्-कालीन युग में भगवान् बुद्ध तथा बोधिसत्वों की स्वीकृति हुई। प्रथम संगीति के काल तक भगवान् बुद्ध का देवों को निर्देश देते हुए तथा उनके द्वारा पूजित होने के वर्णन हम प्राप्त करते हैं। वस्तुतः भगवान् बुद्ध को देव तथा मनुष्य इस कारण नहीं कहा जा सकता कि वह इन दोनों से बढ़ कर है। यह विचारधारा वृद्धिंगत होते ही बुद्ध को देवाधि देव कहने लगे। इस प्रकार उन्हें शिव तथा विष्णु के तुल्य ही घोषित किया

9. हिन्दूइज्म, भाग—,पृ० 339

गया । लोकोद्धार हेतु समय-समय पर अवतरण होता है यह विचारधारा भगवान् बुद्ध से पूर्व की है कि महापुरुषों का जन्म इस प्रकार होता है । इनमें 32 प्रशस्त चिह्न होते हैं । ये या तो चक्रवर्ती राजा या उच्च कोटि के महापुरुष होते हैं । इस प्रकार बुद्ध के जन्म के समय भी ऐसे हीं विचार उनके लक्षण देखकर कतिपय भविष्य वक्ताओं ने किए ।

बुद्धके पूर्व भी छः बुद्धों का वर्णन पिटक ग्रन्थों में लभ्य है । यथा विपस्सी, सिक्खी, वेरुण, ककुसन्ध, कोणागमन, कस्सप । इनमें अन्तिम तीन का ऐतिहासिक महत्व भी है । चीनी यात्री फाह्यान[10] जिसने 405, 411 ए०डी० में भारत यात्रा की और बुद्ध के जन्म स्थानों को देखा और कहा (देवदत्त) कश्यप के अनुयायी अब भी प्राप्त हैं । गौतम ने विपस्सी का वर्णन दीर्घ निकाय में दिया है जो उसकी विचारधारा के अनुकूल है ।

पौराणिक आख्यान के रूप में भगवान् बुद्ध के जन्म लेने का आख्यान सुन्दर प्रकार से वर्णित किया गया है कि किस प्रकार से वे तुषित लोक से अवतरित होकर माता के गर्भ में प्रविष्ट हुए, तथा सात दिन में उनकी माता की मृत्यु हुई तथा उन्होंने खड़े रहकर जन्म दिया । इनमें माता की मृत्यु का ऐतिहासिक तथ्य है कि गौतम बुद्ध की माता शीघ्र सात दिन में ही मर गई शेष महापुरुष तथा पूर्व बुद्धों की गाथा से घटित है । कथा जेतवन में भिक्षुओं के मध्य रुचिपूर्ण ढंग से कही गई है । इससे पूर्व के ग्रन्थों में सात बौद्धों का तथा बुद्धवंश एवं जातकों में पच्चीस बुद्धों का वर्णन प्राप्त होता है । चौबीस तीर्थ-कंर जैनों के और चौबीस विष्णु के अवतार इन पूर्व बुद्धों के वर्णन में भगवान् बुद्ध के जन्म, स्थान, कार्य आदि का वर्णन है तथा गुरु जिससे ज्ञान प्राप्त किया तथा अग्रिम जन्म में बुद्ध होने का आश्वासन । इन पूर्व बुद्धों की कथाओं का उद्देश्य बुद्धों के विषय में कथा की जानकारी देने का है इनमें गौतम बुद्ध का बोधिसत्व के रूप में चरित्र चित्रण करना प्रधान लक्ष्य रहा है । यह दीपंकर के समय में शुरू होता है जबकि दीपंकर के गन्दी जगह पर उतरने के लिए सुमेध स्वयं लेट जाता है और दीपंकर उसे बुद्ध होने का आश्वासन देते हैं । यह परिनिधान तथा बुद्ध होने की प्रतिज्ञा कहलाती है ।

बौद्ध विचारधारा अद्भुत कृत्यों से आपूरित नहीं है । इसमें विस्मयावह घटनाएं घटित नहीं हैं । उन्हें सामान्य मानव के अन्तस्तल की अनुभूतियों का ध्यान के द्वारा ज्ञान था । पिटकों में भगवान् बुद्ध को संसार की पूर्ण जानकारी से युक्त दर्शाया है और वे स्वेच्छा से कहीं भी आ जा सकते थे । जब हम उन्हें सर्वद्रष्टा सर्वव्यापक

10. हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज़्म, वा०—1, भाग—2, पृ० 342
11. मज्झिम निकाय, पृ० 123

सर्वज्ञ कहते हैं तो यह उचित ही है। उन्होंने मनुष्य को मुक्ति का मार्ग दिखाकर मानव मात्र का हित किया। ब्राह्मण विचारधारा में देवों की पूजा, उनके लिए स्तवन, यज्ञ कृत्यों का नियमित विधि विधान से करना और उसके बदले में भौतिक उपलब्धियों सुखों का पाना। राम तथा कृष्ण शौर्य के देवता माने गये हैं। राम ने रावण का वध किया। कृष्ण ने अपनी कनिष्ठिका पर गोवर्धन पर्वत धारण किया, कंस आदि का वध किया। बौद्ध ग्रन्थों में पुराणों जैसी गाथाएं नहीं हैं। पिटकों में गम्भीरता तथा यथार्थता का वर्णन है। उनमें सौगत (महावीर) के दिव्यशक्ति प्रदर्शन का वर्णन है जिनमें वायु में उड़ना तथा शिष्य समूह के मस्तिष्क को अपने उपदेश के अनुकूल बनाना है जो कि प्राचीन तथा विश्वसनीय प्रतीत होता है।

किन्तु भगवान् बुद्ध के पास ऋद्धियां, सिद्धियां, इद्धियां थीं। ऋद्धि प्रातिहार्य थी किन्तु इनके प्रदर्शन को वे उचित नहीं मानते थे और न इनका अपने ध्यान मार्ग से कोई सम्बन्ध ही समझते थे। प्रारम्भिक स्थिति में बौद्ध धर्म में देवों की स्थिति पर कुछ भी आश्रित न था तथा यज्ञ द्वारा उनकी सहायता का सर्वथा विरोध ही किया जाता था। किन्तु पश्चात्कालीन बौद्ध विचारधारा में एक बड़ा परिवर्तन आया जबकि देव मानवों की मात्र सुरक्षा की अपेक्षा मुक्ति में व्यावहारिक सहयोग देने लगे तथा वैदिक देवों के व्यक्तित्व सुस्पष्ट हो गए और वे दार्शनिकों को महत्वपूर्ण लगने लगे जो कि धर्म गुरुओं और दार्शनिकों को सत्य का निर्देश कर सकें और सुख का मार्ग भी दर्शा सकें इसका प्रभाव यह हुआ कि बौद्ध विचारधारा में बोधिसत्वों के समूह का उदय हुआ। जब भगवान् बुद्ध ने मगध तथा कौशल में उपदेश दिया था उस समय देवों ने इतना महत्व नहीं प्राप्त किया था। किन्तु धर्म का देवों से अल्प ही सम्बन्ध था क्योंकि दार्शनिक विचारधाराओं में अस्पष्टता थी। अनेक स्थलों पर बुद्ध के समक्ष देव, इन्द्र, ब्रह्मा का वर्णन है जोकि शिष्य की भांति उनके समक्ष बैठते हैं बुद्ध उन पर हंसते हैं तथा वे उनमें पूर्ण सत्य तथा सुख[12] देने की क्षमता का भी अभाव आंकते हैं। यथा महायान विचारधारा में धरणियों का विस्तार पूर्वक वर्णन है। धरणी मन्त्रों की भांति है। ये तांत्रिक मंत्र हैं जिनमें आश्चर्य युक्त अक्षर हैं। किन्तु मंत्रों में दैविक पूजा का विषय है जबकि धरणी व्यक्तिगत प्रयोग के लिए होती है जिनमें व्यक्ति की आपदाओं का निराकरण तथा सौभाग्य और सुख की प्राप्ति का उद्देश्य होता है। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने प्रथम संगीति में धरणियों के संग्रह[12] की पुस्तक का त्रिपिटक अभिधान से उल्लेख किया है। दीर्घ निकाय में भी देवों के अधिपति का भगवान् बुद्ध के समक्ष जाकर उनके शिष्यों को आपदाओं से दूर रहने के लिए निवेदन करने का वर्णन मिलता है।

12. हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, पृ० 332,33

(ख) ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त पौराणिक आख्यानों का उन पर प्रभाव

ये आख्यान[13] अपनी व्याख्या तथा उदाहरणों से देवों के स्वभाव, गुण तथा चरित्र का वर्णन करके मानव को उनसे अपने संबंध स्थापित करने की प्रेरणा देते हैं। पूजा करने से पूर्व उस देव के गुणों का ज्ञान पूजा विधि में सहायता देता है। ग्राम्य गाथा और पौराणिक आख्यानों में अधिक भेद नहीं है क्योंकि प्राचीन तथ्यों को विशद करने में ग्राम्य गीतों, कथाओं दोनों का महत्व समान है। इस प्रकार इन आख्यानों का ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा में समान ही महत्व तथा प्रभाव प्राप्त होता है। बौद्ध विचारधारा में उनका रूप परिवर्तित मिलता है। ब्राह्मण विचारधारा के देव तथा आख्यानों का उद्देश्य भिन्न है। बौद्धों की विचार-धारा में प्राचीन विषयों के प्रति वे रुचि नहीं लेते अपितु अपनी विचारधारानुयायियों की सहायता तथा सत्य के सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिए वे तत्पर रहते हैं। बौद्धों के पौराणिक आख्यानों में जातक, ग्राम्य गीत, प्राचीन हास्य, मनोविनोद तथा विषादान्त वर्णन तथा बुद्ध के पूर्व जन्म, उनके परिवार तथा शत्रुओं के वर्णन से ये आख्यान आपूरित हैं। ये आख्यान मात्र आभूषक तथा शिक्षाप्रद ही हैं। देव अच्छा करें या अच्छा भाग्य देवें। इसमें निर्वाण का कोई सम्बन्ध नहीं है किन्तु ब्राह्मण आख्यानों, कृष्ण के आख्यानों यथा गीता में देवों का महत्व कृष्ण की अपेक्षा न्यून है तथा वे एक प्रभु सत्ता के अंश हैं। यथा उपासकों के विषय में गीता में कहा है कि विभिन्न देवों के उपासक उन उन रूपों में देवों को प्राप्त करते हैं और मेरे उपासक मुझे ही प्राप्त करते हैं। वहां सात्विक, राजस तथा तामस प्रकृति सम्पन्न व्यक्तियों का वर्णन है। बौद्ध आख्यानों में इन्द्र, शत्रुहंता न होकर पावनात्मा बुद्ध का समकक्ष है। वह पुराणों में अनेक स्थलों पर धर्म तथा गुणों के संरक्षक के रूप में तथा जब कोई पावनात्मा कष्ट में होता है तो उसका सिंहासन गर्म हो जाता है इत्यादि। किन्तु पिटकों में इन देवों को प्रकृति के अधिष्ठाता देव परमात्मा के रूप में कहीं भी स्वीकृत नहीं किया है। एक बार बक ब्रह्मा के भ्रम का निराकरण, भगवान् बुद्ध ने किया जबकि वह अपने स्थान ब्रह्मलोक[14] को नित्य, ध्रुव, शाश्वत तथा अच्युत धर्मा है जहां से न च्युति होती है, यह न जन्मता है, न जीर्ण होता है, न मरता है, न उपजता है, इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है, मात्र जानता था।

भगवान् बुद्ध ने उस वक ब्रह्मा के मन की इस विचारधारा को जान ब्रह्म लोक में

13. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स, भाग—9, पृ० 118-20
14. ब्रह्म निमन्तनिक—सुत्त, मज्झिम निकाय सं० 49, पृ० 198

प्रकट हो कहा—बक ब्रह्मा—'अविद्या में पड़ा है, अहो ! बक ब्रह्मा अविद्या में पड़ा है, जो कि अनित्य होने को नित्य कहता है, इससे आगे दूसरा निस्सरण होते हुए भी, इससे आगे दूसरा निस्सरण नहीं है—कहता है ।

किन्तु मार ने ब्रह्मपार्षद के भीतर प्रविष्ट हो मुझ से कहा—भिक्षु मत इन ब्रह्मा का अपमान करो । यह ब्रह्मा है, महा ब्रह्मा, अभि भू (विजेता), अनभिभूत, सर्वदर्शी वशवर्ती, ईश्वर सृष्टि कर्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्रष्टा, वशीभूत भव्य के पिता हैं । तुम्हारी जितनी आयु है, उतना उनका केवल तप कर्म है । किन्तु मैंने पाप्मा मार को भी धिक्कार तथा ब्रह्मा के ज्ञान से अपना ज्ञान विशेष है कहा—यथा ब्रह्मा । आभास्वर नामक देव काय है, जहां से च्युत होकर कि तू यहां उत्पन्न हुआ है, चिरकाल से यहां निवास से तुझे उसका स्मरण नहीं । उसे तू नहीं जानता, देखता, किन्तु मैं उसे जानता देखता हूँ इसी तरह अभिज्ञा (ज्ञान) में मैं तेरे बराबर नहीं बढ़ जल कर हूँ । शुभकृत्स्न नामक देवकाय तथा बृहत्फल नाम देव काय भी है । मैंने पृथ्वी, आदि तत्वों को उनके रूपेण जान कर उन्हें पकड़ा नहीं । निर्वाण को प्राप्त हुआ हूँ । ब्रह्मा को दृढ़ मनोबल लगाने पर भी गौतम अन्तर्धान न कर सका किन्तु श्रमण गौतम ने ब्रह्मा, ब्रह्म परिषद, ब्रह्म पार्षद मेरे शब्द को सुनते थे, किन्तु मुझे देखते न थे, तब अन्तर्धान हुए मैंने यह गाथा कहीं—"भव में भय देखकर और भय को विभव का इच्छुक देख मैंने भय का स्वागत नहीं किया, और नदी (तृष्णा) को नहीं स्वीकार किया ।

ज्ञानोपलब्धि के अवसर पर देवों को हर्षातिरेक किन्तु काम देव 'मार' को विद्वेष हुआ उसने विघ्न करने प्रारम्भ कर दिए यथा—प्रथम देवदत्त को बुद्ध के राज्य सिंहासनोपलब्धि का समाचार मिला, पुनः भयंकर तूफान तथा वर्षा से गौतम को उद्वेलित किया, तीर, चट्टानें, कोयले का जलन आदि हुए किन्तु बुद्ध अचल रहे । अन्त में मार ने अपनी तीन कन्याओं को भेजा—असन्तोष, हर्ष तथा तृषा के द्वारा रात्रि भर आकर्षण का प्रयत्न जारी रहा किन्तु गौतम प्रभावित नहीं हुए । चार बार सात-सात दिन तक उपवास करते हुए तथा गम्भीर ध्यान के माध्यम से उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त कर लिया । उसकी प्राप्ति के उपरान्त 'मार' स्वयं ही विजित हो गया ।

बुद्ध गौतम प्रारम्भ में उपदेश की गम्भीरता को देख तथा व्यक्तियों की काम रति की भावना देख उदासीन हुए किन्तु सहम्पति ब्रह्मा के उपदेश की प्रार्थना करने पर उन्होंने यह कार्य आरम्भ किया ।

बौद्ध विचारधारा का मध्यम मार्ग प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि बौद्ध उपदिष्ट सिद्धान्त विष्णु के नवे अवतार के द्वारा उपदिष्ट मार्ग इनके पूर्व अवतारों से भिन्न हैं । इनके विचार न तो कठोर तप त्याग के पक्ष में हैं न प्रवृत्ति मार्गी ही । किन्तु इस अंश में पौराणिक आख्यानों का महत्व कम है अपितु इनके उपदेशों को

आख्यानों से आवृत कर दिया। भगवान् विष्णु के नवम[15] अवतार के रूप में ब्राह्मण विचारधारा में स्वीकार कर लिया गया है किन्तु उनकी विचारधारा में पर्याप्त भिन्नता है यथा[16] वे ब्राह्मण विचारधारा की देवत्रयी ब्रह्मा, विष्णु, महेश सृजन पालन तथा संहारक तीनों देवों को भी मानव की तरह विनाशशील स्वीकार करते हैं तथा मानव के जाति द्वारा प्रतिपादित धर्मों में उन्हें आस्था नहीं थी तथा नरक एवं स्वर्ग पृथ्वी पर ही है एक सुख की स्थिति है अन्य दुःख की। यज्ञों का कोई महत्व नहीं है व्यक्ति को अज्ञान से मुक्ति ही प्राप्तव्य है।

ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त पौराणिक आख्यानों के प्रभाव को हम बौद्ध विचारधारा में इन रूपों में प्राप्त करते हैं

1. पुर्नजन्म
2. कर्म
3. पाप-पुण्य
4. स्वर्ग तथा नरक

भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण विचारधारा के आत्मा के सिद्धान्त को न मानते हुए भी पुर्नजन्म तथा कर्म को पूर्णतया स्वीकृत किया है और उन्होंने अगले जन्म का आधार इस जन्म के कर्म तथा अन्तिम समय की तृष्णा को ही बताया है। ये दोनों विचार ब्राह्मण विचारधारा में पूर्णतया विकसित रूप में प्राप्त होते हैं। पाप और पुण्य, स्वर्ग और नरक सम्बधी संकेत भी बहुश: त्रिपिटक साहित्य में प्राप्त होते हैं। पुनर्जन्म के विषय में मज्झिम निकाय के महातण्हासंखय सुत्त में भिक्षुओं को उपदेश

15. The Budha relvealed by this doctrins is clearly very different from that portrayed as the ninth avatar of Vishnu, for his teaching is that neither asceticism nor indulgence is the path to enlightement. But this part of Budha's life hardly belongs to mythology; it is, however, the core round which the specifically Budhist mythology was constructed.

16. The three supreme gods of the Hindus were therefore just ordinary mortal beings on a par with men. The doctrine of samsara and the associated idea that men should follow their caste had no validity, for death was no more than peaceful sleep and annihilation, heaven and hell existed only on earth, the one being pleasure and the other bodily suffering. Sacrifices were of no value, for the only true blessing was the individual's release from ignorance.

इंडियन माइथालोजी, वैरोनिका आओन्स, पृ0 133, 72

करते हुए भगवान् ने अपने धर्म के विषय में कहा कि मैं तुम्हें समयान्तर में नहीं तत्काल यहीं दिखाई देने वाले, विज्ञों द्वारा अपने आप में जानने योग्य धर्म को समझाता हूँ कि तीन के एकत्रित होने से गर्भ धारण होता है—माता और पिता एकत्र होते हैं किन्तु माता ऋतुमुखी नहीं होती और गन्धर्व उत्पन्न होने वाला चेतना प्रवाह उत्पन्न होता, तो गर्भ धारण नहीं होता। माता-पिता एकत्र होते हैं, माता ऋतुमती होती है किन्तु गन्धर्व उस्थित नहीं होता तो भी गर्भ धारण नहीं होता। जब माता-पिता एकत्र होते हैं, माता ऋतुमती होती है और गन्धर्व उपस्थित होता है, इस प्रकार तीनों के एकत्र होने से गर्भ धारण होता है तब उस गुरु भार वाले गर्भ को बड़े संयम के साथ माता अपनी कोख में नौ व दश मास धारण करती है तब वह उस जात को अपने ही लोहित से पोसती है। आर्यों के मत में यह लोहित खून ही है जोकि यह माता का दूध है। प्रथम दो बातों में ब्राह्मण धर्म की समानता है तीसरी बात में भी कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि ब्राह्मण धर्म में गन्धर्व के स्थान में जीव के प्रवेश की चर्चा है। गन्धर्व को हम स्पष्ट रूप से जीव नहीं मान सकते क्योंकि बौद्ध विचारधारा में गन्धर्व के लिए अन्तर्भाव का भी अभिधान दिया गया है। बौद्धों में ही कतिपय स्कन्धों के मरण भाव के पश्चात् एक अन्तर्भाव को उदित होता हुआ स्वीकार करते हैं यह अन्तर्भाव ही जीव भाव को जन्म देता है। अन्तर्भाव के अपने अनुरूप जीव भाव की प्राप्ति के लिए बौद्धों ने उसी कर्मवाद के सिद्धान्त का सहारा लिया है उनका कथन है कि अन्तर्भाव स्कन्धों के मरणाभाव कर्म जन्य संस्कार उपलब्ध करता है और कर्म जन्य संस्कारों के अनुरूप ही यह पुनर्जन्म या जीवाभाव की उपलब्धि करता है। अतः ब्राह्मण विचारधारा के कर्म-वाद के सिद्धान्त को पूर्णरूपेण इसी के अनुसार ही स्वीकार किया गया है यथा आत्मा को प्रत्यक्ष रूपेण ब्राह्मण विचारधारा वाले भी नहीं दर्शा सकते उसी प्रकार यह गन्धर्व या अन्तर्भाव भी अदृश्य ही है। केवल शब्दों का परिवर्तन ही है सिद्धान्त ब्राह्मण धर्म के अनुकूल ही है।

बौद्धों में कतिपय इस उपर्युक्त विचारधारा का विरोध भी करते हैं वे अन्तर्भाव के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि स्कन्ध मरण भाव को प्राप्त होते हैं। तुरन्त ही अपने कर्म के अनुसार पुनर्जीव भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इसी अर्थ में बौद्धों को पुनर्जीववादी कहा गया है। इस विचारधारा में भी ब्राह्मण विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव—जोंक[17] के दृष्टान्त को ही ले सकते हैं। जैसे एक जोंक एक तिनके को तभी छोड़ती है जब कि उसे दूसरा सहारा मिल जाता है अर्थात् वह तत्काल जन्म ले लेती है। यही धारणा बौद्धों ने भी स्कन्ध के मरण के तत्काल बाद जन्म लेने से व्यक्त की है।

17 बृ० उ०, 4।4।3

कर्मः—ब्राह्मण विचारधारा में यथा कर्म यथा श्रुतं के अनुसार प्राणी मात्र को नूतन जन्म प्राप्त होता है किन्तु उसे प्राप्त कराने में ब्राह्मण विचारधारा में एक प्रधानभूत शक्ति ईश्वर या ब्रह्म को माना गया है जबकि बौद्ध विचारधारा में केवल कर्मवाद ही इन सब का प्राण है। वे ईश्वरवाद में आस्था नहीं रखते उनका पुनर्जन्म कर्मज ही है। उनकी दृष्टि में कर्मों के भी दो भेद हैं।

चेतना और चेतयित्वा[18]—चेतना से आशय मानस कर्म से है और चेतयित्वा चेतनाकृत कर्म को कहा गया है इस चेतयित्वा के भी दो प्रकार हैं कायिक तथा वाचिक। इन तीनों प्रकार के कर्मों की सिद्धि आश्रय, स्वभाव तथा समुत्थान के अनुसार मानी जाती है। आश्रय के आधार पर कर्म एक ही ठहरता है। स्वभाव के अनुसार तो वाक् कर्म ही अकेला रह जाता है और समुत्थान की दृष्टि से केवल मानस कर्म मात्र अवशिष्ट रहता है इस प्रकार काय, वाक् और मनस् इन तीनों दृष्टियों से स्वतंत्र रूपेण विचार करने पर कर्म का आश्रय क्रमशः इनमें से प्रत्येक अलग और निरपेक्ष प्रतीत होता है।

जागतिक वैषम्य वैचित्र्यका ही आधार भी कर्म ही है इस वैचित्र्य का कारण कर्म ही है बौद्धों ने भी इस वैषम्य का कारण कर्म और ब्राह्मण विचारधारा में भी कर्म ही किन्तु बौद्धों ने अपने प्रतीत्यसमुत्पाद कारण कार्य के सातत्य को ही माना है जो सर्वप्रकारेण स्वीकार्य ही है उसे चाहे किसी भी रूप में माने फल तो पूर्व कर्मों के हैं ही। मनुष्य को जैसे चित्त और कर्म होते हैं वैसे ही फल उसको मिलते हैं। कुशल कर्मों के फलस्वरूप स्वर्गादि और अकुशल धर्मों के फलस्वरूप नरक की प्राप्ति होती है।

पाप-पुण्यः—बौद्धों की पाप पुण्य सम्बन्धी धारणा कर्म पर आधारित है। उनका विश्वास कर्मवाद में पूर्णतया था वे इस विषय में दृढ़ आस्थावान् थे कि जो जैसा कर्म करता है उसे दूसरे जन्म में वैसे ही फल मिलते हैं। उन फलों की प्राप्ति से किसी को मुक्ति नहीं हो सकती। बौद्ध लोग कार्य कारण का सातत्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं अतः सत्कर्मों का अच्छा फल और दुष्कर्मों का दुष्परिणाम होना स्वभाविक ही नहीं वे इसे अनिवार्य मानते हैं।

प्रश्न अच्छे और बुरे कर्मों के निर्धारण का है वैसे तो ब्राह्मण विचारधारा में उन सभी कर्मों को जिनसे प्राणी मात्र का हित सम्पादन हो, विषयों से विरति हो सत्-कर्म अभिधान के अन्तर्गत लिया है। ऋग्वेद में ऋत के विरोधी पाशबद्ध होते हैं। किन्तु बौद्धों के यहाँ सृष्टि की एक विशेष नैतिक व्यवस्था है वस्तुतः इस नैतिक व्यवस्था का उल्लंघन ही पाप भागी और नैतिक व्यवस्था में योगदान पुण्य भागी बनाने वाले कार्य हैं। उस अखण्ड नैतिक व्यवस्था का वे रूप सुव्यवस्थित अथवा

18. बौद्ध धर्म और दर्शन, आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० 251

मूर्त रूप नहीं दे सके अधिक स्पष्ट न होने पर भी उनकी धारणा है कि जो कर्म निर्वाण की उपलब्धि में सहायक हो वे ही पुण्य कर्म हैं और जो इसमें बाधक हों वे पाप कर्म हैं। वस्तुतः वे मानव जीवन को अपने आर्य अष्टांगिक मार्ग के अनुशीलन तथा चार आर्य सत्यों के अनुपालन में इतना कठोर तथा उग्र रूप देना चाहते थे कि इनका उल्लंघन ही पाप है। उनके विचार में मानव मात्र का चरम लक्ष्य चार आर्य सत्यों को सम्यक्तया अवगत कर अनुसन्धान कर तदनुकूल आचरण करते हुए निर्वाण उपलब्धि के मार्ग में चलते रहना है। चार आर्य सत्यों में दुःख, समुदय, निरोध दुःखगामिनी प्रतिपद् का ही ज्ञान है। जिसके लिए आष्टांगिक मार्ग के अंग—सम्यक् दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीविका, व्यायाम, स्मृति और समाधि है। प्रथम दो सम्यक् दृष्टि तथा संकल्प प्रज्ञा से सम्बद्ध है तथा वाक कर्मान्त तथा आजीविका का सम्बन्ध शील से और अन्तिम तीन का व्यायाम स्मृति, और समाधि का सम्बन्ध समाधि से है अतः प्रज्ञा शील और समाधि के अनुशीलन से ही जो कर्म किए जाय वे पुण्य हैं और वे निर्वाण में सहायक होने से पुण्य इनके विपरीत कर्म निर्वाण में बाधक होने के कारण पाप की कोटि में रखे गए हैं।

स्वर्ग—नरक—दोनों विचारधाराओं में स्वर्ग तथा नरक की स्थिति स्वीकार की गई है क्योंकि दोनों कर्म पर पूर्ण विश्वास करते हैं। ब्राह्मण विचारधारा में तो स्वर्ग, ब्रह्म लोक के जाने के दो मार्ग देवयान तथा पितृयान का विवेचन हम पहले कर चुके हैं इस कारण से ब्राह्मण विचारधारा में स्वर्ग की स्थिति सुदृढ़ है और स्वर्ग में श्वेत, उज्ज्वल, कान्ति का प्रभाव है। बौद्ध भी तुषित लोक का वर्णन करते हैं उनका विश्वास है कि बोधिसत्व ही बुद्ध का अवतार ग्रहण करते हैं और वे तुषित देवलोक में रहते हैं। भगवान् बुद्ध का भी पूर्व जन्म वास तुषित लोक में बतलाया है और वहीं से अवतरण का भीवर्णन है।

यथा ब्राह्मण विचारधारा के पुराणों में अनेक नरकों का वर्णन मिलता है उसी प्रकार यह धारणा परवर्ती बौद्ध विचारधारा में प्राप्त होती है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में नरक का कहीं स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता—

अंगुत्तरनिकाय[19] में निम्न प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है। नरक के राजा यम पापियों को नरक के संरक्षणों को सौंप देते हैं। ये संरक्षण जलते हुए लोहे की शलाका से पापी के चारों हाथ पैरों को तथा हृदय को भेदन करते हैं। वे कुदाल से उसका सिर काटते हैं वे उसके सिर को जलती हुई कुम्भी में फेंक देते हैं वे उसे महा-नरक में डाल देते हैं। इसका विकसित रूप पेतवत्थु की टीका में मिलता है इसमें पांच प्रकार की ग्रन्थियों का उल्लेख है। वे क्रमशः खौलते हुए ताम्र का सिंचन, जलते हुए कोयलों के पहाड़ का आरोहण, लोह कुम्भी में पतन, तलवार की पत्तियों

19. अंगु० नि० 2।248

के वृक्षों के जंगल में प्रवेश, वैतरणी का संतरण और महान् नरक का पतन है । यह मज्झिम निकाय में भी आया है । जातक ग्रन्थों[20] में नरक सम्बन्धी धारणा स्पष्ट रूपेण मिलती है इस प्रकार[21] जातक की कथाओं में आठ भयानक नरकों का वर्णन किया गया है। जिनके नाम क्रमशः सजीव, कालसुत्त, संघट्ठ, रौरव, अग्नि का रौरव, धूम्र वाला अयन और अवीचि है इनकी भयंकरता का वर्णन तथा अन्य 16 छोटे-छोटे नरकों का वर्णन है । महावस्तु में नरकों की चर्चा पुराणों के अनुसार है ।

दीर्घ निकाय[22] में एकलोकतारिक नरक का भी वर्णन मिलता है जो तीन ब्रह्माण्डों के मध्य में स्थित है जो लोग अपने सम्बन्धियों और सत्पुरुषों के प्रति दुर्व्यवहार करते हैं वे उस नरक को प्राप्त करते हैं । सुत्त निपात[23] में भी पदुम नामक नरक में कितने दिन रहने को भगवान् बुद्ध से पूछा । इसमें 9 नरकों का वर्णन जो जातकों से भिन्न—निर्बुद्धि आदि हैं । ये भी भयानक यातनाओं से युक्त हैं ।

(ग) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

ब्राह्मण विचारधारा की पौराणिकता के विषय में विषय की दृष्टि से बौद्ध विचारधारा का प्रभाव प्रतीत होता है । ऐसा अनुमान हो सकता है कि ब्राह्मण पौराणिकता का विस्तार बौद्ध पौराणिकता की पृष्ठभूमि पर हुआ हो । इस धारणा में निम्नांकित तर्क उपस्थित किए जा सकते हैं कि वैदिक साहित्य में जिस देवतावाद का स्वरूप दृष्टिगत होता है पौराणिक साहित्य में उस रूप में प्राप्त नहीं होता । ब्राह्मण पौराणिकता तथा बौद्ध पौराणिकता में पर्याप्त समानता है । बौद्ध पौराणिकता का विकास सदूर पूर्व में हुआ होगा क्योंकि ब्राह्मण विचारधारा में आख्यान तो वेदों में भी प्राप्त होते हैं किन्तु पुराणों की रचना प्रथम शताब्दी के बाद की ही मानी गई है जबकि बौद्ध पौराणिकता हमें ईसा से पूर्व मिलती है ।

नरक स्वर्ग की प्राप्ति का श्रेय अच्छे बुरे कर्म को दिया गया है । यह भी कर्मवाद के ही सिद्धान्त पर आधारित है और कर्मवाद का प्रबल प्रचार तथा सर्वाधिक बल बौद्ध विचारधारा में दिया गया है उसी की सर्वमान्यता ही ब्राह्मण विचारधारा में औपनिषदिक काल में भी इस कर्म का प्रभाव अत्यधिक हुआ सम्भवतः लोक प्रियता बौद्ध विचारधारा के कारण आती है किन्तु कर्मवाद का सिद्धान्त बौद्धों के अनुकरण पर है यह न होकर ब्राह्मण विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव ही मानना

20. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड एथिक्स, भाग—11, पृ० 18,29,31
21. मज्झिम निकाय 3।183: दीर्घनिकाय 2।12
22. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एंड ऐथिक्स, भाग—11,पृ० 830
23. सुत्तनिपात 3।90

होगा। बौद्धों और ब्राह्मणों की स्वर्ग और नरक सम्बन्धी पौराणिकता में मौलिक भेद है। वह है कर्म सम्बन्धी—बौद्धों ने कर्म को ही महत्व दिया है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों ने कर्म के स्थान पर कर्मकाण्ड पर बल दिया है वे विभिन्न प्रकार के ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के द्वारा स्वर्ग प्राप्ति मानते हैं जबकि बौद्धों ने स्वर्ग की प्राप्ति अथवा मोक्ष निर्वाण जीव कृत सुकर्म के आधार पर ही माना है।

(घ) बद्ध वचनों में परलोक सम्बन्धी धारणाएं

बौद्ध विचारधारा[24] में सृष्टि दो प्रकार की मानी है। एक चिरन्तन तथा अचिरन्तन। इनका विश्वास पुनर्जन्म में भी है किन्तु इनकी यह धारणा ब्राह्मण विचारधारा से भिन्न है। इनकी विचारधारा में मृत्यु के समय सभी प्राचीन स्कन्ध नष्ट हो जाते हैं और उस व्यक्ति के जीवनकाल में किए गए कर्म नए स्कन्धों को जन्म दे देते हैं जिससे वह अग्रिम जन्म धारण कर लेता है। चार्ल्स इलियट[25] ने अपनी पुस्तक में जीवन के अन्तिम समय में उसके जीवन के सभी कर्मों के परिणामस्वरूप अग्रिम स्कन्धों का धारण होना माना है। वह जन्म[26] देवता, मनुष्य, पशु, प्रेत तथा नारकीय भी हो सकता है। नारकीय योनियां अत्यंत दुःखदायिनी होती है अन्य बौद्ध सम्प्रदाय प्रेतावस्था से भी निकृष्ट असुरावस्था की कल्पना करते हैं किन्तु[27] हीनयानी इस अवस्था में विश्वास नहीं करते। बौद्ध आत्मा जैसी कोई वस्तु शेष नहीं मानते प्राचीन स्कन्धों के विनाश पर नवीन स्कन्धों के जन्म को ही व्यक्ति का पुनर्जन्म कहा गया है।

भगवान् बुद्ध पुनर्जन्म की बात करते हैं बार बार यह कहते हैं कि उनका धर्म इस लोक और परलोक दोनों के सुख के लिए। (दिट्ठधम्मिकंचेव अत्थं सम्परायिकं चाति। उभौ अत्थ सुत्त। इतिवुत्तक में भगवान् ने चुन्द से कहा मैं ऐहिक और पारलौकिक दोनों सुखों के लिए उपदेश करता हूँ।दीर्घ निकाय के पासादिक सुत्त में कहा है कि जिसके पाप कर्म नष्ट हो गए हैं वह इस लोक और परलोक दोनों को साधता है इसी के सिगालवाद सुत्त में भगवान् बुद्ध अभौतिकवाद का विवरण करते हैं और पायासिराजज्ज्नसुत्त में पायासी राजन्य जो बुद्ध का समकालीन था और उसकी मिथ्या दृष्टि थी कि यह लोक भी नहीं, परलोक भी नहीं, जीव मर कर पैदा नहीं होते अच्छे बुरे कर्मों का कोई फल नहीं इत्यादि।

---

24. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एन्ड एथिक्स, भाग—11, पृ० 829
25. हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म भाग—1, पृ० 195
26. डिक्शनरी आफ पाली लेंगवेज संस्करण 1875में स्कन्ध की व्याख्या
27. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग—11, पृ० 829

इसकी तीन मुक्तियां थीं। मरे हुए व्यक्ति लौट कर कभी परलोक का समाचार सुनाने नहीं आते। धर्मात्मा आस्तिकों को भी करने की कभीं इच्छा नहीं होती यदि इस लोक में पुण्यों का फल स्वर्ग है तो क्यों आस्तिक व्यक्ति अपनी मृत्यु की कामना नहीं करता। तीसरा—मृतक शरीर से जीव के जाने का कोई भी चिह्न नहीं मिलता मरते हुए उसकी देह से जीव को निकलते किसी ने नहीं देखा जीव के निकलने से शरीर हल्का नहीं होता और भारी हो जाता है। उसे गौतम के शिष्य काश्यप ने परलोक की सत्ता पुण्यापुण्य कर्मों का फल जीव शरीर की भिन्नता को समझाया।

धम्मपद[28] में सुचरित धर्म का आचरणकर्ता इस लोक तथा परलोक दोनों में सुख पाता है। जो[29] पापी परलोक की चिन्ता नहीं करता उसके लिए कोई पाप अकरणीय नहीं है पाप[30] को इस लोक तथा परलोक दोनों में मल बतलाया गया है। ब्राह्मण के लक्ष्य को बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि इस लोक[31] तथा परलोक के विषय में जिसकी आशाएं नहीं रह गयीं हैं जो आशारहित तथा आसक्ति रहित है वही ब्राह्मण है। लालची[32] तथा जीव हिंसावादियों को परलोक में अन्धकार प्राप्ति का वर्णन है वे और उलटे सिर नरक में पड़ते हैं।

जिस श्रद्धालु[33] गृहस्थ में सत्य, धर्म, धृति और त्याग ये चार धर्म हैं, वह परलोक में पछतावा नहीं करता। इस प्रकार परलोक की मान्यता के अनेक उद्धरण उद्धृत किये जा सकते हैं। यहां स्वर्ग, तथा विविध नरकों का वर्णन पर्याप्त लभ्य है अतः बौद्धों की परलोक में दृढ़ आस्था का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है।

(ङ) ब्राह्मण विचारधारा की परलोक सम्बन्धी विचारधाराओं का उन पर प्रभाव

ब्राह्मण विचारधारा में परलोक सम्बन्धी विषय का पूर्ण विकसित रूप हमें उपनिषदों में ही प्राप्त होता है जैसा हम पहले वर्णन कर चुके हैं उसी रूप को संक्षेप में उद्धृत करते हुए बौद्ध विचारधारा पर प्रभाव दिखाने का प्रयास करते हैं। ईशोपनिषद् में मानव शरीर संसार समुद्र से तरने के लिए मिलता है जो व्यक्ति कामोपभोग में ही जीवन को बिता देते हैं और ईश्वर को समर्पण नहीं करते उनकी

---

28. धम्मचारी सुखं सेति अस्मिं लोके परम्हि च। ध० प० लोकवग्ग—3
29. वितिण्ण परलोकस्स नत्थि पापं अकारियं।(वही)—10
30. मला वै पापका धम्मा अस्मिं लोके परम्हि च। (वही) मलवग्ग—8
31. आसा यस्य न बिज्जन्ति अस्मिं लोके परम्हि च।(वही) ब्रा०व० 28
32. आमगन्धसुत्त—10, सुत्त निपात
33. आलबकसुत्त—8, सुत्त निपात

दुर्गति होती है चाहे वे कोई भी क्यों न हो उन्हे चाहे संसार में कितने ही विशाल नाम, यश, बैभव, अधिकार, पद प्राप्त हों। मृत्यु के पश्चात् उन्हें कर्म फल के अनुसार बार बार कूकर शूकर कीट पंतगादि शोक संतापपूर्ण योनियों[34] में जन्म लेना पड़ता है। अतः आत्म का हनन करने वाले मनुष्य मर कर असुरों के अज्ञानान्धकार क्लेश युक्त नरक लोक में जन्म लेते हैं। अज्ञानीअप्रबुद्ध मृत्यु के बाद असुरों के सूर्यहीन लोकों में जाते हैं। कठोपनिषद्[35] में दुःखदायिनी अनुपयोगी वस्तुओं के दान के नाम पर देना दान के ब्याज से अपनी विपद् टालना है और दान में देते हुए नचिकेता ने अपने पिता से कहा—जिन्होंने घास खाना छोड़ दिया है, जिनकी इन्द्रियाँ शिथिल हैं ऐसी गायों को दान में देकर अनन्दा नाम के नरक लोक की प्राप्ति होती है।

बृ०[36] उ० में ऐसे मनुष्य के मृत्यु के उपरान्त वायु लोक, सूर्य लोक जहां लम्बर नाम के बाजे के समान छिद्र मार्ग के उसे प्राप्त होने तथा ऊपर की ओर चढ़ते हुए चन्द्र लोक और पश्चात् में अशोक तथा अहिम (शारीरिक दुःख शून्य) लोक में पहुँचने का वर्णन है जहां वह ब्रह्मा के अनन्त कल्पों तक निवास करता है।

अन्तकाल[37]में जब प्राणी ऊर्ध्वोच्छ्वास होने लगता है तो सारे प्राण इस आत्मा के अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं। मुमुर्षु पुरुष की बुद्धि लिंगात्मा से एक रूप हो जाती है तो वह नहीं पहचानता, नहीं देखता इत्यादि शब्दों द्वारा मनुष्यों से कहा जाता है। उसके इस हृदय का अग्र (बाहर जाने का मार्ग) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है उसी से यह आत्मा नेत्र से, मूर्द्धा से अथवा शरीर के किसी अन्य भाग से बाहर निकलता है उसके उत्क्रमण करने पर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है। प्राण के उत्क्रमण करने पर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रिय वर्ग) उत्क्रमणकरते हैं उस समय वह आत्मा विशेष ज्ञानवान् होता है और विज्ञान युक्त प्रदेश को ही जाता है। उस समय उसके साथसाथ ज्ञान, कर्म, और पूर्व प्रज्ञा (अनुभूत विषयों की वासना) भी जाते है। उसका ज्ञान या कर्म आदित्य लोक की प्राप्ति का कारण होता है तो वह चक्षु द्वार से निकलता है। यदि ब्रह्मलोक की प्राप्ति का कारण होता है तो मूर्धा से निकलता है। इसी प्रकार अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार वह शरीर के अन्यान्य देश

---

34. असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ई० उ० 3
35. पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः
    अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ कठ०उ० 1.1.13
    अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। बृ० उ० 4।4।11
36. यदा वै पुरुषो ऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति—
    स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः ॥ बृ० उ० 5।10।1
37. अन्तकाले सर्वे प्राण अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोछ्वासी भवति। बृ०उ०4।3।38

या अवयवों से निकल जाता है । उस समय वह आत्मा विज्ञानवान्[38] होता है किन्तु यदि स्वतंत्र होता तो सभी कृतकृत्य हो जाते किन्तु ऐसा नहीं है वह अपने जीवन भर की वासनाओं से वासित रहता है इसीलिए तो गीता में भगवच्चिन्तन का महत्व है (सदा तद् भावभावित:) कहा गया है कि हृदय में सदा उसी भाव का चिन्तन करते रहने से उसी को प्राप्त होता है ।

इस प्रकार परलोक सेवी को योग धर्मों का सेवन, विवेक का अभ्यास, पुण्य का संचय, तथा उचित आचरण का सेवन और दुष्कर्म से दूर रहना चाहिए क्योंकि कर्म के द्वारा बाधित जीव की स्वतन्त्रता नहीं है वह पुण्य कर्म से पुण्यवान् और पाप कर्म से पापी होता है । परलोक गमन कर्ता आत्मा के साथ विद्या और कर्म सब प्रकार की विहित और प्रतिषिद्ध तथा अविहित और अप्रतिषिद्ध विद्या ही यहां विद्या है एवं विहित और प्रतिषिद्ध कर्म ही कर्म है ये विद्या और कर्म सम्यक् अन्वारम्भ अन्वालम्भन करते हैं तथा पूर्व प्रज्ञा पूर्वानुभव सम्बन्धिनी प्रज्ञा अर्थात् अतीत कर्म फलानुभव की वासना भी साथ जाती है । यह वासना ही अपूर्व कर्म के आरम्भ और कर्म विपाक में अंग होती है अत: यह भी उसके साथ हो जाती है उस वासना के बिना यह कर्म करने और उसकाफल भोगने में समर्थ नहीं होता क्योंकि जिस विषय का अभ्यास नहीं होता उसमें इन्द्रियों की कुशलता नहीं देखी जाती । जैसे किसी मनुष्य की विषयोपभोग में कुशलता रहती है किसी की विराग में, राग में—यह दक्षता सब पूर्व प्रज्ञा[40] के उद्‌बुद्ध और अनुबद्ध होने के कारण ही होती है इसलिए पूर्व प्रज्ञा के बिना किसी की भी कर्म या उसके फलोपभोग में प्रवृत्ति होनी सम्भव नहीं है ।

उस गमनकर्ता आत्मा का पाथेय ये विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा नामक तीन पदार्थ ही हैं क्योंकि विद्या, कर्म और पूर्व प्रज्ञा—ये देहान्तर प्राप्ति और उपभोग के साधन हैं इसलिए शुभ विद्या और कर्मादि का ही आचरण करे । इस प्रकार विद्यादि के भार से लदा हुआ देहान्तर को प्राप्त करने वाला जीव पूर्व देह को छोड़ कर वृक्ष से दूसरे वृक्ष को जाने वाले पक्षी के समान अन्य देह को प्राप्त करता है ।

स्वर्णकार केदृष्टान्त के अनुसार आत्मा इस शरीर को अचेतनावस्था को प्राप्त करा कर दूसरे पितर, गन्धर्व, देव प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य भूतों के नवीन और कल्पावतार रूप की रचना करता है । यह पुरुष[39] काममय है वह जैसी कामना वाला होता है वैसा ही संकल्प करता है जैसे संकल्प वाला होता है वैसा ही कर्म करता में जैसा कर्म करता है वैसा ही फल प्राप्त करता है ।

---

38. प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति ।बृ०उ०4।4।2
पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पाप: पापेनेति । बृ० उ० 3।2।13

39. काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते बृ।। ० उ० 4।4।5

वृहदारण्यकोपनिषद्[40] में स्पष्ट रूपेण यह वर्णित किया गया है कि अन्तकाल में प्राणों के उत्क्रतण समय सभी प्राण (इन्द्रियां) भी उत्क्रमण करती हैं और उस समय वह आत्मा विज्ञानवान् होता है और विज्ञान युक्त प्रदेश को जाता है। और स्वतंत्र होते हुए भी अपने कर्मों के द्वारा नीयमान धर्मानुकूल जन्म धारण करता है। इसी प्रकार बौद्ध विचारधारा में भी प्रयाण के समय विज्ञान तथा चार अन्य स्कन्ध होते हैं यथा—वेदना स्कन्ध, संज्ञा स्कन्ध, संस्कार स्कन्ध और रूप स्कन्ध जोकि विनष्ट हो जाते हैं और विज्ञान स्कन्ध ही अग्रिम जन्म में सहायक होता है। निष्काम[41], आप्तकाम, आत्मकाम व्यक्ति के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वह यहीं रहकर ब्रह्म को प्राप्त करता है। भगवान् बुद्ध ने भी अपने को ब्रह्मभूत कहा है उनके इस कथन में जीवन मुक्त की स्थिति स्पष्ट है।

पुनर्जन्म के सभी सिद्धान्त कर्म से प्रभवित हैं पूर्व जन्म के कर्मों का ही इसमें महत्व है इन्हीं कर्मों के अनुसार आत्मा अग्रिम जन्म पाता है। इसी प्रकार के विचार हमें हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म[42] में भी वर्णित प्राप्त होते हैं। बुद्ध के विचारों में सभी जीवन कष्टमय है और जब हम इस जीवन का क्रम बन्द होता है तभी स्वतंत्रता तथा सुख मिलता है। यही सुख बाद में इसी विचारधारा में स्वर्गिक सुख की कल्पना में बदल गया है। भगवान् बुद्ध के जन्म के विवरण में जातक निदान में परलोक की तथा पुनर्जन्म में आस्था का विशद वर्णन प्राप्त होता है जबकि वे अपने जन्म के लिए क्षत्रिय कुल तथा एक उच्च राजा का, आदर्श माता का चुनाव करते हैं। भगवान् बुद्ध ने अपनी प्रथम सम्बोधि में अपने पूर्व जन्मों का स्मरण किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं पूर्व जन्म में देवलोक, मृत्यु लोक तथा विभिन्न शूकर, शक्र आदि के रूप में रह चुका हूँ यह भावना ऋग्वेद में आए हुए वामदेव[43] के प्रसंग की स्मृति दिलाती है जबकि उन्होंने कहा है कि मैं गर्भ में रहते हुए पूर्व जन्मों को जान चुका हूँ और मैं ही पहले मनु इत्यादि था।

एक स्थल पर वात्सी पुत्रीय[44] ने प्रश्न करते हुए भगवान् बुद्ध से पूछा जब किसी व्यक्तित्व का अस्तित्व माना ही नहीं गया तब पुनर्जन्म किसका होता है किन्तु महात्मा बुद्ध ने कहा कि प्राणी जन्म लेते हैं। अविद्या के कारण तथा जीवन की इच्छा के कारण जैसे अग्नि एक जगह वस्तु को जलाकर शान्त हो जाती है और फिर दूसरी

40. वृ० उ० 4।4।2
41. वृ० उ० 4।4।6
42. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, वा०—2, पृ० 11
43. ऋ० 4।26।1,2,27।1
44. वही, पृ० 39

जगह जलाने लग जाती है इसी प्रकार जीवन की तृष्णा के कारण यह स्कन्ध शरीर धारण कर लेता है।

परलोक के वर्णन के प्रसंग सिगालोवाद[45] सुत्त में मिलते हैं जहाँ अच्छे कर्म से स्वर्ग की प्राप्ति का वर्णन किया गया है। बौद्धों पर प्रभाव प्रदर्शित करने में तृष्णा अथवा अन्तिम इच्छा का शोधन आवश्यक है जिसका वर्णन उन्होंने महातण्हा सुत्त में किया है। उन्होंने कहा, "भिक्षुओं! आर्य स्मृति सम्प्रजन्य से युक्त हो अपने में निर्मल सुख का अनुभव करो। वह इस आर्य-शील-स्कन्ध से युक्त, इस आर्य इन्द्रिय संवर से युक्त, इस आर्य स्मृति-संप्रजन्य से युक्त हो, एकान्त में अरण्य, वृक्ष-छाया, पर्वत, कन्दरा, गिरि-गुहा, श्मशान, वन-प्रान्त, खुले मैदान, या पुंजाल के गंज में वास करता है। वह भोजन के बाद आसन मार कर, काया को सीधा रख, स्मृति को सम्मुख ठहरा कर बैठता है। यह लोक में (1) अभिध्या को छोड़, अभिध्या रहित चित्त वाला हो विहरता है, चित्त को अभिध्या से शुद्ध करता है। (2) व्यापाद दोष को छोड़कर, व्यापाद-रहित चित्त-वाला हो सारे प्राणियों का हितानुकम्पी हो विहरता है, व्यापाद के दोष से चित्त को शुद्ध करता है। (3) स्त्यान-मृद्ध को छोड़ स्त्यान-मृद्ध-रहित हो, आलोक-संज्ञा वाला हो, स्मृति और संप्रजन्य से युक्त हो विहरता है। औद्धत्य कौकृत्य को छोड़, अनुद्धत भीतर से शान्त हो विहरता है। (5) विचिकित्सा को छोड़, विचिकित्सा रहित हो, निस्संकोच भलाइयों में हो विहरता है, विचिकित्सा से चित्त को शुद्ध करता है।

वह इन पाँच नीवरणों को चित्त से हटा, उपक्लेशों को जान, उनके दुर्बल करने के लिये, काम से अलग हो, बुराइयों से अलग हो, विवेक से उत्पन्न एवं वितर्क-विचार युक्त प्रीति सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहरता है। और फिर भिक्षुओ! वह वितर्क और विचार के शान्त होने पर, भीतर की प्रसन्नता चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर, वितर्क विचार रहित, समाधि से उत्पन्न प्रीति सुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त हो विहरता है। और फिर भिक्षुओ! वह प्रीति और विराग में उपेक्षा वाला हो, स्मृति और संप्रजन्य से युक्त हो, काया से सुख अनुभव करता विहरता है। जिसको कि आर्य लोग उपेक्षक, स्मृतिमान् और सुखविहारी कहते हैं, ऐसे तृतीय ध्यान को प्राप्त हो विहरता है। और फिर भिक्षुओ! वह सुख और दुःख के विनाश से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के पूर्व ही अस्त हो जाने से, दुःख सुख रहित और उपेक्षक हो, स्मृति की शुद्धता से युक्त चतुर्थ ध्यान को प्राप्त हो जाता है।

वह चक्षु से रूप को देखकर, प्रिय रूप में राग-युक्त नहीं होता, अप्रिय रूप में द्वेष युक्त नहीं होता, विशाल चित्त के साथ कायिक स्मृति को कायम रखकर विहरता है।

45. बु० च० 268

उस चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा की विमुक्ति को ठीक से जानता है, जिसमें कि उसकी सारी बुराइयां अकुशल धर्म निरुद्ध हो जाते हैं। वह इस प्रकार अनुरोध विरोध से रहित हो, सुखमय, दुःखमय, न सुख, न दुःखमय, जिस किसी वेदना को अनुभव करता है, उसका वह अभिनंदन नहीं करता, अभिवादन नहीं करता, अवगाहन कर नहीं स्थित होता इस प्रकार अभिनंदन न करते, अभिवादन न करते, अवगाहन न करते, जो वेदना विषयक नन्दी है, वह उसकी निरुद्ध हो जाती है। उस नन्दी के निरोध से उपादान का निरोध होता है। उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जाति का निरोध, जाति के निरोध से जरा-मरण, शोक रोने कांदने, दुःख दौर्मनस्य, हैरानी परेशानी का निरोध होता है। इस प्रकार इस सारे दुःख स्कंध का निरोध होता है। श्रोत्र से शब्द सुन कर, घ्राण से गंध सूँघ कर, जिह्वा से रस को चख कर, काया से स्प्रष्टव्य को छू कर मन से धर्म को जान कर प्रिय धर्मों में राग युक्त नहीं होता, अप्रिय धर्मों में द्वेष युक्त नहीं होता। इस प्रकार इस सारे दुःख स्कन्ध का निरोध होता है।

भिक्षुओ ! मेरे संक्षेप से कहे इस तृष्णा-संचय-विमुक्ति को धारण करो, केवट्ट पुत्त साति भिक्षु को तृष्णा के महाजाल=तृष्णा के महा-संघाट में फंसा जानो।"

बौद्धों के क्षणिकवाद का समर्थन भी हम ब्राह्मण विचारधारा से कर सकते हैं क्योंकि इनमें यहाँ संतति का रूप ही मान्य है। वैसे पदार्थों के दो प्रधान विभाजन हैं। इन्हें दृश्य और द्रष्टा कहा जाता है द्रष्टा किसी का दृश्य नहीं होता और दृश्य सदैव परिवर्तित होता रहता है द्रष्टा अपरिवर्तित, अलिंग तथा अव्यक्त है। प्रकृति, माया परिवर्तनशील है। मूलस्वरूप अव्यक्त में मोक्ष ही परिवर्तन का कारण है। परिवर्तन की स्थिति क्षणिक होती है जिसका आभास नहीं हो पाता। व्यवहार में स्थिर ही प्रतीत होते हैं यथा समुद्र की जल तरंग तथा दीपशिखा प्रति क्षण नयी होने पर भी स्थिर प्रतीत होती हैं उसी प्रकार पदार्थ भी सतत परिवर्तनशील है। वस्तुतः इस सदृश परिवर्तनशील स्थिति का ही नाम पदार्थ है। तात्विक दृष्टि से केवल सतत परिवर्तन या गति का ही आभास होता है। संसार के जितने भी पदार्थ हैं सभी का आरम्भ तथा अन्त है। जड़ पदार्थों में घडा, बना, टूटा पुनः मिट्टी पेड़ पौधों में पुनः इस प्रकार विश्व के सभी पदार्थ बिगड़ बिगड़ कर नए बन जाते हैं। यहाँ कवि कालिदास का कथन ठीक है " मरणं प्रकृति शरीरिणां विकृति र्जीवन-मुच्यते बुधैः। "

उपर्युक्त विवेचन में द्रष्टा तथा दृश्य दो पदार्थों का वर्णन हुआ किन्तु एक पदार्थ "जीव" ऐसा है जो इनसे भी विलक्षण है। द्रष्टा सभी धर्मों का प्रकाशक है। उसका दृश्य के धर्मों से कभी कोई सम्बन्ध नहीं होता तथापि अविवेकवश उसमें उन धर्मों के सम्बन्ध की भ्रान्ति होती है जैसे फिल्म के पर्दे का फिल्म से कोई सम्बन्ध नहीं किन्तु

बिना पर्दे के उसकी प्रतीति भी नहीं। समवलय की स्थिति का वर्णन बृ०[46] उ० में प्राप्त होता है कि जहां ज्ञानी व्यक्ति के प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। (न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते) अर्थात् उस आत्मा का उत्क्रमण नहीं होता, विज्ञान ही प्रमाण है वह यहीं परमात्मा में लीन हो जाता है। यह समवलय की स्थिति ही मुक्ति है। भगवान् बुद्ध[47] ने कहा है जिसकी इन्द्रियां सारे संसार में भीतर और बाहर वश में हैं, इस लोक तथा परलोक को जानकर मृत्यु की अपेक्षा करता है, संयमी, दांत है।

46। वृ० उ० 4।4।2

47. यस्सिन्द्रियानि भावितानि —निब्बिज्ज इमं परं च लोके। सभिय सुत्त-7, सुत्तनिपात

दशम अध्याय

(क) बुद्ध वचनों में भगवान् बुद्ध की मौलिक देन

(ख) ब्राह्मण विचारधारा के प्रकाश में उन देनों की समीक्षा

(ग) बुद्ध वचनों में जीवन दर्शन से सम्बन्धित सामग्री

(घ) ब्राह्मण विचारधारा में वर्णित जीवन दर्शन सामग्री का उस पर प्रभाव

(ङ) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

बुद्ध वचनों में भगवान् बुद्ध की मौलिक देन

षड्गुण जारित गन्धक के समान।
षड्गुण संभृत सारभूत देन।

(1) आत्मदीप[1]	—	स्वयं ही अपना मार्गदर्शक (दीपक)
(2) आत्मशरण	—	स्वावलम्बी
(3) अनन्य शरण	—	अपरावलम्बी
(4) धर्मदीप	—	धर्मशरण
(5) प्रतीत्य समुत्पाद	—	के ज्ञान में आस्था एवं विश्वास
(6) अष्टांगिक मार्ग का अनुशीलन	—	सम्यग्, दृष्टि।

आनन्द[2] ? मैंने न अन्दर न बाहर करके धर्म उपदेश किए हैं। आनन्द ! धर्मों में तथागत ने (कोई) आचार्य—मुष्टि (रहस्य) नहीं छिपाई है। आत्मदीप[3] =आत्मशरण स्वावलंबी, धर्म द्वीप=धर्मशरण, अनन्य शरण हो विहार करो। चार आर्य सत्यों का अनुशीलन करो।

भगवान् बुद्ध के समय से पूर्व और उनके युग के धार्मिक गुरुओं की स्थिति तथा समाज में व्याप्त विचार वैषम्य को हमने पहले भी विवेचित किया है किन्तु संक्षेप में उसका दिग्दर्शन करने से भगवान् बुद्ध की देन का औचित्य संगठित हो सकेगा। इनके युग में जनता कर्मकाण्ड से ऊब चुकी थी। हिंसा से भी विरति की ओर ले जाने का श्रेय भगवान् बुद्ध को है। इन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से व्यर्थ की दिमागी कसरत-आत्मा, ईश्वर, परलोक तथा याज्ञिक अनुष्ठान को करते हुए अपने भाग्य को भगवान् पर डाल देने वाले विचारो को निराशाजनक और मनुष्य में अकर्मण्यता, अपुरुषार्थता आदि धर्मों का जनक बताया और मानव को आत्म विश्वास पर खड़े होने की प्रेरणा दी।

बुद्धिवादिता—बुद्ध अपने युग के कल्पना प्रधान वातावरण मै केवल वेदों में, ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसा लिखा है" इस प्रकार की कच्ची नींव पर आधारित कर अपनी विचारधारा को भी निर्मूल नहीं करना चाहते थे। वे कहते थे कि तर्क सिद्ध सिद्धान्त विचारों का अनुकरण उचित है कोई विचार प्राचीन है, अमुक तापर

1. चुन्द-सुत्त बु० च० पृ० 482
2. महापरिनिव्वाण सुत्त-बु० च० 496
3. अत्तदीप सुत्त-बु० च० 366

कहता है इतने मात्र से कदापि गृहणीय नहीं हो जाता प्रत्युत इस कारण से ग्रहण करो कि वह लोक कल्याणकारी है, शुभ है, अनिन्द्य है और ग्रहण करने पर उसका फल सुखद हितकारी होगा। उन्होंने पुरोहितवाद की बलवत्ता में बुद्धिवादिता के अभाव को दूर किया और ब्राह्मणवाद को अन्धवेणु परम्परा बतला कर उसकी निन्दा की। उन्होंने धर्म और श्रद्धा के नाम पर होने वाले अनाचार का घोर विरोध किया। और घोषणा की कि साधक को युक्ति शरण होना चाहिए पुदगल शरण नहीं। युक्ति[4] शरण का अर्थ है कि बुद्धिवादी बात को ग्रहण करना चाहिए पुदग्ल शरण से उनका अभिप्राय किसी मनुष्य के कथन का अन्धानुसरण करना था। उनकी तो धारणा यहाँ तक थी कि मनुष्य के रूप में चाहे स्वयं वे ही क्यों न हों उनकी भी बात यदि युक्ति युक्त न हो, तो स्वीकार न की जानी चाहिए। ज्ञान समुच्चय सार में इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण निम्नलिखित शब्दों में किया गया है।

'तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डित परीक्ष्यमिक्षवों ग्राह्य मद्वचो न तु गौरवात्' अर्थात् भिक्षुओं को मेरे वचन उसी प्रकार परीक्षित करके ग्रहण करने चाहिए जिस प्रकार स्वर्ण को पण्डित लोग अग्नि और कसौटी पर परीक्षित करके ग्रहण करते हैं। इसी से मिलती जुलती उक्ति हरिभद्र की भी है।

पक्षपातो ननोवीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

इस श्लोक में आचार्य ने स्पष्ट घोषणा की है कि लोक साधक को किसी के प्रति पक्षपात नहीं करना चाहिए। उसे तो उसी बात को ग्रहण करना चाहिए जो तर्क सँगत हो। इस प्रकार की उक्तियों से बुद्ध वचन भरे पड़े हैं।

व्यावहारिकता—बुद्ध तो पूर्ण व्यावहारिक महापुरुष थे उन्हें इस प्रकार का आचरण अपनी विचारधारा में कदापि अनुकरणीय नहीं था। उन्होंने मनोवैज्ञानिक रूप से लोक की चिकित्सा आरम्भ की और इस विचिकित्सा पूर्ण वातावरण में शनैः शनैः भव रोग का निदान किया और उचित उपादेय, व्यावहारिक सामग्री बतलाई तथा आत्मा, जीव, ईश्वर, प्रकृति, मोक्ष, परलोक' आदि विषयों को अव्याकृत कहा। उन्होंने इनके विषय में अनेक बार पूछने पर भी मौन रखा। इस मौन का वर्णन मज्झिम[5] तथा दीर्घ निकाय में विस्तार से प्राप्त होता है। उनका दृढ़ विश्वास था कि व्यर्थ के तर्क वितर्क में न पड़ कर मनुष्य को सरल, स्वाभाविक और सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने निवृत्ति मार्गी होते हुए भी कर्म

4. बौद्ध दर्शन मीमांसा—बलदेव उपाध्याय, पृ० 46
5. मज्झिम निकाय, पृ० 285

मार्ग को महत्व दिया कर्म मार्ग के सम्बन्ध में उनके अपने स्वतंत्र विचार थे । उनका सिद्धान्त विलक्षण है क्योंकि वे आत्मा की सत्ता का विरोध करते हुए कर्मों पर अधिक बल देते हैं । इसका विवेचन मिलिन्द प्रश्न में अच्छी प्रकार से किया गया है । उन्होंने पुनर्जन्मवाद को स्वीकार करते हुए जीवों की विषमता का कारण पूर्व जन्म का कर्म भेद ही माना है । इस प्रकार उन्होंने कर्म को महत्व देकर केवल कर्म-काण्ड पर आधारित रहने वाली ब्राह्मण परम्परा में क्रान्ति लादी और यज्ञों का स्पष्ट विरोध किया । यही उनकी व्यावहारिकता मनुष्य के लिए उत्थान में सहायक है ।

उन्होंने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि अरण्यवास में सन्यासी होकर रहने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनसे विचलित नहीं होना चाहिए और सदा स्मृतिमान् रहकर विरक्तचित्त, एकान्त स्थान सेवी, धर्मानुसार सम्बोधित की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए । उन्होंने कहा कि धीर, स्मृतिमान्, संयत आचरण वाला भिक्षु पांच भयों से भीत न होवे, डसने वाली मक्खियों से, सर्पों से पापी मनुष्यों के स्पर्श से तथा चतुष्पदों से "जो दूसरे धर्मावलम्बी है उनके बहुत से भयावह भेषों को देखकर न डरे । कुशल गवेषक दूसरी बाधओं का भी सामना करे । चोरी न करे, असत्य न बोले, दुर्बलो तथा सबलों के प्रति मैत्री करे, यदि मन को व्याकुल जाने तो (मार) का पक्षपाती जान दूर करे । क्रोध तथा अभिमान के वश में न आवे, उनके मूल को उखाड़ दे । अवश्य वह प्रिय अप्रिय दोनों को दूर करें । प्रज्ञापूर्वक कल्याणरत हो उन बाधाओं को दूर करे । एकान्त में अरति पर विजय पा ले, चार विलाप की बातों पर विजय ले । क्या खाऊं? कहां खाऊं? (कल) दु.ख से सोया था, आज कहां सोऊं? परिदेवनीय इन वितर्कों को बेघर हो विचरने वाला शिष्य दूर करे । समय पर अन्न यथा वस्त्र पाकर वह वहां अपने सन्तोष की मात्रा को जान ले वह उनके विषय में संयत हो, संयम से गांव में विचरे । रुष्ट होने पर भी कठोर बात न करे । नीचे की हुई आंख हो, घुमक्कड़ न हो, ध्यानानुरत हो, सदा जागरूक हो, उपेक्षावान् हो, समाधिस्थ हो, संशय के आश्रय तथा व्याकुलता का नाश करे ।

ब्राह्मणवाद और श्रुति प्रामाण्यवाद का खण्डन (यज्ञों का विरोध)

भगवान् बुद्ध ने कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए स्पष्ट घोषणा को कि इन यज्ञों का आत्म दर्शन में कोई विशेष स्थान नहीं है और इनमें जो द्रव्य या सामग्री प्रयुक्त की जातीं है उसे राष्ट्र हित के लिऐ प्रयुक्त किया जाना चाहिए । उन्होंने काश्यप से

कहा—'निर्विकार,[6] दूसरे की सहायता से न पार होने वाले (निर्वाण) पद को देखकर में इष्ट और हुत से विरक्त हुआ।' यज्ञों की असारता तथा मात्र भौतिक लाभ की आस्था वाली ब्राह्मण विचारधारा की याज्ञिक उपलब्धियों को जन्म जरा से मुक्ति में वैयर्थ्य प्रतिपादित किया गया है जैसे पुण्णक[7]—इस संसार में जिन ऋषियों और मनुष्यों ने देवताओं के नाम यज्ञ किए थे। भगवान् ! क्या वे यज्ञपथ में अप्रमत्त हो जन्म और जरा से मुक्ति पा गए। इस पर भगवान् बुद्ध ने पुण्थक से कहा कि जो लाभ के कारण देवताओं के गुण गाते हैं, प्रशंसा करते हैं, चर्चा करते हैं, यज्ञ करते हैं बे यज्ञ में आसक्त, भव तृष्णा[8] में रत जन्म जरा के पार नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट बतलाया कि जिसने संसार के प्रति कहीं भी तृष्णा नहीं है शान्त, वासना रहित, पाप रहित, आसक्ति रहित है वही जन्म और जरा के पार होता है, जो यज्ञ में आसक्त नहीं। उन्होंने यज्ञ के प्रयोग में आने वाली सामग्री को राष्ट्र के हित में प्रयोग करने पर बल देते हुए कूटदन्त सूत्त में कहा था कि हे राजन्! आपके जनपद में कृषि गोपालन. वाणिज्य आदि में जो उत्साह रखते हैं तथा जो आपके राजकर्मचारी हैं उनके वेतन बढ़ाने आदि से आपका जनपद कंटक रहित, क्षेमयुक्त होगा और मनुष्य भी गोद में पुत्रों के लिए नाचते फिरेंगे। इस प्रकार के अन्य भी उदाहरण प्राप्त होतेहैं जहा उन्होंने यज्ञों का खण्डन किया है और वेदों के द्वारा प्रतिपादित मार्ग का विरोध किया है।

अभौतिकवाद—कुछ विद्वान् भगवान् बुद्ध को भौतिकवादी बतलाते हैं किन्तु उनका ऐसा कथन निराधार है क्योंकि उन्होंने संसार तथा उसमें उत्पन्न सुख सुविधाओं को परिवर्तनशील तथा हेय बतलाते हुए इनकी उपेक्षा की है। दीर्घ निकाय के पयासीं राजन्य सुत्त में इस प्रकार के बिचारों पर अच्छा प्रकाश मिलता है। उन्होंने संसार के सुखों को ब्रह्मचर्य, समाधि, पुण्याचरण तथा निर्वाण के मार्ग में बाधक तथा घातक शत्रु बतलाया।

अनात्मवाद—अनात्मवाद के विषय में हम छठे अध्याय में आत्मा परमात्मा के विवेचन में दोनों विषयों को विस्तार से वर्णित कर चुके हैं अतः आत्मवाद और अनीश्वरवाद पर यहां लिखना पिष्टपेषण ही होगा।

आत्मदीप—आत्मदीप सुत्त में भगवान् ने विस्तार से समझाने का प्रयास किया है कि जिन गुणों के द्वारा भिक्षु बुद्ध के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है उन्होंने कहा

6. बिम्बसार की दीक्षा, संयुत्त निकाय 43।3।6, बु० च० पृ० 34
7. पुण्णक माणव पुच्छा सु० नि०
8. कूटदन्त सुत्त, बु० च० 218

भिक्षुओ! आत्म दीप आत्म शरण (स्वावलंबी) धर्मदीप-धर्म शरण, अनन्य-शरण हो विहार करो। आत्म-दीप अनन्य शरण हो विहरने वालों को कारण के साथ परीक्षा करनी चाहिये—'शोक-परिदेव, दुःखउपन्यास किस जाति के हैं, किससे उत्पन्न होते हैं? और इन शोक, परिदेव आदि का निराकरण किन के द्वारा होता है और किन धर्मों के द्वारा इनका निराकरण हो सकता है उन्हीं धर्मों का सेवन करने से मनुष्य किसी के सहारे के बिना ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है। इसी को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने भिक्षुओं की सम्बोधित किया। भिक्षुओं[9]! तथागत को, इस प्रकार के श्रावकों की जोड़ी के परिनिर्वृत्त हो जाने पर भी शोक परिदेव नहीं है। सो भिक्षुओं! वह कहाँ से मिले! जो कुछ ज्ञान-भूत-संस्कृत है, वह सब नाश होने वाला है। 'हाय! वह न नाश हो' इसकी गुंजाइश नहीं। भिक्षुओं जैसे महान् वृक्ष के खड़े रहते भी (उसके) लार वाले महास्कन्ध (-शाखाएं) टूट जायें, इसी प्रकार भिक्षुओ! तथागत के लिए, भिक्षु-संघ के रहते भी, सार वाले सारिपुत्र, मौद्गल्यायन का परिनिर्वाण है। सो वह भिक्षुओ! कहां से मिले? जो कुछ जात-भूत-संस्कृत है, वह सब नाश होने वाला है। इसलिये भिक्षुओं! आत्म-दीप-आत्म शरण होकर विहरो।

चार आर्य सत्यों का अवबोध—भगवान् बुद्ध की देनों में चार आर्य सत्यों का बड़ा महत्व है यह उनका मौलिक अनुसंधान है जिस पर सम्पूर्ण बौद्ध विचारधारा आधारित है उनकी दृष्टि में 'सर्व दुःखम्' तथा उस दुःख का निवारण ही प्रधान रूप से मिलता है। चार आर्य सत्यों में सबसे पहला दुःख, समुदय, निरोध और निरोध-गामिनी प्रतिपद् इन चारों का समावेश है।

दुःखम्—जीवन में सर्वत्र दुःख का ही राज्य है प्रत्येक प्राणी जरा, मरण और व्याधाओं से व्यथित है उन्होंने दुःखो की व्याख्या करते समय कहा था—

इदं[10] खो पन भिक्खवे दुक्खं अरिय सच्चं। जाति पि दुक्खा, जरापि दुक्खा मरणाम्पि दुक्खं, सोक परिदेव-दोमनस्सुपायासापि दुक्खा, अप्पियेहि सम्पयोगो दुक्खो, पियेहि विप्पयोगी दुक्खो, यम्पिच्छं न लभति तम्पि 'दुक्खं, संखित्तेन पच्चूपादन-क्खन्धपि दुक्खा।

हे भिक्षुगण, दुःख प्रथम आर्य सत्य है। जन्म भी दुःख है। वृद्धावस्था भी दुःख है। मरण भी दुख है। शोक, परिवेदना, दौर्मनस्य (उदासीनता) उपायास सब दुःख है। अप्रिय वस्तु के साथ समागम दुःख है। प्रिय के साथ वियोग भी दुःख है।

9. उक्काचेल सुत्त, बु० च० 484
10. बौद्ध दर्शन मीमांसा पृ० 55

ईप्सित वस्तु का मिलना भी दुःख है। संक्षेप में कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पांचों स्कन्ध (रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख है। आशय है कि जगत् के प्रत्येक कार्य, प्रत्येक घटना में दुःख की सत्ता बनी हुई है। प्रियतमा जिस प्रिय के समागम को अपने जीवन का प्रधान लक्ष्य मान कर नितान्त आनन्द मग्न रहती है, उस प्रियतम से भी एक न एक दिन वियोग होना अवश्यम्भावी है। जिस द्रव्य के लिए मानव मात्र इतना परिश्रम करता है, उसकी भी प्राप्ति नितान्त कष्ट-कारक है। अर्थ के उपार्जन में दुःख, रक्षण में दुःख तथा व्यय में भी दुःख है, तब अर्थ को सुखकारक कैसे कहा जाय ? धम्मपद का कथन नितान्त युक्ति युक्त है कि यह संसार जलते हुए घर के समान है, तब इसमें हंसी क्या हो सकती है? और आनन्द कौन सा मनाया जाय ?

दुःख समुदय—द्वितीय आर्य सत्य है—दुःख समुदय। समुदय का अर्थ है—कारण। अतः दूसरा सत्य है—दुःख का कारण। बिना कारण के कार्य उत्पन्न नहीं होता। कार्य कारण का नियम अच्छेद्य है। जब दुःख कार्य है, तब उसका कारण भी अवश्य ही होगा। दुःख का हेतु है—तृष्णा। भगवान् के शब्दों में[11]—

'इदं खो पन भिक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं। योयं तण्हा पोनब्भविका नन्दि-रागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी सेयमीदं कामतण्हा, भवतण्हा विभवतण्हा।'

हे भिक्षुगण, दुःख समुदय दूसरा आर्य सत्य है। दुःख का वास्तव में हेतु तृष्णा है जो बारम्बार प्राणियों को उत्पन्न करती है (पौनर्भविका), विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करने वाली है। यहां और वहां सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है—कामतृष्णा, भवतृष्णा तथा विभवतृष्णा। संक्षेप में दुःख-समुदय का यही स्वरूप है।

दुःख निरोध—तृतीय आर्य सत्य का नाम 'दुःख निरोध' है। 'निरोध' शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का नाश होता है। दुःख की सत्ता बतलाकर ही बुद्ध की शिक्षा का अन्त नहीं होता, प्रत्युत उनका उपदेश है कि इस दुःख का अन्त भी है। बुद्ध ने भिक्षुओं के सामने इस सत्य की इस प्रकार व्याख्या की—

'इदं खो पन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। सो तस्सायेच तण्हाय असेस-विरागनिरोधी चागो पटिनिस्सागो मुत्ति अनालयो।'

अर्थात् दुःख निरोध आर्य सत्य उस तृष्णा से अशेष-सम्पूर्ण वैराग्य का नाम है, उस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय यही है। बुद्ध धर्म की महती विशेषता है कार्यकारण के अटूट सम्बन्ध की स्वीकृति। जगत् की घटनाओं में यह सम्बन्ध

11. मज्झिम निकाय—महाहत्थिपदोपम सुत्त। धम्पपद गाथा 146

सर्वत्र अनुस्यूत है। ऐसी कोई भी घटना नहीं है जिसके भीतर यह नियम जागरूक न हो। दुःख के कारण का ऊपर विवरण दिया गया है। उस कारण को यदि नष्ट कर दिया जाय, तो कार्य आपसे आप स्वतः नष्ट हो जायगा। अतः कार्य कारण का सम्बन्ध ही इस सत्य की सत्ता का पर्याप्त प्रमाण है।

दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद्[12]—'प्रतिपद्' का अर्थ है—मार्ग। यही चतुर्थ आर्य सत्य है जो दुःख निरोध तक पहुँचाने वाला मार्ग है। गन्तव्य स्थान यदि है, तो उसका मार्ग भी अवश्य होगा। निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गन्तव्य स्थान है, तो उसके लिए मार्ग की कल्पना भी न्यायसंगत है। इस मार्ग का नाम 'अष्टाँगिक मार्ग' है। इसका विवेचन हो चुका है।

प्रतीत्य समुत्पाद—प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम-प्रतीत्य और समुत्पाद का अर्थ है उत्पन्न होना। केवल उत्पत्ति मात्र का ज्ञान प्रतीत्य और समुत्पाद नहीं है। प्रत्येक उत्पाद (उत्पत्ति) का कोई प्रत्यय, कारण, हेतु है, यह प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है जिसके होने से जो अन्य वस्तु हो, तो वह पहली वस्तु उस दूसरी वस्तु का 'प्रत्यय' कहलाती है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु का अवश्यम्भावी रूप से आश्रय लेकर स्थित होती है या उत्पन्न होती है, तो वह (दूसरी वस्तु) उस (पहली वस्तु) का 'प्रत्यय' कहलाती है। उपकारक या सहायक होना ही प्रत्यय होने का लक्षण है। जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की स्थिति या उत्पत्ति में उपकारक या सहायक हो, तो वह उसका 'प्रत्यय' कहलाती है। इसलिये प्रत्यय-सामग्री के हेतु से ही, उसके बिना नहीं, जो धर्मों (पदार्थों) का स्थिति में आना है, वह प्रतीत्य समुत्पाद है।

शिक्षात्रय—बौद्ध विचारधारा में प्रज्ञा, शील समाधि इन तीनों को ही शिक्षात्रय कहा गया है। इन्हीं पर आधारित अष्टांगिक मार्ग है जिसका हम विवेचन कर चुके हैं। वास्तव में बौद्ध विचारधारा के अनुसार शील से अपाय अर्थात् पाप नष्ट होते हैं। समाधि के द्वारा कामघात का विनाश होता है। प्रज्ञा से सर्वभव का समतिक्रमण होता है। शील है दश अशीलों से बचना। बौद्ध ग्रन्थों में अशील के दश भेद बताए गए हैं। (1) प्राणातिपात (2) अदत्तादान (3) अब्रह्मचर्य (4) मृषावाद (5) सुरामद्यमदादि (6) अकाल भोजन (7) नृत्य गीत वादित्र (8) माला गन्ध विलेपन (9) उच्चाशन शयन (10) जातरूप रजत प्रतिग्रह।[13]

त्रिशरण गमन—भगवान् बुद्ध ने सामान्य उपासकों के लिए त्रिशरण गमन विधि का उल्लेख किया है। वह त्रिशरण इस प्रकार है—'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं

12. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 54
13. बौद्ध दर्शन मीमांसा—आचार्य नरेन्द्र देव, पृ० 19

शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि। 'इस त्रिशरण गमन विधि को बौद्ध ग्रन्थों में त्रिरत्न भी कहा गया है। भगवान् बुद्ध की शिक्षा की कुछ और विशेषताएं हैं। भगवान् बुद्ध ने उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त और भी कई बातों पर बल दिया था। उस युग में ऋद्धि प्रतिहार्य का बड़ा बोल बोला था। बौद्ध धर्म पर भी उसका प्रभाव पड़ा है। उसी से प्रभावित होकर उन्होंने धर्मोपदेश को ही सबसे बड़ा अद्भुत कर्म घोषित किया था।

भगवान् बुद्ध को स्वर्गादि की धारणा भी बहुत कुछ अंश में स्वीकार थी। उनकी स्वर्ग नरकादि की भावना वैदिकों की और पौराणिकों की भावना से बहुत अधिक प्रभावित मालूम पड़ती है। इस पर हम धर्म के विश्वास पक्ष का विवेचन करते समय विस्तार से विचार करेंगे।

तर्क विरोध और कतिपय अव्याकृत प्रश्नों के प्रति मौनभाव—भगवान् बुद्ध ने दस प्रश्नों को अव्याकृत कहा है और इनको विवाद का विषय बनने से वे सदैव विरोध करते रहे हैं। उन्होंने इन प्रश्नों के उत्तर में विचार करना ठीक वैसा ही बताया जैसेकि विष से बुझे हुए बाण से विद्ध कोई मनुष्य वैद्य से यह कहे कि मैं तब तक शरीर से बाण न निकलवाऊंगा जबतक यह न जान लूं कि प्रहर्ता ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है, या शूद्र। उसके इन प्रश्नों का परिणाम यह होगा कि उसके प्राण निकल जायेंगे और इन प्रश्नों का उत्तर उसे नहीं मिल सकेगा।[14] ठीक इसी तरह से मनुष्य आत्मा परमात्मा जीव और जगत् सम्बन्धी प्रश्नों पर न पहुंचने के कारण वह किसी प्रकार की साधना नहीं कर सकेगा और वह अपना जीवन व्यर्थ ही खो देगा। इन्हीं अव्याकृत प्रश्नों में यह स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध की वाणी में बहुत से स्थलों पर हमें ऐसा आभास मिलता है कि आत्म विषयक[15] कोई भी कल्पना उन्हें मान्य न थी।

समत्ववाद—बौद्ध विचारधारा की सबसे बड़ी विशेषता समत्ववाद है। उन्होंने अनेक स्थलों पर ब्राह्मण जाति से नहीं, कर्म से ही माना है और वह भी त्रैविद्य। उन्होंने अपने को भी त्रैविद्य ही कहा है। 'वे जाति मत पूछ, आचरण पूछ' पर बल देते थे। और वे किसी प्रकार की वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था में विश्वास नहीं करते थे। भगवान् बुद्ध की दृष्टि में सभी मानव बराबर थे। इनके समत्ववाद पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा। यहां पर केवल इतना कहना ही अभिप्रेत है कि बौद्ध धर्म को लोकप्रिय बनाने वाला उसका एक प्रमुख तत्व उसका समत्ववाद भी है।

---

14. दीर्घ निकाय हिन्दी अनुवाद पृ० 28
15. सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट भाग 16 भूमिका

कर्म—कर्म[16] का सिद्धान्त कि मनुष्य के कर्म ही भावी जीवन का निर्माण करते हैं तथा उसका रूप भी निर्धारण करते हैं इस प्रकार का विचार ब्राह्मण युग में नहीं था क्योंकि पुरोहित अपने यज्ञों के द्वारा स्वर्गीय सुखों को अपने यजमानों को प्राप्त करा सकते थे। कर्मों के फल[17] का महत्व समझाते हुए माणव से भगवान् ने कहा "माणव ! प्राणी कर्म-स्वक (कर्म ही धन है जिनका), कर्म दायाद, कर्म योनि, कर्म बन्धु, कर्म प्रतिशरण (कर्म ही रक्षक है, जिनका) है। कर्म प्राणियों को इस (हीन प्रणीतता में) विभक्त करता है। भगवान् बुद्ध ने आत्म विश्वास की भावना को जगाया और बताया है कि वह स्वयं अपना भाग्य विधाता[18] है यही प्रमुख देन है जिससे समाज में व्याप्त नैराश्य का निराकरण हुआ। इस धर्म[19] उत्तर मनुष्य धर्म (लोकोत्तर शक्ति) में मनोयोग देना चाहिए, जिस अर्थ प्रव्रजित हुए जब उसे ही नहीं जानते तो संयम के अभाव में अरण्यवास व्यर्थ है।

कर्मों के महत्व को समझाते हुए कहा कि अपनी करनी अपने अपने साथ ही जाती है। उन्होंने इसका अत्यन्त सुन्दर उदाहरण दिया जो कि आज के वातावरण में भी समीचीन बैठता है क्योंकि धानंजानि ब्राह्मण[20] से भगवान् ने पूछा कि कुशल धर्मों का सेवन तो किया जा रहा है जिसके उत्तर में उसने कहा कि हमें बहुत काम है जैसे पिता का पोषण तथा अन्य जीविका अर्जन। इस पर भगवान् बुद्ध ने कहा कि जब इन अकुशल कर्मों के द्वारा नरक में जाओगे तो वहां कोई नहीं सुनेगा कि तुमने माता-पिता के पोषण के लिए अथवा सुख के लिए अकरणीय कर्म किए। अतः पाप कर्म न करके धार्मिक कर्मान्त करो ऐसा उपदेश दिया।

बौद्ध विचारधारा में अपने युग का प्रभाव हम इसी भाग में आगे विवेचित करेंगे। अवतारवाद में दैविक गुरुओं के समय समय पर अवतरण के महत्व को उस समय के लोग मानते थे और तपोमय जीवन के लाभों से भी परिचित थे। नवीन बौद्ध धर्म में अशोक के पश्चात् परिवर्तन आया। नैतिक आदर्श वैयक्तिक न रह कर पूर्णता में बदल गए और वैयक्तिक निर्वाण या मोक्ष मात्र न रह कर प्राणी मात्र के लिए हो गए। बुद्ध होने की इच्छा वाले व्यक्ति अग्रिम जन्म में दैविक शक्तियों से युक्त देव तुल्य बोधिसत्व होंगे। बुद्ध पूर्व जन्मों में स्वर्ग के शास्ता के रूप में भी रहे, अभिताभ स्वर्ग में जन्म लेते हैं।

---

16. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग—1, सी० इलियट, पृ० 94
17. चूलकम्प विभंग-सुत्त म० नि० हिन्दी अनुवाद, पृ० 554
18. बुद्ध एण्ड बुद्धिज्म मौरिस प० पृ० 44
19. गुलिस्सानि सुत्त म० नि०, पृ० 273
20. धानंजानि सुत्त, म० नि० पृ० 410

भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को संयमित मानसिक क्रियाओं युक्त जीवन तथा दूसरों के प्रति उदार रहने की शिक्षा दी। कारणवाद को समझाते हुए उन्होंने भव रोग की जड़ को ही खो देने की विधि को समझाया और कहा कि दुःख के कारण को दूर करो दुःख दूर होगा। इसलिए सभी याज्ञिक कृत्य निष्फल है क्योंकि वे जो उपाय देते हैं वह जीवन के रोग को दूर करने में असमर्थ है। दुःख का निराकरण हृदय की शुद्धि, नैतिक नियमों के अनुशीलन, सहानुभूति तथा सामाजिक कृत्यों के द्वारा ही सम्भव है जिसमें व्यक्तिगत चरित्र के निर्माण पर बल दिया गया हो।

मनुष्य को अपने आपको अपरिवर्तनीय[21] मानना भूल है वह परिवर्तित हो सकता है। स्वस्थ तथा प्रसन्न चित्त, उदात्त विचारों, शब्दों तथा कर्मों के द्वारा यह परिवर्तन प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने यज्ञों तथा दार्शनिक विचारों का विरोध किया किन्तु उन्हें विनाशकारी कार्य नहीं बतलाया अपितु उनका सुधारवादी रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने देवों की पूजा का विरोध नहीं किया किन्तु कहा कि उन्हें भी निर्देशों की अपेक्षा है अतः वे भी धर्म के पूर्ण पथ-प्रदर्शक नहीं माने जा सकते। उनकी सबसे बड़ी देन ब्राह्मण जन्म से उच्च नहीं है वह कर्म से ही ब्राह्मण होता है अतः प्रत्येक प्राणी मोक्ष के मार्ग पर चल सकता है और नैतिक नियमों के पालन द्वारा प्रत्येक इसका पात्र बन सकता है।

(ख) ब्राह्मण विचारधारा के प्रकाश में उन देनों की समीक्षा

बुद्धकालीन वैचारिक अव्यवस्था से किसी भी नियमित रूप का दृढ़ता के साथ परिपालन दृष्टिगोचर नहीं होता है। जैसा पालि तथा जैन ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय के धर्म गुरुओं ने सभी प्रकार के तपस्वियों, जटिलों परिव्राजकों तथा अन्य आजीविक आदि का निरादर कर दिया था। यह समय ब्राह्मण विचारधारा की याज्ञिक कृत्यों की मृतप्राय, क्षीणप्राय स्थिति को उचित सुधारक की आवश्यकता थी उस अव्यस्थित परिस्थिति में एक महान् नेता की आवश्यकता थी। जो निश्चित तथा स्पष्ट दिशा दे सके और जिसकी सुदृढ़ वैचारिक प्रणाली सभी को मान्य हो ऐसा सच्चा विचारक चाहिए था।

वस्तुतः ईसा पूर्व छठी शती आध्यात्मिक अशान्ति का युग था अन्य देशों में भी विभिन्न उच्चकोटि के दार्शनिकों ने जन्म लिया। ग्रीक में पिरेमिड, भारत में महावीर तथा बुद्ध आदि। इन्होंने[22] अपने परम्परागत विचारों तथा समसामयिक विचारों के विकास का अध्ययन किया और अपनी स्थिति को दृढ़ पाया। इन्होंने

---

21. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, सी० इलियट, पृ० 20, भाग-1
22. अर्ली बुद्धिज्म एण्ड दी भगवद् गीता, के० एन० उपाध्याय, पृ० 87

ब्रह्म जाल सुत्त में 62 मिथ्या दृष्टियों का सुन्दर विवेचन किया है। इन्होंने याज्ञिक कृत्यों के स्थान में ज्ञान के विकास की प्रक्रिया को बढ़ाया।

भगवान् बुद्ध की देन मौलिक होते हुए भी ब्राह्मण परम्पराओं की प्रतिक्रिया के रूप में ही विकसित हुई है। इसे हम बुद्ध की ही नहीं कह सकते, यह प्राचीन प्रथाओं की प्रतिक्रिया के रूप में ही स्वीकृत की जा सकती है जैसा कि मौरिस[23] महोदय ने कहा है कि बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मण धर्म दोनों ने एक दूसरे को पर्याप्त प्रभावित किया है। पूर्व में बौद्ध धर्म ब्राह्मण धर्म से प्रभावित हुआ और बाद में बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण धर्म को भली प्रकार प्रभावित किया। उन्होंने कहा है कि बौद्ध विचारधारा ने ब्राह्मण विचारधारा से आध्यात्मिक आकांक्षाओं की उपलब्धि की किन्तु इस उपलब्धि में उनका अपना वैशिष्ट्य रहा है कि यह उपलब्धि किसी भी दैविक हस्तक्षेप अथवा साहाय्य के बिना ही सम्भव हो सकी। महात्मा बुद्ध ने ब्राह्मण विचारधारा के मानव की अपूर्णता पर असन्तोष तथा पुनर्जन्मवाद का तो पूर्णतया समर्थन किया किन्तु इन्होंने देवताओं के महत्व को नगण्य रखा और कभी भी बुद्ध ने ब्रह्म की सर्वोच्च सत्ता की ओर संकेत नहीं किया, तथा आत्मा की ओर भी कोई ध्यान नहीं दिया और इसी कारण उसका परमात्म तत्व में विलीनीकरण का भी कहीं वर्णन नहीं किया। ब्राह्मणों ने अपने चतुर्दिक भौतिक तत्वों को अस्वीकृत कर केवल आत्मा को स्वीकार किया। बौद्धों की विचारधारा में दु:ख और उसके कारण इच्छा को ही महत्व दिया गया।

बौद्ध की विचारधारा में मोक्ष का रूप स्पष्ट ही था, अत: मनुष्यों और देवों तथा ब्राह्मणों के बीच मध्यस्थता की कोई आवश्यकता नहीं है। कर्म के सिद्धान्त पर बल दिया गया किन्तु इस कर्म का अर्थ कर्मकाण्ड नहीं था। यह केवल व्यक्ति के कर्मों का मात्र योग था। इस कर्मकाण्ड के अभाव के कारण ब्राह्मणों के प्राचीन पौरोहित्य कर्म भी अनावश्यक हो गए और पशु बली बौद्ध धर्म में पाप समझी जाने लगी। बौद्ध[24] विचारधारा वस्तुत: प्राचीन आधार पर नवीन रीति रिवाज सम्पन्न धर्म है जबकि ब्राह्मण विचारधारा परम्परागत संस्कृति पर आधारित विशेषतया आत्मवादी धर्म है। बौद्ध विचारधारा सार्वभौम आत्मिक आकांक्षाओं से ओत प्रोत है जिसका अभ्यास अनुशासन पर अवलम्बित है जिसमें दैविक शक्ति का कोई हाथ नहीं। इसका भारत में तो ह्रास हुआ और विदेशों में विकास। महात्मा बुद्ध इन कर्मकाण्डों के प्रभाव में आस्था नहीं रखते थे, वे इन कर्मकाण्डों के विरोध में लड़े किन्तु उसको हटा नहीं सके। उनकी धारणा थी कि जनसाधारण तथा स्त्रियों में

23. बुद्धा एण्ड बुद्धिज्म, मौरिस परचिरन, पृ० 42, 43
24. बुद्धा एण्ड बुद्धिज्म, मौरि०, पृ० 43

बोध की शक्ति के ह्रास के कारण वे प्राचीन अंध विश्वासों से चिपटे रहते हैं जिन्हें उन्होने दूर करने का पर्याप्त प्रयास किया।

इन दोनों विचारधाराओं के आदान-प्रदान को स्वीकार करते हुए प्रो० हिरियन्ना[25] ने लिखा है कि भारतीय दर्शन का इतिहास दो विचारधाराओं के विकास का इतिहास है जिन दोनों ने एक दूसरे पर क्रिया तथा प्रतिक्रिया की है। पारस्परिक आदान प्रदान से विचारों के विकास को पर्याप्त अवसर मिला और दोनों में पर्याप्त रूपेण सिद्धान्तों में भी आदान प्रदान हुआ है। यथा जीवन्मुक्त की दशा दोनों विचारधाराओं में प्राप्त होती है। क्योंकि कुछ समय तक बौद्ध विचारधारा का प्रभाव रहा तदनन्तर वेदान्तिक विचारधारा ने अपना प्रभाव जमा लिया।

बौद्ध विचारधारा का प्रमुख प्रभाव ब्राह्मण विचारधारा की जाति प्रथा के दबाने में हुआ इसका कारण यह हुआ कि इस विचारधारा में धर्म ने मानव को आध्यात्मिक क्षेत्र में सभी सामाजिक विभेदों से ऊपर प्रतिष्ठित किया। इनका लक्ष्य केवल भारतीय मानव को मुक्ति दिलाना न होकर मानव मात्र[26] का मोक्ष था। बौद्ध धर्म के ह्रास तथा ब्राह्मण विचारधारा के विकास के समय पुनः जाति प्रथा का पुनरुत्थान हुआ।

बौद्ध विचारधारा में दुःखवाद की धारणा पर ब्राह्मण विचारधारा की अपेक्षा अत्यधिक बल दिया गया। इस धर्म में मानव को पूर्व भाग्यानुमोदित भार से मुक्ति दिलाकर अपने कर्म फल पर ही निर्भर किया गया है। इस विचारधारा में मानव अपना स्वयं भाग्य विधाता[27] है। इसका विकास, नैतिक क्षेत्र है तथा संयम की तपस्या से सभी वस्तुएं उसकी सहायता करती है। बुद्ध ने कहा कि ध्यान दो मृत्यु से छुटकारा पाओ ? सुदन्त से वार्तालाप में बुद्ध ने यह स्पष्ट विचार किया है कि वह सृष्टि के कर्ता के रूप में ईश्वर को नहीं मानता है। उनके लिए देवों में स्वयं मोक्ष की सामर्थ्य नही उन्हें उससे पहले मनुष्य बनना आवश्यक है। सन्त की स्थिति मानवों में देवों से भी उन्नत है क्योंकि उसे लौटना नहीं पड़ता वह मोक्ष पा सकता है। पुनर्जन्म के द्वारा कभी देवत्व की प्राप्ति की जा सकती है वह सुखद किन्तु परिवर्तनीय परिस्थिति है।

भगवान् बुद्ध ने कर्म को ही सबके आधार के रूप में प्रधानता दी और अपना कारणतावाद का सिद्धान्त स्थिर किया। क्योंकि पुनर्जन्म की धारणा अपरिहार्य थी

---

25. आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी भूमिका पृ० 25 प्रो० हिरियन्ना
26. हिन्दूज्म एण्ड बुद्धिज्म प्रथम भाग, सी० इलियट पृ० 94
27. बुद्धा एण्ड बुद्धिज्म मोरिस प०, पृ० 44

तथा ऋग्वेद में वर्णित स्वर्ग तथा नरक के सुख दुःख असह्य रूप धारण कर चुके थे इसमें न्याय एवं सामान्य बुद्धि का विवेचन का आभाव सा हो चला था। क्योंकि एक सीमित शक्ति सम्पन्न प्राणी सीमित आयु में उस असीम में लीनता प्राप्त नहीं कर सकता अतः एक जन्म में नहीं तो अनेक जन्मों में उपलब्धि द्वारा प्राणी सत्कर्मों का संचय करता रहेगा जब तक कि वह पूर्ण ब्रह्म में लीन होगा। इस विचार ने मानव में आशा एवं उत्साह को अवसर दिया और वह सत्य, न्याय, तथा ईश्वर की सर्वव्यापकता सार्वकालिकता तथा दया में विशेष आस्थावान् हो गया। इनके आधार पर मानव जीवन का चरम लक्ष्य उस परम ब्रह्म में लीन होना रहा—ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्म तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्तों के बीज स्पष्टतया निहित है। शतपथ ब्राह्मण[28] में वह पूर्व में यह सब ब्रह्म ही था। उसने इन्द्र, अग्नि, वायु आदि का निर्माण करके पृथ्वी का स्वामी बनाया और स्वयं पृथक् रहा इस प्रकार व्यक्तित्व रहित अथवा इन्द्रियातीत रूपता ही ब्रह्म की स्थिति बन गई—ब्रह्म पुनः नाम रूप के रूप में आता है ज्यों ज्यों नाम रूप की वृद्धि होती है उतनी ही प्रकृति सृष्टि की अविवृद्धि करती है। पश्चात् में वह ब्रह्म प्रजापति प्राण, पुरुष के रूप में स्वीकृत हुआ।

नैतिकता के कतिपय आधारभूत तत्व ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार संगृहीत किए जा सकते हैं। पंच प्रकारात्मक कर्म—कर्तव्यों के रूप में—मानव का देवों के प्रति, ऋषियों के प्रति, पितरों, मनुष्यों तथा सामान्य प्राणियों के प्रति। वस्तुतः इन्हें ऋण कहिए अथवा कर्तव्य कहिए यह आवश्यक कार्यों का विभाजन शनैः शनैः नैतिकता का आधार बनता गया तथा ब्रह्मचर्य, सत्यता, प्रशंसा,सत्कर्म और बलिदान में आध्यात्मिक विकास के लिए कम महत्व की वस्तु (उपेक्षणीय हो गए) मिलावट गिरावट समझी जाने लगी किन्तु दोषों के स्वीकरण को प्रोत्साहन मिला। कर्मकाण्ड पर बल के साथ ही साथ नैतिक धरातल पर विचारधारा में विकास आया और शनैः शनैः जातिवाद (वर्णाश्रम) का महत्व बढ़ा और ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ सन्यास प्रचलन से एक वर्ग ऐसा हो गया जोकि वन में रहने लगा और घर कहीं नहीं बनाता था। जिसने आत्मदर्शी तत्वों के अनुसन्धान में अपनी जीवन शक्ति और समय को लगाकर इस याज्ञिक परम्परा में क्रान्ति ला दी और जीवन में एक नई धारा उपनिषदों के रूप में प्रस्फुटित हुई।

---

28. देवान्वा एष प्रीणाति यो यजत एतेन यज्ञेन-ऽग्निर्भरिव त्वद्यजुर्भिरिव त्वदाहुतिभिरिव त्वत्स देवान्प्रीत्वा ते ष्वपित्वी भवति ते ष्वपित्वी भूत्वा तावेवाभिप्रक्रामति। आशिष माशास्ते तामस्ये देवा अशिषं सन्नमथन्ति यामाशिष माशास्ते यो नो प्रेषींदिति तस्माद्वा उपरिष्टा यज्ञस्या शिष माशास्ते। श० ब्रा० 1।9।3।8

ब्राह्मण विचारधारा के प्रकाश में भगवान् बुद्ध की देनों की यदि हम समीक्षा करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि मौलिक रूप में ये सभी गुण जो ब्राह्मण विचारधारा में थे उन्हीं को व्यावहारिक रूप देने का भगवान् बुद्ध ने प्रयास किया। वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों के अध्ययन का भगवान् बुद्ध पर प्रभाव रहा है तथा उसी से उन्होंने अनेक प्रेरणाएं ली हैं जिनसे इन पर प्रकाश पड़ता है।

भगवान् बुद्ध ने उपनिषदों से यज्ञ विरोधी तथा उनकी असारता के भाव को लेकर चिन्तन प्रधान पद्धति को जन्म ही नहीं दिया अपितु नया रूप दिया। इन्होंने अपने शिष्यों को संयमित मानसिक क्रियाओं युक्त जीवन तथा दूसरों के प्रति उदार रहने की शिक्षा दी। दुःख के कारण दूर करने का उपदेश देते हुए यज्ञों की निष्फलता के रहस्य को समझाते हुए, हृदय की शुद्धि नैतिक नियमों का अनुशीलन, सहानुभूति तथा अविद्या, आश्रव, तृष्णा, एषणा आदि को त्याग कर व्यक्तिगत चरित्र के निर्माण पर विशेष बल दिया जिससे मानव अपने आपको बदल सके वह वेदों के आधार पर ही अकर्मण्य न बना रहे।

मोरिस महोदय ने भी क्षत्रियों की ब्राह्मणों के प्रति प्रतिक्रिया के रूप में बुद्ध धर्म के उदय के विचार अपनी पुस्तक[29] बुद्ध तथा बुद्धिज्म में व्यक्त किए हैं। सांख्य विचारधारा पर विचार व्यक्त करते हुए इस आत्म ज्ञान को क्षत्रियों की प्रथम उपलब्धि की विचारधारा को इन्होंने भी व्यक्त किया है। वस्तुतः बौद्ध धर्म भी प्राचीन नियमों का बृहद्रूपेण सार्वजनिक उल्लंघन न होकर व्यक्तिगत रूपेण प्रसारित हुआ। सर्वतः प्रथम बुद्ध ने व्यक्तिगत आग्रह से उसे मनाया। वस्तुतः महात्मा बुद्ध अपने निर्वाणोपरान्त ही दैविक शक्ति सम्पन्न स्वीकृत किए गए। बौद्ध धर्म केवल मार्ग ही निर्दिष्ट कर सकता है प्रयत्न करना तुम्हारा ही काम है। बुद्ध धर्म गौतम बुद्ध के जीवनकाल में नहीं लिखा गया। यह सब मौखिक ही था बाद में उनके ही टीकाकारों ने ही लिखा है अतः ऐतिहासिक बुद्ध धर्म वस्तुतः प्राचीन बौद्ध धर्म नहीं है।

पूर्ण ब्राह्मण दार्शनिक विचारधारा के प्रभाव को भी हरगोबिन्द गौड[30] ने अपने ग्रन्थ में स्पष्टरूपेण लिखा है कि—ब्राह्मण जीवन दर्शन व्यष्टि मूलक था जिसका व्यक्तिगत सम्बन्ध ईश्वर से था किन्तु मानव का मानव से सम्बन्ध होना यह बौद्ध विचारधारा की दार्शनिक देन है। ब्राह्मण विचारधारा में जिस रहस्य को गुह्य तथा निगूढ़ कह कर अस्पष्ट घोषित किया था उस धर्म का बुद्ध ने बिना रहस्य के उद्घाटन किया और कहा। अपने परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द से कहा कि मेरा उपदेश अन्दर और बाहर का भेद नहीं रखता है। धर्म के विषय में तथागत को

---

29. बुद्धा एण्ड बुद्धिज्म मौरिस प०, पृ० 2,13
0.3 स्प्रिट आफ बुद्धिज्म, हरदयाल गौड, पृ० 22

आचार्य मुष्टि[31] (रहस्य) नहीं है। सूर्य और चन्द्र के समान भगवान् बुद्ध का उपदेश सर्वजन सुलभ था। 'छिपाने', को भगवान् की दृष्टि में मिथ्या दृष्टि बतलाया है और वह स्त्रियां और कूटनीति का धर्म कहा गया है। बुद्ध धर्म में सब कुछ स्पष्ट, प्रकाशित तथा सुआख्यात था।

वे एक कुशल परचित ज्ञान सम्पन्न उपदेष्टा थे जो श्रोताओं की जीवन परिस्थिति योग्यता, रुचि एवं ज्ञान बल तथा समर्थता पर ध्यान देकर उपदेश देते थे। उनके उपदेश, बाल बालिकाओं, युवा वृद्ध, गृहस्थों, सन्यासियों भिक्षुओं की सामान्य और विशेष प्रज्ञा वालों के लिए औचित्य पर आधारित थे। गृहस्थों के लिए वे दान कथा, शील कथा, स्वर्ग कथा, काम दुष्परिणाम कथा आदि कहते थे। बालिकाओं को विवाहोपरान्त पतिगृह कार्य कुशलता तथा संलग्नता उत्तरदायित्व का उपदेश करते थे। गृहस्थियों को सन्यास की श्रेष्ठता बतलाते हुए उन्होंने कहा कि तुम्हारे लिए अप्रमाद का जीवन श्रेष्ठ है भिक्षुओं को भी चार आर्य सत्यों का उपदेश करते थे तथा योग्य भिक्षुओं को चार स्मृति प्रस्थानों का उपदेश करते थे। सामान्य युवा गृहस्थी को भी गृहस्थ धर्मों का ही उपदेश देते थे। उनका उपदेश साधक की योग्यता के अनुकूल था जिसकी ब्राह्मण विचारधारा में कमी थी वहां एक ही रूप में सबको उपदेश देने का क्रम था जिसको भगवान् बुद्ध ने विचार कर नया रूप दिया। मज्झिम निकाय में कहा है—"आसयानुसयं विदित्वा भगवा धम्मं देसेति।" एक समय गृहपति ने कहा—

मैंने दीर्घ काल[32] तक शास्ता की उपासना (सत्संग) की और मनोभावनीय (भावना में तत्पर) रह कर धर्म को सुना किन्तु मैंने ऐसी धार्मिक कथा पहले नहीं सुनने को पाई। गृहपति। श्वेत वस्त्रधारी गृहस्थों को ऐसी धार्मिक कथा नहीं समझ में आती अव्रजित को गृहपति ! ऐसी धार्मिक कथा समझ में आती है तो भन्ते सारि पुत्र ! गृहस्थों को भी ऐसी धार्मिक कथा समझने को मिले। भन्ते। अल्प मत वाले भी कुल पुत्र है, कर्म से, न श्रवण से वह परहीन (वंचित होंगे) वह धर्म के जानने वाले होंगे। भगवान् ने सच्ची पूजा को समझाते हुए कहा कि सत् अर्थ में अप्रमादी, उद्योगी और आत्म संयमी होकर उद्योग करना सच्ची पूजा[33] है।

बौद्ध विचारधारा में ब्राह्मण विचारधारा के समान ही दया, मानवता, समानता, आत्मनिर्भरता प्राप्त होती है। इन्होंने आशावादिता, समय, शक्ति तथा धन के दुरुपयोग को बचा कर परतन्त्रता, आत्मावलम्बन का अभाव, आलस्यत, स्वार्थ-

31. देसितो आनन्द मया धम्भो अनन्तरं अवाहिरं करित्वा नतत्थ आनन्द तथागतस्य धम्मेसु मुट्ठि। परिनिब्बाण सुत्त, बु० च० पृ० 484
32. मज्झिम निकाय, हिन्दी अनुवाद, पृ० 585
33. (वही) महा० परि० सुत्त, पृ० 484

परता, निरुद्देश्यता अथवा सीमितोद्देश्यता, स्वतंत्र चिन्तन के अभाव तथा अन्धानुसरण की प्रवृत्ति की प्रधानता को दूर किया और तर्क के आधार पर, अपने अनुभव में पूर्णतया कुशल पाने पर ही किसी नियम को अपनाने पर जोर दिया। इन्होंने छः वर्ष तक कठोर तपस्या में आराड़कालाम के पास रह कर शारीरिक यातनाओं के सहने में परतन्त्रता का अनुभव किया और उसे (असत्-पुरुष सेवेव दृष्टिविफलतां गतां") के रूप में निष्फल पाया।

यद्यपि बुद्ध वचनों में हम देवों के प्रति अनास्था, अपने पुरुषार्थ में आस्था, कर्म फल पर समान बल, सभी एषणाओं का त्याग और सद्गुणों का अर्जन पाते हैं तो तो भी उपोसथ, ब्रह्मचर्य पालन में हम ब्राह्मण विचारधारा की देन का प्रभाव पाते हैं। इन्हें ऐहिकता तथा पारलौकिकता की मान्यताएं भिन्न रूप में स्वीकृत है। ब्राह्मण विचारधारा में भौतिक सुखों को एक दैविक देन के रूप में माना है उसके ठीक विपरीत इन्होंने देवों पर निर्भरता तथा मानव के लिए अपने पर अविश्वास के रूप में स्वीकार किया है। ऐहिक जीवन का जो रूप ब्राह्मण विचारधारा में है कि जहां इन्द्र से (पतयोरयीणाम्) की प्रार्थना करते हैं वहां भगवान् बुद्ध भिक्षुओं को चीवर, संघाटी तथा भिक्षा पात्र की अनुमति देते हैं और सामान्य गृहस्थी के लिए भी मिताहार और संयम का उपदेश देते हैं।

"एकोऽहम्" "बहु स्याम्" का स्पष्ट प्रभाव बुद्ध वचनों में मिलता है यथा "तो वत्स। तू दो आगे के धर्मों शपथ (समाधि) और विपश्यना (प्रजा ज्ञान) की भावना कर। यदि तू चाहेंगा कि अनेक प्रकार की ऋद्धियों का अनुभव करूं—एक होकर[34] बहुत हो जाऊं, बहुत होकर एक हो जाऊं प्रकट होऊं, अन्तर्धान होऊं, पार हो जाऊं, पर्वत को पार कर जाऊं। इस प्रकार उन्होंने अपने धर्म को पंडितों के रंजन करने योग्य, परीक्षा और मीमांसा[35] के योग्य कहा, अज्ञों के नहीं।

अनाथ पिंडक[36] को उसके मरण समय में उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा, 'अभ्यास करो गृहपति।

परलोक का उपादान न करूंगा, और मेरा विज्ञान परलोक में निश्चित न होगा, ऐसे तुम गृहपति अभ्यास करो कि जो कुछ भी तुम्हारा इष्ट, श्रुत, स्मृत, विज्ञान, प्राप्त, पर्येषित (खोजा हुआ) अनुपर्येषित, मन द्वारा अनुचरित, उसका भी उपादान न करूंगा और मेरा विज्ञान उसमें निश्चित न होगा" इस उपर्युक्त विवरण में ब्राह्मण विचारधारा का वह स्थल स्मरण हो आता है जहां मृत्यु के समय से पूर्व प्राणी को अपने यज्ञमय भगवान् का स्मरण करते हुए (ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो

34. महावच्छगोत सुत्त म० नि०, पृ० 289
35. उपालि सुत्त, म० नि०, पृ० 231
36. अनाथपिण्डिकोवाद, म० नि०, पृ० 584

स्मर कृतं स्मर)[37] में अपने श्रुत, स्मृत का स्मरण करने का निर्देश दिया है। वस्तुतः यहां कृतम् में कर्मों की ओर संकेत है जिसे भगवान् बुद्ध भूल जाना वतलाते हैं। स्थिति को और स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि मानव के सामने जितनी भी मान्यताएं हैं उन सभी की विस्मृति का उपदेश-भगवान् देते हैं कि जिससे उसका विज्ञान परलोक के लिए उसकी अन्तिम इच्छा (जो दोनों को मान्य है) के अनुसार पुनर्जन्म न लेना पड़े उनकी इच्छा है कि उस समय कोई भी चिन्तन न होगा तो वह ब्रह्म भूत होगा और निर्वाण को प्राप्त करने में उसे कोई बाधा न होगी। इस प्रकार मैंने बुद्ध वचनों में उनकी देनों का संक्षेप में ब्राह्मण विचारधारा के साथ विचार किया।

(ग) बुद्ध वचनों में जीवन दर्शन से सम्बन्धित सामग्री

जीवन दर्शन से यहां आशय यह है कि किसी भी विचारधारा में मनुष्यों के जीवन के लिए किस पद्धति का निर्देश किया गया है और उसका आधारभूत रहस्य क्या है वह बाह्य आडंबरों में तो मानव की शक्ति, धन और समय का दुरुपयोग करके उसको भ्रमित तो नहीं करता उसका चरम लक्ष्य मानव दुःखों से मुक्ति है अथवा नहीं भगवान् बुद्ध ने मानवतावादी बिचारधारा का एक उज्ज्वल रूप चार आर्य सत्यों, अष्टांगिक मार्ग के रूप में जन-जीवन की धारा को एक नया मोड़ देने के लिए प्रकट किया जिसे हम दोनों अतियों के त्याग के रूप में मध्यम प्रतिपद् के रूप में पाते हैं। हम कतिपय उद्धरणों द्वारा दर्शन के सम्बन्ध में विचार प्रस्तुत करेंगे।

उन्होंने मुनियों[38] के लिए धर्म के रूप को समझाते हुए कहा। मुनि किसी दृष्टि विशेष (वाद) में न पड़ कर स्वतन्त्र रूपेण विचार करते हैं। कुछ लोग दुष्ट मन से विवाद करते हैं और कुछ लोग विवाद करते हैं सच्चे मन से। मुनि विवाद में नहीं पड़ते, इसलिए मुनि संकीर्ण नहीं होते। इस बिषय में भगवान् बुद्ध ने अपने शील व्रतों[39] की चर्चा तथा आत्म प्रशंसा को अनार्य कर्म कहा है और जो अपने शील की चर्चा नहीं करते उसे कुशलों का आर्य धर्म कहा है। वाद विवाद में पड़ने

---

37. ईश० उ०, पृ० 17

38. वदन्ति वेदुट्ठमनां पि एके अथो पि वे सच्चमना वदन्ति।
वादंच जातं मुनि नो उपेति, तस्या मुनि नत्थि खिलो कुहिंचि ॥

39. यो अत्तनो सीलवतानि जन्तु, अनानुपट्ठो च परेस पावा।
अनरियधम्मं कुसला तमाहु, यो आतुमानं सयमेव पावा।

वाले व्यक्तियों के लिए उनकी स्पष्ट घोषणा थी—वासनायुक्त[40] मनुष्य ही धर्म विषयक विवाद में पड़ता है ; वासना रहित मनुष्य किस लिए विवाद में पड़े ? वह अपनत्व परत्व के फेर में नहीं पड़ता क्योंकि उसने यहां सभी दृष्टियों को त्याग दिया है। वे एक दृष्टि[41] को छोड़ दूसरी दृष्टि को ग्रहण करते हैं। तृष्णा के वशीभूत वे आशंकित को पार नहीं कर सकते। वे पीछे की शाखा को छोड़ आगे की शाखा को पकड़ने वाले बन्दर की तरह एक दृष्टि को छोड़ दूसरी को ग्रहण करते हैं। दृष्टि, श्रुति, शील व्रत और विचार में से एक के द्वारा ब्राह्मण ने शुद्धि नहीं की, शुद्ध वही है जो कि पुण्य-पाप में अलिप्त है और अहंकार तथा संस्कार से रहित है। न वे किसी दृष्टि के पक्ष में बोलते हैं, न किसी की प्रशंसा में बोलते हैं, न किसी को अत्यन्त शुद्ध ही बतलाते हैं। कट्टरता रूपी ग्रथित ग्रन्थि को त्याग कर संसार में कहीं भी तृष्णा नहीं करते। महाप्राज्ञ धर्म सम्बन्धी किसी दृष्टि श्रुति या विचार में पक्षग्राही नहीं होते। केवल सत्य को देखकर स्वतन्त्र रूप से विचरण करने वाले उन्हें कौन विचलित कर सकता है।

भगवान् बुद्ध[42] ने कहा कि संसार में जो अपनी दृष्टि को उत्तम मान बैठता है, उसकी बड़ाई करता है, और दूसरों को नीच समझता है, वह विवादों के परे नहीं है। जो अपनी दृष्टि के फेर में पड़ कर दूसरे को नीच देखता है, कुशलों ने उसे ग्रन्थि कहा है। इसलिए भिक्षु दृष्टि, श्रुति, विचार या शील व्रत के फेर में न पड़े। जिसे दोनों अन्तों में और इस लोक या परलोक में पुनर्जन्म के लिए तृष्णा नहीं रहती, उसे धार्मिक चाल सम्बन्धी हठग्राह से उत्पन्न आसक्तियां नहीं होती। वे किसी धर्म के फेर में पड़ कर न तो उसके विषय में कोई मत देते हैं, न उसकी कोई बड़ाई करते हैं। भवसागर के पार गए हुए स्थिर ब्राह्मण फिर किसी शीलव्रत के फेर में नहीं आ पड़ते।

बुद्ध ने लोक में चार प्रकार के पुद्गल[43] (पुरुष) बताए हैं। (1) आत्मंतप (2) परंतप (3) आत्मंतप-परंतप (4) न आत्मंतप-परंतप। बुद्ध आत्मं तप को भी पसंद नहीं करते क्योंकि वह सुखेच्छुक, दुःख प्रतिकूल हो अपने को आतापित प्रतापित करता है इसलिये भन्ते ! यह पुद्गल मेरे चित्त को पसन्द नहीं आता। परन्तप भी पसन्द नहीं क्योंकि वह सुखेच्छुक दुःख प्रतिकूल दूसरे को आतापित

40. उपयो हि धम्मेसु उपेतिवाद अनपूयं कथ केन वेदेय्य ।
दुट्ठक सुत्त, 1,3,4,8

41. सुद्धट्ठक सुत्त-2, 3

42. परमट्ठक सुत्त, 1,3,6

43. कन्दरक सुत्त म॰ नि॰ हिन्दी अनुवाद पृ॰ 208, 209

प्रतापित करता है जो आत्मंतप, परंतप है वह सुखेच्छुक, दुःख प्रतिकूल अपने को दूसरे को आतापित परितापित करता है। जो यह भन्ते ! अन् आत्मंतप अपरंतप पुद्गल ब्रह्मभूत आत्मा से विहरता है, यह सुखेच्छु, दुःखेच्छु प्रतिकूल हो अपने और पर के चित्त को नहीं तपाता, न सन्ताप देता है इसलिए भन्ते ! यह पुद्गल मेरे चित्त को पसन्द आता है।

आत्मंतप परंतप के उदाहृण में उन्होंने कहा भिक्षुओ ! यहां कोई पुरुष मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय राजा होता है या महाशाल (महाधनी) ब्राह्मण होता है ! वह नगर के पूर्व द्वार पर नये संस्थागार (यज्ञशाला) को बनवा दाढ़ी-मूंछ मुड़ा वर-अजिन धारण कर घी तेल से शरीर को चुपड़, मृग के सींग से पीठ को खुजलाते हुये (अपनी) महिषी (पटरानी) और ब्राह्मण पुरोहित के साथ संस्थागार में प्रवेश करता है। वह वहां गोबर से लिपि नंगी भूमि पर शयन करता है। समान रूप के बछड़े वाली एक (ही) गाय के स्तन के दूध से राजा गुजारा करता है, जो दूसरे स्तन में दूध है, उससे महिषी गुजारा करती है, जो तीसरे स्तन में दूध है, उससे ब्राह्मण पुरोहित, जो चौथे स्तन में दूध है, उससे अग्नि में हवन करता है, शेष बचे से बछड़ा। वह (यजमान) ऐसा कहता है—यज्ञ के लिये इतने बैल मारे जायें, इतने बछड़े, इतनी बछियां, इतनी बकरियां इतनी भेड़ें इतने वृक्ष काटे जायें, वेदी (र्बाहिष) के लिये इतना कुश काटा जाये। जो इसके दास प्रेष्य या कर्मकर होते हैं, वे भी दण्ड से तर्जित, भयभीत अश्रुमुख होते कामों को करते हैं। भिक्षुओं ! यह कहा जाता है आत्मंतप-परंतप।

बहुजनहिताय उपदेश करने की बुद्ध की घोषणा—भगवान् बुद्ध[44] ने सहम्पति ब्रह्मा के निवेदन पर अर्हतों की मुक्ति के लिए तथा धार्मिक विचारधारा का लोप न हो इस कारण लोक कल्याण हेतु धर्म देशना का समारम्भ किया और संयुक्त निकाय के चारिका सुत में भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा—

'भिक्षुओं। जितने भी दिव्य और मानुष पाश है मै उनसे मुक्त हूँ, तुम भी दिव्य और मानुष पाशों से मुक्त होओ। भिक्षुओ। बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए चारिका चरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ। आदि में कल्याण कारक, मध्य, में कल्याण कारक, अन्त में कल्याण कारक धर्म का उपदेश करो। अर्थ सहित केवल परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो अल्प दोष वाले प्राणी है, धर्म के न श्रवण करने से उनकी हानि होगी, सुनने से वह धर्म के जानने

---

44. संयुक्त निकाय 4।1।4, महावग्ग

वाले होंगे । जो कुछ समुदय[45] धर्म है, वह सब निरोध धर्म है, यह विरज विमल धर्म चक्षु उत्पन्न हुआ । राजा शुद्धोदन ने कहा 'भन्ते ! हमें क्यों लजवाते हो ? किस लिये भिक्षाचरण करते हो ? क्या इतने भिक्षुओं के लिए भोजन नहीं मिलता । 'महाराज ! हमारे वंश का यही आचार है ।'

बौद्ध विचारधारा[46] की सरलतम व्याख्या भगवान् बुद्ध ने गौतमी से इस प्रकार की—'गौतमी । जिन धर्मों को तु जाने कि वह धर्म राग के लिए है, सराग के लिए नहीं । वियोग के लिए हैं संयोग के लिए नहीं, उद्योग के लिए है विनाश के लिए नहीं, इच्छाओं को अल्प करने के लिए है, बढ़ाने के लिए नहीं, सन्तोष के लिए है असन्तोष के लिए नहीं, एकान्त के लिए है, भीड़ के लिए नहीं, उद्योगिता वीर्यारम्भ के लिए है, अनुद्योगिता के लिए नही, सुभरता के लिए है, दुर्भरता के लिए नहीं । सो तू गौतमी ! सोलहों आने जान, कि यह धर्म है, यह विनय है, यह शास्ता का शासन है । पंडितजन[47] अपने हित को जानते हुए, भुजंग, पावक, यशस्वी क्षत्रिय और शील सम्पन्न सदाचारी भिक्षु के साथ अच्छी प्रकार वर्ताव करें उसे (दहर) अल्पवयस्क, छोटा समझ अपमान न करें ।

इनका उद्घोष है कि अबैर से वैर शान्त[48] नहीं होता यही सनातन धर्म है । धर्म गुरुओं के साथ विवाद करते हुए भगवान् ने निगंठ से पूछा कि क्या तुम्हें मालूम है कि पूर्व जन्म में कितने पाप कर्म किए हैं, कितने नष्ट हो गए हैं और कितने शेष हैं । उसने उत्तर में 'नहीं कहा । इस प्रकार उन्होंने उसके मिथ्या वाद का प्रतिवाद किया और धन के सच्चे रूप को बिम्बसार को समझाया ।[49]

भगवान् बुद्ध ने सुत्त निपात के पराभव सुत में अनेक हेय तथा उपादेय गुणा-व गुण का विवेचन करने के उपरान्त सुत्त की समाप्ति में कहा है कि—दर्शन से युक्त,[50] पण्डित. आर्य पुरुष अवनति के कारणों को अच्छी तरह जान सुखपूर्वक संसार में सुख से रहता है । जिन्होंने चार[51] सत्यों का दर्शन कर लिया आठवां जन्म नहीं ग्रहण करते । दर्शन प्राप्ति के साथ उसके तीन संयोजन (बन्धन) छूट जाते

---

45. सारिपुत्र प्रव्रज्या बु० च० पृ० 37
46. प्रजापतिसुत्त अंगुत्तर नि० निकाय 8।2।1-3, बु० च० पृ० 76
47. बु० च० 85
48. धम्मपद
49. चूलट्ठक्खन्ध सुत्त बु० च० पृ० 215
50. ऐसे पराभवे लोके—अरियो दस्सन सम्पन्नो, स लोकं भजते सिवेति ।
पराभव सुत्त सु0 नि0 25
51. रतन सुत्त सु0 नि0 10, 11, 14

हैं—सत्काय दृष्टि (नित्य आत्मा का विश्वास), विचिकित्सा (संशय), तथा शीलव्रत परामर्श (नाना प्रकार के व्रतों के कर्मकाण्ड से नित्त शुद्धि की प्राप्ति में विश्वास) तथा वह चारदुर्गतियों तथा छः घोर पापों का आचरण कभी नहीं करता। यदि शरीर बचन अथवा मन द्वारा उससे कोई पाप कर्म हो भी जाय तो भी वह परम पद द्रष्टा उसे नहीं छिपाता। बुद्ध ने बताया कि निर्वाण प्राप्तदर्शी को कोई रहस्य नहीं रहता। उसका सम्पूर्ण पुराना कर्म क्षीण हो जाता है, नये कर्म का संचय नहीं होता, उनका चित्त (अर्हत्) पुनर्जन्म से विरक्त हो जाता है। वह क्षीण बीज क्षीण तृष्णा से सर्वथा मुक्त प्रदीप की तरह निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

भगवान् बुद्ध ने जीवन दर्शन को इतनी सरल, सुगम, सुबोध भाषा में समझाने का प्रयत्न किया था कि जिससे मनुष्य को सन्देह ही न रहे कि क्या उसके लिए करणीय है और क्या अकरणीय—?

यथा 'न तो मछली[52] मांस न खाना, न नंगा रहना, न मुंडन करना, न जटा धारण करना, न धूल पोतना. न कर्कश मृग चर्म पहनना, न अग्नि परिचर्या, न अमरत्व की आकांक्षा से अनेक प्रकार का तप करना, न मंत्र पाठ करना, न हवन करना. न यज्ञ करना और न ऋतुओं का उपसेवन करना ही संशय युक्त मनुष्य को शुद्ध कर सकते हैं।

'जो इन्द्रियों को वश में कर विजितेन्द्रिय हो गया है, और जिसने, धर्म में स्थित हो ऋजुता और मृदुता में रत हो, तृष्णा से परे दुःखों का नाश किया है, वह रूपों तथा शब्दों में आसक्त नहीं होता।'

तृष्णाओं का[53] का समूल नाश ही बौद्ध धर्म दर्शन का प्रधानभूत एवं प्राणभूत तत्व है। उन्होंने तृष्णाओं को पाप का कारण निर्दिष्ट किया है और बतलाया है कि जिस प्रकार वट वृक्ष के तने प्ररोह निकल आते है, उसी प्रकार तृष्णा और आत्म दृष्टि से पाप उत्पन्न होते हैं। और जंगल में फैलने वाली मालुवा लता की तरह वे विषयों में आसक्त रहते हैं।

संतोष मानो बौद्धदर्शन की सरागता की सीमा है जिसके दर्शन हम भगवान् बुद्ध के इन वचनों में प्राप्त करते हैं कि भिक्षु को गांवों में सहसा[54] विचरण नहीं करना चाहिए और वहां जो कुछ भी मिले तो अच्छा है न मिले तो भी ठीक है इस प्रकार

---

52. न मच्छमंसानमनासकत्तं, न नग्गियं (मुण्डिय जटा) जल्लं खराजिनानि वा।
नाग्गिहुत्तस्सुपसेवना वा, ये वापि लोके अमरा बहू तपा।
मन्ताहुती यज्जमुतूपसेवना, सोधेन्ति मच्चं अवितिरणकङ्खं। आमगन्धसुत्त 11
53. सुचिलीन सुत्त 2, सुत्त निपात
54. वस्तुगाथा सुत्त 13-15 सु० नि०

दोनों अवस्थाओं अविचलित हो लौट आए, गूंगे की तरह मौन हो, हाथ में पात्र लेकर विचरण वाला बहुत थोड़ा दान मिलने पर भी उसकी अवहेलना न करे और न दाता का तिरस्कार करे।

भगवान् बुद्ध ने वैराग्य और वितृष्ण होने का कारण संक्षेप में इस प्रकार समझाया है मैं लोभ को महा जलाशय[55] बताता हूं, आसक्ति को दौड़ बताता हूँ। आलम्बन कम्पन है, काम रूपी पंक दुस्तर है। जिसे सर्व प्रकार से नाम और रूप में आसक्ति नहीं है, जो अविद्यमान का शोचन नहीं करता, वह संसार में जन्म ग्रहण नहीं करता।

बौद्ध दर्शन का चरम लक्ष्य निर्वाण पद[56] है जिसमें भगवान् ने दृष्ट, श्रुत, ज्ञात, विज्ञात, प्रिय रूपों के प्रति दृढ़ आसक्ति का जो दूर करना है, वही अच्युत निर्वाण पद है। जो स्मृतिमान् यह जानकर इसी जन्म में निवृत्त है सदा उपशान्त वे संसार में तृष्णा के उस पार गए हैं।

भगवान् अनाथ पिंडक[57] के यह पूछने पर कि—भन्ते! भगवान् को निद्रा सुख से तो आई, कहा—

'निर्वाण प्राप्त ब्राह्मण सर्वदा सुख से सोता है।
शीतल हुआ, दोष रहित हो जोकि कामवासनाओं में लिप्त नहीं होता।
सारी आसक्तियों को खण्डित कर हृदय से डर को हटा कर।
चित्त की शान्ति को प्राप्त कर उपशांत हो सुख से होता है।

भगवान् ने आनन्द से कहा—आनन्द! यदि तथागत प्रवेदित धर्म विनय में स्त्रियाँ प्रव्रज्या[58] न पातीं तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता। सद्धर्म सहस्र वर्ष ठहरता। लेकिन चूंकि आनन्द स्त्रियाँ प्रव्रजित हुई, अब ब्रह्मचर्य चिरस्थायी न होगा, सद्धर्म पांच सौ वर्ष ठहरेगा।

बौद्ध श्रावकों द्वारा अपनी विचारधारा की विशेषताओं का वर्गीकरण—

एक समय सारि पुत्र ने पावा में निगंठ नाथ पुत्त के काल कर जाने के उपरान्त कहा निगंठ के श्रावक निर्विण्ण है, दुराख्यात, दुष्प्रवेदित, अनैर्वाणिक अनूपशम संवर्तनिक, असम्यक् संबुद्ध प्रवेदित, प्रतिष्ठा रहित, आश्रय, रहित धर्म विनय में

55. अत्तदण्ड सुत्त, सु० नि० 11, 16
56. हेम माणव पुच्छा सु० नि०
57. अनाथ पिंडक की दीक्षा, बु० च० पृ० 64
58. प्रजापती पब्बजा सुत्त अंगु० नि० 8।2।1।1

हम रह रहे हैं ऐसा कहने पर इन्होंने अपने धर्म दर्शन का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया—

'आवुसो ! हमारे भगवान् का यह धर्म सुआख्यात (ठीक से कहा गया), सुप्रवेदित (ठीक से साक्षात्कार किया गया), नैर्वाणिक (दुःख से पार करने वाला), उपशम संवर्तनिक (शाँति प्रापक), सम्यक् संबुद्ध प्रवेदित (पूर्ण ज्ञानी द्वारा जाना गया) है। तहां सबको ही अविरुद्ध वचन वाला होना चाहिये। विवाद नहीं करना चाहिए, जिससे कि यह ब्रह्मचर्य अध्वनीय (चिरस्थायी) हो, और वह बहुजन सुखार्थ लोक के अनुकम्पा के लिये, देव-मनुष्यों के अर्थ हित सुख के लिये हो।

भगवान् बुद्ध ने भिक्षु-संघ को जो उपदेश दिए उनमें कोई आचार्य मुष्टि[59] (हहस्य) नही है। इसलिए भिक्षुओं को उपदेश करते हुए उन्होंने कहा कि इस उपदेश को तुम अच्छी तौर से सीख कर सेवन करना, बढ़ाना, जिसमें वह ब्रह्मचर्य अध्वनीय चिरस्थायी हो, वह (ब्रह्मचर्य) बहुजन हितार्थ बहुजन[60] सुखाय, लोकानुकंपार्थ, देव मनुष्यों के अर्थ, हित सुख के लिये हो। भिक्षुओ ! मैंने वह कौन से धर्म, अभिज्ञात कर, उपदेश किये हैं, जिन्हें अच्छी तरह सीख कर ? जैसे कि (1) चार स्मृति प्रस्थान (2) चार सम्यक् प्रधान, (3) चार ऋद्धिपाद, (4) पांच इन्द्रिय, (6) पांचबल, (7) सात बोध्यंग, (8) आर्य अष्टांगिक मार्ग। हन्त ! भिक्षुओ ! तुम्हें कहता हूँ— संस्कार (कृतवस्तु) नाश होने वाले (वयधम्मा) है, प्रमाद रहित हो सम्पादन करो।

भगवान् बुद्ध ने अपने दर्शन की गम्भीरता को स्पष्ट करते हुए कहा कि मैंने 'स्वयं जन्मने[61] के स्वभाव वाले, जन्मने के दुष्परिणाम को जानकर अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को खोजता अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को पा लिया। स्वयं जरा धर्म वाला होते मैंने जरा-धर्म के दुष्परिणाम को जानकर जरा-रहित, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को खोज अजर, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को पा लिया, स्वयं व्याधि धर्मा, व्याधि धर्म रहित स्वयं मरण अमर। स्वयं शोक धर्म वाला शोक रहित। स्वयं संक्लेश (मल) युक्त संक्लेश रहित। मेरा ज्ञान दर्शन (साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्त की मुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं होगा।'

'तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—

'मैंने गंभीर, दुर्दर्शन, दूर्-ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण, पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्म को पा लिया। यह जनता काम-तृष्णा (आलय) में

59. बु० च० पृ० 496
60. बु० च० पृ० 497
61. मज्झिम निकाय पासरासि सुत्त पृ० 106

रमण करने वाली, काम-रत, काम में प्रसन्न है। काम में रमण[62] करने वाली इस जनता के लिये, यह जो कार्य-कारण रूपी प्रतीत्य समुत्पाद है, वह दुर्दर्शनीय है। और यह भी दुर्दर्शनीय है, जो कि यह सभी संस्कार का शमन, सभी क्लेशों का परित्याग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध (दुःख निरोध), और निर्वाण है। मैं यदि धर्मोपदेश भी करूं और दूसरे उसको न समझ पावें, तो मेरे लिये यह पीड़ा और परेशानी (मात्र) होगी। भिक्षुओ। मुझे ये पहले कभी न सुनी हुई अद्भुत गाथायें सूझ पड़ीं—मज्झिमनिकाय के हिन्दी अनुवाद में

'यह धर्म पाया कष्ट से, इसका न युक्त प्रकाशना।
नहिं रागद्वेष-प्रलिप्त को है सुकर इसका जानना॥
गंभीर उल्टी-धार-युत दुर्दृश्य सूक्ष्म प्रवीण का।
तम-पुंज-छादित रागरत द्वारा न सम्भव देखना॥

इस प्रकार धर्म एवं ज्ञान के दर्शन पक्ष को विशद और सरल रूप से समझाते हुए भगवान् ने कहा कि मैं अकेला[63] ही अविद्या रूपी अंडे की खोल को फाड़ कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को जानने वाला हूँ। मैं ही ब्राह्मण लोक में ज्येष्ठ श्रेष्ठ हूं। बौद्ध दर्शन के इस पक्ष को हम पश्चात्कालीन विचारों में बोधिसत्व का रूप प्राप्त करते हैं जिसमें भगवान् को महाकरुणा से द्रवित हो बहुजनहिताय अवतरित होता हुआ माना गया है वह महायान विचारधारा है। हमारे विवेचन का विषय प्राचीन बौद्ध विचारधारा हीनयान ही है जिसकी भिन्नता को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं। प्राचीन[64] बौद्ध धर्म में बोधिसत्व होने का अधिकार बौद्ध भिक्षुओं को ही था जोकि महायान में सभी को सुलभ हो गया। इस कारण इन्होंने बोधिसत्वों तथा बुद्धों की संख्या में वृद्धि की ओर मनुष्यों को उस स्थिति तक पहुँचा दिया। एक दृष्टि में बौद्ध देवों का एक समूह बना लिया और निम्न मनुष्यों से पैतृक सम्बन्ध स्थापित किया। उन्होंने ध्यान के साथ-साथ निर्वाण प्राप्ति में भक्ति का सन्निवेश किया। अनात्मवाद का प्रसार किया और शून्यवाद को भी फैलाया। इस प्रकार जीवन में सर्वांगीण विकास के साथ निर्वाण प्राप्ति बौद्ध दर्शन का रहस्य है।

(घ) ब्राह्मण विचारधारा में वर्णित जीवन दर्शन की सामग्री का उस पर प्रभाव

मानव निर्मिति के रहस्य के "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" की भावना से अनु-

62. म० नि० पृ० 107
63. वेरंजक सुत्त बु० च० 130
64. दी स्प्रिट आफ बुद्धा पृ० 39

प्राणित विचार ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ एवं उपनिषदों में भरे पडे हैं, अतः चेतनत्व स्वरूप परमात्म तत्व ही है। देवों[65] और मनुष्यों में आत्म तत्व समान ही है। नव[66] द्वारों वाला शरीर सत्व, रज, तम तीन गुणों में बंधा हुआ है। मर्त्य पुरुष को सब प्रकार से बना कर देवों ने उसमें प्रवेश किया। अपने में दैवी गुणों[67] को जन्मना स्वीकार करते हुए मानव दुष्ट या नीच न होकर सभी मानवों के प्रति भ्रातृत्व की भावना से ओतप्रोत है सभी के प्रति अब हमने सतत बन्धुत्व को माता के गर्भ में ही स्वीकार कर लिया है। इसी कारण मनुष्य अपने को मात्र मानव ही न समझ कर (दैविक गुणों से सम्पन्न माने और उन्हीं गुणों का अनुशीलन करे, अपने को ही ब्रह्म[68] समझे। यही इस धारा का चरम लक्ष्य है।

जीवन को सुखी बनाने का भी दृष्टिकोण पूर्णतया विकसित हुआ है। अपनी इन्द्रियों की बलिष्ठता के लिए प्रार्थना है कि हमारे नेत्रों[69] को प्रकाश दो, शरीर को भी दृष्टि दो जिससे हम देख सकें। हम विश्व को पूर्णतया विस्तृत सूक्ष्म रूप से देख सकें। मंत्र में (सं चेदं वि) में से उपसर्ग संश्लिष्ट तथा वि से विश्लिष्ट दोनों रूपों में देख सकें। अथर्व वेद[70] में भी इन्द्रियों की बलिष्ठता के लिए प्रार्थना की गई है। वाणी, प्राण, चक्षु, अपलित केश, भुजाओं में बल सभी अंगों के अरिष्टों से रहित होने की कामना की गई है। वायु आदि महाभूतों से भी स्वास्थ्य हेतु आयु वृद्धि की कामना की गई है।

यजुर्वेद[71] में पूर्ण तथा सुखी जीवन की कामना करते हुए सौ वर्ष तक देखने, सुनने, बोलने, अदीन रहने की प्रार्थना का प्रसिद्ध मंत्र प्राप्त होता है। इसी प्रकार पूर्ण जीवन की कामना का अथर्व वेद[72] में समान भाव प्राप्त होता है। सदैव अजर अमर रहने तथा युवा रहने की कामना में बुढ़ापे को दूर रखने की इच्छा व्यक्त की गई है। इन्द्र जैसे कि सदा युवा अजर अमर है हम भी वैसे ही रहें। इस लोक को

---

65. देवासो हिस्मा मनवे समन्यवो, विश्वे साकं सरातयः ऋ०। 8।27।14
66. पुण्डरीकं नव द्वारं त्रिभि र्गुणेभिरावृतम्। अथर्व० 10।8।43
67. 'सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्। अथर्व० 11।8।13
68. तस्माद् वें विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। अथर्व० 11।8।32
69. चक्षुर नों धेहि चक्षुषे चक्षु विख्यै तनूभ्यः।
    संचेदं वि च पश्येम ॥ ऋ० 10।158।4
70. अथर्व० 19।60।1,2
71. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्र मुच्चरत् पश्येम शरदः शतम्। यजु० 36।24
72. पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतम्। अथर्व० 19।67

प्रियतम बताया है एक रोगी को मृत्यु शय्या[73] पर पड़े हुए अभी और जीवित रहने की कामना करते हुए 'अयं लोकः प्रियतमः' भावी जीवन के सुख की चिन्ता न करके इह लोक के सुखी होने की भावना का वर्णन है।

ब्राह्मण[74] विचारधारा का ऋषि आनन्द मग्न होकर ही स्तवन करता है। इन स्तवनों को वह हर्ष के स्रोतों का बहाव कहता है। वह मानव जीवन को मात्र पाप पुंज[75] या कष्ट भोगने के लिए ही नहीं आँकता अपितु वह आनन्दित होकर उस दैविक आनन्द की अनुभूति को जीवन में प्राप्त करता है। दानी पुरुष के सुखी जीवन के लिए उसे देव मन्दिर के समान रमणीय घर मिलते हैं। घर से बाहर[76] जाने और वापिस आने के सुखमय होने की प्रार्थना की गई है।

इस विचारधारा के दर्शन की आधार भित्ति भौतिक जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन दोनों का समन्वय है। जो विद्वान् इस विचारधार को केवल भौतिकवादी तथा कर्मकाण्ड प्रधान कह कर ही इसकी उपेक्षा करते हैं यह अनुचित है। इसमें उदात्त भावनाओं के ऐहिक तथा पारलौकिक जीवन के लिए सुदृढ़ वातावरण प्रस्तुत किया गया है। ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों में किस प्रकार से सामंजस्य रह सके यही इस विचारधारा के दर्शन का रहस्य है यह पतिपत्नी परिवार, समाज, राष्ट्र एवं विश्व बन्धुत्व की भावनाओं से ओतप्रोत है। सर्वप्रथम युगल स्नेह से इसका समारम्भ होता है। वैवाहिक सम्बन्ध ब्राह्मण विचारधारा का आदर्श पावन सम्बन्ध है जैसा शायद ही किसी देशी विदेशी विचारधारा में लभ्य हो सके। दोनों के उचित सम्मान पारस्परिक स्नेह रज्जु पाश से बंधे हुए इस सम्बन्ध को पूर्वकाल में सूर्या के विवाह[77] से सुगमतया समझा जा सकता है। इस सूक्त में पत्नि को समान आदर वाली गृह-स्वामिनी के रूप में सौभाग्यवती, सुमंगली कहा गया है यह ब्राह्मण विचारधारा का आदर्श गृहस्थ जीवन का स्वरूप है जो विश्व के सभी धर्मों के मूल्यांकन में सर्वोच्च माना गया है।

समाज[78] में परिवार में, राष्ट्र में, विश्व में, सभी प्राणियों में समान भाव,

---

73. कृधीनो अद्य वरिवः स्वस्तिमदुरक्षितो गृणीहि दैव्यं जनम्। ऋ० 9।84।1
74. ऋ० 10।68।1
75. ऋ० 10।107।10
76. मधुमन्मे परायणं मधु मत्पुनरायनम्। ऋ० 10।24।6
77. सुमंगलीरियं वधूरिमां—सौभाग्यमस्यै परेतन ॥ ऋ० 10।85।33
78. संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
समानो मंत्र समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ऋ० 10।191।1-3, अ० 6।64।1-3

समान विचार रखते हुए एक उदीयमान राष्ट्र के नागरिक जागरूक रह कर जीवन में उन्नति करें। इस प्रकार संगठन की सामूहिक भावनाओं से आभरित ये ब्राह्मण विचारधारा अपना विशेष महत्व रखती है।

ऋषि अपने ज्ञान के प्रथम प्रकाश को भी उस चेतन शक्ति के द्वारा प्राप्त करता हुआ कहता है कि 'मैं नहीं जानता[79] कि मैं क्या कहूँ, मैं मूर्ख और अर्द्ध विक्षिप्त हो रहा हूँ। जब यज्ञ के प्रथम जन्मा पुत्र मेरे पास आते हैं तभी मैं उस शब्द के एक अंश का आनन्द प्राप्त करता हूँ।

भौतिक उपलब्धियों के साथ सत्य के अनुशीलन, चरित्र की शुद्धि[80] के लिए देवों से अपने को पवित्र किए जाने की प्रार्थना की गई है और एषणाओं के परित्याग, अहिंसा तथा विश्व को हित के भावों को विशेष स्थान दिया है। सत्य बोलने वाले व्यक्तिके लिए कहा गया है कि सत्यवादी का तेज[81] बढ़ता है और असत्यवादी का तेज क्षीण होता है। अविद्या तथा क्लेशों के निराकरण को महत्व दिया गया है क्योंकि क्लेश जीवन में सदैव बने रहते हैं बाद में उनका अनुशय होता है। ये जीवन की क्रियाओं को प्रभावित करते हैं अतः ये हेतु सर्वत्रग हेतु कहे गए हैं क्योंकि ये सनातन होते हैं। इनका कारण अविद्या[82] है। क्लेशों का विनाश तथा जीवन की पवित्रता ही ब्रह्म विचारधारा का लक्ष्य है। क्लेश जीवन की सनातन प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं वे साश्रव धर्म सामान्यजन के होते हैं किन्तु जो सन्त आर्य हैं जो जीवन के आकर्षणों से दूर रह कर मोक्षेच्छु होते है वे ही विरक्त कहलाते!

भारतीय दर्शन के चरम लक्ष्य मोक्ष तथा उसकी प्राप्ति के लिए तपस्या के महत्व पर प्रकाश डालते हुए प्रो० हिरियन्ना[83] ने लिखा है कि भारतीय दर्शन न केवल बौद्धिक है और केवल नैतिक किन्तु इन दोनों का समन्वय है। इसका लक्ष्य बौद्धिक तथा नैतिक तत्वों द्वारा प्राप्तव्य से भी अधिक प्राप्ति है। यद्यपि ये ही चरम लक्ष्य नहीं है। ये दोनों सहायक दो पंखों के समान वर्णित किए गए हैं कि जिनकी सहायता से आत्मा अपनी आध्यात्मिक उड़ान भर सकता है। लक्ष्य की सिद्धि में एक और सहानुभूति पर आश्रित ज्ञान (प्रकाश) और दूसरी ओर वैराग्य या त्याग जो कि भौतिक वस्तुओं की नश्वरता के कारण उत्पन्न होता है। वस्तुतः

---

79. ऋ० 1।164।37
80. पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसाधियः। यजु० 19।39
81. स यः सत्यं वदति। तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति—योऽनृतं वदति।
शा० ब्रा० 2।1।6।19
82. दी सेन्ट्रल कंसेप्शन आफ बुद्धिज्म—प्रो० शेरबात्स्की, पृ० 42
83. आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी, हिरियन्ना भूमिका, पृ० 24

यह शान्ति की ओर बढ़ने का एक मार्ग हे यह नैराश्य नहीं। किन्तु इसमें आन्तरिक अनुभूति पर ही बल दिया है। इन्होंने स्वर्ग को सर्वप्रथम एक मानसिक स्थिति के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना है।

इस विचारधारा में दर्शन पक्ष का इतना क्रमिक विकास उपनिषदों में ही प्राप्त होता है जिसे हम उदात्त और विश्व के मानव हित के लिए एक अनुपम जीवन दर्शन का अभिधान दे सकते हैं। इसमें पुरुषार्थ चतुष्टय का सिद्धान्त प्रमुख रूप से माना गया है। मनुष्य की जीवन की सम्पूर्ण क्रियाएं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी प्राप्ति के लिए उन्मुख होती दिखाई देती हैं। समाज का विशेष अंग प्रथम तीन पुरुषार्थों की प्राप्ति में ही लीन रहता है और आवागमन के चक्र में फंसा रहता है। इसको यदि हम स्पष्ट रूप में रखना चाहें तो हमें कठोपनिषद्[84] में वर्णित श्रेय प्रेय दो मार्गों को भली प्रकार समझ लेना आवश्यक होगा। ईशोपनिषद्[85] में भी विद्या-अविद्या, संभूति-असंभूति आदि के विवेचन में प्राप्त होता है। यम ने नचिकेता को ब्रह्म विद्या का उत्तम अधिकारी मान करके इन दो साधनों को समझाने का प्रयास किया है। यथा श्रेय अर्थात् सदा के लिये सब प्रकार के दुःखों से सर्वथा छूट कर नित्य आनन्द स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करने का उपाय और प्रेय अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यज्ञ आदि इहलोक की जितनी भी प्राकृत सुख भोग की सामग्रियां हैं, उनकी प्राप्ति का उपाय। इस प्रकार अपने अपने ढंग से मनुष्य को सुख पहुँचा सकने वाले ये दोनों साधन मनुष्य को बांधते हैं उसे अपनी अपनी ओर खीचते हैं। अधिकांश लोगों को तो 'भोगों में प्रत्यक्ष और तत्काल सुख मिलता है' इस प्रतीति के कारण उसका परिणाम सोचे-समझे बिना ही प्रेय की ओर खिंच जाते हैं, परन्तु कोई कोई भाग्यवान् मनुष्य भगवान् की दया से प्राकृत भोगों की आपात रमणीयता एवं परिणाम दुःखता का रहस्य जानकर उनकी ओर विरक्त हो श्रेय की ओर आकर्षित हो जाता है।

किन्तु नचिकेता ने (तवैव वाहास्तव नृत्यगीते) कह कर इन सब का निषेध किया और श्रेय का मार्ग अपनाया। यमराज ने स्पष्ट रूप से घोषणा की कि ये दोनों विद्या-अविद्या तथा श्रेय और प्रेय (दूरमेते विपरीते विषूची)[86] परस्पर विरुद्ध हैं जिसको भोगों में आसक्ति है, वह कल्याण-साधन में आगे नहीं बढ़ सकता और जो कल्याण मार्ग का पथिक है, वह भोगों की ओर दृष्टि नहीं डालता। उन्होंने अग्रिम जन्म के लिए शुभ और अशुभ कर्मों को ही आधार माना है। वस्तुतः कर्म के

84. कठ० उ० 1।2।2,4
85. ईश० 11, 14
86. कठ० उ० 1।2।4

आधार की स्वीकृति ब्राह्मण दर्शन का प्राण है। सम्पूर्ण उपनिषद् ग्रन्थों में इसकी घोषणा बलपूर्वक की गई है। यम ने इस पर बल देते हुए कहा कि प्राणी अपने शुभाशुभ कर्मो के अनुसार अन्त:कालीन वासना से प्रेरित होकर मरने के पश्चात् जीवन धारण करता है (यथाकर्म यथाश्रुतम्)। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी (पुण्यो वे कर्मणा) शुभ कर्मों से पुण्यशाली तथा अशुभ कर्मों से पापी कह कर कर्मों का महत्व घोषित किया है। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट बतलाया कि शरीर त्यागने के उपरान्त केवल कर्म ही साथ जाता है और कुछ नहीं। इस प्रकार कर्मों का आधार ही इस दर्शन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अच्छे कर्मों में मनुष्य का सम्पूर्ण दैनिक जीवन नियंत्रित हो जाता है अत: व्याबहारिक रूप में भी इसका महत्व आया और सत्य बोलना, चोरी न करना, अहिंसा तथा दया के विचारों ने अपना प्रभुत्व जमा लिया।

सदाचार पर बल,[87] अहंमन्यता का खण्डन, अहं की अंत: शुद्धि नैतिक गुणों का पालन ग्रादि की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। मानव सदसत् का पुंज है उसमें असत् का भी तत्व है जिसके कारण वह दुष्टता का अनुगमन करता है। सतोगुणी प्रवृत्ति के कारण वह सद्गुणों की ग्रोर प्रवृत्त होता है। ये सद्गुण ही मानव के कर्म बन्धन में उसकी स्वतन्त्रता के सहायक तत्व भी हैं क्योंकि कर्म के बन्धन में वह पक्षी की भांति जाल में फंसा हुआ है। जीव की स्वतन्त्रता की सीमा उस परम तत्व के साथ एकाकारिता में है, आत्म ज्ञान का चरम लक्ष्य है। यद्यपि ईश्वरवादी उपनिषद् भगबान् की कृपा के द्वारा ही उस तत्व की प्राप्ति का साधन बतलाते हैं क्योकि उन्हें ही वे उस ओर प्रवृत्त करते हैं जिसको वे चाहते हैं (यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:)

ब्राह्मण विचाधारा में प्राप्त जीवन दर्शन की सामग्री का संक्षेप में हमने विवेचन किया है क्योंकि यह विषय इतना गम्भीर और विस्तृत है कि जिसे हम इस रूप में रख सकते हैं कि इसी जीवन दर्शन से सम्भूत होने के कारण भारतीय दर्शन भारत के हृदय के समान गम्भीर अगाध सागर के तुल्य है जिसमें से कुछ मणि रत्नों को डुबकी लगाकर प्राप्त किया जा सकता है और सामान्य व्यक्ति तो एक मणि रत्न पर ही मुग्ध हो उसकी सीमा बांधने लगता है किन्तु वह असीम है। इस दृष्टि से मेरा यह प्रयास सामान्य ही है। इस जीवन दर्शन की सामग्री का बौद्ध विचारधारा पर प्रभाव दर्शाना भी अमित आभा एवं ज्ञान सम्पन्न दार्शनिकों की ही अपेक्षा रखता है न कि मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति की। मेरा इस शीर्षक में यह दृष्टिकोण रहा है कि भगवान् बुद्ध ने अपने युग तथा पूर्व युग के ऋषियों द्वारा प्रतिपादित जीवन

87. मुण्ड० उ० 3।1।2,4

दर्शन से किस प्रकार प्रेरणाएं प्राप्त की और वे प्रभवित हुए तथा इसको वस्तुतः जीवन में उतार सके क्योंकि बौद्ध विचारधारा धर्म और दर्शन की अपेक्षा एक जीवन पद्धति है जिसे अपनाने पर मानव आत्म विश्वास, मनोबल और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रेरणा के आधारभूत कतिपय तत्वों को इस प्रकार रखा जा सकता है—

1. ब्राह्मण विचारधारा की वेदत्रयी को त्रिपिटक तथा देवत्रयी (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) को त्रिरत्न, बुद्धं, धम्मं, संघं शरणं गच्छामि के रूप में स्वीकार किया।

2. त्रयी विद्या ब्राह्मण विचारधारा का सारभूत तत्व, बुद्ध वचनों में भी इसकी बहुशः आवृत्ति है। ब्राह्मणों को सम्बोधित करते हुए वे जो त्रैविद्य ब्राह्मण हैं तथा स्वयं को भी मैं त्रैविद्य हूं यह त्रयीविद्या मैंने जान ली है। त्रयीविद्या के विषय में हम पूर्व में भी विवेचित कर चुके हैं यहां भी कतिपय स्थलों का संकेत करेंगे।

3. बौद्ध विचारधारा के जीवन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त—

1. **सर्वमनित्यम्**—सब कुछ अनित्य है। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे सभी अनित्य हैं। क्षण-क्षण में परिवर्तित होने के कारण ही इन्होंने क्षणिकवाद को सिद्धान्त के रूप में माना है। जगत् परिवर्तनशील है, जगत् में सत्ता नहीं है और परिणाम ही सत्य है।

2. **सर्वमनात्मम्**—समग्र वस्तुएं आत्मा से रहित हैं। मानव शरीर में आत्मा मानसिक शक्तियों का संघात मात्र है, स्वयं सत्ता नहीं, कतिपय गुणों का सम्मुच्चय मात्र। पंच स्कन्ध मात्र ही शरीर की स्थिति है।

3. **निर्वाणं शान्तम्**—निर्वाण ही शान्ति है। जगत् दुःख पूर्ण है, निवृत्ति ही जीवन का लक्ष्य है, काम तथा तृष्णा से जगत् का उदय, तृष्णा आदि क्लेशों का मूल अविद्या, अविद्या का नाश ही दुःख की निवृत्ति का कारण और इसके नाश से प्रज्ञा का उदय. प्रज्ञा, शील, समाधि इस त्रिरत्न से निर्वाण की प्राप्ति।

4. **'ब्राह्मणत्व' की कसौटी**—भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण जाति विशेष न मानकर विशेष गुणों का पुंजीभूत रूप माना है। यह कतिपय स्थलों के उद्धरण से स्पष्ट होगा।

5. **ब्रह्मचर्य की स्वीकृति**—दोनों में ब्रह्मचर्य को श्रुति ग्रन्थों ने भी महत्वपूर्ण माना। ब्रह्मचर्य वास के लिए इन्द्र भी गए। उपनिषदों में 'नैतदचीर्ण व्रतो ऽधीते की ध्वनि है। बुद्ध वचनों में मैंने ब्रह्मचर्य पा लिया तथा कुछ कर्तव्य शेष नहीं में

पातंजल योग दर्शन के (क्षीणाः क्षेतव्याः) की ध्वनि और करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि से यहां भी सामाजिक जीवन ओतप्रोत है।

6. कारणतावाद के बीज भी श्रुति ग्रन्थों में मिलते हैं।

7. अप्रमत्तता

8. कामभावना

9. कर्म ही सब कुछ

10. मिट्टी का घर पुनः न प्राप्त करने की प्रार्थना (अमरता की प्राप्ति)

11. अदम्य साहस

12 हृदय कमल ही तीर्थ है इसलिए हृदय की ओर उन्मुखता दोनों विचारधाराओं में स्वीकृत है।

13. ब्रह्म की सलोकता का तैविज्ज सुत्त में वर्णन।

14. ब्राह्म तेज एक दूसरे के पूरक।

15. दोनों विचारधाराओं का उद्गम स्थल विवेक।

16. सन्यासी होने की विधि श्रुति परम्परानुमोदित।

17. देवत्व प्राप्ति इसी जन्म में तथा अल्प समय में।

18. श्रद्धा, तप, वीर्य आदि तत्वों की दोनों में समान स्वीकृति।

1. श्रुति ग्रन्थों तथा बुद्ध वचनों के अध्ययन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ है कि यह तीन का अंक अथवा तीन अपना विशेष स्थान और महत्व रखता है क्योंकि पूर्व में तीन ही वेद माने हैं और वेदत्रयी का ही प्रयोग श्रुति ग्रन्थों तथा त्रिपिटक साहित्य में प्राप्त होता है। इस विषय की चर्चा हम अथर्ववेद के विषय में विवेचन करते समय प्रथम अध्याय के अन्तिम भाग में लिख चुके हैं। वेदत्रयी के अनुकूल ही त्रिपिटक, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सृजन, पालन, संहार, का शक्ति त्रय स्वरूप ही बुद्ध, धम्म, संघ तीनों के द्वारा त्रिरत्न शरण का सिद्धान्त है तथा प्रज्ञा, शील और समाधि ही त्रयी विद्या है जो दोनों विचारधाराओं में स्वीकृत है। यही ईश्वर, जीव और प्रकृति में भी तीन की ही स्वीकृति है।

2. त्रयी विद्या—ऋग्वेद[88] तिस्रः विद्या का प्रयोग मिलता है तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'सैषा त्रयी विद्या तपति',[89] 'त्रयी वै विद्या',[90] 'स यावतीयं त्रयी विद्या

88. ऋ० 7।101।11

89. तै० आ० 10।14, श0 ब्रा० 10।3।6।2

90. श0 ब्रा० 4।6।7।1

तावद्ध जयति'[91] आदि पदों से तीनों वेदों तथा रहस्यमय ब्रह्म ज्ञान का बोध कराने का संकेत ब्राह्मण विचारधारा में तथा स्वयं को त्रैविद्य कहने तथा ब्राह्मणों को त्रैविद्य कहकर सम्बोधित करने के अनेक स्थल त्रिपिटक साहित्य में इस प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं।

3. तीन मौलिक सिद्धान्तों को हम संक्षेप में पहले लिख चुके हैं।

4. ब्राह्मणत्व की स्वीकृति भगवान् बुद्ध को जाति से नहीं थी अपितु ब्राह्मण उनकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति को लिए हुए भौतिक सुखों से दूर त्याग, तपस्या और गुणों का एक पुंजीभूत रूप था जैसा कि उन्होंने सुत्त निपात के ब्राह्मण धम्मिक सुत्त[92] में विशद रूप से लिखा है उन्होंने कहा है कि ब्राह्मण ब्रह्मचर्य, शील, ऋजुता, मृदुता, तप, सौजन्य, अहिंसा, क्षमा आदि गुणों से युक्त होते थे। वे ऋषि, और तपस्वी पांच प्रकार के भोग विषयों को छोड़ कर आत्मोन्नति के लिए आचरण करते थे। इसी सुत्त में राजा इक्ष्वाकु के पास जाकर उनसे 'गौवें, शय्या, वस्त्र, समलंकृत स्त्रियां, उत्तम घोड़े जुते सुसज्जित बेलबूटेदार रथ और धन-धान्य भरे हुए भव्य-भवन आदि वस्तुओं को मांगने से और भोगने से ब्राह्मणों के पतन का वर्णन किया है और अब वे त्रैविद्य न रहे। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि तप, ब्रह्म-चर्य, संयम और दम इनसे ब्राह्मण होता है। यही उत्तम ब्राह्मण है। जो त्रिविद्याओं[93] से युक्त है, शान्त है और पुनर्जन्म क्षीण है, विज्ञों के लिए वह ब्राह्मण है।

5. **ब्रह्मचर्य**—यह शब्द भी पहले अपने महत्व को दर्शा चुका है। ब्रह्मचर्य से श्रुति ग्रन्थों में जो अर्थ लिया है उसका बाद में परिवर्तन हो गया और वह एक आश्रय के रूप में स्वीकृत हो गया किन्तु ब्रह्मचर्य वास्तव में ब्रह्म ज्ञान के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है और इसी रूप में भगवान् बूद्ध ने ब्रह्मचर्यवास हो गया ऐसा अनेक स्थलों पर कहा है।

कारणतावाद—यद्यपि इस विषय में पर्याप्त सामग्री अपेक्षित है किन्तु कलेवर वृद्धि के भय से मैं यहां संकेत मात्र करना उचित समझता हूं। बुद्धिज्म के पच्चीस सौ वर्ष नामक पुस्तक की भूमिका में डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि बौद्ध विचारधारा के उदय के आधारभूत तत्व ऋग्वेद के 'नासदीय, विष्णु, और यमसूक्तों में प्राप्त होते हैं। इनका वर्णन विस्तार से करना हमारा लक्ष्य नहीं है।

---

91. बृ0 उ० 5।14।2
92. 9,21,22, 23
93. वासेट्ठ सुत्त-63 सु० नि०

हम यहां अथर्व वेद[94] के उद्धरण को देकर के विषय को समाप्त करते हैं। जिसमें कहा गया है कि 'जिसमें यह प्रजाएं स्थित हैं, उस विस्तृत सूत्र और कारण के भी कारण को जो जानता है, वही उस महद्ब्रह्म का ज्ञाता हो सकता है।'

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स बिद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रास्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥

इस मन्त्र में सूत्र के भी सूत्र को जानना का अर्थ कारणवाद की प्रेरणा को देना है। वैसे भी डा० राधा कृष्णन्[95] ने अपने ग्रन्थ में ब्राह्मण विचारधारा के दर्शन को हेतुवादी विचारधारा बतलाते हुए विस्तार से लिखा है। 'वेदाहं सूत्रं' में तथा उपनिषदों के (विदाहमेहतं) की ध्वनि तथा ऋग्वेद में ही वामदेव[96] द्वारा गर्भ में रहते ही पूर्व जन्मों की स्मृति और मैं ही स्वयं मनु था इत्यादि की घोषणा का स्पष्ट प्रभाव बुद्ध के उन वचनों में मिलता है जहां कि वे यह कहते हैं कि मैंने उस रहस्य को जान लिया है और मेरे क्लेश क्षीण हो गए हैं, करना था सो कर लिया में भी पातंजल योग दर्शन में संकलित विचारों में (क्षीणा क्षेतव्याः) का रूप ही हम पाते हैं तथा भगवान् बुद्ध के इस कथन में कि मैं अंडे को फोड़ करके निकला हूँ, इत्यादि वाणी में भी हिरण्य गर्भ की भावना का ही प्रभाव हम पाते हैं इस प्रकार संक्षेप में हमने अपने विचारों को आपके विचारार्थ प्रस्तुत किया है।

7. **अप्रमत्तता**—श्रुति ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर सावधान रहकर उस परम तत्व की उपलब्धि के लिए प्रयास करना वर्णित है। उपनिषदों में भी (अप्रमत्तेन बद्धोव्यं) आदि वचनों की गूंज है। संस्कृत नाटकों के आदि नाटककार मास अपने नाटकों में अनेक स्थलों पर अप्रमत्त तथा अवहित शब्द का प्रयोग करते हैं और यही प्रयोग कालिदास के ग्रन्थों में भी मिलता है।

8. **कामभावना**—श्रुति ग्रन्थों में काम से ही सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन निर्दिष्ट किया है और सबसे पहले काम की ही स्वीकृति की है। स्वयं उस परम सत्ता ने भी (अकामयत) के द्वारा ही 'एकोऽहम्, बहु स्याम्' इस काम तत्व की स्वीकृति की है। इसका प्रभाव मानव जीवन में सर्वविदित है। जितने भी तपस्वी हुए हैं उनमें काम पर विजय करके ही कुछ प्राप्ति हुई है इसी का प्रभाव बुद्ध वचनों में

---

94. अथर्व० 10।8।37,38
95. भारतीय प्रज्ञा हिन्दी-डा० राधाकृष्णन् पृ० 68
96. ऋ० 4।26।1-2, 27।1

विजय के अभिधान से हम प्राप्त करते हैं कि उन्होंने कहा कि 'हे मार[97]! काम तेरी पहली सेना है, अरति दूसरी सेना कहलाती है, भूख प्यास तेरी तीसरी सेना है तृष्णा चौथी सेना है । स्त्यान-मिद्ध है तेरी पांचवी सेना, भव छठी सेना कहलाती है—शंका तेरी सातवीं सेना है, मृक्ष तथा घृणा तेरी आठवीं सेना है ।

कर्म ही सब कुछ—जब तक मनुष्य की अविद्या तृष्णा का नाश नहीं होता, तब तक उसका अच्छा बुरा कर्म ही सब कुछ है । भगवान् का उपदेश है—'भिक्षुओ,[98] सभी कोई इस बात पर सदा मनन करना चाहिए कि मेरा जो कुछ भी है कर्म ही है, कर्म ही से उत्पत्ति है, कर्म ही बन्धु है, कर्म ही शरण स्थान है, जो मैं अच्छा बुरा कर्म करूंगा उसका मैं उत्तराधिकारी होऊंगा ।

अनात्मवाद के साथ पुनर्जन्म को स्वीकार करना बौद्ध विचारधारा की विशेषता है । इनके अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पांच स्कन्धों का ही यह व्यक्ति या संसार बना है । इन पांच स्कन्धों की धारा अच्छे बुरे कर्मानुसार बहती रहती है, बहती रही है, और तब तक बहती रहेगी जब तक कोई व्यक्ति तृष्णा का सम्पूर्ण क्षय नहीं कर लेता ।

10. इस नश्वर देह के विषय में जैसा ऋग्वेद में वरुण से प्रार्थना की गई है कि हे वरुण ! मुझे मिट्टी का घर पुनः मत देना ।' इसी प्रकार के विचार भगवान् बुद्ध ने भी व्यक्त किए हैं कि मुझे यह शरीर (मिट्टी का घर) न प्राप्त होवे । इस प्रसंग में हम ऋग्वेद के इस प्रभाव को स्पष्ट पाते हैं जहां कि शरीर की नश्वरता को स्वीकार करते हुए अमरता की इच्छा की गई है ।

11. **अदम्य साहस**—भगवांन् बुद्ध ने कठोर तपस्या से भी ज्ञान प्राप्ति न करके अपने अदम्य साहस की इस प्रकार घोषणा की 'चाहे मेरा मांस, रक्त सब सूख जाय और बाकी रह जायं केवल त्वचा नसें और हड्डियां किन्तु जब तक उसे जो किसी भी मनुष्य के प्रयत्न से, शक्ति से, पराक्रम से प्राप्य है, प्राप्त नहीं कर लूंगा, चैन नहीं लूंगा ।' इस प्रकार अदम्य साहस की भावना को हम यहां पाते हैं ।

12. भाव या विचार से भी कर्मों में प्रमाणभूत आधार माना गया है इसलिए मनुष्य को अपने मनोभाव तीर्थ को ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ समझना चाहिए । इसी भावना से पत्नी और पुत्री को हृदय से लगाया जाता है किन्तु दोनों के हृदय से लगाने में भावों का अन्तर होता है अतः हृदय कमल में आत्म तीर्थ को सबसे बढ़

---

97. कामाते पठया सेना, दुतिया अरति बुच्चति ।
ततिया खुप्पिासा ते, चतुत्थी तण्हाय बुच्चति । सु० नि० प्रधान सुत्त 12,13
98. कम्मस्सकोम्हि, कम्मदायादो, कम्मयोनि, कम्मबन्धु ।
अंगुत्तर निकाय, पंचक निपात, द्वितीय पण्णासक, प्रथम वर्ग, सातवां पुत्र

कर बताया है और कहा हैं कि मनुष्य इन बाह्य तीर्थों में भटकता फिरता है उसे इन तीर्थों का त्याग करके मन रूपी तीर्थ में भावों का सेवन करना चाहिए और जो इस प्रकार बाहर भटकता है वह मानो हाथ में रखे हुए बहुमूल्य रत्न को त्याग कर कांच को ढूंढ़ता[99] फिरता हैं। इसी प्रकार के विचार भगवान् बुद्ध ने भी मन की शुद्धि तथा भावनाओं के परिष्कार के द्वारा मनोयोग से जीवन में अग्रसर होने का वर्णन किया है।

13. श्रुति ग्रन्थों में तथा उपनिषदों से ब्रह्म की सलोकता का वर्णन प्राप्त होता है जिसका वर्णन बुद्ध वचनों में प्रसिद्ध ग्रन्थ दीर्घ निकाय के तैविज्ज सुत्त में तथा अन्य ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

14. ब्राह्म तथा क्षात्र दोनों तेज एक दूसरे के पूरक के रूप में शतपथ ब्राह्मण[100] में विस्तार से वर्णित किए गए है जहां कि क्षात्र तेज ब्राह्म तेज के बिना अपूर्ण रहता है। ब्राह्मणों के समाज में अत्यधिक महत्व के कारण जो बन्धन आ गया था उसकी प्रतिक्रिया रूप क्षत्रियों में ब्रह्म विद्या की जिज्ञासा का अनेक स्थलों पर वर्णन मिला है और पंचाग्नि विद्या का ज्ञान सबसे पहले क्षत्रियों को हुआ यह उपनिषदों[101] में प्राप्त होता है और उसी कों हम भगवान् बुद्ध के अपने वचनों में प्राप्त करते है कि वे ब्राह्मण को जाति से श्रेष्ठ नहीं मानते हैं और अपने वचनों में ब्राह्मण से पहले क्षत्रिय का प्रयोग[102] करते हैं। भगवान् बुद्ध ने कहा—

'महाराज ! चार को अल्पवयस्क (दहर) न जानना चाहिए, छोटे (दहर) हैं समझकर परिभव (तिरस्कार) न करना चाहिए। कौन से चार ? महाराज ! क्षत्रिय को दहर न जानना चाहिए। सर्प को, अग्नि को, भिक्षुओं को इन चार को महाराज दहर न समझना चाहिए यह कहकर शास्ता ने फिर कहा—

'कुलीन, उत्तम, यशस्वी, क्षत्रिय को दहर करके आदमी उसका अपमान और तिरस्कार न करे। इस प्रकार अग्नि, सर्प, क्षत्रिय तथा भिक्षु को भी अनादरणीय कहा। अग्नि वन को जला देती है लेकिन अहो रात्र बीतने पर वहां अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु जिसको सदाचारी[103] भिक्षु अपने तेज से जलाता है उसके पुत्र, पशु तक नहीं होते, दायाद भी, धन भी नहीं हो पाते। सन्तान रहित, दायाद रहित, शिर

---

99. जाबालोपनिषद् 5।51
100. श० ब्रा० 1।1।5।7, 1।2।2।2
101. छा० उ० 5।3
102. बु० च० 219, सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त 8, सु० नि०
103. बु० च० पृ० 85-86

कटे ताल जैसा वह होता है। इसलिए पण्डित जन अपने हित को जानते हुए भुजंग, पावक, यशस्वी क्षत्रिय और सदाचारी भिक्षु के साथ अच्छा वर्ताव करे।

15. बौद्ध विचारधारा का आधार विवेक है जिसका उद्गम ऋग्वेद में प्रयुक्त अश्विनी कुमारों की विवेकी भावना से मिला है ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि वहाँ कहा गया है। 'हे अश्विी कुमारो ![104] तुम दोनों विवेक बुद्धि वाले, रथ पर चढ़ने वाले, वेगवान् और स्तोत्र के सुनने वाले हो। तुम दोनों निष्कपट अन्तःकरण वाले च्यवन ऋषि के पास शीघ्र ही घोड़े पर चढ़ कर गए थे। हे ज्ञानवान् ! तुम हमारे अह्वान को सुनो।'

16. भगवान् बुद्ध पूर्णतया ब्राह्मण विचारधारा का अनुगमन करते हैं क्योंकि सन्यास लेने में जिस आश्रम धर्म परम्परा का निर्वहण भगवान् बुद्ध ने किया है वह पूर्णतया श्रुति ग्रन्थों तथा उपनिषदों द्वारा अनुमोदित है। जाबालोपनिषद् में इस प्रसंग का वर्णन हम इस प्रकार ग्रहण कर सकते हैं कि सन्यास लेने में कोई नियम[105] नहीं है चाहे व्रती हो या अव्रती स्नातक हो या न हो, चाहे अग्नि ग्रहण करके स्त्री के मरने से त्याग किया हो अथवा अग्नि ग्रहण कर संस्कार न किया गया हो, किसी भी अवस्था में जब मन में वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी समय सन्यास ग्रहण किया जा सकता है। उन्होंने इस का पूर्णतया पालन किया कि जिस क्षण मन

'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्'

विरक्ति आई वे घर बार छोड़ कर सन्यास लेकर ज्ञान की ओर बढ़े।

17. वेदों में ऋभुओं के देवत्व तथा त्रसदस्यु के अर्द्धदेवत्व[106] प्राप्ति के वर्णनों तथा वामदेव के ज्ञान प्राप्ति के वर्णनों से देवत्व की प्राप्ति इसी जन्म में सम्भव है इसकी प्रेरणा लेते हुए तथा "इह चैदवेदीदथ[107] सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" आदि के द्वारा इस ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया तथा भगवान् बुद्ध ने कई स्थलों पर वर्ष में, मास में तथा एक दिन में इसकी प्राप्ति के संकेत दिए हैं।

18. श्रुति ग्रन्थों में श्रद्धा तप, ब्रह्मचर्य आदि के महत्व को हम पूर्व अध्यायों में वर्णित कर चुके हैं। ऋग्वेद में श्रद्धा सूक्त के महत्व को सभी स्वीकार करते हैं। इन्हीं तत्वों को सबल रूप में स्वीकार करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि

---

104. बोधिन्मनसा रथ्येषिरा हवनश्रुता। ऋ० 5।75।5
105. जाबालोपनिषद् चतुर्थ खण्ड-1
106. ऋ० 4।33।1
107. केन० उ० 2।2।5

मुझ में श्रद्धा[108] है, तप है, वीर्य है तो मैं इस मानव शरीर से जो कुछ भी प्राप्तव्य है उसे प्राप्त कर ही ठहरूंगा। इस प्रकार के अदम्य साहस एवं तल्लीनता तथा गुणों के प्रति आसक्ति का बहुविध विवेचन हम बुद्ध वचनों में पाते हैं। मज्झिम निकाय में शेल सुत्त, चंकि सुत्त, अंगुत्तर निकाय, धम्मिक वग्ग, दीर्घ निकाय के दानीय सुत्तन्त तथा सुत्त निपात में हम श्रद्धा, तप तथा वीर्य के प्रसंगों को प्राप्त करते हैं। इसी श्रद्धा की स्वीकृति इन शब्दों में भी मिलती है कि भगवान् बुद्ध ने हिन्दू[109] विचारधारा से अनेक आधारभूत तत्वों को लिया और उनके आधारभूत नैतिक तथा कर्मकाण्डीय तत्वों में परिवर्तन किया।

उन्होंने तपश्चरण में भी अपना मौलिक रूप रखा और मध्यम प्रतिपद् के मार्ग को जन्म दिया और इसे स्वाभाविक प्राप्ति बतलाया और कहा—'बिना[110] रुकते और बिना कोशिश करते, जिसने संसार की तृष्णा को पार कर लिया है। बाढ़ चार है—काम की बाढ़, भव की बाढ़, मिथ्या दृष्टि की बाढ़ और अविद्या की बाढ़। रूप और अरूप (देवताओं) के प्रति तृष्णा का होना भव की बाढ़ है। जो बासठ मिथ्या दृष्टियां (दीर्घ निकाय ब्रह्मजाल सुत्त) है वे दृष्टि की बाढ़ है। चार आर्य सत्यों के ज्ञान का होना अविद्या की बाढ़ है। बौद्ध धर्म दो अत्तों का वर्जन कर मध्यम मार्ग के आचरण की शिक्षा देता है। कही रुक जाने से काम भोग और बहुत कोशिश करने से आत्म पीड़न वाले तपश्चरण का निर्देश किया गया है। बुद्ध ने इन दोनों अतियों को त्याग कर मध्यम मार्ग से बुद्धत्व का लाभ किया।

पांच[111] को काटे, पांच को छोड़ दे, पांच और अधिक का अभ्यास करो पांच संगों को पार कर भिक्षु बाढ़ को पार कर गया कहा जाता है। पांच अवरभागीय संयोजन काटे, पांच ऊर्ध्व भागीय बन्धन छोड़े, श्रद्धा आदि पांच इन्द्रियों का अभ्यास करे। पांच संग, राग द्वेष, मोह मान, दृष्टि को छोड़े।

बुद्ध धर्म के सार को समझाते हुए कोकनदा ने कहा—'ऐसे महान् धर्म के विषय में संक्षेप में उसके सार को कहती हूँ। जहां तक मेरी बुद्धि[112] की योग्यता है। सारे संसार में कुछ भी पाप न करे, शरीर, वचन या मन से, कामों को छोड़ स्मृतिमान् और संप्रज्ञ, अनर्थ करने वाले दुःख को मत बढ़ावें।'

108. म0 नि0 पृ० 400
109. दी बोधिसत्व डोक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट लिटरेचर, पृ० 33
110. संयुत्त निकाय भाग-1, हिन्दी 1।1।1
111. संयुक्त निकाय प्रथम भाग हिन्दी 1।1।5
112. चुल्लपज्जुन्न धीत सुत्त सं0 नि0 1।4।10

कर्म विद्या,[113] धर्म, शील और उत्तम जीवन इन्हीं से मनुष्य शुद्ध होते हैं, न तो गोत्र से और न धन से। इसी जन्म में अपने देखते ही देखते परिनिर्वाण पाने के लिए 'इन्द्रियों[114] में संयत रहूँगा, भोजन में मात्रा को जानूंगा, जागरणशील रहूँगा' ध्यान रखूंगा।

मोक्ष अथवा निर्वाण का विवेचन हम सातवें अध्याय के निवृत्ति वाले शीर्षक में विस्तार से कर चुके हैं यहां केवल इतना कहना पर्याप्त है कि बौद्धो में दो प्रकार[115] के निर्वाण का रूप मिलता है। प्रथम प्रकार का निर्वाण अर्हतों द्वारा इसी जीवन में जीवन्मुक्त की भाँति सोपाधि शेष है, दूसरा निर्वाण अनुपाधि शेष है जिसे भगवान् बुद्ध के लिए परिनिर्वाण कहा गया है जो कि मृत्यु के बाद प्राप्त होता है। इसमें दुःखों का सदैव के लिए अन्त होकर आनन्दमय स्थिति अथवा अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार हमने संक्षेप में श्रुति ग्रन्थों के जीवन दर्शन का बौद्ध जीवन दर्शन पर प्रभाव दर्शाया है।

(त्र) दोनों की तुलनात्मक समीक्षा

भगवान् बुद्ध ने व्यावहारिक ज्ञान तथा व्यावहारिक जीवन की दीक्षा दी। उन्होंने मात्र ग्रन्थों पिटकों में लिखित रहने वाले उपदेश नहीं दिए। उन्होंने स्वयं अनुभूत करके जीवन जगत् के तथ्य को दृग्गोचर करके लक्ष्य निर्धारित किया। मनुष्य जो संसार को मात्र सुख या दुःख समझ बैठा था उसका निराकरण किया और संसार के जरा मरण को स्थायी दुःख स्वीकार करते हुए 'त्राहि-त्राहि' करने वाले भाव त्रस्त समाज को संसार की वास्तविकता का बोध कराया। उन्होंने कारणवाद के सिद्धान्त को समझाकर महान् उपकार किया। कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता अतः दुःख भी अपना कारण रखता है जब कारण नष्ट हो जायगा तो उसका कार्य दुःख स्वयं नष्ट हो जायगा। अतः भगवान् बुद्ध ने आशावादिता का संचार किया। धार्मिक आडम्बर तथा बाह्य कृत्यों की निस्सारता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए सच्चा मार्ग दर्शाया। उन्होंने दुख को सकारण बताया और संसार के दुःखों में प्रमुख जरा मरण को प्रस्थान बिन्दु मानकर मनन द्वारा एक कार्य कारण शृंखला का निर्माण किया। उन्होंने सोचा जरा मरण का कारण जन्म ही है यदि जन्म न हो तो दु,ख ही नहीं होगा। इस प्रकार सापेक्ष कारणतावाद 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का आविर्भाव किया। इसमें जन्म के कारण 'भव' संसार में रहना, रहने

113. इदं हि सुत्त—सं० नि० 1।5।8
114. पंचसिख सुत्त सं० भाग—2 34।3।2।7
115. सेक्रेड बुक प्रथम भाग (ए मैनुअल आफ इंडियन बुद्धिज्म, एच० कर्न पृ० 53)

की इच्छा को ही कारण बताया। उन्होंने आसन्न मृत्यु के समय की इच्छा व तृष्णा को अग्रिम जन्म[116] का आधार भी बतलाया।

भगवान् बुद्ध ने समझाया कि यदि उस समय मनुष्य देवों, राजाओं, धनिकों, अधिकारियों में होने की इच्छा करे तो निर्वाण नहीं। उपनिषदों[117] में कहा गया है कि मनुष्य की जैसी कामना होती हैं वैसा ही संकल्प होता है और जैसा संकल्प होता है वैसा ही कार्य करता हैं। इस प्रकार इसका परम्परा सम्बन्ध से कारण है। इस प्रकार कर्म और इच्छा दोनों में कार्य कारण का ही अन्तर है।

वस्तुतः ब्राह्मण विचारधारा के प्रमुख उपनिषद् कठ में यम के द्वारा मानव जीवन की महत्ता के प्रति उपेक्षा करने वाला अहम्मन्य मनुष्य अर्थात् सांसारिक भोग सम्पत्ति के मोह में मुग्ध हुआ रहता है। वह स्वेच्छाचारी प्रमादपूर्वक[118] आचरण करता है! उसके मन में यह विचार ही नहीं उत्पन्न होता कि मुझे मरने के बाद अपने समस्त कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य होकर बार बार विविध योनियों में जन्म लेना होगा।

बौद्ध विचारधारा के दीर्घ निकाय ग्रन्थ में हमें यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पयासी[119] नामक व्यक्ति अपनी वैचारिक दृढ़ता के सम्पादन के लिए प्रयत्नशील है। उसके अनुसार 'न दीन है न दुनिया न कोई दूसरा जन्म ही है। माता पिता को छोड़ कर और कोई हमारे जन्म का कारण भी नहीं। हमारे बुरे या भले कर्मों का फल या परिणाम नहीं होता।' उसका कथन है कि—

'वहाँ से (दूसरी दुनिया से) लौट कर हमें धर्मात्मा और पापी कोई' नहीं बतलाता कि उसे वहां दुःख या आनन्द मिला था। अगर ऐसा होता तो धर्मात्मा वहां आनन्द की प्राप्ति के लिए सचुमच ही आत्म हत्या करके वहां जल्द पहुंचने का प्रयत्न करते। साथ ही किसी के भी मरने के समय हमें उसके शरीर से बाहर निकलते हुए आत्मा के दर्शन नहीं होते। यदि आत्मा नामक कोई पदार्थ होता तो अवश्य दिखाई देता। यही नहीं आत्मा के निकलने के बाद शव का बोझ हल्का होना चाहिए वह भी नहीं होता है। पायासी के कर्म और आत्मा के विचारों का कस्सप ने खूब खण्डन किया है। भगवान् बुद्ध ने कर्म के अनुसार ही इस लोक तथा परलोक में पुनर्जन्म का वर्णन किया है! इतना ही नहीं कर्म को सभी जन्म मरण

116. यं यं वापि स्मरन्भावं—तद्भाव भावितः॥ गीता अ० 8।6
117. यथा कामो भवति तत्क्रतु भर्वति। बृ० उ० 4।4।5
118. न साम्परायः प्रतिभाति बालं, प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ कठ० उ० 1।2।6
119. पायासी मुत्त-दीर्घ निकाय

का कारण मानते हैं। मिलिन्द प्रश्न में भी कर्म के सिद्धान्त को पूर्णतया समझाने का प्रयास किया है। सभी मनुष्य समान नहीं है। कुछ दीर्घायु तो कुछ अल्पायु है। कुछ स्वस्थ तथा कुछ रोगी हैं। कोई सुन्दर तथा कोई कुरूप हैं। कोई सामर्थ्य सम्पन्न तो कोई निर्बल है। कोई धनी है तो कोई निर्धन। कोई ऊंचा है, कोई नीचा है, कोई बुद्धिमान् है तो कोई बुद्धू है आदि सभी भेद उनके कर्म भेदों पर आधारित है।'

कर्म के सिद्धान्त के प्रतिपादन में यद्यपि औपनिषदिक विचारधारा का ही निर्वहण किया गया है तथापि भगवान् बुद्ध की अपनी मौलिक विशेषता है कि उन्होंने कर्म के विषय में स्पष्ट घोषित किया कि कर्म आसक्ति और राग द्वेष से युक्त होकर ही इस लोक या परलोक में फलप्रद होता है। अनासक्ति के द्वारा किया गया कर्म निर्वाण है वह फलदायी नहीं होता। इतना ही नहीं अनासक्ति की भावना और राग द्वेष का परित्याग पुरातन एवं नूतन कर्मों की जड़ों को भी उखाड़ देता है जिसके भविष्य में उसके प्ररोहों को भी अवकाश न मिले। आसक्ति में ही कर्म तथा कर्म सन्तति का निवास है। ऐन्द्रिय विषयों का उपभोग इस आसक्ति का कारण है। आसक्ति ही हमारे दुःख का कारण है। कामनाओं[120] की कभी तृप्ति नहीं होती। उपभोग तो विषय तृष्णा की वृद्धि करते है। यहां मनुस्मृति जैसे ही बुद्ध अपनी विचारधारा को उपस्थित करते है कि काम(इच्छाएं) अपने विषयों के उपभोग से कभी तृप्त नहीं होते अपितु घी में डाली गई आहुति से अग्नि के समान उपभोगों से काम और बढ़ते हैं। इन विषयों की आसक्ति, विराग ही दुःखों वेदनाओं से मुक्ति प्रदान कर सकता है। जीवन्मुक्त अथवा अर्हत् के किए गए कर्म अनासक्ति भाव से युक्त होने के कारण जन्म मरण रूप दुःख के फलों को नहीं देते इस कारण उस जीवन्मुक्त अथवा अर्हत् के निर्वाण में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इन कर्मों के भी कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार के भेद है। इन सबका मूल आधार चेतना ही हैं। शील, समाधि से कर्म जल आश्रव क्षीण होते है और मनुष्य स्रोतापन्न, सकृदगांमी से ध्यान की चतुर्थ अवस्था के उपरान्त अनागामीं अर्हत् के रूप में परिवर्तित हो जाता है। निर्वाण का यही सुगम मार्ग है। इस प्रकार कर्म के सिद्धान्त को अक्षरशः स्वीकृति प्रदान करने वाले भगवान् बुद्ध ने समाज के विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों को इसी जीवन में सत्कर्म करने पर बल दिया। तथा जनता द्वारा पूछने पर कि अमुक व्यक्ति ने मृत्यु के पश्चात् कहां जन्म लिया अथवा मुक्ति या निर्वाण पाया तो इस प्रकार के व्यक्तियों के भावी जन्म को भी उन्होंने स्पष्ट बतलायां। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त बौद्ध विचारधारा का प्राणभूत तत्व है।

---

120. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ मनुस्मृति अ० 2।94

वस्तुत: परलोक में आत्मा को सुखी करने के लिए मानव नाना प्रकार के अकुशल कर्मों को करता है इसलिए क्लेश और दोष इसी आत्म-दृष्टि (सत्कायवाद) के ही परिणाम है। अतः हीनयान में आत्मा का निषेध करना क्लेश नाश का प्रथम सोपान है। इसे पुद्गल नैरात्म्य[121] कहा जाता है। हीनयान इसी को नैरात्म्य मानता है किन्तु इसे नैरात्म्य के ज्ञान से केवल केवल क्लेशावरण का क्षय सम्भव है अन्य क्लेश आवरण ज्ञेयावरण की सत्ता शेष रह जाती है। पुद्गल नैरात्म्य तथा धर्म नैरात्म्य दो प्रकार का है। रागादिक क्लेश आत्मदृष्टि से उत्पन्न होते हैं। अतः पुद्गल नैरात्म्य ज्ञान से प्राणी सब क्लेशों को छोड़ देता है। जगत् के पदार्थों के अभाव या शून्यता के ज्ञान से सच्चे ज्ञान के ऊपर चढ़ा हुआ आवरण आप से आप दूर हो जाता है। सर्वज्ञता की प्राप्ति के लिए दोनों आवरण क्लेश तथा ज्ञेयावरण का दूर होना आवश्यक है। क्लेश मोक्ष प्राप्ति के लिए आवरण होने के कारण मुक्ति में बाधक हैं। यह ज्ञेयावरण सब पदार्थों के ऊपर ज्ञान की प्रवृत्ति को रोकता है। इसे दूर करने पर ही ज्ञान उत्पन्न होता है। महायान के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल क्लेशावरण ही नष्ट होता है परन्तु शून्यता के ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी नाश हो जाता है तभी वास्तविक निर्वाण होता है। उनके विचारों में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हतों का ज्ञान अनावरण हो जाता है। हीनयान का लक्ष्य अर्हत्व प्राप्ति है किन्तु महायान का लक्ष्य बुद्धत्व प्राप्ति है। लक्ष्य की भिन्नता के कारण इन दोनों की निर्वाण कल्पना में भिन्नता प्राप्त होती है।

भगवान् बुद्ध को महाश्रमण कहा गया है और उनका श्रमण के प्रति विशेष मोह भी उनके वचनों में मिलता है। श्रुति ग्रन्थों में कवष, जनक आदि राजर्षियों के उदाहरण मिलते हैं। उपनिषदों में मुण्डकोपनिषद् श्रमण परम्परा का ज्वलन्त प्रमाण है। बौद्ध साहित्य में सुत्त निपात में सुन्दरिक[122] भारद्वाज ब्राह्मण जो कि हव्यशेष दान करने के लिए किसी ब्राह्मण की खोज करता है। वह पेड़ के नीचे बैठे भगवान् बुद्ध को मुण्डक देख कर के लौटना ही चाहता था कि उसे ध्यान आया कि मुण्डकों में कुछ ब्राह्मण भी होते हैं इसलिए चल कर जाति पूँछू और जाकर भगवान् से कहा आप किस जाति के हैं। भगवान् ने उत्तर दिया—

जाति मत पूछ, आचरण पूछ। मैं न तो ब्राह्मण हूँ, न राज पुत्र हूँ, न वैश्य हूँ न कोई और हूँ। साधारण लोगों के गोत्र को अच्छी तरह जानकर मै विचारपूर्वक अकिंचन भाव से संसार में विचरण करता हूँ। 'चीवर पहनकर, वेघर हो, सर

121. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 151
122. सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त, सुत्त निपात

मुण्डाकर, पूर्ण रूप से शान्त हो, यहां लोगों में अनासक्त हो विचरण करता हूँ। ब्राह्मण ! मुझसे गोत्र पूछ कर तुमने अनुचित किया है। ब्राह्मण ! जाति के विषय में न पूछो, आचरण के विषय में पूछो। लकड़ी से आग पैदा होती है इसी प्रकार नीच कुल में पैदा होकर भी मुनि धृतिमान्, उत्तम और पाप लज्जा से संयत होते हैं। हे ब्राह्मण ! जो पुण्य की अपेक्षा से यज्ञ करता है उसे समझना चाहिए कि राहु के ग्रहण मुक्त हुए चन्द्र के समान जो बीत रागी और संयुक्त इन्द्रिय वाले हैं—वे अन्तिम देहधारी तथागत हव्य के योग्य हैं।

भगवान् बुद्ध की विचारधारा एक जीवन पद्धति[123] है जिसमें सुखी जीवन के लिए मानव के मन तथा हृदय का शुद्ध होना आवश्यक है। धार्मिक कृत्यों में प्रधानता अच्छे कर्मों की ही प्रदर्शित की गई है। वस्तुतः मानव में सर्वोत्तम तथा निकृष्टतम वस्तु विद्यमान है वह अपने को सर्वोतम भी बना सकता है उसकी स्थिति शिरोमणि है।

123. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, प्रथम भाग, पृ० 213, सी० इलियट।

एकादश अध्याय

उपसंहार

(क) ब्राह्मण विचारधारा और भगवान् बुद्ध की विचारधारा का सर्वांगीण तुलनात्मक सिंहावलोकन

(ख) ब्राह्मण विचारधारा की प्रमुख विशेषताएं

(ग) उन प्रमुख विशेषताओं का बौद्ध विचारधारा में साम्य तथा वैषम्य

(घ) उनके कारणों की मीमांसा

(ङ) दोनों विचारधाराओं की परवर्ती क्रियाएं और प्रतिक्रियाएं

(क) ब्राह्मण विचारधारा और भगवान् बुद्ध की विचारधारा का सर्वांगीण तुलनात्मक सिंहावलोकन :—

ब्राह्मण विचारधारा में मानव संस्कृति के सर्वांगीण विकास का विशद विवरण प्राप्त होता है। इस विचारधारा का आधार औदार्य था जिसमें भौतिक, आध्यात्मिक तथा आचारिक सभी दृष्टियों से विवेचन कर जीवन में सामंजस्य स्थापित किया गया था जिससे शरीर, मन या बुद्धि व आत्मा का सानुपातिक व सामंजस्य पूर्ण विकास सम्भव हो सके। वैदिक ऋषि देवताओं से 'आत्मदा, बलदा, स्याम पतयो रयीणाम्' आदि के द्वारा भौतिक व आध्यात्मिक दोनों प्रकार के सुखों की कामना करते थे जिस विचारधारा को उपनिषदों में श्रेय तथा प्रेय मार्ग के अभिधान से कहा गया है।

इस विचारधारा में आधारभूत ईश्वर प्रदत्त शक्तियों का स्वाभाविक विकास परमावश्यक था। आर्यों ने दस्युओं पर विजय प्राप्त की और कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की भावना से सद्‌गुणों का ग्रहण और दान करके उन्हें भी अपनी विचारधारा में आत्मसात् कर लिया। इन्होंने उदार एवं उदात्त भावनाओं के माध्यम से जीवन में समानता के सिद्धान्त को विकसित किया। यही कारण था कि कवष,[1]एलूष, कक्षिवन् आदि जैसे दासीपुत्र व घोषा कक्षीवती, अपाला, आत्रेयी जैसी स्त्रियों को मंत्रद्रष्टा कहा गया है।

शक्तित्रय का विकास—विभिन्न शक्तियों के विकास के लिए नियमों की व्यवस्था की गई थी यथा तीन प्रकार की निसर्ग शक्तियां जिनका सम्बन्ध शरीर, मन व आत्मा से है, शारीरिक, मानसिक विकास में जिनका महत्वपूर्ण योगदान है। ब्राह्मण विचारधारा के ये ही मुख्य लक्ष्य थे, इन्हीं के विकास में उनकी सच्ची संस्कृति निहित थी। जीवन की पहेलियों को समझना भी उनका उद्देश्य था। इस पंच तत्व के निर्मित शरीर के सर्वांगीण विकास के लिए वे प्रयत्न तथा जानकारी प्राप्त करते थे इसके लिए शरीर के विभिन्न अंगों के अध्ययन हेतु आयुर्वेद का विकास तथा उस शारीरिक शक्ति हेतु यम नियम व जीवन क्रम की व्यवस्था थी जिससे शारीरिक विकास, मानसिक व आत्मिक विकास के मार्ग में बाधक न हो अपितु सहायक ही हो। शरीर के विकास हेतु शरीर शास्त्र का जानना आवश्यक था। व्यायाम, यम, नियम, प्राणायाम, अग्नि, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा शरीर के विभिन्न अंगों की पुष्टि करके वे दीर्घजीवी होते थे और 'जीवेम शरदःशतम्' के अनुसार इच्छा मृत्यु को प्राप्त करते

---

1. ऐ० ब्रा० 2।19

थे। यम, नियम, ब्रह्मचर्य से संचालित जीवन मानसिक विकास की भूमिका को दृढ़ीभूत करता था। प्राणायाम तथा आसन से चंचल चित्त का निरोध करते हुए योगाभ्यास से इन्द्रियों को वशीभूत कर एकाग्रता में मनोयोग का अभ्यास करते थे। प्राणायाम से फेफड़ों को शक्तिशाली बनाते हुए हृदय को सशक्त बनाने का यह क्रम दीर्घ जीवन के रहस्य को अपने में छिपाये हैं। इस प्रकार मानसिक शक्ति के विकास के साथ-साथ मस्तिष्क में शुद्ध रक्त के अधिक मात्रा में पहुँचने से विचार शक्ति में वृद्धि और सन्तुलन बनाये रखना प्रधान लक्ष्य था। इस प्रकार ब्राह्मण विचारधारा के महर्षियों ने शारीरिक शक्ति के विकास की ऐसी योजना निर्मित की थी कि जिसमें मानसिक व आत्मिक विकास को पूर्ण अवसर मिले। इस प्रकार की सुनियोजित योजना, जिसमें शारीरिक व्यवस्था एक नियम व बन्धन के रूप में की गई हो, विश्व की किसी भी विचारधारा में बन्धन के रूप में प्राप्त नहीं हैं।

ब्राह्मण विचारधारा के सर्वांगीण विकास क्रम में मानव के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों अंगों को भली प्रकार समझा गया था। कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर आदि के ज्ञान द्वारा आश्रम व्यवस्था के निर्वहण में पूर्णतया सहयोग प्राप्त होता था। इस विचारधारा में उस परम ब्रह्म की सर्वोत्तम रचना मानव को सम्यक्तया समझने का प्रयास किया था और मानव सेवा को ही उस परम सत्ता की सच्ची सेवा के रूप में स्वीकार किया गया था। इसी कारण ब्रह्मचर्य आश्रम व वानप्रस्थ आश्रम में परोपकार के कार्यों में जीवन को समर्पित करने में उल्लास तथा गर्व का अनुभव होता था। ब्रह्मचारी केवल विद्यार्थी मात्र नहीं था अपितु वह अनुशासित जीवन बिता कर गुरु-शिष्य के उदात्त आदर्शों के अनुरूप आचरण करते थे। इस विचारधारा की वर्ण व्यवस्था कर्म मूलक थी न कि जन्ममूलक। इसी भावना से ओत-प्रोत यह विचारधारा है। इस विचारधारा में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का सुन्दर समन्वय प्राप्त होता है। एक ओर देव यजन द्वारा लौकिक जीवन का नेतृत्व करने वाले प्रवृत्तिमार्गी ब्राह्मण विचारधारा के अनुयायी आचार्य, श्रेष्ठी, ऋत्विज शक्ति तथा धन की वृद्धि से सुख समृद्धि की वृद्धि करते हुए तथा अन्यों के लिए भोग सामग्री की सुविधाएं प्राप्त कराने में तल्लीन थे तो दूसरी ओर निवृत्ति-मार्गी मुनि श्रमण संसार त्याग में अपने भौतिक सुखों की अवहेलना करने वाला वर्ग परिव्राजकों का था। यह निवृत्ति परक विचारधारा ब्राह्मण विचारधारा में विशेष महत्व रखती है क्योंकि जीवन का चरम लक्ष्य यही है। वास्तव में आश्रमों की कोई निश्चित व्यवस्था वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होती किन्तु निष्कर्ष इस प्रकार के हैं कि इन्हीं निवृत्ति मार्गी तत्वों के द्वारा यह विकास सम्भव हो सका है। जैसे ऋग्वेद में हिरण्यकेशि सूक्त तथा यति शब्द का प्रयोग आदि। इस निवृत्ति तत्व का पोषण याकोबी ने भी किया है कि ब्राह्मण भिक्षुओं के अनुकरण में जैन

यथा बौद्ध भिक्षुओं का उदय हुआ। क्योंकि ब्राह्मण विचारधारा के धर्म सूत्रों के नियम ही ब्राह्मणों, श्रमणों, बौद्ध परिव्राजकों आदि में प्रायः समान ही हैं।

उत्तर वैदिक काल में प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक विद्याओं तथा उपासनाओं के अविर्भाव के कारण आरण्य जीवन का प्रसार और प्रचार हुआ और वानप्रस्थ आश्रम में पहले दोनों आश्रमों के कर्म तथा विद्या का समन्वय हुआ। उपनिषदों के अध्ययन से यह विवृत हो जाता है कि जीवन का चरम लक्ष्य ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश करके 'ब्रह्मभूय' सिद्धि की उपलब्धि हो जाय। मुक्ति का अधिकारी वही है जिसके हृदय में प्राणिमात्र के साथ एकात्मता की अनुभूति पूर्णरूपेण हो चुकी हो और इस एकात्मता अथवा सर्वात्मभाव में पूर्णत्व तभी सम्भव है जबकि प्राणिमात्र के प्रेम से परिपूर्ण कर ले। वैदिक श्रौत कर्म यज्ञ अथवा पुण्यार्जन द्वारा फल की सीमा बंध जाने पर तथा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति' के अनुसार पुनः वही जन्म जन्मान्तर में आवागमन का बन्धन अवश्यभावी हो जाता है। ज्ञान द्वारा स्वानुभव ही एकमात्र ऐसा उपाय है जो हमें अनित्यता, अनेकता, असत्यता से भी मुक्ति दिलाकर विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द की त्रिवेणी में विनिमज्जित कर सकता है। मुक्ति से आशय यह नहीं कि दुनिया छोड़ दो। कमल के पत्र को जिस प्रकार जल या[2] कीचड़ छू नहीं सकता उसी प्रकार ज्ञानी संसार में रहता हुआ भी जीवन्मुक्त होता है उसे भौतिक पदार्थों से लगाव नहीं होता।

मह आत्मज्ञान ही आरण्यकों तथा उपनिषदों में बहुचर्चित है। आत्मबोध की महत्ता को 'य एवं वेद' आदि के आधार पर इस जीवन में ही निःसीम सुख असीम-आनन्द पुरुष स्वतः प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि हेतु प्रजापति (आचार्य) की सेवा में इन्द्र जैसे सुर राज ही नहीं सामान्य जन भी इस ज्ञानाग्नि के स्फुलिंग मात्रोपलब्धि हेतु अपना जीवन समर्पण करते थे। इस ज्ञान की प्राप्ति भौतिक वस्तुओं हीरे जवाहरात दूध आदि के प्रतिदान से सम्भव नहीं और इसी कारण आत्मज्ञानी का ही तत्कालीन समाज में सर्वोत्कर्षण सम्मान था। ब्राह्मण भी आत्मज्ञानी क्षत्रियों राजाओं की शिष्यता स्वीकार करते थे तथा धनी मानी व्यक्ति मुनियों भिक्षुओं के चरणों पर नत मस्तक होते थे, इस प्रकार के उदाहरण प्राप्त है। इसी प्रकार के श्रमणों के अनुयायियों के उदाहरण त्रिपटक ग्रन्थों में मिलते हैं। यथा कौशल के अनाथ पिण्डक और कौशम्बी के घोषक आदि।

2. इदमिति—पुष्पकरपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवं पापं कर्म न श्लिष्यत इति। छा० 4।14।3

आत्मिक विकास तो जितना भारत ने समझा उतना विश्व के मानव ने अन्यत्र नहीं, सत्य है जब तक आत्मा को नहीं समझता तब तक ज्ञान अधूरा है। इस हाड मांस में कैसे आए और निकल कर कहां जाएंगे आदि विवेचनों और शंकाओं के द्वारा वे आत्मोन्मुख हुए और 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः[3] श्रोतव्यः आत्मानं विजानीहि, येनाऽहंनामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्' कहा है। आत्मदर्शन ब्राह्मण विचारधारा का सर्वस्व, निचोड़, सार है इसके द्वारा आत्मा को समझ उसे जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त करना मानव जीवन का लक्ष्य बन जाता है। धर्म, काम, मोक्ष आदि की प्राप्ति हेतु मनुष्य को जीवित रहना चाहिए। आत्म तत्व का सुरुचि-पूर्ण वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त,[4] तथा उपनिषदों में विवृत है। अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तत्वमसि आदि वाक्यों द्वारा अद्वैतवाद की स्थापना कर उपनिषदों ने आत्म साक्षात्कार द्वारा अमृतत्व का उपदेश दिया। इस विचारधारा से अनुप्राणित व्यक्ति अमृतत्व को ही लक्ष्य समझता था। इस विवेचन से हमें ब्राह्मण विचारधारा में शारीरिक, मानसिक व आत्मिक विकास के द्वारा सर्वांगीण विकास की रूपरेखा प्राप्त होती है।

सामंजस्य पूर्ण जीवन—इन्होंने व्यक्ति व समाज की आवश्यकता तथा सम्बन्धों को भली भांति समझ कर आर्य अनार्य दोनों का सामंजस्यपूर्ण समाज निर्मित किया। व्यक्ति के विकास के लिए आश्रम व्यवस्था तथा समाज के विकास के लिए वर्ण व्यवस्था। आश्रमों द्वारा स्वार्थ, ईर्ष्या अहंकार द्वेष आदि मानव षड्रिपुओं को नियंत्रित कर लोक कल्याण में लगता था, ऐसे व्यक्ति समाज के लिए नूतन मार्ग बनाते थे। इन्हीं के सत्प्रयत्नों से आज हम वेदों, उपनिषदों को ज्ञान रूप में पाते हैं। वरुण के ऋत से प्रेरित होकर समाज में नैतिक नियमों का अनुपालन नैतिकता का भाव, व्यष्टि व समष्टि का स्वाभाविक सामंजस्य बन सका। ईशावास्यमिदं[5] में त्याग भावना इसके द्वारा समाज में किसी भी प्रकार की विषमता उत्पन्न नहीं होती थी चाहे राजा हो या रंक अपने-अपने कार्य क्षेत्र में रहते हुए अपने कर्तव्यों व उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक होते थे। भौतिक व आध्यात्मिक जीवन में भौतिक उपलब्धियां ही सब कुछ नहीं थी किन्तु आत्म साक्षात्कार हो जीवन का चरम लक्ष्य था। अमृतत्व की प्राप्ति के लिए ही पहले भौतिक सुखों का उपभोग करते तदनुसार भौतिक ऐश्वर्य का त्याग करते थे तथा त्रिविध ताप वैयक्तिक, सामाजिक व राष्ट्रीय ताप तथा दैहिक, दैविक, भौतिक तापों का निराकरण करते थे। आत्म ज्ञान में

3. बृ०उ० 2।4।5
4. ऋ० 10।129
5. ईश० 1

राजा रंक समानरूपेण शिष्यत्व प्राप्त करते थे। उपनिषदों में अनेक गाथाएं हैं जिनमें चरमोत्कर्ष पर भौतिकोपलब्धि होने पर भी आध्यात्मिक ज्ञान की विजय हुई है। रैक्व जो निर्धन था उसने राजा के महान् वैभव को ठुकरा दिया। वह संवर्ग विद्या सिखाने के लिए अपनी आत्मजा का विवाह उस तपस्वी से करता था—इसी प्रकार दारैषणा, पुत्रैषणा, लोकैषणा तीनों का त्याग करके आत्मिक विकास हेतु बन में जाते थे। ऐहिक, पारलौकिक दृष्टिकोण को भी समझाया जाता था जिसके कारण भौतिक चकाचौंध में फंसा व्यक्ति भी पारलौकिक सत्ता में आस्थावान् होकर उस परमात्म तत्व की ओर अग्रसर होता था, उन्होंने अदिति के हिरण्यगर्भादि, आत्मा द्वारा प्रकृति, जीव, ब्रह्म को जान कर तीनों में सामंजस्य स्थापित किया। ईश के चतुर्थांश से यह सब विश्व व्याप्त है। साथ ही पुनर्जन्म व कर्म के सिद्धान्त को दृढ़ीभूत किया जिसमें जीवात्मा कर्मों के द्वारा जीवन मरण के बन्धनों में भटकता फिरता है। अतः भौतिक विकास के साथ परलौकिक ज्ञान भी आवश्यक है। इस ब्राह्मण विचारधारा का परम लक्ष्य वर्गचतुष्टय की प्राप्ति रहा है। इन्हीं का परिबृंहण पश्चात्कालीन साहित्य में पृथक् शास्त्रों के रूप में हुआ।

इस उपर्युक्त विवेचन को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं कि ब्राह्मण विचारधारा में मानव के लिए संघर्ष संकुल जीवन में भौतिक सुखों के साथ-साथ आध्यात्मिक ज्ञान के लिए भी पर्याप्त अवसर दिये गए हैं। जीवन के सर्वांगीण विकास का अविरल स्रोत इस विचारधारा में प्राप्त होता है इसका लक्ष्य मानव में उदात्त भावनाओं, गुणों के अर्जन के लिए मानव को सम्पूर्ण शक्ति तथा बुद्धि का प्रयोग करने का सन्देश है जिससे वह त्याग, तपस्या में जीवन को सार्वजनीनहित में लगा सके और उन गुणों के बल पर अपना अग्रिम जन्म (परलोक) सुधार सके, इस प्रकार इस लोक तथा परलोक दोनों के लिए एक सुव्यवस्थित योजना हमें ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त होती है जिसमें मानव अपना सर्व प्रकार से विकास कर सकता है। इस सम्पूर्ण विचारधारा का केन्द्र बिन्दु लोक हित है।

इस विचारधारा में मानव और मोक्ष के मध्य में देवों की स्थिति इस प्रकार से सुनियोजित रूप में प्राप्त होती है जो कि मानव के सर्वांगीण विकास के लिए विश्व की किसी भी विचारधारा में नहीं मिलती। कतिपय आलोचक इस दैविक सत्ता को मनुष्यों के लिए आत्म निर्भरता के अभाव का कारण बतला कर उनमें देवों के अत्यधिक अवलम्बन से अकर्मण्यता का द्योतक कहते हैं यह अनुचित है। कारण स्पष्ट है जैसा ड० सम्पूर्णानन्द[6] ने उपनी पुस्तक हिन्दू देव परिवार का विकास में में स्पष्ट कहा है कि पुराकल्प के ऋषि ही देवता कहे जाते हैं। इसी का पूर्ण समर्थन

6. हिन्दू देव परिवार का विकास, डा० सम्पूर्णानन्द

दैविक गुणों को अपने में एकत्र करने की भावना में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ऋभुवों[7] को देवत्व प्राप्ति आदि के उदाहरण से मानव में दैविक गुणों का समावेश ही इन देवों की स्वीकृति का रहस्य है।

भावी जीवन उन्नत, गरिमामय एवं सुखी बनाने के लिए कर्म के महत्व पर विशेष बल दिया है। इन गुणों का लाभ इस जीवन में उतना नहीं दृष्टिगत होता जितना परलोक सुधारने की भावना में प्राप्त होता है। इस प्रकार त्यागी महापुरुषों की उस अभूतपूर्व उपलब्धि पर दृष्टिपात करना आवश्यक रहा है।

जीवन में संघर्षों से भागने की भावना नहीं है अपितु अपने में उदात्त भावनाओं और सहिष्णुता लाने पर विशेष ध्यान दिया गया है। वैदिक ऋषि भौतिक सुखों की उपलब्धि से इस जीवन को सुखी करता है और आत्म ज्ञान द्वारा परलोक को सुधारता है। सर्वांगीण विकास का चरम लक्ष्य मोक्ष है जिसकी प्राप्ति में धर्म, अर्थ, काम इन तीनों पुरुषार्थों की सफलता निहित है, इनका परस्पर विरोध नहीं है अपितु इन सभी को उचित रूप में भोगते हुए अपने चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना ही ब्राह्मण विचारधारा के सर्वांगीण विकास की आधार भित्ति है।

मानव जीवन के लिए इन्द्रियों की बहिर्मुखी धारा (परांचि खानि)[8]को अन्तर्मुखी (आवृत चक्षुः) करने के लिए उनके विषयों से निवृत्त होने के लिए सभी दुर्गुणों का निराकरण करते हुए मन को पवित्र करने का सन्देश दिया है।

इससे पूर्व हमने ब्राह्मण विचारधारा का सर्वांगीण प्रभाव संक्षेप में दर्शाया कि जिससे मानव अपनी दोनों प्रकार की उन्नति करने में सफल है। उसे भौतिक सुख भी प्राप्त हो सकता है और आत्मिक विकास का चरम लक्ष्य मोक्ष भी। अब हम बौद्ध विचारधारा के कतिपय तत्वों को यहां प्रस्तुत करते हैं कि जिससे तुलनात्मक स्वरूप उपस्थित हो सके और मानव के लिए बौद्ध विचारधारा के द्वारा प्रदर्शित किए गए साधनों का उपयोग हो सके। भगवान् बुद्ध को ब्राह्मण विचारधारा के निर्मल, सत्य स्वरूप ऋत का ही संस्थापक, उद्धारक और उपासक मानता हूं। उन्होंने इस विचारधारा के प्रोज्ज्वल रूप को प्रोद्भासित किया। पोरोहित्यवाद के कारण जो ऋत अनृत में परिवर्तित होकर धूमिल हो गया था उसके कुहरे को हटा कर (सत्यस्यापिहितंमुख)[9] की भाँति उसको अनावृत कर बाह्याडम्बरों में शक्ति, समय तथा वर्चस्व को लुटा देने में उलझी हुई, जकड़ी हुई संस्कृति को उस स्वार्थ

---

7. ऋ० 4।33।1
8. कठ० उ० 2।1
9. ईश० 15

कलंक पंक से इन डूबतों को उबारा और उस तेजस् भ्राजसू तथा ओजसू स्वरूप को बाह्य की अपेक्षा अन्तर्मुखी सोऽहम् की सच्ची भावना में जगाया।

सर्वतो मुखेन ये ही आक्षेप भगवान् बुद्ध पर लगाते हैं कि वे आत्म तत्व तथा परमात्म तत्व को नहीं स्वीकार करते, वस्तुतः इन झंझटों तथा वादों के विवाद में पड़ने वाले को उन्होंने सच्चा गवेषक नहीं बतलाया उनकी दृष्टि में विवाद में पड़ने वाले व्यक्ति मिथ्या दृष्टि से युक्त हैं—कोई ज्ञान नहीं, पता नहीं। श्रुति ग्रन्थ तथा उपनिषदों की सच्ची भावना अनावृत ऋत की अजस्र मन्दाकिनी को ही बहाया है।' 'को ददर्श प्रथमं[10] जायमानं' आदि प्रश्नों में उस ब्रह्म की सत्ता सर्व स्वीकृत है और उन्हीं ग्रन्थों में नेन्द्रो ऽस्तीति[11] के विचार भी है, वे प्रत्यक्ष दर्शन चाहते थे अतः अयं—[12] में इन्द्र की उपस्थिति से देवों की सत्ता शौर्य तथा शक्ति की प्रबलता का भी आभास मिला। इसी धारा के अजस्र प्रवाह की उपनिषदों में स्पष्ट ध्वनि है। जो उसके रूप को जानने का दावा करता है उसे कुछ भी ज्ञात नहीं जो नहीं जानता वह जानता है, इसका अर्थ स्पष्ट है कि यह व्याख्यान योग्य नहीं है अतः अव्याकृत ही है इसमें अनिवर्चनीयता, सद् भी नहीं असत् नहीं इन सभी से अव्याकृत का पोषण होने से उस परम्परा का निर्वहण है, वे इस प्रकार के प्रश्नों के झंझट में नहीं पड़ते थे। इस प्रकार लक्ष्य की समानता है तथा साधनों में—'तप, दम, कर्मेति' का संकेत स्पष्ट है। कठोर तप के परिणाम सीमित रहे, इसमें भगवान् बुद्ध की विशेषता है—वैसे ब्राह्मण विचारधारा में प्राप्त आधारभूत तत्वों की ही व्याख्या है किन्तु उन्हें व्यावहारिक बनाने, जीवन में उतारने का कार्य भगवान् बुद्ध का ही रहा है यथा कठोर तपस्वी भी यदि उसको संयम नहीं, उसकी इच्छाएं विरत नहीं हुई, वह इन्द्रियजित नहीं हुआ यथा आज भी कहने को साधु वैसे पूर्ण स्वादु—किसी व्यसन में पीछे नहीं तो ऐसे ढोंगियों के लिए यह एक अभिग्रह ही है उन्होंगे कहा कि ऐसे व्यक्तियों का अरण्यवास व्यर्थ हैं। उन्होंने एषणाओं का त्याग, तृष्णाओं से विरति आस्रवों के क्षय होने को वितृष्णा होना बतलाया। अपनी वितृष्णा के उदाहरण में भी उन्होंने स्पष्ट किया कि जिन सुन्दरियों के गाने बजाने में उन्हें उनके पिता ने उलझा रखा था वे रात्रि को गाते-बजाते यह समझ कि गौतम सो गए किसके लिए यह करे, वे भी सो गई। किन्तु गौतम तो जाग रहे थे, उस समय किसी के मुंह से लार, किसी का वक्ष तथा गुह्य अनावृत देख उन्हें वितृष्णा हुई। वे भाग खड़े हुए और सुत्तनिपात के खड्ग विषाण सुत्त में उनके वितृष्ण होने के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं इन्हीं

10. ऋ० 1।164।4
11. ऋ० 8।100।3
12. ऋ० 8।100।4

लोकेषणा, वित्तेषणा आदि का वर्णन बृ० उ० में है। भगवान् बुद्ध ने संसार की वस्तुओं में त्याग को ब्राह्मण विचारधारा के अनुसार ही महत्व दिया यथा—

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्' मात्र प्रयोगाधिकार ही संसार की सब वस्तुओं में व्यावहारिक रूप से अपनाने को कहा ही नहीं बल्कि उनसे उनका प्रयोग भी करवाया तथा स्वयं भी किया, यही उनका लक्ष्य था।

अग्रिम जन्म के आधार भी समान हैं दोनों में अन्तिम समय की इच्छा, तृष्णा, कर्म को महत्व दिया है। यथा कर्म[13] यथा श्रुतम। पुण्येन कर्मणा पुण्यः तथा पाप कर्म से पापी इत्यादि विचारों में पुनर्जन्म और कर्म की भावना का ही प्रभाव बुद्ध वचनों में पाते हैं यथा 'मैंने ब्रह्मचर्य पा लिया, मेरे जो सम्पूर्ण क्लेश क्षीण होने थे, हो गए, करना था सो कर लिया, मैंने ज्ञान पाया, प्रकाश पाया, अण्डे को फोड़ कर लोक में ज्येष्ठ श्रेष्ठ ब्रह्मभूत मैं ही हूँ इत्यादि विचारों में ब्राह्मण विचारधारा की छाया प्राप्त होती है।

अनात्मवाद—इसके स्वरूप की स्वीकृति में भगवान् मे कहा था कि ब्राह्मणों के प्राचीन ऋषि अट्टक, वामक आदि ने भी इसे कभी देखा है, इनकी सात पीढ़ी तक भी किसी ने नहीं देखा है। इस सभी में उसके सच्चे स्वरूप के दर्शन के अभाव का ही आभास मिलता है। इस विषय में बृ० उ० का 'प्रेत्य संज्ञा नास्ति' जैसा उदाहरण तथा उपशान्तोऽयमात्मा[14] वाष्कलि तथा वाध्व के उदाहरण ही प्रमाण है। भगवान् बुद्ध ने आत्मा के लिए किसी नागरिक सुन्दरी[15] को बिना देखे उसके लिए मन को लगाने का उदाहरण ही दिया है कि जब हमने उसे देखा ही नहीं तो व्यर्थ में उसकी कल्पना में पीडित तथा सप्रयत्न होना उचित नहीं। उन्होंने पंच स्कन्धों को विज्ञान द्वारा अग्रिम जन्म के धारण करने का आधार माना है। उनका पुद्गल वही जीव ही है। वे जीवन को सन्तति प्रवाह के रूप में मानते हैं, वह स्पष्ट ही बृ० उ० के जोंक के उदाहरण का ही रूप है क्योंकि यह आत्मा जब अग्रिम जन्म ढूंढ लेता है तभी इस पुराने शरीर को छोड़ता है तो इसमें स्पष्टतया सन्तति प्रवाह ही तो बना है, वह अवरुद्ध तो होता नहीं।

प्रतिबोधविदितं[16] मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥

---

13. कठ० 2।2।7
14. बृ० उ० सू०
15. वैखानस सुत्त, म० नि०, पृ० 327
16. केन० उ० 2।2।4

इस मन्त्र में प्रतिबोध से उत्पन्न ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान कहा गया है क्योंकि यही ज्ञान अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कराता है और उसी अन्तर्यामी परमात्मा से उस ज्ञान के प्राप्त करने की शक्ति प्राप्त होती है और विद्या से (ज्ञान से) अमृत रूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त किया जाता है। इस उपर्युक्त मंत्र में 'प्रतिबोध विदितं' में मुझे भगवान् बुद्ध के स्मृत्युपस्थान का आभास प्राप्त होता है क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कहा है कि साँस लेते हुए और सांस छोड़ते हुए दोनों स्थितियों में यह ध्यान बना रहे कि मैं दीर्घ सांस ले रहा हूँ अथवा छोड़ रहा हूँ इस प्रकार की स्मृति का बना रहना ही इस उपर्युक्त प्रतिबोध ज्ञान की ओर संकेत करता है। इसका अभिप्राय यही है कि संसार की सभी वस्तुओं को सच्चे रूप में समझ कर कि मेरे चारों ओर बाहर तथा भीतर ये क्रियाएं वर्तमान हैं और मुझे इनसे भिन्न ही वस्तु की ओर उन्मुख होना है वह तभी हो सकता है कि जब हम अपने बाह्य वस्तुओं के बोध का अभाव प्रति क्षण रखें, यही प्रतिबोध विदितं की दूसरे शब्दों में व्याख्या है।

उस परम सत्ता के स्वरूप के विषय में अव्याकृत कहना सर्वथा ब्राह्मण विचार-धारानुकूल है। 'यतो वाच निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह' इत्यादि श्रुतियां निषेधात्मक नहीं हैं अपितु इनमें जो भाव हैं वे सभी अव्याकृत कहने को बाध्य करते हैं। ब्राह्मण विचारधारा देवों तक ही उलझ कर रह गई, आगे अत्यल्प व्यक्ति ही बढ़े क्योंकि सम्पूर्ण शक्ति, आयु का स्वर्णिम भाग इन्हीं चक्करों में नष्ट हो गया और चलते बने। बुद्ध ने भी 'मुझ में श्रद्धा है, सत्य है, वीर्य है,' की वही स्वीकृति मानी है जो ब्राह्मण विचारधारा में रही है। श्रद्धा[17] में उदात्तता पावनता तथा सत्य के प्रति उत्कट इच्छा का स्वरूप मिलता है।

ज्ञान का स्वरूप भी ब्राह्मण धर्मानुकूल ही है। त्रसदस्यु को अर्द्ध देवत्व तथा ऋभुओं[18] को पूर्ण देवत्वोपलब्धि तथा' मोषु मृन्मय गृहं' ऋचा में वरुण से मिट्टी के घर को न देने की प्रार्थना में वही देवत्वोपलब्धि की प्रार्थना की गई है। जिसका प्रभाव स्पष्टतया बुद्ध वचनों में मिलता है जहां कि वे मिट्टी का घर दोबारा न पाने के लिए कहते हैं कि मैंने घर बनाने वाले को जान लिया है और अब मुझे मिट्टी का[19] घर नहीं प्राप्त होगा। इसी प्रकार ज्ञान की प्राप्ति में पूर्व जन्म की स्मृति के उदाहरण में हम वामदेव का उदाहरण पाते हैं जिन्हें गर्भ में ही इन्द्र आदि देवताओं के जन्म का ज्ञान हो गया था। यह बुद्ध की पूर्व जन्मों की स्मृति ही है

17. सुत्तनिपात. प्रधानसुत्त ।8।
18. ऋ० 4।33।1
19. ऋ० 7।89।1

जो कि बुद्ध के भी चरम लक्ष्य का प्रथम सोपान है और यही ब्राह्मण विचार-धारा में पूर्णतया विकसित है अत: दोनों में साम्य है और यह मानव के सर्वांगीण विकास की सीमा है जो भगवान् बुद्ध के वचनों में चार आर्य सत्यों दु:ख, समुदय, निरोध तथा दु:खनिरोध गामिनी प्रतिपद् मार्ग के द्वारा स्पष्टतया समझाई गई हैं।

एक अन्य प्रश्न के माध्यम से उन्होंने समझाने का प्रयास किया कि कतिपय विषय अव्याकृत हैं और उनके बारे में जानना व्यर्थ है जैसे कोई विष से बुझे हुए तीर लग जाने पर यह प्रश्न करे कि मैं तो यह तब तक नहीं निकलवाऊंगा जब तक कि मुझे यह मालूम न हो जाए कि यह तीर सरकंडे या लोहे का है और उसको मारने वाला कोई क्षत्रिय या वैश्य है। इस प्रकार के प्रश्नों में उलझे रहने के कारण रोगी की उस तीर के न निकलने से पहले ही मृत्यु हो जाएगी इसी प्रकार लोक शाश्वत हैं, अशाश्वत हैं इत्यादि प्रश्नों को उन्होंने अव्याकृत कहा है क्योंकि ये ज्ञान प्राप्ति में साधक न होकर बाधक ही माने गये हैं। वस्तुत ब्राह्मण विचारधारा के इन प्रश्नों में सम्पूर्ण समाज उलझा हुआ है जिससे विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है किन्तु भगवान् बुद्ध ने इन सबको निराकृत कर मौलिक मार्ग दर्शाया और समाज के सर्वांगीण विकास के लिए सीधा ज्ञान मार्ग को ही उचित ठहराया।

ब्राह्मण विचारधारा और बौद्ध विचारधारा के सर्वांगीण तुलनात्मक अध्ययन में हमने कतिपय दार्शनिक तथ्यों को विवेचित किया है अब हम आचारिक दृष्टि से विचार करेंगे। भगवान् बुद्ध ने दुर्वचन[20] का विरोध करते हुए कहा कि तुम अपने चित्त को विकारों से रहित करो और द्वेष भाव को दूर कर मैत्रीपूर्ण व्यवहार करो। यथा जो तेरे भीतर घर किये राग हैं, जो घर किए वितर्क (ख्याल) हैं उन को छोड़ देना। वहां फग्गुण। तुझे इस प्रकार सीखना चाहिये—'मेरे चित्त में विकार नहीं आने पायेगा, दुर्वचन मैं मुंह से नहीं निकालूंगा, द्वेषरहित हो मैत्री-भाव से हित और अनुकम्पक हो विहरूंगा'। उन्होंने विकार को दूर करने की विधि पर प्रकाश डालते हुए भिक्षुओं से कहा—'मैं अपने चित्त को विकार-युक्त न होने दूंगा, और न दुर्वचन (मुंह से) निकालूंगा, मैत्री-भाव से हितानुकम्पी होकर विहरूंगा, न कि द्वेषपूर्ण चित्त से। उस (विरोधी) व्यक्ति को भी मैत्री-पूर्ण चित्त से आप्लावित कर विहरूंगा। उसको लक्ष्य (आरम्भण) करके सारे लोक को विपुल, विशाल, अप्रमाण मैत्रीपूर्ण चित्त से आप्लावितकर, अ-वैरता अ-व्यापादिता (द्रोह-रहितता) से परिप्लावित कर विहरूंगा। इस प्रकार भिक्षुओं! तुम्हें सीखना चाहिये।

उन्होंने ब्राह्मण विचारधारा में प्रतिपादित इन्द्रियों के आकर्षण को दूर करने के

20. ककचूपम-सुत्त, म० नि० पृ० 80,83

उपायों को समझाते हुए कहा—'भिक्षुओं। ये पांच कामगुण[21] (काम-भोग) हैं। कौन से पाँच? (1) चक्षु द्वारा ज्ञेय इष्ट (कान्त-मानाप-प्रियरूप कामापसंहित), रंजनीय रूप। (2) श्रोत्रद्वारा ज्ञेय—शब्द। (3) घ्राणद्वारा ज्ञेय—गंध। (4) जिह्वा द्वारा ज्ञेय—रस (5) काया (त्वक्) द्वारा ज्ञेय—स्प्रष्टव्य। भिक्षुओं! ये पांच कामगुण हैं। भिक्षुओं! जो कोई श्रमण या ब्राह्मण इन पांच काम गुणों में बंधे मूर्छित (गर्क), लिप्त हो, (उनके) दुष्परिणाम को न देख, निकलने की बुद्धि न रख (उनका) उपभोग करते है, उनके लिये समझना चाहिये कि वह दुःख में पड़े हैं, पापी मार की इच्छानुसार करने वाले हैं। जैसे, भिक्षुओ। जंगली मृग पास-राशि से बंधा सोवे।

भगवान् बुद्ध ने पाँच नीवरणों के छूटने पर ही मुक्ति के मार्ग की प्राप्ति को संभव बताया। उन्होंने उदाहरण देकर समझाया कि भिक्षुओं जैसे कोई पुरुष बन्धनागार में बंधा हो और उसके बन्धन कट जाने पर ही उसकी मुक्ति है इसी प्रकार है भिक्षुओं[22]! भिक्षु ऋण के समान, रोग के समान, बन्धनागार के समान, दासता के समान, (और) कान्तार-मार्ग के समान इन न-छूटे (अभिध्या आदि) पांच नीवरणों को अपने में समझता है। इन नीवरणों के छूट जाने पर अपने भीतर वह ऋण-मुक्ति, रोग-मुक्ति, बंधन-शुक्ति, स्वतन्त्रता, (और) क्षेमयुक्त भूमि जैसा समझता है।

भगवान् बुद्ध ने अधर्माचरण को तीन प्रकार का बतलाया है और उनसे मानव जीवन के सभी क्षेत्रों को विस्तारपूर्वक आच्छादित कर लिया है। वास्तव में यदि इन तीनों प्रकार के अधर्माचरणों से यदि मनुष्य मुक्ति पा ले तो वह आदर्श मानव, महा मानव तथा बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। इन्हीं अधर्माचरणों के विषय में ब्राह्मण विचारधारा में भी यत्र तत्र बहुविध चर्चा की गई हैं। भगवान् बुद्ध ने गृहपतियों को समझाते हुए कहा कि—गृहपतियों[23]। कायिक अधर्माचरण, विषम आचरण तीन प्रकार का होता है। वाचिक अधर्माचरण, विषम-आचरण, तीन प्रकार का होता है। मानसिक अधर्माचरण—तीन प्रकार का होता है?—यहां गृहपतियो। कोई (पुरुष) (1) हिंसक, क्रूर, लोहित-पाणि (खून रंगे हाथों वाला), मार-काट में रत, प्राणियों के प्रति निर्दयी होता है। (2) अदिन्नादायी (चोर) होता है, जो दूसरे का बिना दिया, चोरी कहा जाने वाला गांव में या जंगल में रखा धन-सामान है, उसका लेने वाला होता है। (3) कामों (स्त्री-संभोग) में मिथ्याचारी (दुराचारी) होता है, उन (स्त्रियों) के साथ संभोग करता है, जो कि

21. पासरासि-सुत्त, म० नि० पृ० 110।
22. महाअस्सपुर-सुत्त, म० नि०, पृ० 165।
23. सालेय्यक-सुत्त, म० नि०, पृ० 170, 171।

माता द्वारा रक्षित हैं, पिता द्वारा रक्षित, माता-पिता द्वारा रक्षित, जाति वालों द्वारा रक्षित, भगिनी द्वारा रक्षित, जातिवालों द्वारा रक्षित, गोत्र वालों द्वारा रक्षित धर्म से रक्षित हैं, पतिवाली दंडयुक्त हैं, यहां तक कि (विवाह सम्बन्धी) माला मात्र भी जिन पर डाल दी गयी है। इसी प्रकार गृह पतियों! तीन प्रकार का कायिक अधर्माचरण—होता है।

कैसे गृहपतियों[24]। चार प्रकार का वाचिक अधर्माचरण होता है?—यहां गृहपतियो! कोई (पुरुष) (1) मिथ्यावादी होता है। सभा में, या परिषद् में, या जाति के मध्य में, या पूरा (पंचायत) के मध्य में, राजदरबार में, बुलाने पर साक्षी के लिये—'हे पुरुष! जो जानते हो, वह कहो।'—(पूछने पर), वह न जानते हुए कहता है—'मैं जानता हूँ', जानते हुए कहता है—'मैं नहीं जानता'। न देखे कहता है—'मैंने देखा है, देखे हुए कहता है—'मैने नहीं देखा'। इस प्रकार अपने लिये या थोड़े आमिष (भोगवस्तु) के लिए जान-बूझकर झूठ बोलता है। (1) चुगलखोर होता है—इनमें फूट डालने के लिए यहां सुनकर वहां कहता है, उनमें फूट डालने के लिए, वहां सुनकर यहां कहता है। इस प्रकार मेलजोल वालों को फोड़ने वाला, फूटे हुये (की फूट) को सह देने वाला, वर्ग (पार्टीबाजी) में खुश, वर्ग में रत, वर्ग में आनन्दित, वर्गकरणी वाणी का बोलने वाला होता है। (3) पुरुष (कटु) भाषी होता है—जो वाणी तेज, कर्कश, दूसरे को कड़वी लगने वाली, दूसरों को पीड़ित करने वाली, क्रोधपूर्ण अशान्ति पैदा करने वाली है, वैसी वाणी का बोलने वाला होता। (4) प्रलापी होता है—बेवक्त बोलने वाला, अयथार्थ बोलने वाला—अतथ्य-वादी, अधर्मवादी, अ-विनय (अनीति)-वादी, बिना समय, बिना उद्देश्य के तात्पर्य-रहित, अनर्थयुक्त निस्सार वाणी का बोलने वाला होता है। इस प्रकार गृहपतियो! चार प्रकार का वाचिक अधर्माचरण होता है।

कैसे गृहपतियो! तीन प्रकार का मानसिक अधर्माचरण होता है? न यहां गृहपतियो! कोई (पुरुष) (1) अभिध्यालु—(लोभी) होता है, जो दूसरे का धन-सामान लेना चाहता है और उसका लोभ करता है कि वह मेरा हो जाये। (2) व्यापन्नचित—द्वेषपूर्ण संकल्पवाला होता है—'ये प्राणी मारे जायें, बध किये जाये, उच्छिन्न होवें, विनष्ट होवें मत रहें इत्यादि। (3) मिथ्यादृष्टि[25] उलटी धारणा वाला होता है—'दान कुछ नहीं, यज्ञ कुछ नहीं, हवन कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृत कर्मो का कोई फल—विपाक नहीं, यह लोक नहीं, परलोक नहीं, माता नहीं, पिता नहीं औपपातिक सत्व (अयोनिज प्राणी—देवता लोग) नहीं हैं। लोक में ठीक पहुंच वाले

24. सालेय्यक-सुत्त, म० नि०, पृ० 171
25. सालेय्यक-सुत्त, म० नि०, पृ० 171

ठीक रास्ते पर लगे ऐसे श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं, जो इस लोक और परलोक को स्वयं जानकर साक्षात्कार कर (औरों को) जतलायेंगे।' इस प्रकार गृहपतियों तीन प्रकार का मानसिक अधर्माचरण होता है।

भगवान् बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था (जातिवाद) का खंडन बड़े सबल शब्दों में किया है और ब्राह्मणों के जाति से श्रेष्ठ होने की निन्दा की है। उन्होंने कात्ययान[26] को सम्बोधित करते हुए कहा कि तुम्हें समझना चाहिए कि लोक में यह हल्ला ही भर है—'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण हैं, ब्रह्मा के दायाद है।' 'तो क्या मानते हो, महाराज। यहाँ कोई क्षत्रिय केश-दाढ़ी मुंड़ा कर काषाय वस्त्र पहन घर से बेघर (अनागारिक) हो प्रव्रजित (सन्यासी) हो, (वह) प्राणातिपात से विरत, अदत्तादान, मृषावाद से विरत हो, एकाहारी ब्रह्मचारी, शीलवान् (सदाचारी) कल्याणधर्मा हो, तो उसके साथ तू क्या करेगा ?'

'हे कात्यायन। अभिवादन, प्रत्युत्थान करेंगे, आसन देंगे, चीवर-पिंडपात (भिक्षा) शयन-आसन-ग्लान-प्रत्यय (पथ्य) भैषज्य (दवा) प्रदान करेंगे, उसकी धार्मिक रक्षा-वरण-गुप्ति सम्पादित करेंगे। सो किस हेतु ? हे कात्यायन। जो उसकी पहले क्षत्रिय संज्ञा थी, वह अन्तर्धान हो, गई, (अब) श्रमण ही उसकी संज्ञा है।'

उन्होंने सुन्दरिकभारद्वाज-सुत्त[27] में घोषणा की कि हे ब्राह्मण। 'जाति के विषय में न पूछो, आचरण के विषय में पूछो। लकड़ी से आग पैदा होती हैं, (इसी प्रकार) नीच कुल में पैदा होकर भी मुनि धृतिमान्, उत्तम और पाप-लज्जा से संयत होते हैं।

भगवान् बुद्ध ने आर्यश्रावकों को सात सद्धर्मों से युक्त होने का निर्देश देते हुए कहा कि भिक्षु को इस प्रकार से इन धर्मों को अपनाना चाहिए। यथा महानाम[28] ! भिक्षु (1) श्रद्धालु होता है—तथागत की बोधि (परमज्ञान) में श्रद्धा करता हैं—'भगवान् अर्हत्' देव-मनुष्यों के शास्ता बुद्ध भगवान् हैं। (2) ह्रीमान् (लज्जाशील) होता है—कायिक, वाचिक, मानसिक दुराचारों से लज्जित होता है, पापों बुराइयों के आचरण से संकोच करता है। (4) बहुश्रुत श्रुत-घर श्रुत-संबन्धी होता है—जो वे धर्म आदि-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण, सार्थक-स-व्यंजन हैं, (जो) केवल, परिपूर्ण, परिशुद्ध ब्रह्मचर्य को बखानते हैं, वैसे धर्म (उपदेश) उसके बहुत सुने, वचन

26. माधुरिय-सुत्त, म० नि०, पृ० 345

27. मा जाति पुच्छ चरणं च पुच्छ, कट्ठा हवे जायति जातवेदो।
नीचा कुलीनो पि मुनी धितीमा, आजानियो होति हिरीनिसेधो।8।

28. सेख सुत्त, म० नि० पृ० 213, 214

से धारित, परिचित, मन से चिन्तित, दृष्टि (दर्शन, ज्ञान) से अवगाहित (प्रतिविद्ध) होते हैं। (5) आरब्धवीर्य (उद्योगी) होता है—बुराइयों (अकुशल-धर्मों) के छोड़ने में, और भलाइयों के ग्रहण करने में, स्थिर दृढ़-पराक्रमी होता है। भलाइयों में स्थिर, अ-निक्षिप्त-धुर (जुआ न उतार फेंकने वाला) होता है। (6) स्मृतिमान् होता है—परम परिपक्व स्मृति (याद) से युक्त होता है। चिरकाल के किये और कहे का स्मरण करने वाला, अनुस्मरण करने वाला होता है। (7) ज्ञानवान् होता है—उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होने वाली, अच्छी तरह दुःख के क्षय की ओर ले जाने वाली आर्य निर्बेधिक (वस्तु के तह तक पहुंचने वाली) प्रज्ञा से युक्त होता है।

इन्होंने कर्मों के फल पर पूर्णतया ब्राह्मण विचारधारा के अनुकूल ही बल दिया है, मानव के लिए कर्मों का महत्व समझाते हुए कहते हैं कि' है माणव।[29] प्राणी कर्मस्वक (कर्म ही धन है, जिनका) है, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु, कर्म-प्रतिशरण (कर्म ही रक्षक है, जिनका) हैं। कर्म प्राणियों को इस (हीन-प्रणीतता में) विभक्त करता है।'

भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट संकेत किया कि वे धर्म-दायाद[30] बनें न कि आमिष-दायाद (धन-वित्त की विरासत पाने वाले)।

भगवान् बुद्ध ने कुशल और अकुशल[31] दोनों धर्मों का विवेचन करते हुए स्पष्ट रूप से समझाया कि मानव जीवन में हिंसा, चोरी, काम, झूठ बोलना, चुगली करना, कठोर भाषण, बकवाद, लालच, प्रतिहिंसा और मिथ्यादृष्टि (झूठीं धारणा) रखना ये सब अकुशलमूल हैं। उन्होंने तृष्णा का निरोध आहार का निरोध कहा है। तृष्णा का समुदय आहार का समुदय कहा है। यह आर्य अष्टांगिक मार्ग आहारनिरोध गामिनी प्रतिपद् है। उन्होंने अविद्या को स्पष्ट करते हुए समझाया कि जो दुःख के विषय में अज्ञान, दुःख समुदय के विषय में अज्ञान, दुःख निरोध के विषय में अज्ञान, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् के विषय में अज्ञान है, उसे आवुस। अविद्या-निरोध होता है। यही आर्य-अष्टांगिक मार्ग है।

इस प्रकार हमने बौद्ध विचारधारा के द्वारा होने वाले संशोधन और अविद्या के विनाश के मार्ग को विवेचित करते हुए कर्म का महत्व, जाति-पाति के बन्धन का शैथिल्य और आर्य-अष्टांगिक मार्ग का स्वरूप संक्षेप में प्रस्तुत किया। अब हम कुछ समान स्थलों, विचारों को उपस्थित करते हैं।

---

29. चूलकम्मविभंग-सुत्त, म० नि०; पृ० 554
30. धम्मदायाद-सुत्त, म० नि०, पृ० 10
31. सम्मादिट्ठि सुत्त, म० नि०, पृ० 34

ऋग्वेद में वरुण से प्रार्थना की गई है कि मुझे अब मिट्टी का घर (मरणशील शरीर) मत देना और अमृतत्व की प्राप्ति कराना, ठीक इसी प्रकार की भावना भगवान् बुद्ध को प्रतीत्य-समुत्पाद ज्ञान की उपलब्धि के समय हुई।

बहु जन्म जग में दौड़ता, फिरता बराबर में रहा।[32]
नित ढूंढ़ता गृहकार को, दुख जन्म के सहता रहा॥
गृह-कार अब देखा गया, है फिर न घर करना तुझे।
कड़ियां सभी टूटीं तेरी, गृह-शिखर भी बिखरा पड़ा।
संस्कार-विरहित चित्त अब तृष्णा सभी के नाश से।
मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मृडा सुक्षत्र मृडय।[33]

वैदिक ऋषि वरुण से स्पष्ट शब्दों में कहता है कि समुद्र में रह कर भी मुझे प्यास लगी है :

'अपां मध्येतस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम्।'[34]

इसका आशय यही है कि मै तृष्णाओं के समुद्र में रहा हूँ और उन तृष्णाओं की तृप्ति करते हुए भी मेरी प्यास नहीं बुझ रहीं है। इसी को गीता में 'नजातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' कह कर इच्छाओं की तृप्ति में उनकी शान्ति नहीं है अपितु उनके त्याग करने में है। इस प्रकार की तृष्णाओं के क्षय के लिए भगवान् बुद्ध ने अनेक स्थलों पर कहा है।

उस ज्ञान की चरम सीमा निर्वाण के विषय में जैसा ब्राह्मण विचारधारा में कहा है कि उस स्थिति को प्राप्त करके मनुष्य शोक और मोह से छूट जाता है इसी प्रकार की भावना का वर्णन बुद्ध वचनों में प्राप्त होता है। जैसे भगवान् बुद्ध ने कहा है कि 'निर्वाण[35] की ओर ले जाने वाला वीर्य मेरे जोते हुए बैल हैं। वह निरन्तर उस ओर जा रहा है, जहां जाकर कोई शोक नहीं करता। यह मेरी खेती इस प्रकार की गई है। यह अमृत-फल देने वाली है, ऐसी खेती करके मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।'

---

32. बु० च०, पृ० 16
33. ऋ० 7।89।1
34. ऋ० 7।89।4
35. बिरियं मे—यत्थ गन्त्वा न सोचति।
    एवमेसा कसी कट्ठा—सब्बदुक्खा पमुच्चती ति॥ कसिभारद्वाज-सुत्त, सु० नि० 4,5

इस ज्ञान की प्राप्ति इसी जीवन में होती है यह विचार उपनिषदों में वर्णित है, जिसका अनेक बार वर्णन भगवान् बुद्ध ने अपने वचनों में किया है । मैंने 'उस[36] अनुत्तम ब्रह्मचर्य को इसी जन्म में पा लिया है में मुक्त हो गया हूँ ।'

भगवान् बुद्ध ने अपने मार्ग को सभी प्रकार से कल्याण का मार्ग बतलाते हुए कहा कि जो भिक्षु बहु-श्रुत, श्रुत-धर, श्रुत-संचयवान् होता है उसके लिए यह धर्म आदिकल्याण, मध्यकल्याण, पर्यवसान कल्याण होता है, इसमें भी ब्राह्मण विचारधारा के सारभूत ग्रन्थ गीता के भावों का स्वरूप प्राप्त होता है । (नहि कल्याण कृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति) ।

ब्राह्मण तथा बौद्ध विचारधारा के सर्वांगीण तुलनात्मक सिंहावलोकन का सार यही है कि मानव अपूर्ण है उसे पूर्णत्व की उपलब्धि के लिए पुनर्जन्म लेना है । अविद्या-अज्ञान के कारण ही हम सब बंधे हैं, इनका विनाश दोनों धाराओं में सबल रूप में वर्णित किया गया है । भगवान् बुद्ध ने 45 वर्ष तक दान की महिमा, त्याग, तपोमय जीवन, सरल विचार जिनमें समानता, सहयोगिता एवं उच्चता है का उपदेश दिया है । ये दोनों विचारधाराएं द्वैत जन्म में विश्वास प्रकट करती हैं । ब्राह्मण विचारधारा में पुनर्जन्म के सुधारने के लिए कर्मों पर आस्था है और भगवान् बुद्ध ने भी कहा है कि मानव चिन्तनशील है, परिवर्तनशील है, कर्मानुसार सद्गति को प्राप्त करता है किन्तु वह जाग्रत होकर अपने आपको स्वतन्त्र कर सकता है, बन्धनों से छूट सकता है । ब्राह्मण बिचारधारा में मानव की परिवर्तनशीलता पर उतना बल नहीं दिया गया जितना भगवान् बुद्ध ने दिया । इन्होंने अपनी उपलब्धि अनुत्तर सम्बोधि को सर्वोपरि ज्ञान (निर्वाण) प्राप्ति बतलाया । वह उसी प्रकार से सभी उच्चतम उपलब्धियों से भिन्न है जैसा कि उपनिषदों में मोक्ष को ब्रह्म लोक की प्राप्ति से भिन्न एवं उच्च दर्शाया गया है । ब्रह्मा तथा अन्य देवों के नश्वरशील होने कारण यह ज्ञान उनसे परे है । मुक्त या बुद्ध सर्वोन्नत हैं । वह अजात, अभूत, अकृत, असंस्कृत, असंख्यात है । जैसे उपनिषदों में ब्रह्म को नेति-नेति कहा है । भगवान् बुद्ध स्वयं को ब्रह्मभूत[37] कहते हैं जो स्वयं ब्रह्म हो गया । इस भावना में भी दैविक गुणों का अर्जन ही प्रधानतया वर्णित है । जैसे अग्नि[38] से प्रार्थना करते हुए ऋषि ने अग्नि के समान होने की प्रार्थना की है ।

भगवान् बुद्ध ने यद्यपि ईश्वर तथा आस्तिकता की कहीं भी स्वीकृति नहीं की हैं किन्तु उन्होंने अनेकों के इस भ्रम को दूर कर दिया है कि ईश्वर ही हैं जो हमें

36. बु० च०, पृ० 21
37. कन्दरक सुत्त, म० नि०, पृ० 208
38. ऋ० 8।44।23,8।19।25

सब कुछ देंगे । यह अकर्मण्यता की स्थिति थी जिससे मानव में आत्मविश्वास का अभाव था, जिसे भगवान् बुद्ध ने आत्मबल, मनोवल तथा आत्मविश्वास में बदल कर आन्तरिक विकास को नया रूप दिया ।

भगवान् बुद्ध ने सभी धर्मों में व्याप्त अज्ञान, अन्धविश्वान एवं संकीर्णताओं को विनष्ट करके एक नई क्रान्ति ला दी । उनके विचारों में धार्मिक सिद्धान्तों की कट्टरता और जकड़न के कारण जो उदासीनता और उपेक्षा आ गई थी और जिससे विचारधारा का स्वरूप ही विकृत हो गया था, उस विकार को दूर करने का प्रयत्न किया जिससे समाज में मानव के लिए जो दुख, अन्याय, पाप और घृणा फैली है वह दूर हो सके और वह आत्म-दीप,[39] आत्म-शरण और अनन्य-शरण होकर विहर सके । उनके उपदेश गृहस्थियों के लिए पृथक् थे और श्रमणों के लिए पृथक्, इसका अर्थ यह नहीं कि आधारभूत सिद्धान्तों में कोई भेद था अपितु पात्र के अनुकूल उन्होंने अपने उपदेश के स्वरूप को आत्मसात् करने के लिए सरलता प्रदान की ।

भगवान् बुद्ध ने स्पष्ट कहा है कि मेरे उपदेशों में कोई आचार्य मुष्टि नहीं है, ये सरल हैं । वास्तव में ये दोनों धर्म अपूर्ण मानव में पूर्णत्व[40] की उपलब्धि कराने के लिए पुनर्जन्म में आस्था को प्रदर्शित करते हुए कर्म बन्धनों पर बल देते हैं ।

भगवान् बुद्ध का चार आर्य सत्यों का सिद्धान्त और अष्टांगिक मार्ग मनुष्य को दोनों अतियों से छुटकारा दिलाकर मुक्ति के लिए सच्चा मार्ग प्रशस्त करता है क्योंकि उनका प्रादुर्भाव संसार के प्राणियों के जरा, मरण और दुखों के निराकर के लिए ही हुआ है जैसा निम्नाँकित से पुष्ट होता है ।

> बहूनं वत अत्थाय माया जनयि[41] गौतम ।
> ब्याधिमरणतुन्नानं दुक्खकखन्धं ब्यापानदि ।।

(ख) ब्राह्मण विचारधारा की प्रमुख विशेषताएं

1. वेदों में मानव के लिए सर्व प्रकार की भौतिक सुख सुविधाओं से आपूर्ण जीवन के समृद्धि हेतु दैविक साहाय्य की अपेक्षा है । जीवन सुखमय है । इस जीवन में विभिन्न प्रकार की उपलब्धियाँ आवश्यक हैं । ऐहिक जीवन एक सुख समृद्धि तथा उपभोग की रम्य स्थली है ।

---

39. उक्काचेल-सुत्त, बुद्धचर्या पृ० 484 ।
40. ट्वनटी फाइव हन्डरेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 6 ।
41. दी वे आफ दी बुद्ध, द्वितीय बोद्धसत्वाज लाइफ, थेरीगाथा, गाथा 162 ।

2. जीवन की संघर्ष संकुल अवस्थाओं से पलायन की प्रवृत्ति कदापि नहीं है अपितु विरोधी वृत्तियो को भी अपनी उदात्त भावनाओं तथा सहिष्णुता की सीमाओं में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन करके उनसे जूझने का उपदेश है।

3. अपनी सुख समृद्धि वृद्धि हेतु, शत्रु विनाश, सन्तान, अभ्युदय के लिए दैविक साहाय्य अतएव देव पूजन, यजन को प्रमुख स्थान दिया गया है।

4. ब्राह्मण विचारधारा से मानव जीवन अथवा इह लोक को जगत् को गुणी विद्वान् तथा उन्नत व्यक्तियों के आवास का स्थान बतलाते हुए दैविक सुरक्षा में रहते हुए अग्रिम उनन्त जीवन का एक सोपान माना है। मात्र सुखोपभोग लक्ष्य नहीं अपितु आध्यात्मिक विकास के साथ ही समृद्धि समुपभोग का निर्देश दिया गया है।

5. ब्राह्मण विचारधारानुमोदित जीवन, धर्म तथा दर्शन नैराश्य का प्रतिपादन कदापि नहीं करता। संसार जन्म दुःख, पीड़ा, उद्वेगों, नश्वरता आदि का अंकन यत्र तत्र पर्याप्तरूपेण हुआ है किन्तु विशेष बल गुणी, उदात्त, त्यागी, महापुरुषों की उस महिमामयी उपलब्धि पर रहा है जोकि वे इस जीवन के उपरांत परलोक में प्राप्त करेंगे, गुणी व्यक्तियों के इस प्रकार के गौरवपूर्ण, सार्वजनीन हित के कार्यों, त्याग, तपस्यामय जीवन को सदैव सर्वत्र महत्व दिया गया है। नैराश्य की धूमिल रेखा भी लभ्य नहीं हैं।

6. यह जीवन भावी उन्नत तथा गरिममय जीवन के लिए कर्म क्षेत्र है और अग्रिम जीवन उन्नत, सुखी, जैसा चाहो वैसा बनाने की मनोरम एवं नयनाभिराम वाटिका है।

7. नरक आदि का वर्णन वेदों में नगण्य है।

8. लौकिक जीवन में उपलब्धियां तथा आध्यात्मिक विकास एक साथ सम्भव है दोनों की एकसूत्रता का विविध रूप में सम्पादन किया गया है।

9. मानव के वर्तमान तया भावी पारलौकिक जीवन में विवाद या काठिन्य नहीं है उसको विवेक, चिन्तन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को क्रियात्मक रूप से सेवन करना आवश्यक हैं।

10. सम्पूर्ण विचारधारा का केन्द्र बिन्दु लोकहित, सार्वभौम, सार्वजनीन पन्था है।

11. वैदिक ऋषियों का स्पष्ट एवं पक्षपात रहित दृष्टिकोण किसी भी पाठक को आकृष्ट कर सकता है और अपने उदात्त चिन्तन उसे प्रभावित किए बिना नहीं रह सकता।

12. वेदों, ब्राह्मण ग्रन्थों में मानव तथा देवताओं के पारस्परिक आदान प्रदान के कारण कर्मकाण्ड का प्राधान्य है किन्तु साथ ही साथ चिन्तन पक्ष की सहधारा अजस्र वही है जोकि ज्ञानकाण्ड कहलाता है जिसका प्रखर, विशद एवं बहुचर्चित अभिधान उपनिषत्साहित्य है। याज्ञिक उपलब्धि भौतिक सुखों तथा स्वर्ग की प्राप्ति

और पुण्य क्षीण होने पर पुनः जन्म किन्तु चिन्तन पक्ष या ज्ञान मार्गानुयायी को पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्ति। उसी की उपलब्धि में भौतिक सुखों के भोग आदि के वर्णन में आधुनिक आलोचक नैराश्य की आभा की झांकी निहारते हैं। इस प्रकार वेद में यति शब्द की प्राप्ति है विशेष रूप से वैराग्य या सन्यास का वर्णन नगण्य है यह उपनिषदों में प्राप्त होता है जिसका वर्णन मेरी दूसरी पुस्तक ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियों के दार्शनिक विवेचन में पढ़िए।

13. चरम लक्ष्य मोक्ष को ही निर्धारित किया गया है। इसकी प्राप्ति में ही पुरुषार्थ भय, धर्म, अर्थ, काम का साफल्य निहित है। पारस्परिक विरोध का परिहार करते हुए लक्ष्य प्राप्त करना है।

14. जगत् तथा जागतिक बन्धनों का छुटकारा मानव स्वेच्छा से नहीं पा सकता है। जगत् से (आत्म हत्या आदि) के द्वारा मानव समझता है कि मैं इन यातनाओं से बच जाऊंगा किन्तु उसकी धारणा भ्रमपूर्ण है, ऐसा करने से वह अनेक जन्मों तक के लिए नारकीय यातनाओं में फंस गया अतः मोक्ष के लिए जिज्ञासु होने के समय सांधन का विधान आवश्यक है।

15. मीमांसको ने 'कर्म' याज्ञिक कृत्यों का विधान किया, वेदान्तियों ने ज्ञान तथा सन्यास मार्ग का प्रतिपादन किया।

16. वेद की ऋचाओं की व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा याज्ञिक कृत्यों की रहस्यात्मक आधारभूत व्याख्या उपनिषत्साहित्य में वर्णित है अतः ब्राह्मण विचार-धारा में सातत्यरूपेण विकास है और वह सर्वांगीण है।

17. मानव के लिए कर्म तथा उपासना के द्वारा उसके मन, मस्तिष्क की विशुद्धि होती है तथा शनैः शनैः इन्द्रियों के विषयों द्वारा (इन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः) से विनश्वरता एवं याज्ञिक उपलब्धि से भी बार बार जन्म अल्पकालिक स्वर्गिक सुख अतः त्याग की ओर अग्रसर करने की तैयारी।

18. इस सम्पूर्ण उपनिषत्साहित्य का रहस्य आत्मा का परमात्म तत्व में विलीन होना है विदेह मुक्ति। औपनिषदिक विचारक के लिए इस जीवन (देह) का प्रश्न ही नहीं है वह प्रगति पथ पर है। अनेक जन्म संसिद्ध ही मोक्ष को पाता है और ज्ञानी उस परम पद को अपने अन्तः चक्षु द्वारा हृदय में देखते हैं—'तद्विष्णोः[42] परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः की भांति जागरूक चैतन्य ज्ञानी ही उस पद को देखते हैं।

इन उपर्युक्त विशेषताओं को हम वैयक्तिक, समष्टिगत और राष्ट्रगत जीवन में विकासमय व्यवस्था को दृढ़ीभूत करने में प्रयुक्त होता हुआ पाते है। इन्हीं विशेष-ताओं के बल पर भारत विश्व में प्रत्येक क्षेत्र में अग्रगण्य रहा है। यहां हम कतिपय

---

42. ऋ० 1।22।20

विशेषताओं को विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास करेंगे यद्यपि इस विषय को यथावश्यक विस्तार से विवेचित किया जा चुका है किन्तु विशेषताओं के शीर्षक में भी निर्देश आवश्यक है ।

आत्म परमात्मैक्य

विचारों के विकास क्रम पर नयन निक्षेप करने से ज्ञात होता है कि पूर्व में 'पुरुष एवेदं[43] सर्व', विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशनेअभि, तथा पृथ्वी को सब ओर से व्याप्त करके उससे बाहर दश उंगुलियों के बराबर बढ़कर वह परमेश है ।

जो कुछ भी दृश्यमान है वह सभी उस पुरुष का ही स्वरूप है किन्तु मात्र वही पुरुष नहीं है तो इसकी अपेक्षा बड़ा है यह तो एक चतुर्थांश ही इत्यादि विचारों में उसकी महनीयता का बोध हुआ । शनैः शनैः वह 'किमपि[44] किस्विदेकम् एकं सन्तं बहुधा वदन्ति, एकं बहुधा यः करोति,' अदिति ही सब कुछ है के रूप में उसकी एकता तथा 'महद् देवानामसुरत्वमेकम्' में देवों के अन्दर एक तत्व का ही महत्व तथा उन सब में समानता का भाव उदित हुआ । शनैः शनैः वह 'कस्मै देवाय' के रूप में प्रजापति और पश्चात् वह प्रजापति भी यज्ञ और 'यज्ञो वे विष्णुः' 'यज्ञो वे प्रजापतिः' के रूप में परिवर्तित होता हुआ ब्रह्म, 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' जो कि सभी की उत्पत्ति एवं प्रलय का अधिष्ठान और तीनों शक्तियों के रूप में तज्जलान्, तत्वमसि महावाक्यों की महत्ता के साथ स्वीकृत किया गया । उपनिषदों में उस ब्रह्म के दोनों रूप कि वह[45] अग्राह्य भी है और सबको आवृत[46] भी किए है इसकी स्वीकृति करते हुए इन विचारों में दृढ़ता आई और मकड़ी के जाल निकालने तथा समेट लेने के गुण के माध्यम से उस ब्रह्म की और आत्मा की एकता की अनुभूति का विचार उभर आया तथा उस अक्षर ब्रह्म से क्षर प्रकृति के उदय की भावना दृढ़ीभूत हो गई ।

ब्रह्म की सत्ता में आस्था—वैदिक ऋषि 'य ईं चकार[47] न सो अस्य वेद' 'को अद्धा वेद[48]—कृत इयं विसृष्टिः, वेद यदि वा न वेद,' इत्यादि मंत्रों में अपने शंका-

43. ऋ० 10।90।2,4,1
44. ऋ० 1।164।6
45. मु० 1।1।6
46. ईश० 8
47. ऋ० 1।164।32
48. ऋ० 10।129।6,7

कुल मन को जिज्ञासा की ओर बढ़ाते हुए परिणामस्वरूप उस पर ब्रह्म के स्वरूप को देखने में सफल हुए। इस प्रकार के उदाहरणों द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि उन्होंने अपनी अन्तरात्मा में उस सत्ता का अनुभव किया। 'अपश्यमहं महतो महित्वमर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु'[49] तथा 'वेदाहमेतम्' के द्वारा उस ब्रह्म की सत्ता की अनुभूति हुई। इन्द्र के विषय में भी 'नेन्द्रो ऽस्तीति'[50] में नेम ऋषि की इन्द्र के विषय में शंका करने पर उसे 'अयमस्मि जरितः पश्यमेह[51] से उसी की सत्ता के प्रतिनिधि रूप देवों के माध्यम से उसी ब्रह्म की सत्ता में आस्था का दृढ़ीकरण है। उपनिषदों में 'अस्तीत्युपलब्धभ्यः' आस्था के साथ साथ उसके रूप की प्रखरता और दृढ़ता मानव के मन में निश्चित होती गई। वायु, अग्नि देवों में उसी ब्रह्म की शक्ति है ऐसा ज्ञान देवों को कराने में भी उस ब्रह्म की सत्ता को ही प्रमाणित किया गया है। उस ब्रह्म के रूप की स्वीकृति में केनोपनिषद्[52] का यह कथन उपयुक्त ही है कि उस ब्रह्म की चमक बिजली के क्षणिक प्रकाश के समान है जो क्षण भर के लिए अपनी दिव्य झाँकी दिखला कर विलीन हो जाता है इस प्रकार इन वर्णनों में हम ब्रह्म की सत्ता की आस्था की पुष्टि पाते हैं।

ज्ञान की प्राप्ति में जिज्ञासा—ऋग्वेद में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि उस (ब्रह्म) को नहीं जानते जिसने सम्पूर्ण प्राणियों की रचना की है। यहां 'न तं विदाथ'[53] में विश्वकर्मा के जानने की ओर संकेत किया है यही रूप उपनिषदों में ब्रह्म के नाम से स्वीकृत हो गया है। इसे ही पृथिवी, आकाश, राक्षसों और देवताओं से परे बतलाते हुए कहा है कि सभी इन्द्रादि देवता जिसमें एकत्र होते हुए दिखाई देते हैं और वही वर्णन दूसरी ऋचा में प्राप्त होता है जहाँ 'अज' की जिस नाभि में ब्राह्मण्ड अवस्थित है, और उस नाभि रूप ब्रह्माण्ड में विश्व के सभी प्राणी निवास करते हैं। इस प्रकार उस परम तत्व के जानने की जिज्ञासा कीजिए जिसका अन्त देवों ने भी नहीं पाया है वे क्षीण हो चुके हैं इसी की पुष्टि केनोपनिषद्[54] में स्पष्ट प्राप्त होती है जहां कि इसकी उपलब्धि यदि हो गई तो जन्म सफल है अन्यथा महान् अनर्थ हो गया।

---

49. ऋ० 10।79।1
50. ऋ० 8।100।3
51. ऋ० 8।100।4
52. केन० 4।4
53. ऋ० 10।82।7,5,6
54. केन० उ० 2।5

ज्ञान की प्राप्ति में विश्वास—वह परम तत्व अज्ञेय नहीं है किन्तु अनिर्वचनीय है। ऋभुओं[55] का देवत्व तथा त्रसदस्यु के अर्द्ध देवत्व की प्राप्ति और वामदेव का गर्भ में ही पूर्व जन्मो तथा इन्द्र आदि के प्रभव को भी जानने की घोषणा और उपनिषदों में ऋषि के द्वारा भी इस घोषणा की स्वीकृति यथा ऋषि ने सम्बोधित करते हुए कहा, 'सुनो मैंने आदित्य[56] वर्ण उस पुरुष को पा लिया है और उसके जानने के अतिरिक्त और कोई मोक्ष का मार्ग नहीं है।

ज्ञान की उपलब्धि इसी जन्म में—ऋग्वेद के वामदेव तथा उपनिषदों में उसके ज्ञान के वर्णनों को जानकर और इसी जन्म में मृत्युपाश को (पुरत:[57] प्रणोद्य) नष्ट करने के विचारों की पुष्टि होती है।

उपलब्धि का मार्ग—वेदों में ज्ञान कर्म तथा उपासना का विवेचन हम कर चुके हैं। वहीं पितृयान[58] तथा देवयान दो मार्गों का विवेचन भी किया जा चुका है। इनकी प्राप्ति के मार्ग भिन्न है। इसी को उपनिषदों में 'परा अपरा विद्या' के नाम तथा 'श्रेय तथा प्रेय', सम्भूति और असम्भूति के द्वारा दोनों मार्गों की भिन्नता का वर्णन प्राप्त होता हैं यथा 'ऋग्वेदादि को अपरा, परा यया तदक्षरमधिगम्यते[59]' के द्वारा इस शास्त्रीय ज्ञान की विफलता को हम आत्म ज्ञान के मार्ग में प्राप्त करते हैं। कठोपनिषद् में भी 'विपरीतमेते विषूची' के द्वारा भिन्न-भिन्न फल देने वाले मार्गों का विवेचन है। इस मार्ग में 'तद्वनम्[60] (प्राणि मात्र का प्रापणीय रूप) की प्राप्ति के लिए तप, दम तथा कर्म का ही विधान है इसी को धर्म के तीन स्कन्धों के रूप में भी पाते है। इन साधनाओं के द्वारा मात्र तपस्या नहीं अपितु, यथा वैदिक ऋषि अग्नि से प्रार्थना करता हुआ उसके समान होने की आकांक्षा करता है, इसमें दैविक गुणों की उपलब्धि ही लक्ष्य है, देव होकर देव की उपासना करे इत्यादि।

ऋत का अनुशासन—वेदों में विशाल मानवता के कर्तव्यों अनुशासनों का गम्भीरतापूर्वक वर्णन किया गया है। कर्तव्याकर्तव्य का विवेचन तथा क्या ग्राह्य है, क्या अग्राह्य, क्या ज्ञातव्य है, क्या अज्ञातव्य और क्या योग्य है क्या परिहार्य !

---

55. ऋ० 4।33।1. 4।26।1,2, 27।1
56. श्वे० उ० 3।8
57. कठ० 1।1।18
58. ऋ० 10।71
59. मु० 1।1।5
60. केन० 416

इन सभी में वेद का अनुशासन (मर्त्योऽमृतो भवत्येतदनुशासनम्) है यही ऋत का सिद्धान्त है वह किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय, जाति, देश, काल का न होकर सम्पूर्ण मानवता के कल्याण के लिए है। इस कारण वैदिक धर्म सम्पूर्ण मानवता का धर्म है, कर्तव्य है। यह ब्राह्मण विचारधारा की मानव दृष्टि है। मानव मानव के साथ तथा बहिर्जगत् के सम्बन्धों का सुन्दर विशद एवं सर्वांगपूर्ण विवेचन इसमें प्राप्त होता है। इसमें सृष्टि विचार, कर्म विचार है। ब्राह्मण विचारधारा के सारभूत ग्रन्थ गीता में चार प्रकार के यज्ञों (द्रव्य, तप, योग और ज्ञान) में ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता है जिसका आधार श्रेष्ठ कर्म ही है। यज्ञ के लिए किए गए कार्य बन्धन में नहीं डालते अतः यज्ञ रूप कार्य करने का निर्देश गीता में दिया हैं। परोपकार में किए गए निष्काम भाव के सभी कार्य यज्ञ कहे जाते हैं।

सुखी जीवन की कल्पना—ब्राह्मण विचारधारा की प्रमुख विशेषता में सुखी जीवन की कल्पना मानव को एक सच्चा मानव बनाने में सहयोग देती है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि मानव इन भौतिक उपलब्धियों का दुरुपयोग करे अपितु इनको भोगते हुए त्याग की भावना का अनुसरण करे। ऋग्वेद में मनुष्य को बहुत इच्छा वाला 'पुलुकामो[61]हि मर्त्यः' कहकर भौतिक इच्छाओं का वर्णन किया है और साथ ही परिवार में स्त्रियों को सौभाग्यवती और घृतयुक्त[62] काजल लगा कर एक सुन्दर रूप में रहने का भी वर्णन प्राप्त होता है। इन्द्र से अतुल, अमित धन देने की प्रार्थना की गई है। किन्तु इन उपलब्धियों में हमें 'केवलाघो[63] भवति केवलादी' अर्थात् अकेला खाने वाला पाप को ही खाता है इत्यादि उपदेशों में तथा 'तेनत्यक्तेन भुंजीथा' में केवल प्रयोगाधिकार ही दिया है।

प्रयोगाधिकार में अपूर्व अनासक्ति की भावना भर दी गई है ठीक जैसे हम रेलगाड़ी में कार्यालयों में वहाँ की विभिन्न सुविधाओं का प्रयोग करते हैं और वहां की उन वस्तुओं से हमें कोई असक्ति नहीं रहती ठीक इसी प्रकार से मानव के लिए संसार के सुख स्त्री, पुत्र, धन अपने सामान्य सुख के लिए प्रयोग करने के लिए वरदान समझने चाहिए न कि इनमें आसक्त होकर दुःखी होना चाहिए। इस प्रकार 'तेनत्यक्तेन भुंजीथा' तथा 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि[64]—न कर्म लिप्यते नरे।' के द्वारा कर्म करते हुए कर्म में लिप्त न होवें। ऋग्वेद में भी कहा है कि मिथ्याभाषी राक्षस मुट्ठी में बन्धे जल जैसे निकल जाता है वैसे ही अस्तित्वहीन होवें। जो सत्य प्रिय

61. ऋ० 1।179।5
62. ऋ० 10।18।7
63. ऋ० 10।17।6
64. ईश० 1,2

होकर भी मुझे स्वार्थवश लाँछित करे और जो कल्याण की भावना वाले मुझे व्यर्थ दोष दें उन्हें सर्प के ऊपर फैंक देने की प्रार्थना इन्द्र से की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य भाषण, सत्कर्मों का आचरण प्रारम्भ से ही ब्राह्मण विचार-धारा की प्रमुख विशेषता रही है।

उपनिषदों के सारभूत ग्रन्थ गीता का ज्ञान ब्रह्म बोध अभिधान से ख्यात है इसमें ब्रह्म बोध की विधि पर विस्तार से वर्णन किया है। उसके दो उपाय ज्ञान निष्ठा और योग निष्ठा कहे गए हैं। ज्ञान निष्ठा को साँख्य निष्ठा या कर्म निष्ठा भी कहा है। समस्त क्रियाओं को स्वं के अहम्भाव का त्याग समर्पण कर देने का नाम ही कर्म निष्ठा है। यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है इसलिए हम और हमारे द्वारा किए गए सभी कुछ कर्म ब्रह्ममय है। तथा योग निष्ठा में बुद्धि योग या सात्विक त्याग, कर्मों के प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति स्वाभाविक लगन कर्म योग है। कर्म योग में अनासक्ति से कर्म, भक्ति मिश्रित कर्मयोग भक्ति प्रधान कर्म योग। फल और आसक्ति दोनों को छोड़ कर कर्म करने का उपदेश। अपने वर्णधर्मानुसार भक्ति पूजा भक्ति मिश्रित कर्मयोग। अनासक्ति, अनिच्छा त्याग से सम्पन्न होकर सब कुछ उस विश्वात्मा का ही है ऐसा समझना और अपनी पूजा भजन सभी उस परमात्मा के लिए अर्पित करना ही भक्ति प्रधान कर्म योग हैं।

सार्वभौम जीवनहित का लक्ष्य करके सत्य, अहिंसा, त्याग, निरपेक्षता, समत्व, अहंकृति, कर्म, ज्ञान, उपासना का वैयक्तिक तथा समष्टि रूप से प्रयोग करने पर बल दिया। और समाज में क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है? इसके माध्यम से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गो को अभ्युदय के लिए उपयोगी बतलाते हुए कर्म करने पर बल दिया है। इस कर्म में भी निष्काम कर्म भावना एक सार्वभौम भावना है। भक्ति, दया, शरणागति प्रवृत्ति आदि भी प्रवृत्ति मार्गीय साधना है। विषयों से वैराग्य, अनासक्ति, उदासीनता के द्वारा निवृत्ति, पाकर आत्महित का साधन करना निवृत्ति मार्गी साधना है। इस प्रकार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गों में अभ्युदय की सम्भावना को समझाया है।

यहां सुख दुःख में, लाभ हानि में, जय पराजय में समान भाव रखकर जीवन में अग्रसर होने का मार्ग प्रदर्शित किया है। कर्म से ही जनक आदि राजर्षियों ने सिद्धि को प्राप्त किया। इन प्रमुख विशेषताओं को हमने संक्षेप में प्रस्तुत किया है और अन्त में हम उस ज्ञान की प्राप्ति के लिए केवल मनुष्य का प्रयत्न ही पर्याप्त नहीं है अपितु उस शक्ति के प्रति मानव का आत्म समर्पण अपेक्षित है क्योंकि उसकी प्राप्ति के साधन में न वेद,[65] न विशाल बुद्धि और न जीवन भर के शास्त्रों का पठन

65. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। मु० 3।1।5
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

सहायक है अपितु वह उसे ही मिलता है जो उसको पाने के लिए व्याकुल हो जाता है और जिस पर वह कृपा[66] करता है ही उसको प्राप्त करता है। इन सभी विशेषताओं में हम भौतिक वस्तुओं के उपभोग में मैत्रेयी की उसी भावना को प्रमुख रूप से उद्धृत करते हैं कि 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्' के अनुसार अपना चरम लक्ष्य उस प्रभु को ही बनायें। इस विवेचन में ब्राह्मण विचारधारा की भेद में अभेदवादी (अविभक्तंप्रविभक्तेषु)[67] की भावना को भी पुष्ट होता हुआ पाते हैं।

(ग) उन प्रमुख विशेषताओं का बौद्ध विचारधारा में साम्य तथा वैषम्य

इसके पूर्व हमने ब्राह्मण विचारधारा की विशेषताओं का निदर्शन किया है। उन विशेषताओं में साम्य तथा वैषम्य दिखाने से पूर्व हम बौद्ध विचारधारा की कतिपय प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करना उचित समझते हैं।

यज्ञ तथा याज्ञिक कृत्यों की उपलब्धि में अनास्था के साथ साथ इन कृत्यों में समय, शक्ति तथा ज्ञान के ह्रास को भी बौद्ध विचारधारा में माना गया है। अत्यन्त कठोर तपश्चरण शारीरिक कृशता, स्वल्पाहारता, निराहारता, खड़े रहकर तपश्चरण, चतुर्दिक्, अग्नितपन आदि मार्ग मोक्षोपलब्धि में सहायक कहे गए हैं। उन्होंने दोनों अतियों का परित्याग कर मध्यममार्ग का उपदेश दिया। भगवान् बुद्ध ने अभ्यास[68] को ही अपने मार्ग की आधार शिला बनाया। उन्होंने जीवन के लिए मानसिक सम्मान तथा स्वभाव बनाने पर बल दिया। इनकी विचारधारा में समुद्र जल के खारेपन के स्वाद[69] के समान बस एक ही स्वाद मुक्ति है। प्रत्येक बुराई पाप या दुःख का कारण है और वह भी खोजने पर प्राकृतिक नियमों से निराकृत हो सकता है। एक पापी और दुःखी मानव भी अपनी दुष्ट भावनाओं को दबाकर तथा अच्छे विचारों को विकसित करके अच्छा बनाया जा सकता है यदि इस प्रकार व्यावहारिक अभ्यास किया जाय।

बौद्ध भिक्षु यह जानते थे कि सैद्धान्तिक तत्व प्रभावशाली होते हैं न कि भावनात्मक। इस कारण वे तार्किक थे। वर्णनों के प्रसंग में मानसिक स्थिति के निर्माण के आधार आध्यात्मिक नहीं तो मनोवैज्ञानिक[70] अवश्य होते हैं। बौद्ध विचारधारा

66. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। मु० 3।2।3
67. गीता ।8।20
68. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म सी० इलियट भाग-1, पृ० 185
69. (वही), पृ० 186
70. बुद्धिस्ट साइक्लोजी, श्रीमती राइस डेविड्स पृ० 39

में सृष्टि से सम्बन्धित प्रश्नों का निर्वाण से कोई सम्बन्ध नहीं था उन्होंने मानव को संयमित तथा नैतिकतापूर्ण जीवन बिताने पर बल दिया। कर्म के द्वारा समुत्पन्न संस्कार ही अच्छे तथा बुरे कर्म के आधारभूत तत्व मानव मस्तिष्क में बने रहते हैं जिनके द्वारा वह अपने कार्यों में गति पाता है। इसे स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि अच्छे या बुरे कर्मों से ही मनः स्थिति अच्छी या बुरी बनती है और मनुष्य अच्छा या बुरा जन्म प्राप्त करता है मानव इन संस्कारों के आधार पर अग्रिम जन्म धारण करता है।

राइस डेविड्स[71] के शब्दों में मनुष्य को क्रिया एवं प्रतिक्रिया का साधन बतलाया है तथा संयुत्त निकाय में भी इसी प्रकार का वर्णन है। इनके विचार आध्यात्मिक न होकर नैतिक अधिक हैं। अन्तिम क्षण में मनुष्य के कर्म इकट्ठे होकर अगले स्कन्धों के मिश्रण के कार्य का आरम्भ करते है वस्तुतः अग्रिम जन्म[72] इस जन्म के किए गए कृत्यों का सार ही है। भगवान् बुद्ध ने ध्यान की प्रक्रिया के अपने पूर्वाभ्यास को समझाते हुए कहा कि काया से अभावित, चित्त से अभावित तथा काया से भावित और चित्त से भावित होना जिसने समझ लिया उसने मार्ग को समझ लिया यथा अग्निवेश ! अज्ञ अनाड़ी जन को जब सुख वेदना होती है तो वह सुख वेदना में रागी होता है, लिप्त होता है, कालान्तर में सुख वेदना निरुद्ध होने पर दुःख वेदना में रोता है, कलपता है, विलाप करता है, मूछित होता है ऐसे व्यक्ति की दुःख वेदना काया के भावित न होने से चित्त को पकड़ कर ठहरती है, चित्त की भावना न करने से चित्त को पकड़ कर रह जाती है। और भावित काय तथा भावित चित्त होने से बुद्धिमान् आर्य श्रावक को जब सुख वेदना उत्पन्न होती है, तो वह सुख वेदना को पाकर सुख रागी नहीं होता, उसकी वह सुख वेदना नष्ट होती है सुख वेदना के निरोध होने से दुःख वेदना उत्पन्न होती है। काया के भावित होने से उसकी वह उत्पन्न हुई सुख वेदना चित्त को पकड़ कर नहीं ठहरती, दुःख वेदना चित्त को पकड़ कर नहीं ठहरती। इस प्रकार वह भावित काय और भावित चित्त होता है। भगवान् ने अग्निवेश से स्पष्ट कहा कि बुद्ध होने से पूर्व बुद्ध न हो बोधिसत्व होते समय मुझे ऐसा हुआ—घर का निवास जंजाल है, मल का मार्ग है, प्रब्रज्या (सन्यास) खुला मैदान है। इस सर्वथा परिशुद्ध छिले शंख से (उज्ज्वल) ब्रह्मचर्य का पालन घर में रहकर सुकर नहीं है, क्यों न में केश दाढ़ी मुंडा काषाय वस्त्र पहन घर से बेघर हो प्रव्रजित हो जाऊं। सो मैं, उस धर्म को अपर्याप्त मान उदास हो चल दिया तो मुझे अद्भुत, अश्रुतपूर्ण तीन उपमाएं भासित हुई जैसे

71. बुद्धिस्ट साइक्लोजी, श्रीमती राइस डेविड्स, पृ० 40
72. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग-1, पृ० 193

गीला काष्ठ[73] भीगे पानी मैं डाला हो। जैसे स्नेह युक्त गीला काष्ठ जल के पास स्थल पर फैंक रहे हों। जैसे नीरस शुष्क काष्ठ जल से दूर स्थल पर फेंक रहे हों।

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा—'मेरे उपदेश[74] धर्म को कुल्ल (बेड़े) के समान समझना (यह) पार होने के लिए है, पकड़ रखने के लिए नहीं है।'

भिक्षुओ ! स्वयं जन्मने के स्वभाव वाले मैंने जन्मने के दुष्परिणाम को जानकर अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को खोजते हुए अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को पा लिया। जरा धर्म के दुष्परिणाम को जानकर, जरारहित अनुपम योगक्षेम पा लिया।

साम्य—शरीर तथा आत्मा विषयक चर्चा में ब्राह्मण विचारधारा के सारभूत ग्रन्थ उपनिषदों में तथा बौद्ध ग्रन्थ त्रिपिटक के निकायों में उपमा साम्य यत्र तत्र लभ्य होता है। यथा बृहदारण्यकोपनिषद् में चतुर्थ अध्याय पंचम ब्राह्मण में सबको 'आत्मा' रूप से ग्रहण करने में दृष्टान्त उद्धृत करते हुए कहा है कि जैसे मुंह से[75] फूके जाते हुए शंख के बाह्य शब्दों को ग्रहण करने में कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु शंख या शंख के बजाने को ग्रहण करने से उस शब्द का भी ग्रहण हो जाता है। इसी प्रकार के उदाहरण के माध्यम से दीर्घ निकाय के (पयासी राजन्न सुत्त) में भी शंख तथा शंख के न ग्रहण किए जाने वाली शंख ध्वनि (शंख धम) का वर्णन है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही शरीर की सत्ता रहती है।

कामनाओं का संशोधन—बृ० उ०[76] में वर्णन में आया है कि जिस समय इसके हृदय में आश्रित सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है तो फिर यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और शरीर में उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। यहां दृष्टान्त जिस प्रकार सर्प की केंचुली बांबी के ऊपर मृत और सर्प द्वारा परित्यक्त हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार वह शरीर पड़ा रहता है। यह अशरीर अमृत प्राण तो ब्रह्म ही है—तेज ही है। सुत्तनिपात[77] के उरग सुत्त में निर्वाण प्राप्ति के मार्ग में इसी प्रकार का वर्णन है कि वह भिक्षु फैलते विष सर्प की औषधि की तरह; चढ़े क्रोध को शान्त कर देता है। वह भिक्षु इस पार तथा उस पार को छोड़ता है, सांप जैसे अपनी पुरानी केंचुली को ब्रह्म के मार्ग में भी इसी प्रकार मनोवेगों का संशोधन आवश्यक है।

---

73. महातण्हासंखय सुत्त—मज्झिम निकाय, पृ० 157
74. पासरासि सुत्त—म० नि०, पृ० 105
75. स यथा शंखस्य ध्मायमानस्य। बृ० उ० 4।5।9
76. बृ०उ० 4।4।7
77. सुत्त निपात उरग सुत्त-1

ब्रह्म लोक[78] की प्राप्ति का वर्णन—सोपाक नामक चांडाल का पुत्र मातंग नाम से ख्यात यशस्वी क्षत्रिय ब्राह्मण सेवित हो, काम, राग दमन कर, शुद्ध महापथ से, दिव्य यान पर सवार होकर ब्रह्मलोक को गया। भगवान् बुद्ध ने माघ से कहा—जो तीन प्रकार का दान देता है, वह दक्षिणार्हों को प्रसन्न रखता है इस प्रकार अच्छी तरह दान देकर दाता ब्रह्मलोक में जन्म लेता है।

ब्रह्म बिहार[79]—खड़े रहते, बैठते या सोते, जब तक जाग्रत है तब तक इस प्रकार की स्मृति बनाये रखनी चाहिए। यही ब्रह्मविहार कहा गया है।

विद्या से युक्त,[80] शुद्ध आचरण, क्षीण वासना युक्त उनके लिए पुनर्भव नहीं है। अविद्या[81] के कारण सिर गुद्दा से भरा है किन्तु अविद्या के कारण मूर्ख इसे शुभ मानता है, अपवित्र तथा नाना गंदगियों से भरे शरीर के कारण यदि कोई अपने को ऊंचा और दूसरे नीचा दिखावे तो यह अविद्या के सिवाय और क्या है और इस अविद्या के कारण ही वह नरकगामी होता है।

छिन्न ग्रन्थि[82]—जिसने संसार को जान लिया जो परमार्थ दर्शी है, जो संसार रूपी बाढ़ को पार कर स्थिर हो गया है उस छिन्न ग्रन्थि वाले को ज्ञानी लोग मुनि कहते हैं। इसी प्रकार का साम्य हमें उपनिषदों की हृदय ग्रन्थि के छेदन की स्मृति दिलाता है। उन्होंने जनमानस को जगाने के लिए कहा कि 'जागो[83]! बैठो! दृढ़ता के साथ शान्ति के लिए शिक्षित हो जाओ। प्रमत्त जान मृत्युराज तुम्हें मोहित न कर ले, वश में न कर ले। इस तृष्णा को पार करो, जिस पर अवलम्बित और स्थित हो देव और मनुष्य विषय-भोग के पीछे पड़ते हैं। अवसर को मत जाने दो। अवसर को खोने वाले नरक में पड़कर पछताते है।''

व्रतोपवास—यद्यपि बौद्ध विचारधारा में शीलव्रतो का विशेष महत्व नहीं है तो भी हमें अष्टांगिक उपोसथ[84] के पालन के संकेत प्राप्त होते हैं जैसे 'प्रत्येक पक्ष के चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रातिहार्य पक्ष को इस अंष्टागिक उपोसथ का पालन श्रद्धापूर्वक सम्यक् रूप से करना चाहिए।' 'उपोसथ ग्रहण कर वह प्रातःकाल

---

78. वसल सुत्त सुत्त निपात-24, माघ सुत्त सु० नि० 22
79. तिट्ठ चरं—विगतमिद्ध। एवं सति अधिट्ठेय्य ब्रह्ममेतं बिहारें। भेतसुत्त 9
80. कच्चि विज्जाय संपन्नो—कच्चिस्स आसवा खीणा—पुनब्भवो। (वही)
81. विजय सुत्त—सुत्त निपात 7,13
82. धम्मचर्य सुत्त 4, सु० नि०
83. उट्ठान सुत्त 2, सु० नि०
84. धम्मिक सुत्त 26,27, सु० नि०

अन्न और पान से अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धापूर्वक प्रसन्नता से भिक्षुओं को दान दे।' 'धर्म से माता-पिता का पोषण करे और किसी धार्मिक व्यापार में लगे। जो गृहस्थ अप्रमत्त हो इस प्रकार का आचरण करता है, वह स्वयम्प्रभ नामक देवों में जन्म लेता है।'

स्थितप्रज्ञ—यह विचार भी ब्राह्मण विचारधारा के अनुकूल व्यक्ति के विषय में उसी प्रकार वर्णन देता है जैसे स्थितप्रज्ञ[85] को इन्होंने भी 'वासना क्षीण, अभिमान-प्रहीण, सम्पूर्ण रागपथ-पार गया, दान्त, उपशान्त, स्थितप्रज्ञ सम्यक् रूप से संसार में विचरण करता है।

भगवान् बुद्ध ने अपनी विचारधारा की बिशेषता बतलाते हुए कहा कि 'भिक्षुओ! मैंने न दबने वाला [86] वीर्य आरम्भ कर रखा था, न भूलने वाली स्मृति मेरे सम्मुख थी, शरीर अचंचल, शान्त था, चित्त समाहित-एकाग्र था। और मैंने अविद्या का निराकरण करके एक नए धर्म का प्रकाशन किया है। उन्होंने आठ प्रकार के मिथ्या मार्गों को दूर करके क्षेम प्रीति गमनीय मार्ग, आर्य-अष्टांगिक मार्ग का प्रसारण किया जैसे कि—(1) सम्यक् दृष्टि, (2) सम्यक् संकल्प, (3) सम्यक्-वचन, (4) सम्यक् कर्मान्त, (5) सम्यक् आजीव, (6) सम्यक् व्यायाम (7) सम्यक् स्मृति, (8) सम्यक् समाधि। इस प्रकार भिक्षुओं! मैंने क्षेम-स्वस्तिक, प्रीति गमनीय मार्ग को खोल दिया, दोनों ओर से एक-चर कुमार्ग को बन्द कर दिया, एक चारिका (अविद्या) को नाश कर दिया। भिक्षुओ! श्रावकों के हितैषी, अनुकम्पक, शास्ता को अनुकम्पा करके जो करना था, वह तुम्हारे लिये मैंने कर दिया। भिक्षुओ! यह वृक्ष-मूल हैं, यह सूने घर हैं, ध्यान रत होओ। भिक्षुओ! मत प्रमाद करो, मत पीछे अफसोस करने वाले बनना—यह तुम्हारे लिये हमारा अनुशासन है।'

उन्होंने आत्मा और आत्मीय तत्वों के विषय में उपहास के साथ कहा कि 'भिक्षुओं! आत्मा[87] और आत्मीय के ही सत्यतः-स्थिरतः उपलब्ध होने पर, जो यह दृष्टि स्थान—'सोई लोक है, सोई आत्मा है, मैं मरकर सोई नित्य—अनन्त वर्षों तक वैसे ही स्थित रहूंगा। 'भिक्षुओ! क्या यह केवल पूरा बालधर्म नहीं है?' उन्होंने धर्मों को उल्टा धारण करने वाले को अलगद्द गवेषी पुरुष की उपमा देते हुए

85. आसक्खीणो पहीनमानो, सब्बं रागपथं उपातिवत्तो।
दन्तो परिनिब्बुतो ठेतत्तो, सम्मा सो लोके परिब्बजेय्य॥
सम्मापरिब्बाजनिय-सुत्त 12, सु० नि०

86. द्वेधावितक सुत्त पृ० 76, म० नि०

87. अलगद्दूपम सुत्त पृ० 90, म० नि०

समझाया कि जैसे अलगद्द[88] (सांप) को पाकर उसे भोग से या पूंछ से पकड़े, उसके कारण मरण या मरण-समान दुःख को प्राप्त होवे। सो किस हेतु ? भिक्षुओ ! अलगद्द के दुर्ग्रहीत होने से इसी प्रकार जो धर्म के अर्थ को प्रज्ञा से नहीं परखते हैं उन्हें दुःख ही होता है।

अपनी विचारधारा के स्वरूप को और महत्व देते हुए भगवान् बुद्ध ने ब्राह्मण विचारधारा के योगक्षेम का ही पूर्णतया समर्थन किया। जैसे उन्होंने भिक्षुओं से कहा कि मैंने 'स्वयं[89] जन्मने के स्वभाव वाले जन्मने के दुष्परिणाम को जानकर अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को खोजते अजन्मा, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को पा लिया। स्वयं जरा-धर्मवाला होते मैंने जरा-धर्म के दुष्परिणाम को जानकर जरा-रहित, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को खोज अजर, अनुपम, योगक्षेम निर्वाण को पा लिया, स्वयं व्याधि, धर्मा व्याधि धर्म-रहित स्वयं मरण-धर्मा अमर। स्वयं शोकधर्म बाला शोकरहित। स्वयं संक्लेश (मल) युक्त संक्लेश रहित। मेरा ज्ञान दर्शन (साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्त की मुक्ति अचल हो गई, अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा)।

तब भिक्षुओ ! मुझे ऐसा हुआ—'मैंने गंभीर, दुर्दृश्य, दूर्-ज्ञेय, शान्त, उत्तम, तर्क से अप्राप्य, निपुण, पण्डितों द्वारा जानने योग्य, इस धर्म को पा लिया। यह जनता काम-तृष्णा (आलय) में रमण करने वाली, काम-रत, काम में प्रसन्न है। काम में रमण करने वाली इस जनता के लिये, यह जो कार्य-कारण रूपी प्रतीत्य समुत्पाद है, दुदर्शनीय है। और यह भी दुर्दर्शनीय है, जो कि यह सभी क्लेशों का परित्याग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध (दुःख निरोध) और निर्वाण है। मैं यदि धर्मोपदेश भी करूं और दूसरे उसको न समझ पावे, तो मेरे लिये यह पीड़ा और परेशानी (मात्र) होगी। भिक्षुओ ! मुझे ये पहले कभी न सुनी हुई अद्भुत गाथायें सुझ पड़ी—

'यह धर्म पाया कष्ट से, इसका न युक्त प्रकाशना।
नहिं राग-द्वेष-प्रलिप्त को है सुकर इसका जानना॥
गंभीर उल्टी-धार-युत दुर्दृश्य सूक्ष्म प्रवीण का।
तम-पुंज-छादित रागरत द्वारा न सम्भव देखना॥

88. (वही), पृ० 87
89. पासरासि सुत्त पृ० 106,107, म० नि०

उपसम्पदा का प्रकार—ब्राह्मण विचारधारा में जिस प्रकार शिष्य समित्पाणि होकर गुरू के पास दीक्षा लेने जाता था और कहता था कि मैं ब्रह्मचर्य[90] के लिए आया हूँ और ऐसा कहने पर ही गुरू उसे दीक्षा देता था और गायत्री मंत्र का उपदेश करता था। इसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को उपसम्पदा का एक विशेष प्रकार निर्धारित किया था। जोकि एक सामान्य मानव के लिए ही मान्य नहीं था अपितु सहम्पति ब्रह्मा ने भी उपरना (चद्दर) एक कंधे पर करके, दाहिने जानु को पृथिवी पर रख कर और भगवान् की ओर हाथ जोड़ कर उपदेश के लिए प्रार्थना की थी इस प्रकार से यहां उपनयन संस्कार का ही साम्य प्राप्त होता है।

भगवान् ने चार आर्य सत्यों में यह स्पष्ट किया है कि मुझे सम्यक् ज्ञान हो जाने पर अश्रुतपूर्व धर्मों में आंख उत्पन्न हो गई और पहले न देखे गए[91] धर्मों में आलोक उत्पन्न हुआ। इन शब्दों में उपनिषदों के 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' का साम्य प्राप्त होता है और राहुल के द्वारा ये कहे जाने में कि तथागत की छाया भी सुखदायी है इस कथन में हम (यस्यछायाऽमृतं) की ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

वैषम्य—यज्ञों का विरोध। भगवान् बुद्ध ने यज्ञों में फंसे हुए समाज को उनकी उपलब्धि की निष्फलता को समझाते हुए कहा कि ये सभी क्रियाएं ज्ञान के मार्ग में कोई योग नहीं देती हैं। एक बार उरुबेल[92] काश्यप ने भगवान् बुद्ध की दिव्य शक्ति का परीक्षण किया तब भगवान् बुद्ध ने अपनी दिव्य शक्ति द्वारा उसको प्रभावित किया। इसके उपरान्त काश्यप ने वह सभी जटिल केश-सामग्री, जटा-सामग्री, खारीकी, घी की सामग्री, अग्निहोत्र सामग्री जल से प्रवाहित कर, भगवान् के पास जाकर प्रव्रज्या, उपसम्पदा प्राप्त की।

भगवान् बुद्ध ने यज्ञ की व्याख्या करते हुए कहा कि ब्राह्मण ! लकड़ी जलाकर[93] शुद्धि मत मानो, वह बाहरी (चीज) है। कुशल (पंडित) लोग उसे शुद्धि नहीं बतलाते, जोकि बाहर से (भीतर की) शुद्धि है। ब्राह्मण मैं दारू-दाह छोड़, भीतर ही जोति जलाता हूं। नित्य आग वाला, नित्य एकान्त चित्त वाला हो, मैं ब्रह्मचर्य पालन करता हूँ। ब्राह्मण ! (यह) तेरा अभिमान खरिया का भार है, क्रोध धुआं

---

90. दी सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट सीरीज 44, पृ० 86, 87
    श० ब्रा० 11।5।4।1-5, पारस्कर गृह्य सूत्र 2।2।17
91. धर्म चक्र परिवर्तन सुत्त बु० च० पृ० 22
92. काश्यपों की प्रव्रज्या बु० च० पृ० 32
93. सुन्दरिक भारद्वाज बु० च० पृ० 365, 366

है, मिथ्या भाषण भस्म है, जिह्वा स्रुवा है, और हृदय ज्योति का स्थान है। आत्मा के दमन करने पर पुरुष को ज्योति प्राप्त होती है। ब्राह्मण! शील तीर्थ वाला संतजनों से प्रशंसित निर्मल धर्म-हृद (सरोवर) है। जिसमें कि वेदगू नहाकर विना भीगे गात्र के पार उतरते हैं। ब्रह्म प्राप्त सत्य धर्म, संयम और ब्रह्मचर्य आश्रित है। सो तू हवन समाप्त कियों को नमस्कार कर, उनको में दम्य-सारथी कहता हूँ। इस प्रकार भगवान् ने कहा बाह्य अग्नि तथा समिधाओं घृत, सामग्री युक्त हवन मंत्रों से युक्त होते हुए भी बाह्य शुद्धि ही है आन्तरिक नहीं। अतः आत्म दमन के द्वारा सन्तजनों से प्रशंसित यज्ञ करने पर ज्योति की प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया है।

दीर्घ निकाय के कूटदन्त सुत्त में यज्ञ के करने में अपने मौलिक किन्तु अवश्य उपादेय विचारों को प्रस्तुत किया है। जिससे यज्ञ हरएक राष्ट्र के हित की भावना को लेकर किया जाए तो हिंसा को भी स्थान नहीं मिलेगा और वह जनहित के लिए भी होगा। उन्होंने अपना व्यावहारिक दृष्टिकोण इस प्रकार समझाया जबकि कूट दन्त ब्राह्मण सोलह परिष्कारों वाली त्रिविध यज्ञ सम्पदा युक्त यज्ञ करने की इच्छा से उनके पास पहुँचा तो उन्होंने कहा कि ब्राह्मण तुम पूर्व जन्म के महाविजित नामक राजा के पुरोहित थे और मैंने भी यज्ञ किया था। उस यज्ञ में गायें नहीं मारी[94] गई, बकरी भेड़ें नहीं मारे गई, मुर्गे सुअर नहीं मारे गये, न नाना प्रकार के प्राणी मारे गये। न यूप के लिए वृक्ष काटे गये। न परहिंसा के लिये दर्भ काटे गये। जो भी उनके दास, प्रेष्य, कर्मकर थे, उन्होंने भी दण्ड वर्जित हो, अश्रुमुख, रोते हुये सेवा नहीं की। जिन्होंने चाहा उन्होंने किया, जिन्होंने नहीं चाहा उन्होंने नहीं किया। जो चाहा उसे किया, जो नही चाहा उसे नहीं किया। घी, तेल, मक्खन, दही, मधु, गुड़ से ही वह यज्ञ समाप्ति को प्राप्त हुआ उन्होंने अहिंसा, अचोरी, अव्यभिचार, झूठ, त्याग और नशा त्याग को यज्ञ का रूप वतलाया। उन्होंने यज्ञों द्वारा पुण्य प्राप्ति का विरोध किया और राष्ट्र की सम्पत्ति के यज्ञ में आहुति के रूप में दिए जाने को राष्ट्र का अहित घोषित किया। उन्होंने यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले द्रव्य, सामग्री और घी आदि को राष्ट्र के विभिन्न उपयोगी कार्यों में लगा कर राष्ट्र का विकास करने को उचित बतलाया।

उन्होंने जाति बन्धन को स्थिर देखकर उसका विरोध किया और जन्म से ब्राह्मण न मान कर एक गुण विशिष्ट व्यक्ति को ब्राह्मण अभिधान दिया. उन्होंने स्पष्ट कहा 'जाति मत पूछ आचरण पूछ'[95]। लकड़ी से आग पैदा होती है इसी प्रकार नीच कुल में पैदा होकर मानव, मुनि धृतिमान्, उत्तम और संयमी होते हैं। इस

94. कूटदंत सुत्त, बु० च० पृ० 221
95. सुन्दरिक भारद्वाज सुत्त 8, सु० नि०

प्रकार कर्म से ही ब्राह्मण को समाज में प्रतिष्ठा देने पर बल दिया। बौद्धों के कर्म में आस्था रखने का पोषण अन्यत्र मिलता है जैसे कि कहा है कि 'विचार यद्यपि क्षणिक ही होते हैं किन्तु वे बिलकुल नष्ट नहीं होते क्योंकि वे नये बिचारों को जन्म[96] देते हैं। और जब वे रूप की सत्ता को स्वीकार करते हैं और मनुष्य को भी नाम रूप का ही रूप मानते हैं तो विचारों की आधारित सत्ता मानना कठिन नहीं है। इसी प्रकार षडायतनों इन्द्रियों के विषयों तथा स्मृति को भी इनके साथ ही साथ स्पष्टतया समझा जा सकता है।

इस प्रकार दोनों विचारधाराओं में हमने कतिपय विषयों में समता तथा विषमता का निदर्शन किया किन्तु विषय इतना विस्तृत है कि जिस पर पार पाना कठिन है इसलिए सामान्य बुद्धि के अनुसार कुछ प्रसंगों को प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः दोनों विचारधाराएं मानव को अपूर्ण मानती है और उसको पूर्णत्व लाभ कराना ही दोनों विचारधाराओं की विशेषता का सार[97] है। इन दोनो धाराओं में अविद्या को ही बन्धन माना गया है और उस अविद्या के स्वरूप और निराकरण की विधियों में सैद्धान्तिक रूप से तो कोई विरोध नहीं हैं किन्तु बौद्ध बिचारधारा व्यावहारिक अधिक है। बौद्ध विचारधारा एक स्वतन्त्र विचारधारा न होकर ब्राह्मण विचारधारा का ही रूप है। इन्होंने वैदिक विधि विधान तथा संस्कारों से किए गए कृत्यों तथा यज्ञों का विरोध किया और धार्मिक नियमों में आधारभूत परिवर्तन करके एक नैतिक रूप दिया। भगवान् बुद्ध एक स्वतन्त्र विचारक थे इसलिए उन्होंने प्रत्येक वस्तु को पूर्ण विचार के साथ ग्रहण किया है वे सम-सामयिक और पूर्ववर्ती विचारों के प्रभाव से बच नहीं पाए हैं।

वस्तुतः इस विचारधारा के उदय में इन पूर्ववर्ती और सम-सामयिक विचारों के प्रभाव को श्रीमती राइस डेविड्स[98] ने भी स्वीकार किया है। भारत के महान् दार्शनिक डा० राधाकृष्णन्[99] के विचारों में भी बौद्ध विचारधारा को ब्राह्मण विचारधारा से पूर्णतया प्रभावित होने की पुष्टि की गई हैं। श्रीमती राइस डेविड्स ने अपनी पुस्तक 'हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म' में कहा हैं 'कि गौतम जन्म से हिन्दू, हिन्दू धर्म में ही पालित, पोषित तथा हिन्दू धर्म में ही मरे।' इसी को पुष्ट करते

96. एनसाइक्लोडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग-9, पृ० 850
97. ट्वेन्टी फाइव हन्डरेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म, पृ० 6
98. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग-1, पृ० 83
99. इंडियन फिलासफी, वाल्यूम०-1 पृ० 361

हुए डा० गोविन्द[100] चन्द पाण्डे ने बौद्ध तथा जैन धर्मों को पूर्व वैदिक तथा अनार्यों के स्रोत से उदित माना है वे वैदिक स्रोत के प्रभाव को ही स्वीकार करते हैं।

काशी नाथ उपाध्याय[101] ने अपने ग्रन्थ में बौद्ध धर्म को वैदिक तथा अनार्य संस्कृति के मिश्रण तथा उपनिषदों की यज्ञ विरोधी परम्पराओं के कारण उदित हुआ बतलाया है। राइस डेविड्स इसे क्रान्ति के रूप में मानते हैं किन्तु काशी नाथ उपाध्याय इसे सुधार तथा क्रान्ति न मान कर एक नूतन खोज बतलाते हैं। इतना अवश्य है कि यह प्राचीन तथा सम-सामयिक विचार सरणियों का सार है जिसमें बाह्य आडम्बरों को त्याग कर एक नई दिशा दी गई है।

भगवान् बुद्ध ने निरन्तर आत्मचिन्तन करते रहने के रूप को अपने दोषोंका निराकरण माना है और उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि चार स्मृति प्रस्थानों का अभ्यास, तथा आर्य अष्टांगिक मार्ग का निरन्तर अभ्यास, चार सम्यक् प्रधानों का अभ्यास, चार ऋद्धि पादों का अभ्यास तथा अष्टांगिक मार्ग का निरन्तर अभ्यास ही चिन्तन है।

ब्राह्मण विचारधारा की समन्वयवादी विशेषता ने बौद्ध विचारधारा को प्रभा-किया और और बौद्ध विचारधारा अभ्यास प्रधान होने के कारण जनजीवन में अधिक आकर्षण नहीं दे पाई मानव ने उसके बाह्य रूप को देखा किन्तु वह एक सच्ची नैतिक जीवन पद्धति है जो विवेक पर आधारित है और जिसमें आत्म-दीप[102] आत्म-शरण, अनन्य शरण होकर विहरने का सन्देश दिया गया है। हम उन भगवान् बुद्ध[103] का स्मरण करते हुए अध्याय समाप्त करते हैं कि जिन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप को ज्ञान के माध्यम से जाना और हमें त्याग पर आधारित विचारधारा को दिया जिसका परिणाम सुखकारी है।

---

100. स्टेडीज इन दी ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, डा० पांडेय, पृ० 327
101. अर्ली बुद्धिज्म एण्ड दी भगवद् गीता, पृ० .
102. उक्काचेल सुत्त बु० च० पृ० 483
103. ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगननोपमान्।

ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्वसुखो हितः।

अविवादो विरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्॥ गौडपादकारिका 4,1-2

दी वे आफ दी बुद्धा-6

(घ) उन कारणों की मीमांसा

सभी दार्शनिक विचारधाराओं का उद्गम मनुष्य की दुःखाभिभूत मनोवृत्ति है। यदि दुःख न होता तो दर्शन का दर्शन ही (अदर्शनं लोपः) की भांति असम्भव था। महात्मा बुद्ध ने भी जब जरा जर्जरित मानव का साक्षात्कार किया उसकी कृश एवं पीडित कराहों का करुण क्रन्दन सुना तभी उनकी मानसिक भूमि में उनके दर्शन के बीजांकुर प्ररोहित हो चले। तदुपरान्त 'शव' के दर्शन ने उसे पल्लवित किया और इसी उलझन में ग्रथित एवं विकल हृदय का समाधान भिक्षु दर्शन ने किया। अतः दुःख एवं पीड़न ही प्राथमिक अनुभूति है।

प्रत्येक दर्शन का बीज ऐहिक दुःख है अतः सभी इसके समाधान के लिए मार्गान्वेषण करते हैं कि यह संसार दुःखालय है। भगवान् बुद्ध ने अपनी विचारधारा में जिन चार आर्य सत्यों का प्रमुख स्थान दिया वे दुःख पर ही आधारित हैं। 'सब्बं दुःखम्' सभी वस्तुओं को दुःख का रूप स्वीकार किया और उसके निराकरण के लिए चार आर्य सत्यों 'दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध, निरोधगामिनी प्रतिपद्' को नए मार्ग का अभिधान दिया। सांख्य का समारम्भ भी (तापत्रयाभिघातात्) से ही होता है। योग भी पंच क्लेशों से मुक्ति का साधन निर्दिष्ट करता है। मीमांसा भी दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति का वर्णन करता हैं। वेदान्त में भी अनित्य एवं अनन्त एवं नित्य सुख या आनन्द की जिज्ञासा के लिए ही प्रवृत्त होने का वर्णन है अतः मूलरूपेण सभी दार्शनिक विचारधाराओं का बीज दुःख है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध ने दुःख को आधार मानकर ब्राह्मण विचारधारा की मूलभूत कड़ी को पकड़ा और उसके निराकरण के हेतु उपाय आरम्भ किया।

भगवान् बुद्ध के दूसरे आर्य सत्य यथा 'दुःख समुदय' दुःख के कारण को भी हम सभी में एकसूत्र में ग्रथित की भांति प्राप्त करते हैं। भगवान् बुद्ध दुःख के कारण को पूर्ण महत्व देते हैं। वह अन्य विचारधाराओं में भी दुःख का कारण (अविद्या) बतलाते हैं। योग में (अविद्या) बतलाते हैं। योग अविद्या आदि क्लेशों के निराकरण पर बल दिया है। वेदान्त इसे अविद्या या अज्ञान अथवा (माया) कहकर अभिधान देता है। न्याय में यह अविद्या मिथ्या ज्ञान कहा गया है। इसी प्रकार दुःख का कारण भी ब्राह्मण विचारधारा में अविद्या माया के रूप में विद्यमान था जिसका आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में बहुशः वर्णन प्राप्त होता है।

दुखः निरोध—दुःख के निराकरण का लक्ष्य भी सभी विचारधाराओं में प्र[illegible] होता है। न्याय तथा वेदान्त मतों में अनैक्य होते हुए भी दार्शनिक तत्व [illegible]गवान् दोनों में मान्य है। आचार्य शंकर ने न्याय में वर्णन के मिथ्या ज्ञान [illegible] ही अपवर्ग की प्राप्ति को सम्भव बताया है।

दुःख निरोध गामिनी प्रतिपद—मध्यम मार्ग के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध ने अतियों का त्याग कर मध्यम मार्ग को अपनाया। यथा अन्य दर्शनों में उस मिथ्या ज्ञान, अविद्या, अज्ञान आदि के निराकरण के हेतु भिन्न-भिन्न उपाय दर्शाये हैं। आचार्य शंकर[104] ने मिथ्या ज्ञान के नाश का उपाय अद्वैत ज्ञान प्रतिपादित किया है। वस्तुतः इस अविद्या, अज्ञान मिथ्या ज्ञान से उपरति पाने के लिए साधनों के रूप में वेदान्त में शम, दम, उपरति, तितिक्षा, तया तात्विक वैराग्य अनिवार्य है। वहां प्रथम स्थान वैराग्य को दिया है और तदुपरान्त ब्रह्म जिज्ञासा को रखा गया है।

उस अज्ञान अविद्या की निवृत्ति होने पर सभी दार्शनिक विचारधाराएं ज्ञान अथवा ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति एवं साक्षात्कार कर अमरत्व पाने या निर्वाण की प्राप्ति बतलाते हैं। वस्तुतः जीवन के दुःखों एवं पीड़ाओं से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी मानव को पलायन की ओर अग्रसर करना इन विचारधाराओं का लक्ष्य नहीं अपितु उसी जीवन को संयमित परिष्कृत तथा वासनाओं से विनियुक्त करके विशुद्ध एवं स्वच्छ, उदात्त बनाने का है। सभी धाराएं यम, नियम, समाधि को ही साधन बतलाती हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा अविद्याकृत राग, द्वेष, काम, क्रोधादि बन्धनों से मुक्ति, काम, एव इन्द्रिय लोलुपता पर अपने संयम के द्वारा विजय करना ही अनासक्त होना ही योगी तथा साधक का अप्रतिम शौर्य है।

भगवान् बुद्ध के अपने समय के धर्म गुरुओं और धार्मिक आचार्यों के विचारों का वर्णन दीर्घ निकाय के ब्रह्म जाल सुत्त में 62 मिथ्या दृष्टियों के वर्णन में विस्तार से लिखा है। वस्तुतः बौद्ध विचारधारा कोई धर्म नहीं यह तो एक आचार तथा नैतिकता के बल पर चलने वाली जीवन पद्धति है। उन्होंने जीवन को इस प्रकार ढालने का प्रयत्न किया कि जिससे शुद्ध नैतिक आचरण और ध्यान के द्वारा मानव का सर्वांगीण विकास हो सके। उस समय के धर्म गुरुओं के विषय में उनकी धारणा दृढ़ हो चुकी थी कि धर्म के सच्चे रूप का बोध होना कठिन हैं और समाज बाह्य आडम्बर में फंसा हुआ है। उन्होंने ब्राह्मण धर्म को अन्धवेणु परम्परा बतलाया और आत्मा के विश्वास को बाल धर्म कहा। उन्होंने स्पष्ट कहा कि मेरा धर्म कुल्ल[105] बेड़े की भांति पार करने के लिए है पकड़ कर बैठने लिए नहीं। इस प्रकार उस समय की वैचारिक अव्यवस्था ही भगवान् बुद्ध के क्रान्तिकारी विचारों के लिए साधन प्रदान करती है।

मैंने अपनी पुस्तक ब्राह्मण श्रमण संस्कृतियो का दार्शनिक विवेचन में पहले अस्पर्शेन ब्राह्मण और श्रमण दो विचारधाराओं का ध्रुवीकरण किया है और

अविवादो विशङ्कर भाष्य, सत्यानन्दी टीका, प्रस्तावना पृ० 24

दी वे आफ दी बुद्धा म० नि० पृ० 87

भगवान् बुद्ध को अवैदिक श्रमण विचारधारा का अनुयायी बतलाया है। वास्तव में उपनिषदों में मुण्डक में जो विचारधारा प्राप्त होती है उसका ही विकसित रूप हम बौद्ध विचारधारा में भी पाते हैं। विज्ञान की स्वीकृति उपनिषदों में है। विज्ञान[106]स्वरूप चेतन जीव आत्मा ही ब्रह्म है ऐसा कहा गया है। विज्ञानवादी योगाचार के मत में क्षणिक विज्ञान से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। वास्तव में इस दर्शन पक्ष का विवेचन एक पृथक् अध्याय की अपेक्षा रखता है किन्तु हमें तो विचारधारा की प्रमुख विशेषताओं के कारणों को ही प्रस्तुत करना है इसलिए हमारे लिए नैतिक धरातल अधिक समीचीन है।

सर चार्ल्स इलियट[107] ने अपनी पुस्तक में ब्राह्मण धर्म के उच्च नैतिक आदर्शों का वर्णन किया है। उन्होंने निःस्वार्थता तथा आत्म संयम के अनुशीलन पर बल दिया है किन्तु ब्राह्मण विचारधारा के सर्वोच्च देव विष्णु तथा शिव नैतिक मूल्यों से तादात्म्य[108] से उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखते जैसा कि बौद्ध विचारधारा में धर्म तथा नैतिक नियमों की अभिन्नता, समता दर्शाई गई है। ब्राह्मण विचारधारा में सुदृढ़ नैतिक तथा भक्ति की भावनाएं प्राप्त होती हैं किन्तु उनका नैतिक आचरणों की व्यवहारिकता से सम्पर्क न्यून ही है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति, आत्मा तथा परमात्मा के सम्बन्धों का बहुविध बहुचर्चित विषय है किन्तु हमें अच्छा क्यों होना चाहिए ? नैतिक उच्च विचारों के अनुशीलन की आवश्यकता क्यों है ? उन्हें पाप की अपेक्षा अज्ञान का अधिक ज्ञान है इसे दूर करने के लिए वे अधिक चिन्तित हैं। वस्तुतः गुण का ग्रहण अपरिहार्य है किन्तु उसकी उपयोगिता बिना जाने वह ज्ञान व्यर्थ ही हो जाता है।

ब्राह्मण विचारधारा में नैतिकता सुख का साधन मानी गई है इसे कोई दैविक इच्छा नहीं कहा गया है। मानव सुख चाहता है इसके लिए नैतिकता का पालन अपेक्षित है यद्यपि यह अपूर्ण साधन है क्योंकि अच्छे काम का अच्छा परिणाम और बुरे कर्मों का बुरा परिणाम कर्ता को इस जन्म में या अग्रिम जन्म में भोगना आवश्यक है। शापनहावर इच्छा को महत्व देते हैं। बौद्ध त्रिपिटकों में तृष्णा ही जीवन की दिशा प्रदात्री कही गई है क्योंकि तृष्णा भी कारणवाद की एक कड़ी है यह परिणाम या अन्तिम लक्ष्य नहीं। जो स्थान वेदान्त में माया का हे जिससे हम स्वयं को ब्रह्म से भिन्न समझते हैं, वही सांख्य में अहंकार का रूप है। ब्राह्मण विचारधारा में भी कर्म को ही भाग्य कहा है जोकि पूर्व जन्मों के सुकर्मों के सुपरिणाम तथा दुष्परि[illegible]
[illegible]गवान्

106. विज्ञानं ब्रह्मेति। तैत्ति० उ० 315
107. हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग-1, पृ० 22
108. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, भाग-1, पृ० 77

से उत्पन्न है निर्मित है उसे सहना है किन्तु बह मात्र भाग्यवादी विचार से भिन्न है क्योंकि मानव अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है तथा कर्म के द्वारा ही उसका अग्रिम जन्म भी निर्धारित होता है। उपनिषदों[109] में पुण्य कर्मों से पुण्य की प्राप्ति और पाप कर्मों से पाप की प्राप्ति के विवेचन अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं।

बुद्ध की विचारधारा में पंच स्कन्ध[110] तथा मन मात्र को आत्मा नहीं कह सकते क्योंकि हम उनके निर्माण में स्वेच्छा का अधिकार नहीं रखते। मन की अच्छी बुरी स्थितियां होती हैं जिनका प्रभाव मन पर अवश्य होता है और जब तक महात्मा यह जानता है कि इन मैं बन्धनों से युक्त हूँ मुक्ति नहीं पा सकता।

बौद्ध विचारधारा में नैतिकता[111] तथा दानशीलता को विशेष महत्व दिया गया है। विश्व धर्म के रूप में इसकी ख्याति इन्हीं गुणों के कारण हुई। यह जातिपांति के बन्धनों से रहित प्राणी मात्र के सुख के लिए मार्ग निर्दिष्ट करता है। इनमें गुणों का पालन परमावश्यक है। सहिष्णुता तथा सच्ची अभौतिकता का अनुशीलन इसका अंग हैं, इसने कला तथा साहित्य की भी अभिवृद्धि की तथा ज्ञानार्जन को महत्व दिया। बुद्ध को एक धार्मिक नेता न मानकर के हम एक नैतिक विचारधारा का प्रवर्तक ही मानेंगे। उन्होंने इन नैतिक नियमों को एक स्वेच्छा का रूप दिया। इनकी विचारधारा में व्यक्तिगत रूप में ईश्वर की स्वीकृति नहीं की गई है। यह विचारधारा अमरता के सिद्धान्त की अपेक्षा नैतिकता में विशेष आस्था और बल को दर्शाती है। इसे इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं कि जैसे कोई पुरुष वृद्धावस्था में अपने यौवन के दोषों के भोग को भोगता है इसी प्रकार इस जीवन के पापों को अग्रिम जीवन में भोगना अनिवार्य है। बुद्ध निर्वाण[112] को जीवन के बाद की प्राप्ति की वस्तु नहीं मानते अपितु तल्लीनता एवं कठिन साधना के द्वारा लभ्य होने वाली वस्तु मानते हैं। भगवान् बुद्ध की विचारधारा शाखापत्र[113] रहित, छाल पपड़ी रहित, गुद्दा रहित, शुद्ध सारमात्र में अवस्थित है।

भगवान् बुद्ध ने मानव में आत्म विश्वास की भावना को प्रबुद्ध करके उसे आत्म-दीप,[114] आत्म-शरण और अनन्य शरण होकर विहरने का सुन्दर संदेश दिया अपूर्ण मानव को पूर्णत्व प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित किया।

---

109. बृ० उ० 3।2।13
[illegible]0. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, सी० इलियट, पृ० 78
[illegible]ही), पृ० 92
अस्पश्य[illegible] पृ० 95
अविवादो वि[illegible] सुत्त, म० नि०, पृ० 286
दी वे आफ दी बुद्धा[illegible] नि०, पृ० 484

(ङ) दोनों विचारधाराओं की परवर्ती क्रियाएं और प्रतिक्रयाएं :—

ब्राह्मण विचारधारा का बौद्ध विचारधारा पर गहन प्रभाव पड़ा है। इसका प्रमाण यह है कि बौद्ध विचारधारा में भगवान् बुद्ध की देवत्व रूप में स्वीकृति होने लगी तथा बोधि सत्वों का उदय तथा उनका पूजन ब्राह्मण विचारधारा के देवों के तुल्य होने लगा। यह सभी विचार बौद्ध विचारधारा को प्रभावित करते प्रतीत होते हैं। बौद्ध विचारधारा में बहुदेववाद[115]का समारम्भ हुआ इसके कई कारण है प्राचीन बौद्ध विचार धारा नैतिक, अभ्यास तथा विवेक ध्यान प्रधान थी। उसमें किसी भी देवता के पूजन की स्वीकृति नहीं थी किन्तु भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त विचारों में परिवर्तन आया। जन समाज को कष्ट के क्षणों में किसी साकार देव की स्वीकृति के अभाव में केवल नैतिक अनुशासन प्रिय न रह सका और भगवान् बुद्ध के देवत्व रूप की स्वीकृति में इसका समाधान हुआ और यह विचारधारा हीनयान और महायान (प्रथम शती ए० डी०) दो रूपों में विभक्त हो गई। महायान ने अपने नवीनतम विचारों तथा आचारों के कारण लोकप्रियता प्राप्त कर ली जिसका परिणाम यह हुआ कि महायान में अनेक धार्मिक कृत्यों तथा देवों का समावेश हो गया।

बौद्ध विचारधारा को दार्शनिक तथ्यों, सिद्धान्तों के प्रतिपादन की एक प्रक्रिया[116] का रूप देते हुए कहा गया है कि शनैः शनैः इसमें प्राचीन लोक विश्वासों, आस्थाओं ने अपना स्थान बना लिया, इस कारण लोक प्रिय बुद्ध धर्म महायान तथा हिन्दु देवतावाद के मिश्रण के रूप में उभर आया।

बौद्ध विचारधारा में स्वाभाविक परिवर्तन आया। बुद्ध तथा बोधि[117] सत्व देवता माने जाने लगे, अमर प्राणी हो गए, बुद्धों को देवत्व का रूप दिया और भक्ति तथा दान की आवश्यकताओं का अनुभव होने लगा।

त्रिकाय[118] के सिद्धान्त तथा बोधि सत्व के आदर्शों के कारण भी विभिन्न देवों का समावेश हो गया। महायानियों के लिए बुद्ध एक मानव नहीं हैं अपितु देव स्वरूप है। तीन कायों (धर्म काय, सम्भोग काय तथा निर्माण काय) के रूपों का समुदय हुआ। धर्म काय के रूप में वे क्लेशों तथा इच्छाओं से रहित सर्वोच्च सत्ता माने गये, सम्भोग काय के रूप में उन्हें सुखों का पुंज तथा दैविक शरीर स्वीकार किया गया जिसके द्वारा वे स्वर्ग में प्रकट होते हैं और श्रावक, प्रत्येक बुद्ध तथा

भगवान्

115. दी वे आफ दी बुद्ध, परिशिष्ट 5।

116, इंडियन माइथालोजी, वेरोनिका आओन्स, पृ० 135

117. इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एन्ड एथिक्स, भाग -2

118. दी वे आफ दी बुद्ध, परिशिष्ट 5

बौधि सत्वों के हृदय में धर्म के प्रति प्रेम को जाग्रत करते है। निर्माण काय में शरीर की परिवर्तनशीलता को माना गया है जैसे शाक्यमुनि अथवा अन्य कोई बुद्ध। इस त्रिकाय के सिद्धान्त ने विभिन्न बुद्धों को जन्म दिया। महायान में बोधि सत्व ही विभिन्न देवों के रूप में माने गये हैं जोकि निर्वाण को भी तब तक स्वीकार नहीं करते है जब तक कि सभी प्राणी मुक्त न हो जाएं। महायान में अनेक बोधि सत्वों का वर्णन मिलता है जिनमें मंजुश्री तथा अवलोकितेश्वर दो ही प्रधान हैं। सामान्य पूजन, अर्चन में बोधि सत्वों की अमित दैविक शक्ति सम्पन्न मानकर पूजित किया जाता रहा है।

बहुदेववादिता की धारा को प्रभावित करने वाला अन्य आधार देवियों की स्वतन्त्र तथा अपने सहचर देव के साथ पूजा का समारम्भ है।इससे मन्त्रों में आस्था तथा विस्मयकारी कृत्यों का उदय हुआ जो बौद्धों की तांत्रिक विचारधारा के उदय का कारण बना। देवों में बोधि सत्वों का देवियों में तारा का स्थान सर्वोच्च तथा सर्व मान्य है। सर्वतः प्रथम आदि बुद्ध हुए जिनसे पांच ध्यानी बुद्धों (वैरोचन, अक्षोभ्य रत्नसम्भव, अभिताभ तथा अमोघसिद्धि) का उदय हुआ नेपाली बौद्ध वज्र सत्व को भी मानते हैं हैं। ये बुद्ध ध्यान मग्न रहते है और सृजन का कार्य समन्त भद्र के आधीन रहता है। इस प्रकार विभिन्न देवों की स्वीकृति का रूप हमें बौद्ध विचारधारा के महायानी रूप में प्राप्त होता है।

अहिंसा पालन—अहिंसा में पशु जीवन के महत्व की स्वीकृति तथा उनमें प्राणि मात्र के प्रति दया का भाव जाग्रत करने की प्रवृत्ति बढ़ी। वैसे यह विचारधारा भी ब्राह्मण विचारधारा के 'अहिंसा परमोधर्मः के रूप में ही थी किन्तु ब्राह्मण विचारधारा में हिंसा की बलि में रूप में ही स्वीकृति अवश्य थी। वैदिक कृत्यों में शाक्तों में विशेष रूप से पशु बलि की प्रथा थी। मांस वैदिक ग्रन्थों तथा महाभारत तक में प्रयुक्त हुआ मिलता है किन्तु स्वभावतः ब्राह्मण या द्विज मांसाहारी नहीं थे। अहिंसा के अतिरिक्त पूजा के क्षेत्र में भी बौद्ध विचारधारा में क्रान्ति आई। पूजा तथा याज्ञिक कृत्यों का पूर्णतया बहिष्कार किया गया किन्तु ये बिल्कुल नष्ट नहीं हुए, केवल कुछ समय के लिए उपेक्षित हो गए। आज भी यज्ञों का आयोजन, मन्त्र जाप, प्रतिमा स्थापन आदि की प्रथा पूर्णतया प्रचलित है।

प्रतिमा पूजन—बौद्ध विचारधारा में प्रतिमा पूजन विरोध भी किया गया और ...ूर से श्रीगणेश भी। भगवान्[119] बुद्ध के अवशेषों तथा उनके उपदेशों, अस्पर्शय... ति सम्मान प्रदर्शन हेतु चैत्यों के निर्माण का समारम्भ हुआ क्योंकि

अविवादो वि...

दी वे आफ दी बुद्धा... च०, पृ० 501

ब्राह्मण विचारधारा में महापुरुष के अवशेषों की पूजा का कोई प्रचलन नहीं था। किन्तु पिटक ग्रन्थों में चैत्यों का बहुलता से वर्णन है। प्रतिमापूजन के विषय में भगवान् ने अपने महा परिनिर्वाण से पूर्व कहा था—'आनन्द ! तथागत की शरीर पूजा की तुम पर्वाह न करना। तुम आनन्द ! सच्चे पदार्थ (सदर्थ) के लिए प्रयत्न करना, सत्-अर्थ के लिए उद्योग करना। सत्-अर्थ में अप्रमादी, उद्योगी आत्मसंयमी हो विहरना। आनन्द ! तथागत में अत्यन्त अनुरक्त क्षत्रिय पंडित भी, ब्राह्मण पंडित, गृहपंडित भी तथागत की **शरीर पूजा** करेंगे।'

अतीत शास्ता के उपदेश के विषय में उन्होंने कहा—'मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किए हैं, प्रज्ञप्त (विहित) किए हैं, मेरे बाद वही तुम्हारा शास्ता है।' द्रोण ब्राह्मण ने भगवान् के अस्थि शेष भाग (शरीर) को आठ समान भागों में विभक्त करके दिया जिससे कि विभिन्न दिशाओं में स्तूपों का विस्तार हो। महाश्रावकों का एक चैत्य पाषाण स्तूप बनवाया। बौद्ध[120] विचारधारा के समय से पूर्व भी ब्राह्मण विचारधारा में चैत्यों के निर्माण के प्रसंग प्राप्त होते हैं। ये एक पवित्र वृक्ष के पास पाषाण के बनते थे जिन्हें पुष्पों तथा विभिन्न रंगों से सुसज्जित किया जाता था। बाद में किसी के स्मरणार्थ स्तम्भ को चैत्य के रूप में प्रचलित हुआ पाते हैं जिसे किसी व्यक्ति के स्मरणार्थ (अवशिष्ट पात्र) स्मरण रखने की पेटी के रूप में बौद्ध विचारधारा में प्रचलित हुआ है। यह स्थान विरक्त व्यक्तियों के ठहरने के लिए आश्रम या मठ था जिसके चारों ओर परिक्रमा के लिए स्थान बना रहता था। इन स्तूपों पर मीनार भी बनी होती थी तथा खुदाई की शोभा विशेष रहती थी किन्तु भगवान् बुद्ध की प्रतिमा कहीं नहीं मिलतीं। इनमें केवल बुद्ध के चरण, धर्म चक्र तथा बोधि वृक्ष का ही अंकन है किन्तु बाद में गान्धार कला के प्रभाव से बुद्ध की पूर्ण प्रतिमाएं भी प्राप्त होती है। इन्हीं के सम्पर्क[121] से वादामी के पास एहोल के मन्दिर प्रदक्षिणा पथ से युक्त यह मन्दिर बौद्धकालीन स्तूपों के अनुरूप ही प्रतीत होता है। यहां प्रतिमा पूजन में भोग, आरती आदि की व्यवस्था की जाती है।

महाकाश्यप ने, जहां मल्लों का मुकुट बन्धन 'चैत्य' था, वहां भगवान् की चिता थी, वहां पहुँच कर चीवर को कन्धे पर रख कर अञ्जली जोड़ तीन बार चिता की परिक्रमा कर, चरण खोलकर शिर से वन्दना की। भगवान् की अवशिष्ट अस्थियों को सप्ताह भर संस्थागार में शक्ति (हस्त पुरुषों के घेरे का) पंजर बनवा, धनुष (हस्त पुरुषों के घेरे का) प्राकार बनवा, नृत्य, गीत, वाद्य, माला, गन्ध से सत्कार किया, गुरुकार किया, माना पूजा। मागधराजा अजातशत्रु ने दूत भेजा, भगवान्

120. महापरिनिब्बाण सुत्त, बु० च०, पृ० 501
121. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, वो० 3, पृ० 172, फुटनोट-2

भी क्षत्रिय[122] थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ, भगवान् के शरीर (अस्थियों) में मेरा भाग भी वाजिब है। मैं भी भगवान् के शरीर का स्तूप बनवाऊंगा और पूजा करूंगा।

राजा अजातशत्रु ने राजगृह[123] में भगवान् की अस्थियों का स्तूप बनवाया और पूजा की। वैशाली के लिच्छवियां ने भी, कपिलवस्तु के शाक्यों ने, अल्लकप्प के बुलियों ने भी, रामगाम के कोलियों ने भी, पावा के मल्लों ने भी, कुसीनारा के मल्लों ने भी स्तूप बनवाये।

बौद्धों क स्तूपों के निर्माण में ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रतीकात्मक स्मारकों के प्रभाव को भी कतिपय विद्वान् स्वीकार करते हैं। इसीलिए महात्मा बुद्ध के निर्वाणोपरान्त उन के ध्यान एवं स्मरण के लिए इसी प्रकार के स्तूपों का निर्माण हुआ। अतः आकार और संज्ञा दोनों से इस मत की पुष्टि हो जाती है कि समरांगण सूत्रधार में प्रासाद वर्गों में लयन प्रासाद, गुहाधर प्रासाद, गुहराज प्रासादों का निर्देश किया जा सकता है। हिन्दू प्रासाद जोकि ब्राह्मण विचारधारा के अभिन्न अंग हैं जैसे मेरु, मन्दर तथा कैलाश। गुहा निवास हमारे देश में सनातनकालीन है अतः बौद्धों के पूजागृहों (चैत्यों) तथा उपासकों के निवास स्थलों (विहारों) संघारामों में प्रासाद परम्परा का विकसित रूप लभ्य होता है। यद्यपि मूल रूप से एक होते हुए भी इष्टिकाओं द्वारा निर्मित अर्चागृहो में ब्राह्मण, तथा बौद्ध जैन अर्चागृहों में थोड़ा आन्तरिक भेद घटक अवश्य दृष्टिगत होता है। प्रासाद का अर्थ मन्दिर मात्र न होकर वैदिक चिति, बौद्ध स्तूप, बौद्ध चैत्य तथा पूजा वास्तु सभी प्रासाद के अर्थ में गतार्थ हो जाता हैं।

बौद्ध प्रतिमा को हम सामान्य रूप में ग्रहण नही कर सकते क्योंकि प्रतिमा के स्वीकरण में आध्यात्मिक चिन्तन का आधार मानना स्वाभाविक है। बौद्ध विचार-धारा पर भी इसका प्रभाव स्वाभाविक है क्योंकि भगवान् ने अपने जीवन काल में अनेक श्रेष्ठियों, असंख्य नर-नारियों, विद्वानों को प्रभावित किया, इसी कारण वे देवता के तुल्य माने गये। भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन काल में शरीर पूजा का विरोध किया किन्तु उनके महापरिनिर्वाण के उपरान्त इसका प्रचलन प्रारम्भ हो गया और इसी कारण उनके निर्वाणोपरान्त भी स्थविरवादियों ने बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं की अनुपचारात्मक संभारशून्य पूज्यपूजकोपचर्या रहित धर्म की मध्यममार्गी ज्योति को प्रज्वलित रखने का अथक प्रयास किया किन्तु सामयिक नैसर्गिक प्रतीकोपासना के शाश्वत सार्वजनीन सार्वधार्मिक प्रभाव से यह धारा भी अप्रभावित न रह सकी और इनके उपासक भी प्रतिमा के लोभ का संवरण न कर सके। प्राचीन प्रतीकोपासना की भावना अक्षुण्ण न रह सकी।

---

122. महापरिनिब्बाण सुत्त, बु० च०, पृ० 509
123. महापरिनिब्बाण सुत्त, बु० च०, पृ० 509

स्तूपों का निर्माण[124] एवं स्तूप पूजा बौद्ध धर्म की प्रतीकोपासना है। बौद्ध धर्म के तीन रत्न धर्म, बुद्ध, संघ को जो स्थापत्य में मानवाकृति प्रदान की गयी है वह भी प्रतीकोपासना है। इतना ही नहीं महात्मा बुद्ध के वे स्थल जहां उन्हें ज्ञानोपलब्धि हुई, प्रथमोपदेश, अथवा अन्य उपदेश दिए वे उनके मतानुयायियों के लिए पावनतम हो गए, इसी कारण बोध गया, सांची, बरहुत एवं अमरावती के स्मारकों (ई० पू० तीन शती) में रेलिंग्स का विन्यास इस तथ्य का साक्षी है कि भगवान् बुद्ध के पावन स्पर्श का प्रत्येक पदार्थ पूज्य बन गया। यह भी ब्राह्मण विचारधारा की प्रतीकोपासना का ही प्रभाव समझना चाहिए। इसी प्रकार बोधि वृक्ष, धर्म चक्र, बुद्ध पाद-चिह्न आदि भी बौद्ध प्रतीकोपासना के ही निदर्शन हैं।

भगवान् बुद्ध ने परिनिर्वाण[125] के समय सिंह शय्या से लेटे-लेटे कहा—'आनन्द श्रद्धालु कुलपुत्र के लिए यह चार स्थान दर्शनीय, संवेजनीय (वैराग्यप्रद) है। मौन के चार (1) यहाँ तथागत उत्पन्न हुए (लुम्बिनी), (2) यहां तथागत ने अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त किया (बोध गया)। (8) यहां तथागत अनुपादि शेष निर्वाण धातु को प्राप्त हुए (कुसीनारा)। यह चार स्थान दर्शनीय है। आनन्द ! श्रद्धालु, भिक्षुणियों, उपासक, उपासिकाये जो (भविष्य) में आवेंगी, वे जानेगी यहां तथागत उत्पन्न हुए, यहाँ तथागत निर्वाण को प्राप्त हुए।

भगवान् की अस्थियों के आकलन तथा उनके परिस्रावण से भी ब्राह्मण विचारधारा में प्रचलित दोनों विधियों (शव का अग्निदाह तथाभूमि में दबाना) का प्रभाव ही स्पष्ट है। यथा किन्ही-किन्ही महात्माओं का शव दग्ध न किया जाकर आज भी उनकी समाधि बनवा देते हैं। यह समाधि निर्माण ही स्तूपों का विकृत रूप प्रतीत होता है।

सम्प्रदायवाद—शैव, वैष्णव तथा शाक्त आदि सम्प्रदायों में जन समूह का विभाजन हुआ। जिसका वर्णन पहले कर चुके हैं।

भक्ति का उदय—श्रद्धा[126] सूक्त ऋग्वेद में प्राप्त होता है। शनैः शनैः विकास तथा अभ्युदय के परिणामस्वरूप पूर्ण समर्पण की भावना वृद्धिगत हुई और भक्ति का उदय हुआ। बौद्ध धर्म में भी थेर तथा थेरी गाथा, धम्मपद में भक्ति भावना का पर्याप्त पोषण लभ्य है। बौद्ध दर्शन में भक्ति का अधिक महत्वपूर्ण स्थान न होकर नैतिक गुणों के अनुसरण पर विशेष बल दिया है।

---

124. प्रासाद निवेश डा० द्विजेन्द्र, नाथ शुक्ल, प्र० 112
125. महापरिनिब्बाण सुत्त, बु० च०, पृ० 500
126, ऋ० 10।151

बौद्ध विचारधारा में महायान सम्प्रदाय में आस्तिकता के समावेश के परिणामस्वरूप सृष्टि विज्ञान तथा सृष्टि विचार जैसे विषयों पर विचार होना स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जाने लगा क्योंकि प्रारम्भ में भगवान् बुद्ध ने इन विषयों को अव्याकृत कह कर ही टाल दिया था फिर भी कुछ स्थलों पर हम उनके द्वारा संकेत अवश्य पाते हैं। एक समय आनन्द ने भगवान् से पृथ्वीं के कम्पायमान होने के कारण को पूछा। इस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि यह पृथ्वी विशाल[127] जल पर स्थित है, जल वायु पर और वायु आकाश पर। भयंकर वायु के प्रवाहित होने के कारण जल में प्रकम्पन और जल के प्रकम्पन के कारण पृथ्वी में भी प्रकम्पन होता है। इसी प्रकार काश्यप के पूछने पर भी भगवान् ने उत्तर दिया था कि हे ब्राह्मण! पृथ्वी जल[128] मण्डल पर ठहरी हुई है, जल मण्डल वायुमण्डल पर और वायु मण्डल आकाश मण्डल पर। उसके पुनः पूछने पर कि आकाशमण्डल किस पर स्थित है, भगवान् ने कहा कि हे ब्राह्मण! तुम बहुत आगे बढ़ रहे हो। यह प्रश्नोत्तर ब्राह्मण विचारधारा के उपनिषदों में वर्णित अतिप्रश्नों के रूप में प्राप्त होता है, जिसकी भगवान् बुद्ध ने उपेक्षा की।

त्रिपिटक ग्रन्थों में हमें इस प्रकार के विचार दो रूपों में प्राप्त होते हैं एक पौराणिक और दूसरा आध्यात्मिक विवेचन के रूप में। बौद्ध पौराणिक कथाओं के वर्णन में सृष्टि विकास के क्रम में स्वर्ग[129] का सृजन सबसे पूर्व में हुआ। वहाँ देवों को प्रतिष्ठित किया गया। स्वर्ग की रचना के बाद वायु मण्डल और उसके पश्चात् आकाश का सृजन हुआ। वायुमण्डल पर स्वर्णिम रंग के समुद्र की वर्षा हुई और जल मण्डल का उदय हुआ। पुनश्च कंचनमई भूमि का निर्माण हुआ। बादलों ने फिर इस स्वर्णमई भूमि पर मूल्यवान् उपलों की वर्षा की, जिससे मध्य में मेरु पर्वत का निर्माण हुआ। मेरु पर्वत के अतिरिक्त आठ पर्वत श्रेणियां और उत्पन्न हुई। इनमें सात जो स्वर्णमयी हैं वे मेरु के पास ही हैं। दूसरी अयसमई उससे दूर किनारे पर हैं। श्रेणियों के मध्य से सागर प्रवहमान है। समुद्रों में चार महाद्वीप बसे रहते है। पूर्व में विदेश, दक्षिण में जम्बु द्वीप, पश्चिम में अपरगोय और उत्तर में उत्तर कुरु नामक द्वीपों की स्थिति बताई गई हैं। अभिधम्भ कोष और उसकी टीकाओं में इन पौराणिक कथाओं का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। त्रिपिटक[130] में हमें दो

127. दीर्घनिकाय 2।107
128. सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट सीरीज भाग 35, पृ० 106
129. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ऐथिक्स, भाग 6, पृ० 129-134
130. सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट सीरीज भाग 35, पृ० 106 और बुद्धिस्टिक साइक्लोजी, रायस डेविड, पृ० 241

प्रकार के संसारों की चर्चा मिलती है। एक भूतात्मक जगत् और दूसरा ओकास या अवकाश जगत्। भूतात्मक जगत् को सत्वालोक भी कहते हैं। ओकास या अवकाश लोक में देवता लोग रहते हैं और सत्यालोक में अन्य प्राणी निवास करते हैं।

महाभूत—सृष्टि की रचना महाभूतों से हुई हैं यह बात बौद्धों को भी मान्य है। ब्राह्मण धारा से उनका मतभेद केवल इसी बात में है कि ये लोक केवल चार महाभूत मानते हैं और वे पंच महाभूतों में विश्वास करते हैं। बुद्धों में जिन चार महाभूतों[131] की मान्यता है वे क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु तत्व हैं। आकाश तत्व के प्रति वे मान्यता नहीं रखते हैं। भूतात्मक जगत् की रचना इन्हीं चार महाभूतों से बताई जाती है।

संसार के सम्बन्ध में बौद्धों के आध्यात्मिक दृष्टिकोण :—

बौद्धों ने जगत् के सम्बन्ध में केवल पौराणिक दृष्टिकोण से ही विचार नहीं किया है। अपितु उन्होंने उसके सम्बन्ध में बहुत से दार्शनिक दृष्टिकोण भी दिये हैं। उन दार्शनिक दृष्टिकोणों का विकास आगे चलकर विविध वादों के रूप में हुआ। सच तो यह कि बौद्ध दर्शन में सत्ता की मीमांसा जगत् सम्बन्धी विचारों को लेकर ही खड़ी हुई है। सत्ता की मीमांसा से सम्बन्धित बौद्ध धर्म से चार दार्शनिक वाद उदय हुए थे उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

1. वैभाषिक मत या बाह्यार्थ प्रत्यक्षवाद
2, सौत्रान्तिक या बाह्यार्थानुमेयवाद
3. योगाचार या विज्ञानवाद
4. माध्यमिक या शून्यवाद

वैभाषिक मत—यह हीनयान की सर्वास्तिवादी विचारधारा के अन्तर्गत आता है। इस मत के अनुयायी बाह्यार्थ या संसार को प्रत्यक्षरूपेण सत्य मानते हैं। इनका कहना है कि जिन धर्मो से हमारा जीवन जगत् बना हुआ है वे सर्वथा सत्य हैं। इस मत वालों ने इन सत्य धर्मों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या की है। इसका साहित्य पालि से भिन्न संस्कृत में लभ्य होता है। लगभग एक हजार ए० डी० में कनिष्क के राज्य काल में तृतीय संगीति के समय इसके साहित्य का सृजन हुआ। बसुमित्र[132] के निर्देशन में सुत्त, विनय तथा अभिधम्भ पिटक पर संस्कृत में टीकाएं लिखी गई और अभिधम्म की टीका का नाम अभिधम्म विभाषा शास्त्र रखा गया। इसकी मूल संस्कृत

131. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग 6, पृ० 130
132. हिस्ट्री आफ बुद्धिस्ट थाट, ई० जे० थामस, पृ० 175-76

अप्राप्य है, केवल ह्वेनसांग का चीनी भाषा में अनुवाद प्राप्य है। इस ग्रन्थ में वसुबन्धु के समय के बौद्ध विचारों का सर्वास्तिवादी धारा के आधार पर अच्छा वर्णन मिलता है। ऐसा भी कहा गया है कि काश्मीरी सर्वास्तिवादियों ने विभाषा को पढ़ा, इसी कारण वे वैभाषिक[133] कहलाए। इन्होंने धर्म शब्द का अर्थ प्रचलित[134] अर्थ से भिन्न किया है। ये धर्म का अर्थ भूत और चित्त के उन सूक्ष्म तत्वों से लेते हैं जिनका विच्छेदीकरण नहीं किया जा सकता। जगत् की उत्पत्ति इन्हीं धर्मों के घात प्रतिघात से मानी गई है। इन्होंने जगत् में जितने भी धर्म हैं उनकी उत्पत्ति[135] हेतु से मानी है। हेतु को तथागत ही जानते हैं, वे ही इसका कथन तथा निरोध कर सकते हैं।

दूसरा सम्प्रदाय सौत्रान्तिकों का है। उनकी धारणा है कि बाह्य जगत् का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। ये वैभाषिकों से भिन्न थे जिन्होंने सर्वास्तिवादिता पर अपना भेद प्रकट किया था। सर्वास्तिवादियों में सब की सत्ता है जिसमें प्रत्येक पदार्थ की यथार्थता को स्वीकार किया गया था और जिसमें भूत तथा भविष्य की सत्ता की निश्चय स्वीकृति थी। इसी कारण भूत और भविष्य में[136] सूत्र सम्बन्ध होने से इसका नाम सौत्रान्तिक पड़ा। ये वस्तुतः भूत, भविष्यत् के पदार्थ की सत्ता को न मानकर केवल वर्तमान स्थिति को ही मानते थे। इनका मत है कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक हे। जब प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है तो फिर उनका ज्ञान कैसे होता है। इसके लिए उन्होंने प्रतिबिम्बवाद की कल्पना की है। इनकी धारणा है कि भिन्न-भिन्न पदार्थ प्रत्यक्ष होते ही चित्त पर अपना प्रतिबिम्ब अंकित कर देते हैं। इन्हीं प्रतिबिम्बों से ही हम अनुमान करते हैं कि बाह्यार्थ की भी सत्ता है। यह अनुमान ठीक वैसा ही है जैसा हम दर्पण में प्रतिबिम्ब देख कर बिम्ब की सत्ता का अनुमान कर लिया करते हैं। प्रमाण की दृष्टि से वैभाषिक प्रत्यक्षवादी और सौत्रान्तिक अनुमानवादी कहे जा सकते हैं।

ये मूल सूत्रों के ही अनुयायी थे जब कि वैभाषिक मूल पालि की संस्कृत टीकाओं के अनुयायी। सौत्रान्तिक मूल बौद्ध धर्म के उसी रूप में मानते थे जबकि वैभाषिक उनकी टीकाओं का आश्रय को लेते थे। सर्व दर्शन[137] संग्रह तथा अन्य ग्रन्थों में वैभा-

133. काश्मीर वैभाषिकाज, क्रीटीक आफ इण्डियन रिअलिज्म, डा० डी० एन० शास्त्री, पृ० 53।
134. बौद्ध धर्म और दर्शन, पृ० 314।
135. बौद्ध दर्शन मीमांसा, पृ० 213।
136. सैन्ट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेरवात्स्की, पृ० 56।
137. सर्व दर्शन संग्रह, गुणरत्न, 1

षिक तथा सौत्रान्तिक के भेद को स्पष्ट किया है। वैभाषिकों के सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन अभिधम्मकोश (वसुवन्धु) में प्राप्त होता है जिसे डा० डी० एन० शास्त्री ने अपने ग्रन्थ[138] में विस्तार से लिखा है। इनके वर्णनों का निष्कर्ष है कि वह सिद्धान्त जिसका आधार क्षणिकवाद है और जिसका उदय प्रतीत्य समुत्पाद के द्वारा होता है उसमें कोई वस्तु यथार्थवादी नहीं हो सकती। प्रो० शेवात्स्की[139] के विवेचन में कहा गया है कि किसी वस्तु के इन्द्रियों द्वारा ग्रहण के लिए अवकाश नहीं है जैसा कि यथार्थवाद में होता है और मन से भी उसका ज्ञान नहीं होता अतः प्राचीन मतों में वैभाषिकों के विवरण अर्थ सत्य ही हैं क्योंकि वैभाषिकों को यथार्थवादी कहते हैं।

तीसरा सम्प्रदाय और भी अधिक सूक्ष्मदर्शी और आदर्शवादी है इस सम्प्रदाय को योगाचार या विज्ञानवाद भी कहते हैं यह लोग प्रतिबिम्ब के सहारे बिम्ब रूपी सत्ता का अनुमान करना अनुचित मानते हैं। इनके मतानुसार बाह्य भौतिक जगत् सर्वथा मिथ्या है। ये लोग चित्त या विज्ञान को ही एक मात्र सत्ता मानते हैं। इनके मतानुसार चित्त के नाना प्रकार के आभास जगत् के रूप में प्रतिभासित होते हैं जगत् का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यह लोग केवल निर्वाण को ही सत्य मानते हैं।

विज्ञान वादियों ने विज्ञान चित्त या मन की आत्यन्तिक सत्ता नहीं मानी है।इनका कथन है कि चित्त का अस्तित्व तभी तक है जब तक कि इन्द्रिय तथा ग्राह्य विषयों के घात प्रतिघात का अस्तित्व रहता है। ज्यों ही इन्द्रियों तथा विषयों के परस्पर घात प्रतिघात का अन्त हो जाता है त्यों ही चित्त की समाप्ति हो जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि चित्त को नित्य या शाश्वत पदार्थ नहीं माना जा सकता। उसकी समता श्रौत दर्शन के जीव से हो सकती है ब्रह्म से नहीं। जो लोग चित्त को ब्रह्म का समकक्ष समझते हैं वे भूल करते हैं इसे परम तत्व केवल इसी अर्थ में कहा जाता है कि वह संसार का कारण है वास्तव में चित्त भी परिवर्तनशील है। प्रत्येक चित्त प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार वह नया रूप धारण करता रहता है उसकी अपनी वास्तविक सत्ता नहीं है।

चौथा मत माध्यमिक या शून्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इन लोगों ने चित्त को भी असत् सिद्ध किया है। इन्होंने शून्य को परमार्थ तत्व माना है। और जगत् की सत्ता को ये केवल व्यावहारिक मात्र मानते हैं। तत्वतः संसार असत्य और मिथ्या है।

---

138. क्रीटीक आफ इण्डियन रिअलिज्म, डा० डी० एन० शास्त्री, पृ० 53
139. सेन्ट्रल कन्सेप्शन आफ बुद्धिज्म, प्रो० शेरवात्स्की, पृ० 65

वैभाषिकों का मत—संसार सत्य है।
सौत्रान्तिकों का मत—संसार प्रतिबिम्ब के सदृश अनुमान सिद्ध है।
विज्ञानवादी मत—संसार को विज्ञान का आभास मात्र मानते हैं।
शून्यवादी मत—संसार को केवल व्यावहारिक सत्ता मात्र।

जगत् सत्ता पर विचार करते समय हमने उपर्युक्त मतों का संक्षेप में विवेचन किया किन्तु बौद्धों के प्रसिद्ध सिद्धान्त क्षणिकवाद पर भी कुछ विवेचन करना अनिवार्य सा प्रतीत होता है इसलिए उसे भी संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

क्षणिक वाद—जगत् सत्ता पर विचार करते समय में बौद्धों के क्षणिकवाद के विवेचन में मैं इस प्रकार कह सकता हूँ कि भगवान् बुद्ध ने संसार के समस्त पदार्थों के तीन अवश्यम्भावी लक्षण माने थे—दुखात्मक है, अनित्य है और अनात्मरूप। उनके विवेचन का आधार ये ही तीन बाते हैं। भगवान्[140] बुद्ध ने अपनी वाणी में क्षणिकवाद का बीजारोपण करते हुए लिखा है, कि 'सम्पूर्ण भव अनित्य, दुख रूप और परिवर्तन शील है। उनके अन्तिम शब्द थे 'यह संसार व्यर्थ धर्मा है। उन्होंने भिक्षुओं को उपदेश दिया था। संसार को पानी के बुलबुले की तरह समझो, मृगमरीचिका की तरह देखो तो फिर मृत्यु राज तुम्हें नहीं देखेगा। क्षणिक वाद के स्वरूप को समझने के लिए उसके अर्थ क्रियाकारित्व के सिद्धान्त का स्पष्टीकरण आवश्यक है। बौद्ध लोगों का कहना है संसार की कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है, सभी चलायमान और परिवर्तनशील हैं। जिन्हें हम स्थिर समझते हैं उनमें भी प्रतिक्षण अप्रत्यक्ष रूप से परिवर्तन होते रहते हैं। अब प्रश्न यह है कि इस क्षणिकवाद का प्रमाण क्या इसके उत्तर में बौद्ध लोग अर्थकारित्व का तर्क प्रस्तुत करते हैं 'अर्थ क्रिया कारित्वं सत्यं'। जिस वस्तु से कोई प्रयोजन नहीं है उसे वे असत् कहते हैं जैसे आकाश के फल, बांझ का पुत्र या शशक के सींग। सत् पदार्थ प्रतिक्षण अपने कार्य को जन्म देता रहता है, कार्यों को जन्म देने का तात्पर्य अपने स्वरूप का विकास, परिवर्तन यही क्षणिकता और क्षणिकवाद है। इस प्रकार क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का विवेचन किया गया।

शोध प्रबन्ध की समाप्ति में मैं भगवती स्वरूपा माता वरदा शारदा को प्रणाम कर आचार्य मुष्टि न रखने वाले तथा आत्मद्वीप होने की प्रेरणा के भरने वाले आदर्शोन्मुख यथार्थवादी मार्ग के उपदेष्टा शास्ता भगवान् बुद्ध का स्मरण करता हुआ अपने श्रम सीकरों से सिंचित प्रयास-सुमनस्तबक को वन्दनीय एवं वरेण्य विद्वानों के कर कमलों में सादर प्रस्तुत करता हूँ।

---

140. अंगुत्तर निकाय 4।19।5

यस्स जितं नावजीयति,[141]
जितमस्स नो याति कोचि लोके ।
तं बुद्धमनन्तगोचरं
अपदं केन पदेन नेस्सथ ।।
सुखिनो वा खेमिनो होन्तु, सब्बे सत्ता भवन्तु[142] सुखितत्ता ।

सरसिजनिलये सरोजहस्ते
धवलतरांशुकगन्धमाल्यशोभे ।
भगवति हरिवल्लभे मनोज्ञे
त्रिभुवनभूतिकरि प्रसीद मह्यम् ।
विष्णुपत्नीं क्षमां देवीं माधवीं माधवप्रियाम्
लक्ष्मीं प्रियसखीं भूमिं नमाम्यच्युतवल्लभाम् ।।
महालक्ष्म्यै च विद्महे विष्णुपत्न्यै च धीमहि ।
तन्नो लक्ष्मी : प्रचोदयात् ।।

इति शिवम् ।

141. बुद्धवग्ग 1, धम्मपद
142. मेत्तसुत्त 3, सुत्त निपात

सन्दर्भपुस्तक-सूची

	ग्रन्थ	लेखक
1.	अथर्व वेद	विश्वबन्धु वि० मा० ग्रन्थमाला
2.	अथर्व वेद 1-5	महामहोपाध्याय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (पारड़ी) से प्रकाशित
3.	अथर्व वेद तथा गोपथ ब्राह्मण	ब्लूमफील्ड हिन्दी अनु०डा० सूर्यकान्त
4.	अथर्व वेद	श्रीराम आचार्य
5.	अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म	डा० दत्ता
6.	अर्ली इण्डियन रिलीजस थाट	पी० डी० मेहता
7.	आत्म विद्या	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
8.	आपस्तम्ब धर्मसूत्र उज्ज्वला टीका	डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय
9.	आउट लाइन्स आफ इण्डियन फिलोसफी	हिरियन्ना
10.	इन्डो आर्यन लिटलेचर एण्ड कल्चर	एन० एन० घोष
11.	इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स भाग 1,2,9,10	
12.	इण्डिया आफ कल्प सूत्राज	डा० राम गोपाल
13.	इण्डिया आफ धर्म सूत्राज	डा० वेदमित्र
14.	इण्डियन माइथालोजी	वेरोनिका आओन्स
15.	इण्डिया आफ दी एज आफ दी ब्राह्मणाज	डा० जोगीराम वासु
16.	ईशोपनिषद्	शाँकरभाष्य गीता प्रेस
17.	ईशादि नौ उपनिषद्	शांकरभाष्य गीता प्रेस
18.	उपनिषत्संग्रह, 1, 2	पं० जगदीश शास्त्री
19.	उपनिषत्संग्रह, तीन खण्ड	पं० श्रीराम आचार्य
20.	उपनिषदों की भूमिका	डा० राधाकृष्णन्
21.	उपनिषद् दिग्दर्शन	डा० दीवानचन्द
22.	उतर वैदिक समाज एवं संस्कृति	डा० विजय बहादुर राव

ग्रन्थ	लेखक
23. ऋग्वेद संहिता	सायण महीधरादिभाष्य
24. ऋग्वेद	राम गोविन्द त्रिवेदी
25. ऋग्वेद 1-4	श्री राम आचार्य
26. ऋग्वेदिक लीजेन्ड्स थ्रू दी ऐजज	एच० एल० हरियप्पा
27. ऋग्वेद पर व्याख्यान	पं० भगवद्दत्त
28. ऋग्वेद ब्राह्मणाज	ए० बी० कीथ
29. ऋग्वेद कथा	रघुनाथ सिंह
30. ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि	पं० विश्वेश्वर प्रसाद रेउ
31. ऋक्-सूत्र वैजयन्ती	हरि दामोदर वेलणकर
32. ऋग्वेद	विल्सन
33. ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका	स्वामी दयानन्द
34. ऋग्भाष्य संग्रह	डा० देवराज चानना
35. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	मैक्समूलर
36. ए सर्वे आफ बुद्धिज्म	
37. एन इन्ट्रोडक्शन टू इण्डियन फिलोसफी	दत्ता एण्ड चटर्जी
38. ऐतरेय बाह्मणम्	सायणचार्य
39. ऐतरेय बाह्मण का एक अध्ययन	डा० नाथूलाल पाठक
40. एतरेय ब्राह्मण	गंगा प्रसाद उपाध्याय
41. ऐतरेय ब्राह्मण आफ ऋग्वेद	मार्टिन हाग
42. ऐतरेयारण्यकम्	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि
43. ऐतरेयालोचनम्	आचार्य सत्यव्रत
44. ऐतरेयारण्यकम्	ए० बी० कीथ 1969 आक्सफोर्ड
45. ऐतरेय और कोषीतकी पर्यालोचनम्	डा० मंगदेव शास्त्री
46. औरिजनल संस्कृत टैक्सट्स	डा० म्यूर अनु० रामकुमार वर्मा
47. कम्परेटिव एण्ड एटिमोलोजिकल डिक्शनरी आफ वैदिक इन्टरप्रिटेशन	विश्व बन्धु
48- कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया, 1,2,3	रामकृष्ण मिशन, कलकत्ता
49. क्रीटीक आफ इण्डियन रिअलिज्म	डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री
50. कोषीतकी ब्राह्मण पर्यालोचनम्	डा० मंगलदेव शास्त्री

	ग्रन्थ	लेखक
51.	गोपथ ब्राह्मण	अनु० डा० सूर्यकान्त
52.	घाटेज लेक्चर्स आफ दी ऋग्वेद	डा० वी० एस० सुखथन्कर
53.	ट्वेन्टी फाइव हण्डरेड ईयर्स आफ बुद्धिज्म	पब्लिकेशन्स डिविजन, गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया
54.	ताण्ड्य महाब्राह्मणम्, 1, 2	सायणचार्य ए० चिन्नस्वामी (चौखम्भा सं० सी० बनारस)
55.	तैत्तिरीय संहिता	सायण भाष्य (वही)
56.	तैत्तिरीय ब्राह्मणम्, 1,2	सायण भाष्य आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली
57.	तैत्तिरीय आरण्यकम्	वही
58.	दर्शन दिग्दर्शन	
59.	दी सेक्रेड बुक आफ दी ईस्ट, भाग 1,7.8,10,15	
60.	दी बृहद्देवता	ए० ए० मक्डोनल अनूदित रामकुमार राय
61.	दी रिलीजन आफ इन्डिया	मेक्स बेबर
62.	दी कनसेप्शन आफ बुद्धिस्ट निर्वाण	प्रो० शेरवात्स्की
63.	दी काल आफ दी वेदाज	ए० सी० बोस
64.	दी सोल थियोरी आफ बुद्धिस्टस्	शेर वात्स्की
65.	दी फिलासफी आफ दी उपनिषद्स्	डायसन
66.	दी वे आफ दी बुद्ध	जौर्ज ग्रिय०—पब्लिकेशन्स डिविजन गवर्नमेन्ट आफ इण्डिया
67.	दी कलचरल हैरिटेज आफ इन्डिया	
68.	दी रिलीजन एण्ड फिलोसोफी आफ दी वेद एण्ड उपनिषद्स, 1,2	ए० बी० कीथ
69.	निदान कथा	डा० महेश तिवारी
70.	प्राचीन भारतीय साहित्य की सास्कृतिक भूमिका	डा० रामजी उपाध्याय
71.	बुद्धा एण्ड बुद्धिज्म	मौरिस परचरीन
72.	बुद्धिस्ट इण्डिया	राइस डेविड्स

	ग्रन्थ	लेखक
73.	बुद्धिज्म दी रिलीजन आफ एने-लाइसिस	
74.	बौद्ध दर्शन मीमाँसा	पं० बलदेव उपाध्याय
75.	बौद्ध-धर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्र देव
76:	बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन	भरत सिंह उपाध्याय
77.	बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक	परशुराम चतुर्वेदी
78.	ब्रह्म विद्या प्रकरण	श्री पाद दामोदर सातवलेकर
79.	भारतीय संस्कृति और साहित्य	डा० मनमोहन शर्मा
80.	भारतीय दर्शन	डा० उमेश मिश्र,
81.	भारतीय दर्शन	वाचस्पति गैरोला
82.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय
83.	भारतीय दर्शन साहित्य का इतिहास	डा० हरिदत्त शास्त्री
84.	भारतीय धर्मों का इतिहास	डा० भण्डारकर
85.	महाभारत	गीताप्रेस
86.	महाभारत कालीन समाज	भट्टाचार्य
87.	मेसेज आफ ऋग्वेद	अप्रबुद्ध
88.	यजुर्वेद	देवी चन्द्र श्री राम आचार्य
89.	रिलीजन एन्ड माईथोलोजी आफ इण्डिया	जी० वी० देवस्थली
90.	रिलीजन एण्ड फिलोसोफी आफ दी वैदिक लैंग्वेज	डा० सुधीर कुमार गुप्त
91.	लाईफ एंड सोसायटी इन दी वैदिक एज	डा० प्रीति मित्रा
92.	विश्व के दार्शनिक	रत्नचन्द्र शर्मा
93.	विष्णु पुराण	चौण रा० गु०
94.	वेद चयनम्	विशम्भर त्रिपाठी
95.	वेद लावण्यम्	डा० सुधीर कुमार गुप्त
96.	वेद विद्या निदर्शनम्	श्री भगवद्दत्त
97.	वेद कालीन समाज	डा० शिवदत्त ज्ञानी

	ग्रन्थ	लेखक
98.	वैदिक इण्डिया	ए० रेगोजन
99.	वैदिक वाङ्मय का इतिहास	भगवद्दत्त
100.	वैदिक धर्म एवं दर्शन, 1, 2	ए० बी० कीथ
101.	वैदिक साहित्य और संस्कृति	प्रो० बलदेव उपाध्याय
102.	वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति	गिरधर शर्मा चतुर्वेदी
103.	वैदिक इतिहासार्थ निर्णय	पं० शिव शंकर काव्य तीर्थ
104.	बृहदारण्यकोपनिषद्	शांकर भाष्य, गीता प्रेस
105.	विश्वेश्वरानन्द इन्डोलोजिकल जर्नल 1965-71	
106.	शतपथ ब्राह्मण वेदार्थ प्रकाश टीका	सायणचार्य तथा श्री हरिस्वामी लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस 1940 संस्करण
107.	शतपथ ब्राह्मण, 1, 2, 3	हिन्दी अनुवाद पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय
108.	शांखायनारण्यकम्	विनायक गणेश आप्टे
109.	शैव मत	डा० यदुवंशी
110.	श्री भगवद् गीता रहस्य	बाल गंगाधर तिलक
111.	श्रुति विमर्श	डा० मंगल देव
112.	सामवेद	देवीचन्द
113.	सामवेद	श्रीराम आचार्य
114.	शुक्ल यजुर्वेद	ग्रिफिथ
115.	शुक्ल यजुर्वेद संहिता	मोतीलाल बनारसीदास, 1871 संस्करण उव्वटाचार्य, महीधराचार्य भाष्यवता
116.	सामवेद	श्रीराम आचार्य
117.	स्पार्कस फ्रोम दी वैदिक फायर	डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
118.	स्टडीज इन दी वेदान्त	सी० वैनर्जी
119.	समरांगण सूत्रधार	डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
120.	साँख्य कारिका	डा० हरिदत्त शर्मा
121.	हिम्स आफ ऋग्वेद, 1, 2	टी० एच० ग्रिफिथ, चौखम्भा

	ग्रन्थ	लेखक
122.	हिस्ट्री एन्ड डाक्ट्रिन आफ आजीव-काज	संस्कृत सीरीज 1963 ए० एल० वाशम
123.	हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटलेचर	मैकडानल
124.	हिस्ट्री आफ संस्कृत, लिटलेचर	विंटरनित्ज
125.	हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर	दास गुप्ता
126.	हिन्दू देव परिवार का विकास	डा० सम्पूर्णानन्द
127.	हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म, 1,2	सी० इलियट

अनुक्रमणिका